❀ श्रीः ❀

श्रीबालमुकुन्दग्रन्थमाला—११

श्रीभगवद् रामानुज विरचित

वेदार्थ-संग्रह

हिन्दी व्याख्या समेत

हिन्दी व्याख्याकार

श्रीभाष्यसिंहासनाधिपति

स्वामी श्री नीलमेघाचार्य जी काशी

वैकुण्ठवासी सेठ श्री मगनीराम जी बाँगड़

की

पुण्यस्मृति में

प्रकाशित

卐

सन् १९६१

विषयानुक्रमणिका

श्रियै नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीभगवद्रामानुजविरचितो

❀ वेदार्थसंग्रहः ❀

प्रणामं लक्ष्मणमुनिः प्रतिगृह्णातु मामकम् ।
प्रसाधयति यत्सूक्तिः स्वाधीनपतिकां श्रुतिम् ।।

यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने ।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धो रामानुजस्य चरणौ शरणं प्रपद्ये ।।

प्रथमं मङ्गलाचरणम्

प्रथम मङ्गलाचरण

अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने ।
निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः ।।

श्रीरामानुज स्वामी जी ने एक समय श्रीवेङ्कटाद्रि में श्रीवेङ्कटनाथ भगवान् की आज्ञा पाकर श्रीभगवान् की सन्निधि में वेद के तात्पर्यार्थों पर प्रकाश डालते हुये एक व्याख्यान दिया था। वही व्याख्यान उत्तरकाल में वेदार्थसंग्रह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रथम श्लोक से श्रीरामानुज स्वामी जी प्रकृतग्रन्थ की निर्विघ्नपरिसमाप्ति के लिये स्पष्टरूप में मङ्गलाचरण करते हैं तथा साथ ही प्रतिपाद्य अर्थ का संक्षेप रूप से वर्णन करते हैं। इनमें इष्टदेवता-नमस्काररूप मङ्गलाचरण शाब्द है, स्वपक्षस्थापनरूप प्रतिपाद्यार्थसंक्षेप अर्थसिद्ध है।

अपने पक्ष में प्रतिपाद्य अर्थ दो प्रकार का है। एक उपाय है जिसे साधन कहते हैं। दूसरा उपेय है जो साधन के द्वारा प्राप्य है। नित्यसिद्ध श्रीभगवान् ही वह प्राप्य वस्तु हैं जो प्रथम श्लोक में चतुर्थ्यन्त पदों से निर्दिष्ट है। नमः शब्द से उपाय सूचित होता है। इस प्रकार वे दोनों अर्थ इस श्लोक में निहित हैं।

इस श्लोक में पूर्वार्ध से यह बतलाया गया है कि परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् दोनों विभूतियों से युक्त हैं। उत्तरार्ध में "निर्मल" इत्यादि पद से यह बतलाया गया है कि वह श्रीभगवान् दोनों लिङ्गों से युक्त

हैं। श्रीभगवान् निर्दोष हैं, यह एक लिङ्ग है, श्रीभगवान् कल्याणगुणों के निधि हैं, यह दूसरा लिङ्ग है। श्रीभगवान् इन उभयलिङ्गों से युक्त हैं।

"तत्त्वमसि" इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करने में आचार्य विभिन्न मत रखते हैं। श्रीरामानुज सम्प्रदाय में उस वाक्य का जिस प्रकार अर्थ किया जाता है, उस पद्धति को सूचित करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी "अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे" इस प्रथम पद से बतलाते हैं कि श्रीभगवान् लीलाविभूति से युक्त हैं। यह प्रकृतिमण्डल ही लीलाविभूति है। इसमें श्रीभगवान् जीवों के साथ लीला करते हैं। इस लीलाविभूति में अनेक बद्ध चेतन तथा अनेक जड़पदार्थ रहते हैं। ये सभी चेतनाचेतन पदार्थ वस्तु वास्तव में हैं, अतएव पारमार्थिक हैं। इनमें कोई भी मिथ्या नहीं है। श्रीसम्प्रदाय में लीलाविभूति में चेतन और अचेतन ऐसे उभयविध पदार्थों का सद्भाव प्रामाणिक माना जाता है। इससे यादवप्रकाश का चेतनैकान्तवाद अमान्य ठहरता है। यादवप्रकाश का मत यह है कि इस लीलाविभूति में सभी पदार्थ चेतन ही हैं, इनमें एक भी अचेतन नहीं है। लोक में जिन घट इत्यादि पदार्थों को अचेतन कहा जाता है, उनमें भी वास्तव में चैतन्य है। वह अभिव्यक्त नहीं है, इतनी ही विशेषता है। यह नहीं कि उनमें चैतन्य का अत्यन्ताभाव हो। इस वाद को ही चेतनैकान्तवाद कहा जाता है। यहाँ पर श्रीरामानुज स्वामी जी लीलाविभूति में चेतनाचेतन पदार्थों के सद्भाव का वर्णन कर इस वाद को अमान्य ठहराते हैं।

इन चेतनाचेतन पदार्थों के शेषी श्रीभगवान् हैं। ये पदार्थ उनके शेष हैं। जो वस्तु दूसरे के लिये बनी हो उसे शेष कहते हैं। ये चेतनाचेतन पदार्थ श्रीभगवान् के लिये बने हैं, इनसे श्रीभगवान् को लीलारस मिलता है। ये श्रीभगवान् के शेष हैं। श्रीभगवान् इनके शेषी हैं। इनसे सिद्ध होता है कि ये पदार्थ श्रीभगवान् के शरीर हैं, श्रीभगवान् इनके अन्तरात्मा हैं। जो पदार्थ स्वभावतः ही किसी चेतन के प्रति शेष बना हो, उसे शरीर कहते हैं तथा उस चेतन को आत्मा कहते हैं। उदाहरण—हमारा यह शरीर स्वभाव से ही हम लोगों के प्रति शेष बनकर रहता है, यह सदा हम लोगों की सेवा करता है, हम लोग इससे अपने मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं। इसी कारण यह शरीर कहलाता है, हम उसकी आत्मा कहलाते हैं। इसी प्रकार सभी चेतनाचेतन पदार्थ परमचेतन श्रीभगवान् के शरीर बनकर उनके मनोरथ एवं संकल्पों को पूर्ण करते रहते हैं, श्रीभगवान् उनके अन्तरात्मा बनकर उनसे लाभ उठाते रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सभी चेतनाचेतन पदार्थ श्रीभगवान् के शरीर हैं, श्रीभगवान् उनकी अन्तरात्मा हैं। इस प्रकार इन पदार्थों और परमात्मा में शरीरात्मभाव सम्बन्ध फलित होता है।

लोक में देखा जाता है कि शरीरवाचक शब्द शरीरों को बतलाते हुये उनके अन्दर रहने वाले आत्मा तक को बतलाते हैं। उदाहरण—"मनुष्य जानते हैं देव सुखी हैं" इत्यादि प्रयोगों में देव मनुष्य इत्यादि शब्द तत्तच्छरीरधारी आत्मा तक का बोध कराते हैं क्योंकि आत्मा ही जान सकता है तथा सुख भोग सकता है। उपर्युक्त उदाहरण से शरीरवाचक शब्दों का आत्मपर्यन्तवाचकत्व सिद्ध होने पर यह

अनायास सिद्ध हो जाता है कि चेतनाचेतन पदार्थ परमात्मा के शरीर हैं, अतः चेतनाचेतन पदार्थों के वाचक सभी शब्द उनके अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराते हैं। "तत्त्वमसि" इस वाक्य में "तत्" शब्द जगत्कारण ब्रह्म को बतलाता है। "त्वम्" शब्द समस्त उपस्थित चेतन को बतलाता हुआ उसके अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराता है। इससे "तत्त्वमसि" वाक्य का यह अर्थ फलित होता है कि समस्त उपस्थित चेतन का अन्तरात्मा जगत्कारण ब्रह्म है। इस प्रकार "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदनिर्देश जीवान्तर्यामी और जगत्कारण ब्रह्म में अभेद को सिद्ध करते हैं, न कि जीव और ब्रह्म में अभेद को सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार ही "सर्व खल्विद ब्रह्म" इत्यादि अभेद निर्देश भी सभी चेतनाचेतन पदार्थों के अन्तर्यामी और ब्रह्म में एकता को सिद्ध करते हैं, न कि चेतनाचेतन पदार्थ और ब्रह्म में एकता को सिद्ध करते हैं। अभेद वचनों का यह निर्वाह श्रीसम्प्रदाय में अभिप्रेत है। "अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे" कहकर श्रीरामानुज स्वामी जी ने सम्प्रदायसिद्ध इस प्रक्रिया को खोला है, साथ ही यह भी बतलाया है कि शङ्कराचार्य और भास्कराचार्य के मत में विभिन्न श्रुतिवाक्यों का सरल निर्वाह नहीं होता है। श्रीशङ्कराचार्य ने जीव और ब्रह्म का अभेद बतलाने वाले वाक्यों का स्वरूपैक्य में तात्पर्य माना है, जड़पदार्थ और ब्रह्म में अभेद बतलाने वाले वाक्यों का स्वरूपैक्य में तात्पर्य न मानकर जड़पदार्थों के बाध में तात्पर्य माना है। उनके मत में सब प्रकार के अभेद वाक्यों में एकसा निर्वाह नहीं सम्पन्न होता है। एकरूप निर्वाह ही न्यायानुमोदित है। भास्कराचार्य के मत में भेद श्रुतियों का एकरूप निर्वाह नहीं होता है उन्होंने यह माना है कि जीव और ब्रह्म में भेद को बतलाने वाली श्रुतियाँ औपाधिक भेद को बतलाती हैं, तथा अचेतनपदार्थ और ब्रह्म में भेद को बतलाने वाली श्रुतियाँ स्वाभाविक भेद को बतलाती हैं। श्रीसम्प्रदाय में सभी श्रुतियों का समान रूप से निर्वाह होता है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

यहाँ पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने आरम्भ में "निश्शेष" शब्द का प्रयोग न कर "अशेष" शब्द का प्रयोग इस भाव से किया है कि आरम्भ में परममङ्गल भगवद्वाचक अकार का उल्लेख किया जाय।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी प्रथमपद से श्रीभगवान् को लीलाविभूति से युक्त बतलाकर "शेषशायिने" इस द्वितीयपद से यह बतलाते हैं कि श्रीभगवान् भोगविभूति से युक्त हैं। श्रीभगवान् नित्यसूरिश्रेष्ठ श्री आदिशेष पर शयन करते हैं। इसलिये शेषशायी कहलाते हैं। यहाँ शेष शब्द भोगविभूति में विद्यमान पत्नी और परिजन इत्यादि को प्रदर्शित करने के लिये प्रयुक्त हुआ। इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् भोगविभूति एवं तत्स्थ सभी नित्य और मुक्तों से सदा युक्त हैं। यह उनका स्वभाव है।

इस प्रकार दोनों पदों से श्रीभगवान् के उभयविभूति सम्बन्ध को बतलाकर श्रीरामानुज स्वामी जी "निर्मलानन्तकल्याणनिधये" इस पद से यह बतलाते हैं कि श्रीभगवान् उभयलिङ्गों से सम्पन्न हैं। उनमें एक लिङ्ग है निर्दोषत्व। वह निर्मलपद से बतलाया गया है। श्रीभगवान् को निर्मल इसलिये कहा जाता है कि वे निर्दोष हैं तथा दोषों को नष्ट करने वाले हैं। श्रीभगवान् का दूसरा लिङ्ग कल्याणगुणाकरत्व है वह

"कल्याणनिधि" शब्द से बतलाया गया है। लोक में अनुकूल पदार्थ कल्याण शब्द से अभिहित होता है। प्रतिकूल और उपेक्षणीय पदार्थ कल्याण नहीं कहे जाते। आनन्द ही अनुकूल पदार्थ है, श्रीभगवान् आनन्द के निधि हैं। श्रीभगवान् के सभी गुण अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होते हैं। वे भी कल्याण कहे जा सकते हैं। उन कल्याणगुणों के निधि हैं श्रीभगवान्। इसलिये भी वे यहाँ कल्याणनिधि बतलाये गये। साथ ही श्रीभगवान् अनन्त भी हैं। वे त्रिविध परिच्छेदों से रहित हैं। इसलिये अनन्त कहलाते हैं। तीन परिच्छेद ये हैं (१) देशपरिच्छेद, (२) कालपरिच्छेद, और (३) वस्तुपरिच्छेद। श्रीभगवान् इन परिच्छेदों से रहित है। वे सभी देशों में हैं, इसलिये देशपरिच्छेदरहित हैं। वे सभी कालों में हैं इसलिये कालपरिच्छेद-रहित हैं। वे सभी वस्तुओं में विद्यमान हैं इसलिये वस्तुपरिच्छेदरहित हैं। इस प्रकार की अनन्तता श्रीभगवान् में ही विद्यमान है, अन्यत्र कहीं नहीं। इस प्रकार श्रीभगवान् के उभयलिङ्गत्व का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार वर्णित तत्त्व कौन है? इस आकांक्षा में श्रीरामानुज स्वामी कहते हैं कि "विष्णवे"। वह तत्त्व श्रीविष्णु है। वे सब पदार्थों के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त हैं। लोक और वेदों में जो देवता विष्णु नाम से प्रसिद्ध हैं वे ही उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट प्राप्य परतत्त्व हैं।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी चतुर्थ्यन्त पदों से प्राप्य वस्तु का निर्देश कर आगे "नमः" कहकर उपाय का निर्देश करते हैं। उपर्युक्तविशेषणविशिष्ट श्रीविष्णुभगवान् को नमस्कार है। यहाँ नमः शब्द से भक्ति विवक्षित है। भक्ति से ही नमस्कार होता है। भक्ति ही मोक्ष का उपाय है।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रथम श्लोक से इष्टदेवतानमस्काररूप मङ्गलाचरण किया, तथा संक्षेप से स्वपक्ष की स्थापना भी की। इनमें मङ्गलाचरण कण्ठोक्त है, स्वपक्षस्थापन अर्थसिद्ध है।

द्वितीयं मङ्गलाचरणम्

द्वितीय मङ्गलाचरण

परं ब्रह्मैवाज्ञं भ्रमपरिगतं संसरति तत्, परोपाध्यालीढं विवशमशुभस्यास्पदमिति ।
श्रुतिन्यायापेतं जगति विततं मोहनमिदं, तमो येनापास्तं स हि विजयते यामुनमुनिः ॥

आगे द्वितीय श्लोक से श्रीरामानुज स्वामी जी ने गुरूपासनरूप मङ्गलाचरण किया है। यह मङ्गलाचरण कण्ठोक्त है, इससे परपक्षनिरास अर्थसिद्ध होता है। पूर्वार्ध में परपक्षों का उल्लेख तथा उत्तरार्ध में उनका निरास वर्णित है। श्रीशङ्कराचार्य श्रीभास्कराचार्य और श्रीयादवप्रकाशाचार्य के द्वारा जो अर्थ वर्णित हैं, वे सब यहाँ परपक्ष माने जाते हैं। उनका निरास इस श्लोक में है।

प्रथमतः श्रीशङ्कराचार्यपक्ष का वर्णन करते हैं कि "परं ब्रह्मैवाज्ञं भ्रमपरिगत संसरति" श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि परब्रह्म अविद्या से तिरोहित होकर विविधभेददर्शनरूपी अनेक भ्रमों में फँसता जाता है, तत्फलस्वरूप जन्मजरामरण इत्यादि सांसारिक दुःखों को भोगता रहता है इस अर्थ में एक विरोध उपस्थित होता है जो एवकार से सूचित होता है वह यह है कि परब्रह्म का निरूपण करते हुये शास्त्र कहते हैं कि परब्रह्म निर्दोषत्व और कल्याणगुणाकरत्व इत्यादि स्वभावों से सम्पन्न है अतएव वह सर्वविलक्षण है वह परब्रह्म सबके द्वारा आश्रय लेने योग्य है क्योंकि आश्रितों के पाप और ताप को नष्ट करने वाला है तथा आश्रितों को विविध इष्टफलों को देने वाला है। यह परब्रह्म ही यदि अज्ञान में फँस जाय तो जीवों का रक्षक दूसरा कौन हो सकता है ? इस मत में यह विरोध प्रतीत होता है। इसे एवकार सूचित करता है। अस्तु। इस प्रकार शाङ्करमत वर्णित हुआ।

आगे भास्कराचार्य के मत का वर्णन करते हैं कि "तत् परोपाध्यालीढं विवशम्" भास्कराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार अखण्ड आकाश घट मठ इत्यादि विविध उपाधियों से युक्त होता है, उसी प्रकार वह परब्रह्म जड़ उपाधियों से सम्बद्ध रहता है। वह उपाधि स्वतः ब्रह्म से भिन्न है तथा सत्य है। अतएव शङ्कराचार्य के द्वारा वर्णित मिथ्याभूत अविद्या से भी वह भिन्न सिद्ध होता है। ऐसे उपाधि से सम्बद्ध होकर वह परब्रह्म विवश अर्थात् कर्मपरवश बन जाता है। यह भास्कराचार्य का मत है।

आगे यादवप्रकाशाचार्य के मत का वर्णन करते हैं कि "अशुभस्यास्पदम्" यादवप्रकाश यह कहते हैं कि परब्रह्म अंशी है, चित् अचित् और ईश्वर ये तीनों उसके अंश हैं। अंश और अंशी में भेदाभेद है परब्रह्म का अचेतन के साथ अभेद होने के कारण अचेतन में होने वाले विविध परिणामरूप सभी अशुभों का आस्पद परब्रह्म ही होता है तथा परब्रह्म का चेतन के साथ अभेद होने के कारण चेतन में होने वाले दुःख इत्यादि दोषों का आस्पद भी परब्रह्म बन जाता है। अंश और अंशी में भेदाभेद को मानने के कारण यादवप्रकाश मत में अभेद को लेकर परब्रह्म में सभी दोष उपस्थित होते हैं।

भास्कराचार्य एवं यादवप्रकाशाचार्य भेदाभेद को मानने वाले हैं। इनमें इतना अन्तर अवश्य है कि भास्कराचार्य यह मानते हैं कि अचेतन और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक हैं। चेतन और ब्रह्म में अभेद ही स्वाभाविक है, भेद तो औपाधिक है क्योंकि मोक्ष में चेतन और ब्रह्म में अभेद कहा गया है, अतः उसे स्वाभाविक मानना चाहिये। यादवप्रकाश यह मानते हैं कि अचेतन और ब्रह्म में भेद और अभेद ये दोनों स्वाभाविक हैं, तथा चेतन और ब्रह्म में भी भेद और अभेद ये दोनों स्वाभाविक हैं क्योंकि मोक्ष में चेतन और ब्रह्म में भेद और अभेद श्रुतियों में वर्णित हैं। अतः उन दोनों को स्वाभाविक मानना चाहिये।

इस प्रकार तीनों परपक्ष वर्णित हुये। श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने इन तीनों पक्षों का जो खण्डन किया उसका उल्लेख करते हुये कहते हैं कि "इति श्रुतिन्यायापेतं जगति विततं मोहनमिदं तमो येनापास्तम्"

ये तीनों पक्ष प्रमाण और तर्कों से शून्य हैं। वेद परमप्रमाण हैं। उनसे इन मतों की सिद्धि नहीं होती। तर्क प्रमाण की सहायता करता है। तर्कों से इन मतों की पुष्टि नहीं होती। इतना ही नहीं, किन्तु ये मत प्रमाण तर्कों के द्वारा खण्डित हैं। इनको काटने वाले प्रमाण और तर्क प्रचुरमात्रा में विद्यमान हैं। इन मतों का खण्डन आवश्यक हो गया है क्योंकि ये मत जगत् में बहुत फैल गये हैं अतः उपेक्षणीय नहीं माने जा सकते। प्रमाणतर्कविरुद्ध होने पर भी ये मत अबोध जनता को भ्रम में डालते रहते हैं। ये मत यथार्थज्ञान पर आवरण डालते हैं, तथा अयथार्थज्ञान को उत्पन्न करते रहते हैं। अतः इनके खण्डन को आवश्यक समझकर श्रीयामुनाचार्य स्वामी जी ने सिद्धित्रय इत्यादि ग्रन्थों में इनका खूब खण्डन किया है, तथा इनके प्रचार को बन्द करा दिया है जिससे ये मत सात्त्विकों से दूर हो गये हैं।

"स हि विजयते यामुनमुनिः" जिन यामुनाचार्य स्वामी जी ने इन मतों को दूर किया है उन यामुनाचार्य स्वामी जी की जय हो। इस प्रकार जयजयकार मनाते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने गुरूपासन-रूपी मङ्गलाचरण किया है। जिस प्रकार श्रीहनुमान जी ने "जयत्यतिबलो राम." इत्यादि कहकर श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीव का जयजयकार मनाया है, उसी प्रकार यहाँ श्रीरामानुज स्वामी जी श्रीयामुनाचार्य का जयजयकार मनाते हैं।

इस प्रकार जयजयकार मनाने से यह व्यक्त होता है कि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सभी अर्थ सम्प्रदाय द्वारा प्राप्त हैं। उक्तरीति से श्रीरामानुज स्वामी जी ने दोनों श्लोकों से देवतोपासन तथा गुरूपासनरूप मङ्गलाचरण किया है, तथा साथ ही स्वपक्षस्थापन और परपक्षनिराकरण भी प्रस्तुत किया है। "यस्य देवे परा भक्तिः" इस श्रुतिवचन में इष्टदेव और श्रीगुरु के विषय में भक्ति करने के लिये कहा गया है। उसके अनुसार श्रीरामानुज स्वामी जी ने दोनों श्लोकों से दोनों पर अपना भक्तिभाव प्रकट किया है।

स्वपक्षसंक्षेपः

स्वपक्ष का संक्षिप्त वर्णन

वैदिकं परमपुरुषार्थसाधनम्

वैदिक परमपुरुषार्थ का साधन

अशेषजगद्धितानुशासनश्रुतिनिकरशिरसि समधिगतोऽयमर्थः। जीवपरमात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकवर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकपरमपुरुषचरणयुगलध्यानार्चनप्रणामादिरत्यर्थप्रियस्तत्प्राप्तिफलः।

(१) वेद परमप्रमाण हैं। वेद अपौरुषेय हैं वे किसी पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं हैं। अतएव वे निर्दोष हैं क्योंकि वक्ता पुरुष के द्वारा ही वाक्य में दोष हुआ करते हैं। वक्ता यदि भ्रम प्रमाद अशक्ति और विप्रलम्भ (प्रतारण करने की इच्छा) इत्यादि दोषों से युक्त हों तो उनके द्वारा उच्चारित वाक्य दूषित एवं अप्रमाण बन जाते हैं वेद का कर्ता कोई नहीं है, अतएव वेद वक्तृदोषों से रहित होने से परमप्रमाण हैं। वेद को श्रुति कहते हैं। "श्रूयते नित्यमिति श्रुतिः" ऐसी व्युत्पत्ति है। वेद सदा सुनने में ही आते रहते हैं, जिस प्रकार आज वेद अध्यापकों से सुने जाते हैं। ऐसा ही सदा होता आया। कभी वेद किसी से निर्मित नहीं हुये। इस प्रकार अपौरुषेय होने के कारण वेद निर्दोष एवं परमप्रमाण हैं।

(२) वेद सम्पूर्ण जगत् के हितों को बतलाने के लिये प्रवृत्त हैं। वे भ्रम को उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्त नहीं हुये हैं। अद्वैतसिद्धान्त सिखाता है कि वेद भ्रमों को उत्पन्न करते हैं। उस सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध होता है कि यह जगत् तथा इसकी सृष्टि स्थिति और प्रलय मिथ्या हैं। इसकी सृष्टि इत्यादि करने वाला सगुण ईश्वर भी मिथ्या है। स्वर्ग और नरक इत्यादि भी मिथ्या हैं। इन फलों को साधने वाले साधन भी मिथ्या हैं क्योंकि ये सब निर्गुण ब्रह्म से व्यतिरिक्त हैं अतएव मिथ्या हैं। मिथ्या अर्थ के विषय में होने वाला ज्ञान भ्रम ही है। उपर्युक्त सभी अर्थ प्रत्यक्ष एवं अनुमान से सिद्ध नहीं हैं किन्तु वेद-प्रमाण से ही सिद्ध हैं। इन मिथ्या अर्थों के विषय में ज्ञान कराने वाले वेद अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार भ्रम को उत्पन्न करने वाले ही सिद्ध होते हैं। यह अद्वैतसिद्धान्त में बड़ा भारी दोष है। वेदों को भ्रामक मानना वैदिक को उचित नहीं। श्रीसम्प्रदाय वेदों को भ्रामक नहीं मानता। किन्तु यही मानता है कि वेद सम्पूर्ण जगत् के हितों को बतलाने के लिये प्रवृत्त हैं। वे हित ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष और अनुमान से विदित नहीं हो सकते, वेदशास्त्र से ही विदित होते हैं अतएव वे अलौकिक हैं। वे हित दो प्रकार के हैं (१) उपाय और (२) प्राप्य। इनका सुष्ठु प्रकार से ज्ञान कराने के लिये वेद आविर्भूत हुये हैं। सम्पूर्ण जगत् में रहने वाले नानाप्रकार के अधिकारियों के लिये अपेक्षित उन २ हितों का वर्णन वेद करते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जीवों को परमहित मोक्ष ही है। धर्म अर्थ और काम ये पुरुषार्थ तो अहित ही हैं। इनका वर्णन वेद क्यों करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी अधिकारी एक से नहीं होते। कई अधिकारी प्राचीन वासना के अनुसार इन तीन पुरुषार्थों को ही प्राप्त करना चाहते हैं, वे मोक्ष को नहीं चाहते। ऐसे अधिकारियों के लिये वेद उनका हित मानकर इन तीनों पुरुषार्थों का ही वर्णन करते हैं। क्रम से ये अधिकारी भी उन क्षुद्र पुरुषार्थों से विरक्त होकर मुमुक्षु बन जाते हैं। पुरुषार्थ भोगने के बाद वैराग्य सुदृढ़ हो जाता है। कच्ची अवस्था में उनके लिये हितावह मानकर वेद इन क्षुद्र पुरुषार्थों का वर्णन करता है। यहाँ पर यह दूसरी शङ्का उठती है कि शत्रु को मारने के लिये श्येनयाग वेदों में विहित है। मारण अत्यन्त पाप एवं अहित है। हित को बतलाने के लिये प्रवृत्त होने वाले वेद इस अहित मारण का विधान क्यों करते हैं? इस शङ्का का समाधान तीन प्रकार से किया जा सकता है। (१) जिस प्रकार मिठाई इत्यादि देकर

बच्चों को वश में लिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से शत्रुओं को मारने में उद्युक्त नास्तिक शठ पुरुषों को शास्त्रविश्वासी बनाने के लिये श्येनयाग इत्यादि मारणोपाय वेदों में वर्णित हैं क्योंकि वे नास्तिक, शास्त्रानुसार श्येनयाग इत्यादि करके शत्रु को मारकर कम से कम शास्त्र में विश्वास तो रखने लगते हैं। इस प्रकार वे धीरे २ आस्तिक बन जाते हैं। उनको आस्तिक बनाने के लिये ही वेदों में वे साधन वर्णित हैं। (२) देव और ब्राह्मण इत्यादियों को कष्ट देने वाले दुष्टों को नष्ट करने के लिये श्येनयाग इत्यादि वेदों में वर्णित हैं। (३) श्रीभगवान् के ऐश्वर्य का वर्णन करने के उद्देश्य से श्येनयाग आदि का शास्त्रों में वर्णन है क्योंकि इन कर्मों के भी आराध्य श्रीभगवान् हैं। वे इन कर्मों से आराधित होकर उन फलों का प्रदान करते हैं। यह श्रीभगवान् की महिमा है। इसको बतलाने के लिये ही श्येनयाग इत्यादि वेद में वर्णित हैं। इन समाधानों से व्यक्त होता है कि श्येनयाग इत्यादि भी उन अधिकारियों को हित ही हैं। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि वेद सम्पूर्ण जगत् के हितों को बतलाने के लिये प्रवृत्त हैं।

(३) सर्वप्रथम वेदों के परमतात्पर्यार्थ को समझना चाहिये। वेद जिस अर्थ को प्रधान रूप से बतलाने के लिये प्रवृत्त हैं वह अर्थ ही वेदों का परमतात्पर्यार्थ है। वेदों की अनेक शाखायें हैं। प्रत्येक शाखा के अन्त में उपनिषद् है। उपनिषद् वेदपुरुष का शिरःस्थानीय है। उपनिषद् परब्रह्मरूपी परमतत्त्व, तत्प्राप्तिरूपी परमफल एवं तत्साधनरूपी परमहित का वर्णन करने के लिये प्रवृत्त हैं। हम लोगों ने जिन २ शाखाओं का अध्ययन नहीं किया है उन २ शाखाओं में वर्णित अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये महर्षियों के द्वारा इतिहास और पुराण रचे गये हैं। सम्पूर्ण वेद शाखाओं उपनिषदों और इतिहास पुराणों को अच्छी तरह से समझ करके ही वेदों के परमतात्पर्यार्थ को समझना चाहिये। इन सबकी विवेचना करने पर यही तात्पर्यार्थ विदित होता है कि साधकों को सर्वप्रथम वेद शास्त्र के अनुसार जीवात्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप को समझना चाहिये। यह शास्त्रजन्य ज्ञान साधना की आधार शिला है इसके बाद ही साधन का प्रारम्भ होता है। अद्वैतवादी "तत्त्वमसि" इस शास्त्र से होने वाले वाक्यार्थज्ञान को ही मोक्षोपाय मानते हैं। यह उचित नहीं क्योंकि शास्त्रजन्य ज्ञान मोक्षसाधन का कारण है, स्वयं मोक्षसाधन नहीं है। इस शास्त्रजन्य ज्ञान के आधार पर मोक्षोपाय अनुष्ठित होता है। वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान मोक्षसाधन का अङ्ग है। उससे मोक्षसाधन उत्पन्न एवं पुष्ट होता है। भक्तिरूप को धारण करने वाली ब्रह्मविद्या ही मोक्षसाधन है। इसके उत्पादक एवं संवर्धक वर्णाश्रमधर्म इत्यादि हैं। अद्वैतवादियों ने माना है कि वर्णाश्रमधर्म इत्यादि कर्मानुष्ठान से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। विशिष्टाद्वैतवादी यह मानते हैं कि वर्णाश्रमधर्म इत्यादि कर्मानुष्ठान ब्रह्मविद्या को ही उत्पन्न करता है। यह विशेष ध्यान देने योग्य है। भास्कराचार्य ने यह माना है कि ज्ञान और कर्म समान रूप से मिलकर मोक्ष का साधन बनते हैं उनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्षसाधन माना जाता है। विशिष्टाद्वैतियों ने यह माना है कि ब्रह्मविद्यारूपी ज्ञान ही मोक्षसाधन है कर्म उसका अङ्ग अर्थात् सहायक है। यह विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। अस्तु।

श्रीभगवान् के ध्यान अर्चन और प्रणाम इत्यादि ही मोक्ष के साधन हैं। श्रीभगवान् परमपुरुष कहलाते हैं। वे निर्दोष एवं कल्याणगुणाकर होने से सर्वविलक्षण हैं। श्रीमन्नारायण ही परमपुरुष हैं। स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान के चरणारविन्दद्वन्द्व के विषय में दास जीवों को ध्यान अर्चन और प्रणाम इत्यादि करना चाहिये। तथा कीर्तन और स्मरण इत्यादि भी करना चाहिये। ध्यान मानसकर्म है, नामसंकीर्तन वाचिककर्म है। अर्चन इत्यादि कायिककर्म हैं। ये सब मिलकर मोक्षसाधन हैं। इनमें ध्यान प्रधान है। जिस प्रकार आग्नेय इत्यादि ६ याग मिलकर स्वर्गसाधन बनते हैं, उसी प्रकार ध्यान अर्चन और प्रणाम इत्यादि मिलकर मोक्ष के साधन बनते हैं। जिस प्रकार उन ६ यागों के प्रयाज इत्यादि अङ्ग हैं, उसी प्रकार इनके अङ्ग वर्णाश्रमधर्म हैं।

उपनिषदों में कहीं ब्रह्मज्ञान मोक्षसाधन कहा गया है कहीं ब्रह्मध्यान, कहीं ब्रह्म की ध्रुवानुस्मृति, और कहीं ब्रह्म का दर्शन, मोक्षसाधन कहा गया है। श्रीगीता में भक्ति मोक्षसाधन कही गई है। इन सबका समन्वय करना चाहिये। पूर्वमीमांसा वर्णित छागपशुन्याय से इनका समन्वय हो जाता है। मीमांसा में यह निर्णय किया गया है कि "पशुना यजेत" इस वाक्य द्वारा पशु से याग करने के लिये कहा गया है। वहाँ पर यह जिज्ञासा होती है कि वह पशु कौन है। मन्त्रवर्ण में छाग (बकरे) का उल्लेख है। इससे मानना पड़ता है कि वह पशु छाग है। छाग ही सामान्यवाचक पशु शब्द से तथा विशेषवाचक छाग शब्द से निर्दिष्ट हुआ है। इससे फलित होता है कि सामान्य को विशेष में पर्यवसान करना चाहिये। उस न्याय के अनुसार प्रकृत में यह मानना चाहिये कि भक्ति ही मोक्षसाधन है। प्रेममिश्रित निरन्तर स्मरणधारा ही भक्ति है। स्मरण ज्ञान है इसलिये यह स्मरणरूपा भक्ति ज्ञान शब्द से कही गई है। यह भक्ति निरन्तर स्मरणरूप तथा ध्यानात्मिका होने के कारण ध्रुवानुस्मृति एवं ध्यान शब्द से कही गई है। बढ़ते २ निरन्तर स्मरण प्रत्यक्षसमानाकार बन जाता है। अतएव उच्च दशा में पहुँची हुई यह भक्ति दर्शन शब्द से कही गई है। इस प्रकार ज्ञान ध्यान ध्रुवानुस्मृति और दर्शन इत्यादि सामान्य रूपों का पर्यवसान भक्तिरूप विशेष में हो जाता है। इससे यही फलित होता है कि भक्ति ही मोक्षसाधन है। श्रेष्ठ पुरुष के विषय में होने वाली प्रीति तथा उससे होने वाला प्रत्यक्षसमानाकार निरन्तरस्मरण ही भक्ति है। यह भक्ति ही मन में ध्यान रूप में, वाणी में संकीर्तन और स्तुति आदि के रूप में, शरीर में प्रणाम और अर्चन इत्यादि के रूप में अभिव्यक्त होती है। तीनों करणों से प्रकट होने पर भक्ति पूर्ण मानी जाती है। प्रीतिपूर्वक किये जाने के कारण ही ध्यान अर्चन और प्रणाम इत्यादि भक्ति कहलाते हैं। अतः प्रेमपूर्वक इन्हें करना चाहिये। यही मोक्ष का उपाय है। इसका फल भगवत्प्राप्ति है। यही मोक्ष है क्योंकि संसार से छूटकर ही मुक्त भगवदनुभव का भागी बनता है।

तत्प्रमाणान्यौपनिषद्वचनानि

साधनप्रतिपादक उपनिषद्वचन

अस्य जीवात्मनोऽनाद्यविद्यासंचितपुण्यपापरूपकर्मप्रवाहहेतुकब्रह्मादिसुरनरतिर्यक्-स्थावरात्मकचतुर्विधदेहप्रवेशकृततत्तदात्माभिमानजनितावर्जनीयभवभयविध्वंसनाय देहातिरिक्तात्मस्वरूप-तत्स्वभाव-तदन्तर्यामिपरमात्मस्वरूपतत्स्वभाव-तदुपासन-तत्फलभूतात्मस्वरूपाविर्भावपूर्वकानवधिकातिशयानन्दब्रह्मानुभवज्ञापने प्रवृत्तं हि वेदान्तवाक्यजातम् 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः' 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यत' इत्यादिकम् ।

अब यह विचारना चाहिये कि सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य किन अर्थों को बतलाते हैं। विचार करने पर यह निर्णय सम्पन्न होता है कि यह जीवात्मा अनादिकाल से संसार में पड़कर तापत्रय को भोगता आ रहा है। दोषाकर इस जीवात्मा का निर्दोष परमात्मा से ऐक्य हो ही नहीं सकता। जीवात्मा के सांसारिक तापत्रय भोगने का यही कारण है कि अनादिकाल से जीवात्मा अविद्या में फँसा रहता है। अविद्या किसे कहते हैं? श्रीपराशरब्रह्मर्षि ने अविद्या स्वरूप का वर्णन करते हुये यह कहा है कि—

श्रूयतां चाप्यविद्यायाः स्वरूपं कुलनन्दन ।
अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः ॥

अर्थात् हे कुलनन्दन अविद्या के स्वरूप को सुनो। आत्मव्यतिरिक्त देह आदि प्राकृत पदार्थों में आत्मबुद्धि अविद्या है तथा जो वस्तु अपनी नहीं उसको अपना मानना भी अविद्या है। प्रथम अहंकार तथा द्वितीय ममकार कहलाता है। इस अहंकार ममकाररूपी अविद्या से ही पुण्यपापरूपी कर्म बनते तथा इकट्ठे होते रहते हैं। शास्त्र कहता है कि "अविद्या संचितं कर्म" अर्थात् अविद्या से ही कर्म संचित होते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि भले ही पापकर्म अविद्या से उत्पन्न हों, किन्तु स्वर्ग आदि फल देने वाले पुण्यकर्म अविद्या से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? वे विद्या से ही उत्पन्न हो सकते हैं क्योंकि देहव्यतिरिक्त आत्मा को समझना विद्या ही है। देहव्यतिरिक्त आत्मा को समझने वाले मनुष्य ही देह नष्ट होने के बाद भी अपनी स्थिति को जानकर मरण के बाद प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि पारलौकिक फलों को चाह सकते हैं, तथा उनके साधन पुण्यकर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं। अतः देहातिरिक्तात्मज्ञानरूपी विद्या से सम्पन्न

होने वाले पुण्यकर्मों को कैसे अविद्याजन्य माना जाय ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जीवात्मा देहविलक्षण होने के कारण देहात्मज्ञान अविद्या है, वैसे ही स्वतन्त्रात्मज्ञान अर्थात् अपने को स्वतन्त्र मानना भी अविद्या ही है क्योंकि जीवात्मा परमात्मा का परतन्त्र है। जीवात्मा यदि यह समझे-कि मैं अपने लिये बना हूँ, अतएव अपने लिये कार्य करने में मैं अधिकृत हूँ-तो यह समझ भी अविद्या ही है क्योंकि जीवात्मा श्रीभगवान् का शेष होने के कारण श्रीभगवान् के लिये बना है, यह जो कुछ करता है उससे श्रीभगवान् लीलारस का आस्वादन करते रहते हैं। स्वतन्त्रात्मज्ञानरूपी एवं स्वार्थभावनारूपी अविद्या के कारण ही जीव स्वर्ग आदि फल देने वाले पुण्यकर्मों को करता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि पुण्यकर्म भी अविद्याजन्य ही है। अस्तु।

अनादि अविद्या से होने वाले पुण्यपापकर्म प्रवाह के फलों को भोगने के लिये जीवात्मा को चार प्रकार के शरीरों में प्रवेश करना पड़ता है। वे चार शरीर ये हैं कि (१) ब्रह्मा इत्यादि देवों का शरीर (२) मनुष्य शरीर (३) पशु मृग और पक्षी इत्यादि तिर्यक् शरीर, और (४) तृण वृक्षलता और गुल्म इत्यादि स्थावर शरीर। इन चार प्रकार के शरीरों में जीवात्मा का कर्मफलस्वरूप प्रवेश होता है। उन २ देहों में प्रविष्ट होते ही जीवात्मा को देहात्माभिमानरूपी अविद्या तथा अस्वकीय वस्तुओं में स्वकीयत्वाभिमानरूपी अविद्या होने लगती है, उससे कर्म उससे देहप्रवेश और उससे अविद्या इस प्रकार चक्र अनादिकाल से चला आता है। इसकी पूर्वावधि देखने में नहीं आती इस चक्र के कारण ही स्व जीवात्मा को विविध सांसारिक ताप भोगने पड़ते हैं। यह तापत्रयानुभव अवर्जनीय है। इसका स्मरण करते ही जीवात्मा को अपार भय होता है। यह सब मिथ्या है ऐसे भले ही सहस्रवार उद्घोषण करें, तब भी यह भय दूर नहीं होता। यह तापत्रयानुभव सत्य है, मिथ्या मानने मात्र से यह दूर नहीं होगा। इससे भय बना ही रहेगा। यह संसारभय दृष्टरीति से नहीं मिटेगा। यह अदृष्ट के द्वारा ही मिटेगा। साधनानुष्ठान से प्रसन्न होने वाले श्रीभगवान् का अनुग्रह ही वह अदृष्ट है।

इस सांसारिक तापत्रय से छुटकारा पाने के लिये साधनानुष्ठान की आवश्यकता है। तदर्थ स्वस्वरूप और परस्वरूप इत्यादि के विषय में विशदज्ञान को प्राप्त करना चाहिये। देहातिरिक्त जीवात्मा का स्वरूप ज्ञानानन्दरूप है। श्रीभगवान् का शेष बनकर रहना अर्थात् श्रीभगवान् के लिये बने रहना यही जीवात्मा का स्वभाव है। इन स्वरूप स्वभावों को समझने पर जीवात्मा श्रीभगवान् की उपासना करने के लिये तत्पर हो जायेगा। इस जीवात्मा के भी अन्तरात्मा परमात्मा हैं। उनका कोई आत्मा नहीं है। अतएव वे परमात्मा कहे जाते हैं। परमात्मा जीवात्मा के धारक नियामक एवं स्वामी हैं। उनका स्वरूप सबके स्वामी एवं शासक बनकर रहना है। आश्रितसौलभ्य इत्यादि उनके स्वभाव हैं। इन स्वरूप स्वभावों के कारण ही परमात्मा उपास्य बने हैं। इनके न रहने पर वे उपास्य नहीं बन सकते। उपर्युक्त स्वरूप स्वभाव वाले परमात्मा ही प्राप्य हैं वे सदा से बने बनाये हुये हैं। इसलिये इन्हें सिद्धप्राप्य कहा जाता है।

इनको प्राप्त करने का उपाय उपासन है जो विस्तार से कहा जा चुका है। श्रीभगवान् की प्राप्ति साध्यप्राप्य है क्योंकि यह साधना से सिद्ध होती है। श्रीभगवान् को प्राप्त करने पर जीवात्मा के उस स्वरूप का आविर्भाव होता है जो संसारदशा में तिरोहित था। जीवात्मा का वह स्वरूप तथा परमात्मा का स्वरूप भी एक सा है। अन्तर यही है कि परमात्मा का स्वरूप सदा आविर्भूत रहता है। जीवात्मा का स्वरूप संसारदशा में तिरोहित एवं मुक्ति में आविर्भूत रहता है। यह स्वरूप "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इस वाक्य के द्वारा प्रतिपादित गुणाष्टक है। इन आठगुणों के विकसित होते ही मुक्त जीव सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा उनका संकल्प व्यर्थ नहीं होता। स्वरूपाविर्भाव होते ही ब्रह्मानुभव होने लगता है। वह ब्रह्मानुभव अपारआनन्दरूप बन जाता है क्योंकि ब्रह्म अत्यन्त अनुकूलरूप में अनुभूत होता है। अनुकूलरूप में वस्तु का अनुभव करना ही आनन्द कहलाता है।

इन अर्थों को अर्थात् देहातिरिक्त आत्मा के स्वरूप और स्वभाव उसके अन्तर्यामी परमात्मा के स्वरूप और स्वभाव उसके उपासन और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले स्वरूपाविर्भाव एवं आनन्दमय ब्रह्मानुभव को सभी वेदान्तवाक्य बतलाते हैं। इनका प्रतिपादन करने के लिये ही वे प्रवृत्त हैं। इनके प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य है। आगे कई वेदान्तवाक्य उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।

सर्वप्रथम "तत्त्वमसि" इस वाक्य को लिया जाय। यह वाक्य ६ प्रकार के तात्पर्यलिङ्गों से युक्त होने के कारण प्रथम लेने योग्य है। यह वाक्य बतलाता है कि जीव ब्रह्मात्मक है, जीव का अन्तरात्मा ब्रह्म है जीव अपने अन्तरात्मा के रूप में परब्रह्म को लिये हुये रहता है। यही जीव का ब्रह्मात्मकत्व है। इस वाक्य में श्वेतकेतु नामक जीवविशेष का ब्रह्मात्मकत्व वर्णित है। दूसरा वाक्य है "अयमात्मा ब्रह्म" यह वाक्य उपर्युक्तरीति से सभी जीवों को अर्थात् जीवसामान्य को ब्रह्मात्मक बतलाता है। इस प्रकार अभेद वाक्यों से जीवों का ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध है। अभेद वाक्यों का यह बतलाने में तात्पर्य नहीं कि जीव और ब्रह्म का स्वरूपैक्य है। वैसा मानने पर वे भेद श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी जो जीव और ब्रह्म में भेद बतलाती हैं। तथा उन घटक श्रुतियों से भी विरोध उपस्थित होगा जो जीव को शरीर तथा ब्रह्म को आत्मा कहकर इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध को बतलाती हैं। इसलिये उपर्युक्तरीति से जीव को ब्रह्मात्मक बतलाने में ही अद्वैतश्रुतियों का तात्पर्य सिद्ध होता है।

जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव को बतलाने वाली श्रुतियाँ घटकश्रुति मानी जाती हैं। उनको घटकश्रुति मानने का कारण यह है कि वे भेदश्रुति और अभेदश्रुतियों में उपस्थित विरोध को शान्त कर उन्हें परस्पर संगत कर देती हैं। वह घटकश्रुति यह है कि "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्मा अन्तर्याम्यमृतः" अर्थात् जो परमात्मा जीवात्मा में रहता है, अन्दर रहता है, जिसे जीव नहीं जाना, जिसका जीवात्मा शरीर है, तथा जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वही तुम्हारा अन्तरात्मा निर्दोष अन्तर्यामी है। यह वाक्य जीवात्मा को शरीर एवं ब्रह्म

को उसके अन्दर रहने वाला अन्तर्यामी परमात्मा कहता है। इससे जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध प्रमाणित होता है। इससे भेदश्रुति और अभेदश्रुतियों में विरोध शान्त होता है इस जड़शरीर और जीवात्मा में जैसा भेद है, वैसा ही जीव और परमात्मा में भेद है। इसी भेद को भेद श्रुतियाँ बतलाती हैं। शरीर और जीवात्मा में भेद रहने पर भी लोक में यह व्यवहार देखने में आता है कि मनुष्य जानता है, देव सुखी है, इत्यादि। इस व्यवहार में देव मनुष्य आदि शब्द विशेषण के रूप में उन २ शरीरों को बतलाते हुये विशेष्य के रूप में उन २ देहों में रहने वाले जीवात्मा को बतलाते हैं। मनुष्य जानता है इस व्यवहार का यही अर्थ है कि मनुष्यशरीरविशिष्ट आत्मा जानता है। इसी प्रकार देव सुखी है इत्यादि व्यवहार में भी समझना चाहिये। वैसे ही जीववाचक तुम हम इत्यादि शब्द भी जीवविशिष्ट परमात्मा को बतलाने में सामर्थ्य रखते हैं। "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदवाक्य जीवान्तर्यामी और ब्रह्म में अभेद को बतलाते हुये यह सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म को आत्मा के रूप में लिये हुये है। यहाँ एक ही त्वं पद से जीव विशेषण रूप में परमात्मा विशेष्य रूप में अभिहित है। इससे इनमें भेद ही सिद्ध होता है इस तत्त्व को न समझ कर कई वादी भ्रम से यह समझ बैठते हैं कि यह वाक्य जीव और ब्रह्म में अभेद बतलाता है। वैसा मानने पर भेदश्रुति और घटकश्रुतियों से विरोध उपस्थित होगा। इसलिये अभेद श्रुतियों का तात्पर्यार्थ यही सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्मात्मक है।

जीवों का अन्तरात्मा परमात्मा कौन देवता है? इस अर्थ को एक वाक्य बतलाता है। वह यह है कि "एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" अर्थात् पापरहित यह सर्वभूतों का अन्तरात्मा दिव्य देव एक नारायण ही है। इस वाक्य से सिद्ध होता है कि नारायणदेव ही अन्तरात्मा है।

वर्णाश्रमधर्मों के अनुष्ठान से ब्रह्मविद्या सिद्ध होती है। इस अर्थ को एक वाक्य बतलाता है। वह यह है कि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" अर्थात् ब्राह्मण वेदाध्ययन यज्ञ दान तपस्या और उपवास इत्यादि के द्वारा ब्रह्मविद्या को प्राप्त करना चाहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन यज्ञ दान और तपस्या इत्यादि के द्वारा ही ब्रह्मविद्या प्राप्त हो सकती है। ये ब्रह्मविद्या के अङ्ग हैं।

उपासन ही भगवत्प्राप्ति का उपाय है। इस अर्थ को एक वाक्य बतलाता है। वह यह है कि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला अर्थात् ब्रह्म की उपासना करने वाला साधक परब्रह्म को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि उपासनरूप ब्रह्मविद्या ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन है।

ब्रह्मविद्या को छोड़कर दूसरा कोई साधन नहीं जो ब्रह्म को प्राप्त करा सके। इस अर्थ को एक वाक्य बतलाता है वह यह है कि "तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" अर्थात् यहाँ पर उस परमपुरुष को इस प्रकार जानने वाला अर्थात् उपासन करने वाला साधक मुक्त हो जाता है। इसे छोड़

आत्मा ज्ञानस्वरूप होता हुआ दूसरे ज्ञान को धर्म के रूप में धारण करता है यह दूसरा ज्ञान द्रव्य सुख दुःख इत्यादि विविधरूप में कर्मानुसार परिणत होता रहता है। जब सुख रूप में परिणत होता है तब अनुकूल लगता है जब दुःख रूप में परिणत होता है तब प्रतिकूल लगता है। धर्मभूतज्ञान के ये सुख दुःख इत्यादि परिणाम कर्मकृत हैं, अतएव औपाधिक हैं। जब कर्मरूपी उपाधि पूर्णरीति से नष्ट हो जायेगी, तब धर्मभूतज्ञान के ये परिणाम नहीं होंगे। उस समय धर्मभूतज्ञान अत्यन्तानुकूल आनन्दरूप में ही परिणत होता रहेगा। अतएव कर्मोपाधिरहित मुक्तात्माओं को सदा आनन्द ही प्राप्त होता रहता है। आत्मरूपी धर्मिज्ञान एवं उसका आश्रय लेकर रहने वाले धर्मभूतज्ञान में यह अन्तर है कि दूसरा कर्मानुसार कभी २ प्रतिकूल रूप में भासता हुआ दुःख रूप को धारण करता है, किन्तु आत्मरूपी धर्मिज्ञान सदा अनुकूल रूप में ही भासता रहता है कभी वह प्रतिकूल रूप में नहीं भासता है। अतएव सबको अपना आत्मा सदा प्रिय ही लगता है। कर्मों के पूर्णरीति से नष्ट हो जाने पर धर्मभूतज्ञान भी सदा के लिये अनुकूल आनन्द रूप में ही अनुभूत होता है। इस विवेचन से स्पष्ट हुआ कि जीवात्मा का स्वाभाविक स्वरूप ज्ञानानन्द है, तथा जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म भी ज्ञानानन्द है। यह अर्थ निम्नलिखित वचन से प्रमाणित होता है। वह वचन यह है कि—

निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः।
दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः॥

अर्थात् आत्मा स्वाभाविक रूप में आनन्दमय है, ज्ञानमय है, तथा निर्मल है। दुःख अज्ञान और मल इत्यादि प्रकृतिधर्म हैं, ये आत्मगत धर्म नहीं हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यह कैसे माना जा सकता है कि देव मनुष्य इत्यादि भेद आत्मा में नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र प्रमाण से आत्मा में देव मनुष्य आदि भेद प्रमाणित होते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीरविशिष्ट आत्मा का ग्रहण करने वाले उपर्युक्त प्रमाण आत्मा में औपाधिक देव मनुष्य आदि भेद को बतलाते हैं। शरीर से विलक्षण विशुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन करने के लिये प्रस्तुत शास्त्रवचन यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा में देव मनुष्य आदि भेद औपाधिक हैं, आत्मा वास्तव में इन भेदों से रहित है तथा ज्ञानानन्दस्वरूप है, एवं ज्ञानानन्द गुण वाला है।

आत्मा में दो प्रकार का भेद है। एक देव आदि भेद है जो कर्मकृत देहसम्बन्ध के कारण हुआ करता है। मोक्षदशा में यह भेद नहीं रहता क्योंकि सभी कर्म मोक्षदशा में नष्ट हो जाते हैं, देवादिप्राकृत-शरीरसम्बन्ध उस समय नहीं रहता। अतएव जीवात्माओं में देवादिभेद मोक्षदशा में नहीं रहता। दूसरा भेद है स्वरूपभेद। यह भेद मोक्षदशा में भी बना रहता है जिस प्रकार स्वर्ण से बने हुये अनेक घट स्वर्ण की दृष्टि से एक से होने पर भी परस्पर भिन्न होते हैं, उसी प्रकार मोक्षदशा में सभी जीवात्मा ज्ञानानन्द-स्वरूप होने के कारण एक से होने पर भी परस्पर भेद रखते हैं। मोक्ष में भी प्रत्येक जीव अपने को

दूसरों से भिन्न ही समझता है। यह नहीं कि मोक्ष में एक जीव अपने को दूसरे से अभिन्न मान लेता हो। मोक्ष में भी प्रत्येक जीव अपने को "अहम्" अर्थात् "मैं" ऐसा समझता है, अन्य जीवों को "यह जीव" और "वह जीव" ऐसा समझता है। एक जीव दूसरे जीव को अहं के रूप में नहीं समझता है। इसलिये मानना पड़ता है कि कर्मकृत देवादिभेद नष्ट होने के बाद भी परिशुद्धज्ञानानन्दस्वरूप में पहुँचने के बाद भी जीवात्माओं में स्वरूपभेद बना रहता है। यह भेद देवादि शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि कर्मकृतदेवादिभेद ही देवादि शब्दों से व्यक्त किये जा सकते हैं। यह स्वरूपभेद केवल स्वसंवेद्य है अर्थात् अपनी समझ में ही आने वाला है क्योंकि विशुद्धदशा में पहुँचने के बाद भी प्रत्येक जीव अपने को अहं के रूप में तथा अन्यान्य जीवों को "यह वह" के रूप में समझता है इस प्रकार समझने के कारण ही वह स्वरूपभेद सिद्ध होता है। परिशुद्ध सभी जीवात्मा ज्ञानस्वरूप हैं। ज्ञानस्वरूप कहकर ही उनका निर्देश शब्दों से किया जा सकता है जो परिशुद्धावस्था में पहुँच गये हैं। ज्ञानस्वरूपता सभी जीवों में समानरूप से संगत होती है।

अन्तर्यामिस्वरूपम्

परमात्मा का स्वरूप

एवंविधचिदचिदात्मकप्रपञ्चस्योद्भवस्थितिप्रलयसंसारनिवर्तनैकहेतुभूतः समस्तहेयप्रत्यनीकतया (अनन्त) कल्याणैकतानतया च स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणस्वरूपोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः सर्वात्मपरब्रह्मपरज्योतिः परतत्त्वपरमात्मसदादिशब्दभेदैर्निखिलवेदान्तवेद्यो भगवान्नारायणः पुरुषोत्तमः इत्यन्तर्यामिस्वरूपम्।

आगे यह जिज्ञासा उठती है कि श्रुति स्मृति इतिहास और पुराणों में अन्तर्यामिस्वरूप किस प्रकार वर्णित है। उपर्युक्त जिज्ञासा को शान्त करने के लिये श्रीरामानुज स्वामी जी अन्तर्यामिस्वरूप का वर्णन करते हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्रतीत होने वाला यह प्रपञ्च चेतन और अचेतन पदार्थों से परिपूर्ण है। इस प्रपञ्च में अनन्त चेतनपदार्थ तथा प्रकृति परिणामभूत अनन्त अचेतनपदार्थ भरे रहते हैं। अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उपर्युक्त चेतनाचेतनमय प्रपञ्च की सृष्टि स्थिति और प्रलय करते हैं अतएव वे जगत्कारण कहलाते हैं। वे जगत्कारण हैं, इतना ही नहीं, किन्तु इन बद्ध चेतनों को संसार से छुड़ाकर आनन्दमय मोक्षपद में पहुँचाने वाले भी वे ही हैं। अतएव वे मोक्षप्रद कहलाते हैं। साथ ही सभी वस्तुओं से विलक्षण भी हैं। श्रीभगवान् से व्यतिरिक्त जितने पदार्थ हैं उन सबसे श्रीभगवान् अत्यन्त विलक्षण हैं। जगत् में जितने जड़पदार्थ हैं, उनमें विकार इत्यादि दोष रहते हैं, इस जगत् में जितने चेतन हैं उनमें दुःख इत्यादि दोष रहते हैं। श्रीभगवान् एक ही ऐसे पदार्थ हैं जो सभी दोषों से सदा रहित रहते हैं, तथा आश्रितों के

सभी दोषों को दूर करते रहते हैं। इस दृष्टि से श्रीभगवान् सर्वपदार्थों से विलक्षण सिद्ध होते हैं। किंच, श्रीभगवान् अनन्त आनन्द के भण्डार होते हुये आश्रितों को अपार आनन्द देने वाले हैं। इस दृष्टि से भी श्रीभगवान् सर्वविलक्षण सिद्ध होते हैं। अनन्त ज्ञानानन्द ही श्रीभगवान् का स्वरूप है। किंच, श्रीभगवान् में ऐसे २ कल्याणगुण विद्यमान हैं जिनसे श्रीभगवान् का उपास्यत्व एवं प्राप्यत्व सिद्ध होता है। वे सभी गुण जगत् का कल्याण करने वाले हैं। अतएव कल्याणगुण कहलाते हैं। वे गुण असंख्य हैं, तथा श्रीभगवान् में वे पराकाष्ठा में पहुँचे हुये हैं। अन्तर्यामी श्रीभगवान् सम्पूर्ण उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ हैं। उपनिषदों में विभिन्न शब्दों से इनका वर्णन पाया जाता है। उनमें कई साधारण शब्द हैं, तथा कई विशेष शब्द हैं। "सर्वात्मा, परब्रह्म परज्योतिः, परतत्त्व परमात्मा, सत्" इत्यादि शब्द साधारण शब्द हैं। ये शब्द प्रकरण आदि के अनुसार श्रीभगवान् के प्रतिपादक होते हुये भी दूसरे अर्थों को बतलाने में भी क्षमता रखते हैं। अतएव ये शब्द साधारण शब्द माने जाते हैं। "भगवान् नारायण और पुरुषोत्तम" इत्यादि विशेष शब्द हैं। ये शब्द एकमात्र श्रीभगवान् के वाचक हैं। अतएव ये शब्द विशेष शब्द माने जाते हैं। उपनिषदों में उपरिनिर्दिष्ट सामान्य शब्द एवं विशेष शब्दों से श्रीभगवान् ही प्रतिपादित है। अन्तर्यामी श्रीभगवान् सबका आत्मा है अतः वे सर्वात्मा कहलाते हैं। वे सबसे बड़े एवं सबको बढ़ाने वाले हैं। इसलिये वे परब्रह्म कहलाते हैं। वे अपार तेज से सम्पन्न हैं, इसलिये परज्योति कहे गये हैं। वे श्रेष्ठ-तत्त्व हैं, अतएव परतत्त्व कहे जाते हैं। वे सबके अन्दर रहने वाले अन्तरात्मा हैं। उनके अन्दर रहने वाला कोई दूसरा आत्मा नहीं है। इसलिये परमात्मा कहे गये हैं। वे सदा विद्यमान होने से सत् कहलाते हैं। वे निर्दोष एवं षड्गुणसम्पन्न हैं। इसलिये वे भगवान् कहे जाते हैं। लीलाविभूति भोगविभूति एवं उनमें विद्यमान सभी चेतनाचेतनपदार्थ नार कहे जाते हैं इन पदार्थों का आधार नियामक और स्वामी होने के कारण श्रीभगवान् नारायण कहे जाते हैं। बद्ध एवं मुक्तपुरुषों से श्रीभगवान् अत्यन्त विलक्षण हैं। अतएव वे पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। इस प्रकार सभी उपनिषदों में विविध शब्दों के द्वारा श्रीभगवान् वर्णित है। ये श्रीभगवान् ही सबके अन्दर रहकर सबको नियमन करते रहते हैं। अतएव वे सर्वेश्वर एवं सर्वान्तर्यामी कहलाते हैं। इस प्रकार उपनिषदों में अन्तर्यामिस्वरूप वर्णित है।

श्रुतीनां तद्वैभवप्रतिपादकत्वम्

परमात्मा के वैभव के प्रतिपादन में श्रुतियों का तात्पर्य

तस्य च वैभवप्रतिपादनपराः श्रुतयः स्वेतरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातान्तरात्मतया निखिलनियमनं तच्छक्ति–तदंश–तद्विभूति–तद्रूप–तच्छरीर–तत्तनु–प्रभृतिभिः शब्दैस्तत्सामानाधिकरण्येन च प्रतिपादयन्ति।

शाङ्करमतसंक्षेपः

श्रीशङ्कराचार्य मत का संक्षिप्त वर्णन

तस्य वैभवप्रतिपादनपराणामेषां सामानाधिकरण्यादीनां विवरणे प्रवृत्ताः केचन निर्विशेषज्ञानमात्रमेव ब्रह्म, तच्च नित्यमुक्तस्वप्रकाशस्वभावमपि तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्यावगतजीवैक्यं, ब्रह्म वाज्ञं बध्यते मुच्यते च, निर्विशेषचिन्मात्रातिरेकीशेशितव्याद्यनन्तविकल्पस्वरूपं कृत्स्नं जगन्मिथ्या, कश्चिद्बद्धः कश्चिन्मुक्त इतीयं व्यवस्था न विद्यते, इतः पूर्वं केचन मुक्ता इत्ययमर्थो मिथ्या, एकमेव शरीरं जीववत् निर्जीवानीतराणि शरीराणि, तच्छरीरं किमिति न व्यवस्थितम्। आचार्यो ज्ञानोपदेष्टा मिथ्या, शास्त्रप्रमाता च मिथ्या, शास्त्रं च मिथ्या, शास्त्रजन्यं ज्ञानं च मिथ्या, एतत्सर्वं मिथ्याभूतेनैव शास्त्रेणावगम्यते—इति वर्णयन्ति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने द्वितीयमङ्गलाचरण श्लोक की व्याख्या करते हुये तथा सर्वप्रथम श्रीशङ्कराचार्य के मत का संग्रह करते हुये यह कहा कि सभी श्रुतियों का समन्वय करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि अभेदश्रुति इत्यादि वचन भी उपर्युक्तरीति से श्रीभगवान् की महिमा को बतलाने में ही तात्पर्य रखते हैं। किन्तु अभेदश्रुति इत्यादि वचनों की व्याख्या करते हुये श्रीशङ्कराचार्य इत्यादि वादियों ने दूसरे ही प्रकार से निष्कर्ष निकाला है। उन लोगों ने श्रुतिवचनों के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि ब्रह्म ही सत्य है। वह ब्रह्म केवल ज्ञानस्वरूप है, उस ब्रह्म में कहीं जड़ता नहीं रहती है। वह ब्रह्म निर्विशेष है, उसमें कोई भी विशेष नहीं रहता। न उसमें ज्ञातृत्वरूपी विशेष है, न ज्ञेयत्वरूपी विशेष है। अन्यान्य गुणरूपी विशेषों के विषय में क्या कहना है? वे तो हैं ही नहीं। अतएव ब्रह्म निर्धर्मक निर्गुण सिद्ध होता है। ब्रह्म जब ज्ञानस्वरूप है तब उसमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व रह ही कैसे सकता है। इसलिये ब्रह्म को निर्विशेष मानना चाहिये।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि उपनिषदों में ऐसे वचन भी विद्यमान हैं जिनसे ब्रह्म सविशेष सिद्ध होता है। उन वचनों की क्या गति होगी? इसके उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि वे वचन तात्त्विकार्थ को नहीं बतलाते हैं, किन्तु भ्रान्तिसिद्ध सविशेषता का वर्णन करते हैं। उन वचनों का अकाट्य प्रामाण्य नहीं।

आगे अद्वैतवादी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानस्वरूप है, अतएव स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश वस्तु के विषय में अज्ञान हो ही नहीं सकता। अतएव उसका बन्ध भी नहीं है। ब्रह्म नित्यमुक्त है, वह सदा मुक्त ही है कभी उसका बन्ध नहीं होता। स्वप्रकाश ब्रह्म का नित्यमुक्त बने रहना यही स्वभाव है। ऐसा होने पर भी

यह मानना पड़ता है कि वह ब्रह्म और जीव एक है क्योंकि "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेद वाक्य जीव और ब्रह्म में ऐक्य को सिद्ध करते हैं। श्रुति सिद्ध इस ऐक्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। इस ऐक्य को सिद्ध करने के लिये यह मानना पड़ता है कि नित्यमुक्त स्वप्रकाश वह ब्रह्म ही अविद्या से तिरोहित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है, विविध भेद भ्रम का अनुभव करता हुआ संसार बन्ध में फँस जाता है तथा अद्वैतात्मज्ञान से संसार से छूट जाता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित होने के कारण जीवब्रह्मैक्य को मानना पड़ता है, उसी प्रकार श्रुतिप्रतिपादित होने के कारण ईश्वर और उनके शासन में रहने वाले चेतनाचेतन प्रपञ्च इत्यादि भेदों को भी क्यों न मानना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी यह कहते हैं कि उपर्युक्त श्रुतिप्रतिपादित भेदों को मिथ्या मानना चाहिये तभी अद्वैतश्रुतियों का प्रामाण्य बना रहेगा, अन्यथा नहीं। इसलिये मानना पड़ता है कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को छोड़कर यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है जिसमें ईश्वर और ईशितव्य इत्यादि अनन्त भेद निहित हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अद्वैतसिद्धान्त में आत्मा एक माना जाता है, आत्मभेद नहीं माना जाता है। ऐसी स्थिति में बद्ध मुक्त व्यवस्था कैसे बनी रहेगी ? बहुत से जीव मुक्तपद पर पहुँच गये हैं, बहुत से अब भी संसारबन्ध में पड़े हुये हैं। यह अर्थ शास्त्रप्रमाणित है। यही बद्ध मुक्त व्यवस्था है। यह व्यवस्था आत्मभेद मानने पर ही संगत होती है क्योंकि आत्मभेद मानने पर यह कहा जा सकता है कि कई जीव मुक्त हो गये हैं तथा कई जीव बद्ध बने हुये हैं। आत्मभेद न मानने पर इस व्यवस्था को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि कोई जीव बद्ध है, दूसरा जीव मुक्त है ऐसी व्यवस्था है ही नहीं। आत्मैक्य ही सिद्धान्त है। यह व्यवस्था सर्वथा अमान्य है।

प्रश्न—"शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तः" कहकर शास्त्रों में कहा गया है कि श्रीशुकदेव जी मुक्त हुये हैं, तथा श्रीवामदेव जी मुक्त हुये हैं। अब भी अनेक जीवात्मा बद्ध हैं। इसलिये बद्ध मुक्त व्यवस्था को मानना चाहिये। उत्तर—शास्त्र में यह जो कहा गया है कि कई मुक्त हो गये हैं यह बात भी मिथ्या ही है।

प्रश्न—सभी शरीरों में नाना प्रकार की चेष्टायें देखने में आती हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन शरीरों में आत्मा है। सब शरीरों में विद्यमान आत्मा भिन्न २ हैं क्योंकि एक सुखी है, दूसरा दुःखी है एक के सुख और दुःख का पता दूसरे को नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में अलग २ आत्मा रहता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि आत्मभेद मानना चाहिये। आत्मभेद मानने पर बद्ध मुक्त व्यवस्था भी सिद्ध हो जायेगी। इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि एक शरीर ही जीव वाला है, अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं। यहाँ पर यह दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है। मान लिया जाय कि एक मनुष्य ऐसा स्वप्न देखता है कि स्वयंविध शरीरों को लेकर विविध कार्य करता रहता है। वहाँ स्वप्न में दिखाई

उपनिषदों में भेदश्रुतियों से सिद्ध होता है कि चेतन अचेतन और ईश्वर भिन्न २ पदार्थ हैं। घटकश्रुतियों से यह सिद्ध होता है कि चेतनतत्त्व और अचेतनतत्त्व ईश्वर का शरीर हैं। ईश्वर इनका आत्मा है। इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध है। ये चेतनाचेतनपदार्थ ईश्वर पर आधारित हैं, ईश्वर के नियमन में रहते हैं, ईश्वर के लिये बने हुये हैं। इसलिये ये ईश्वर का शरीर माने जाते हैं। ईश्वर इनके आधार नियामक एवं स्वामी हैं। अतएव वे इनकी आत्मा कहे जाते हैं। लोक में भी शरीरशब्द एवं आत्मशब्द इस अर्थ को लेकर ही प्रयुक्त होते हैं। लोक में देखा जाता है कि शरीरवाचक देव मनुष्य आदि शब्द उन शरीरों में रहने वाले आत्मा तक के वाचक होते हैं। जिस प्रकार जाति व्यक्ति का आश्रय लेकर तथा गुण द्रव्य का आश्रय लेकर बने रहते हैं, उसी प्रकार शरीर भी आत्मा का आश्रय लेकर बना रहता है। जिस प्रकार जाति व्यक्ति को छोड़कर रह नहीं सकती, गुण द्रव्य को छोड़कर रह नहीं सकता, उसी प्रकार शरीर भी आत्मा को छोड़कर उसी रूप में रह नहीं सकता। जिस प्रकार जाति सदा व्यक्त्याश्रित वस्तु होने के कारण ही जाति-वाचक गवादि शब्द जाति को बतलाते हुये जात्याश्रय गवादि व्यक्ति का बोध कराते हैं, गुण द्रव्याश्रित वस्तु होने के कारण गुणवाचक नील इत्यादि शब्द गुणों को बतलाते हुये गुणाश्रय द्रव्य तक का बोध कराते हैं। उसी प्रकार देहवाचक देव मनुष्य आदि शब्द भी उन देहों को बतलाते हुये उनके अन्दर आत्मा के रूप में अवस्थित जीवों तक का बोध कराते हैं देव सुखी हैं, मनुष्य जानता है इत्यादि प्रयोगों में यह बात देखने में आती है। जगत् में जितने चेतनाचेतनपदार्थ हैं, वे सब श्रीभगवान् का शरीर हैं। श्रीभगवान् इनकी आत्मा हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि चेतनाचेतनवाचक शब्द भी उनके अन्तरात्मा श्रीभगवान् तक का बोध कराने में क्षमता रखते हैं। परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण चेतनाचेतनपदार्थों की अन्तरात्मा हैं। इस बात को बतलाने के लिये अभेदश्रुतियाँ प्रवृत्त हैं। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदश्रुतियाँ हैं। इनका अर्थ यही है कि इस सम्पूर्ण जगत् का अन्तरात्मा ही ब्रह्म है, तथा समक्ष-उपस्थित चेतन का अन्तरात्मा जगत्कारण ब्रह्म है। इन अभेदश्रुतियों का भी श्रीभगवान् के वैभव का प्रतिपादन करने में ही तात्पर्य हैं। ये श्रुतियाँ यही बतलाती हैं कि श्रीभगवान् इन चेतनाचेतनपदार्थों के आधार नियामक एवं स्वामी हैं। ये पदार्थ श्रीभगवान् के द्वारा धार्य एवं नियाम्य शेषवस्तु हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् की महिमा ही इन श्रुतियों से बतलाई जाती है। इस महिमा को बतलाने के लिये प्रवृत्त श्रुतियों ने दोनों पद्धतियों को अपनाया है। (१) अभेदनिर्देश की पद्धति है और (२) भेदनिर्देश की पद्धति है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदनिर्देश इसी महिमा को व्यक्त करते हैं। तथा निम्नलिखित भेदनिर्देश भी इसी महिमा को व्यक्त करते हैं। विभिन्न वचनों में यह बतलाया गया है कि यह जगत् श्रीभगवान् की शक्ति है, श्रीभगवान् का अंश है, श्रीभगवान् की विभूति है, श्रीभगवान् का रूप है श्रीभगवान् का शरीर है, एवं श्रीभगवान् को तनु है इत्यादि। यहाँ पर ये वचन ध्यान देने योग्य हैं कि (१) "परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म की शक्ति है। (२) "विष्णोरंशा द्विजोत्तम"

अर्थात् हे द्विजोत्तम ? ये पदार्थ श्रीविष्णु के अंश हैं। (३) "विष्णोरेता विभूतयः" अर्थात् ये सभी पदार्थ श्रीविष्णु की विभूतियाँ हैं। (४) "परस्य ब्रह्मणो रूपम्" यह जगत् परब्रह्म का रूप है। (५) "जगत् सर्व शरीरं ते" हे श्रीभगवन् ? सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है। (६) "तत् सर्व वै हरेस्तनुः" सम्पूर्ण जगत् श्रीभगवान् की तनु अर्थात् शरीर है। (७) "तानि सर्वाणि तद्वपुः" ये सब पदार्थ श्रीभगवान् का शरीर हैं। इन वचनों से उपर्युक्त अर्थ सिद्ध होते हैं। कारण अपनी शक्ति के द्वारा कार्य को उत्पन्न करता है, श्रीभगवान् इन चेतनाचेतनपदार्थों के द्वारा कार्यों को उत्पन्न करते हैं। अतएव ये पदार्थ श्रीभगवान् की शक्ति कहलाते हैं। परब्रह्म सदा चेतनाचेतनपदार्थों से विशिष्ट रहता है, ये पदार्थ परब्रह्म में विशेषण के रूप में निविष्ट रहते हैं। विशेषण विशिष्ट वस्तु का अंश है। अतएव ये पदार्थ परब्रह्म के अंश कहे जाते हैं। ये पदार्थ सदा श्रीभगवान् के नियमन में रहते हैं। इसलिये उनकी विभूति कहे गये हैं। श्रीभगवान् इन पदार्थों के अन्दर व्याप कर इनके नियामक बने रहते हैं, ये पदार्थ उनके द्वारा व्याप्य एवं नियाम्य हैं। इसलिये शरीर कहे जाते हैं। इन भेदनिर्देशों से ईश्वर की उपर्युक्त महिमा ही सिद्ध होती है। अभेदनिर्देशों से चेतनाचेतनपदार्थों को ईश्वर के प्रति शरीर के रूप में अत्यन्त परतन्त्रता ही सिद्ध होती है। इससे ईश्वर की परमस्वतन्त्रता और जगत् की अत्यन्त परतन्त्रता सिद्ध होती है, तथा ईश्वर की अपार महिमा फलित होती है।

सारांश यह है कि भेदश्रुतियों से चेतन अचेतन और ईश्वर में भेद सिद्ध होता है। घटकश्रुतियों से चेतनाचेतनपदार्थ और ईश्वर में शरीरात्मभावसम्बन्ध सिद्ध होता है। जिस प्रकार शरीर और आत्मा में भेद रहने पर भी शरीरात्मभाव के कारण शरीर को विशेषण एवं आत्मा को विशेष्य मानकर शरीरविशिष्ट आत्मा एक कहा जाता है, उसी प्रकार चेतनाचेतन प्रपञ्च और परमात्मा में भेद रहने पर भी इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध होने के कारण चेतनाचेतनों को विशेषण एवं परमात्मा को विशेष्य मानकर चेतना-चेतनविशिष्ट परमात्मा एक माने जाते हैं। यही विशिष्टाद्वैत है। यही अर्थ अभेदश्रुतियों से सिद्ध होता है। सभी श्रुतियों का समन्वय करने पर यही मथितार्थ निकलता है कि नित्यनिर्दोष कल्याणगुणनिधि अनन्त ज्ञानानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीमन्नारायण भगवान् चेतनाचेतनपदार्थों का धारण एवं नियमन करते हुये तथा इनसे आनन्द लेते हुये सदा इनकी अन्तरात्मा बनकर इनसे सदा युक्त रहते हैं। सभी श्रुतियाँ मिलकर इसी महिमा का वर्णन करती हैं।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने सभी श्रुतिस्मृति इतिहास और पुराणों के द्वारा प्रमाणित होने वाले अपने मत का वर्णन कर एक प्रकार से प्रथममङ्गलाचरण श्लोक की व्याख्या की है।

देने वाले सभी शरीर निर्जीव हैं, वह मनुष्य जिस शरीर में अवस्थित होकर स्वप्न देखता है, वही शरीर जीव वाला है। वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। ब्रह्म किसी एक शरीर में अवस्थित होकर यह संसारस्वप्न देखता है। इस स्वप्न में दिखाई देने वाले सभी शरीर निर्जीव हैं, जिस शरीर में रहकर ब्रह्म स्वप्न देखता है, वही शरीर सजीव है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि आत्मभेद है ही नहीं। ऐसी स्थिति में बद्ध मुक्त व्यवस्था कैसे सिद्ध हो सकती है? सार यह है कि एक ही शरीर सजीव माना जाता है तथा अन्यान्य सभी शरीर निर्जीव माने जाते हैं। अन्यान्य शरीर निर्जीव होने के कारण यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता कि वहाँ के जीव एक होने के कारण अन्य शरीरों में होने वाले सुख और दुःख इत्यादि का अनुसन्धान क्यों नहीं करते। प्रश्न इसलिये खण्डित हो जाता है कि अन्य शरीरों में जीव जब हैं ही नहीं, तब अनुसन्धान कैसे हो सकता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि एक शरीर में तो जीव माना जाता है वह जीव श्रवण और मनन आदि के द्वारा अद्वैतज्ञान को प्राप्त कर अब तक मुक्त हो गया होगा, क्योंकि अब तक हुये अद्वैतप्रचार को देखने पर यही मानना पड़ता है कि उस जीव को मुक्त हो जाना चाहिये। यदि वह जीव मुक्त हो गया तो फिर यह संसारस्वप्न कौन देख रहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह मानी हुई बात है कि दिखाई देने वाले इन शरीरों में किसी एक शरीर में ही जीव रहता है, उसी को ही यह संसारस्वप्न दीख रहा है। अन्यान्य सभी शरीर निर्जीव होते हुये सजीव के समान उस स्वप्नदर्शी जीव को दिखाई दे रहे हैं। यही सिद्धान्त है। एक शरीर में ब्रह्म जीव बनकर संसारस्वप्न देख रहा है। उस जीव को अभी तक अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, अतएव संसारस्वप्न अनुवृत्त हो रहा है। वह जीव संसारस्वप्न देखता हुआ ऐसा भी देखता है कि हमको प्रतीत होने वाले इन शरीरों में प्रतीत होने वाले जीवों में एक जीव दूसरे जीव को अद्वैतविद्या का उपदेश देता है, दूसरा जीव अद्वैतज्ञान को प्राप्त कर रहा है इत्यादि। वह जीव यह नहीं देखता है कि हमको कोई अद्वैत उपदेश दे रहा है, हमको अद्वैतज्ञान होता है इत्यादि। भले ही वह जीव दीखने वाले अन्यान्य जीवों को अद्वैतज्ञान सिद्ध देखता रहे, जब तक स्वयं अद्वैतज्ञान को वह जीव प्राप्त न करें, तब तक यह संसारस्वप्न बना ही रहेगा। खास स्वप्न देखने वाले जीव को अभी तक अद्वैतज्ञान नहीं हुआ है। अतएव यह संसार बना रहता है। अबतक यह पता नहीं चला है कि कौन शरीर वास्तव में सजीव है, और कौन शरीर वास्तव में निर्जीव होता हुआ भ्रम से सजीव दिखाई देता है। वस्तुतः शरीर में रहने वाले जीव को ज्ञान होने पर ही बन्ध निवृत्त होगा।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि कम से कम शिष्य आचार्य शास्त्र और शास्त्र से होने वाले तत्त्व-ज्ञान को सत्य मानना चाहिये। ऐसी स्थिति में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि ज्ञान का उपदेश देने वाले आचार्य मिथ्या हैं, आचार्य के उपदेश के अनुसार शास्त्र से ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्य भी मिथ्या है, शास्त्र मिथ्या है। शास्त्रजन्य ज्ञान भी

मिथ्या है। उपर्युक्त सभी अर्थ मिथ्या बनने वाले शास्त्र से ही विदित होते हैं। ब्रह्म को छोड़कर और कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।

इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य इत्यादि अद्वैतविद्याचार्य अपने मत का वर्णन करते हैं। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतसिद्धान्त का वर्णन किया है। इसके विषय में की गई समालोचना आगे प्रस्तुत की जायेगी।

भास्करमतसंक्षेपः

श्रीभास्कराचार्य मत का संक्षिप्त वर्णन

अपरे तु अपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतमपि ब्रह्म तेनैवैक्यावबोधेन केनचिदुपाधिविशेषेण संबद्धं बध्यते मुच्यते च; नानाविधमलरूपपरिणामास्पदं च—इति व्यवस्थिताः।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने द्वितीयमङ्गलाचरण श्लोक के पूर्वार्ध में वर्णित भास्कराचार्य मत की व्याख्या करते हुये यह कहा है कि श्रीभास्कराचार्य द्वैताद्वैत सिद्धान्त को मानने वाले हैं। उन्होंने "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों की व्याख्या करते हुये यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि परब्रह्म "अपहतपाप्मत्व" इत्यादि समस्तकल्याणगुणों से युक्त है क्योंकि उपनिषद् में वर्णित उन गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसलिये ब्रह्म को सगुण मानना चाहिये। इसी परब्रह्म को "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से जीवाभेद कहा जाता है। इस अभेद का तिरस्कार नहीं कर सकते हैं। यहाँ पर यह विरोध उपस्थित होता है कि परब्रह्म सर्वज्ञत्व इत्यादि कल्याणगुणों से सदा युक्त है, जीव अल्पज्ञत्व और दुःख इत्यादि दोषों से युक्त है। इनमें अभेद कैसे घटता है। इस विरोध को शान्त करने के लिये यह मानना चाहिये कि जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों हैं। उनमें अभेद स्वाभाविक है, और भेद औपाधिक है। जिस प्रकार महाकाश और घटाकाश में अभेद स्वाभाविक है, तथा भेद औपाधिक है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में समझना चाहिये। जिस प्रकार महाकाश घटरूपी उपाधि सम्बन्ध पाकर घटाकारा बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अन्तःकरण और देह इत्यादि जड़ उपाधि से सम्बन्ध पाकर जीव बन जाता है। जबतक वह उपाधि से सम्बद्ध रहता है तबतक जीव बनकर रहना होगा तथा तबतक औपाधिक भेद एवं संसारबन्ध बना रहेगा। उपाधि सम्बन्ध छूटते ही जीव संसार से मुक्त होकर परब्रह्म बन जाता है। मोक्ष में जीव और ब्रह्म में अभेद हो जाता है। भेद संसारदशा में है। वह भी औपाधिक है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सिद्ध होता है। इनमें भेद औपाधिक एवं अभेद स्वाभाविक माना जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि

जिस जड उपाधि के कारण ब्रह्म और जीव में औपाधिक भेद होता है, वह जड उपाधि ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभास्कराचार्य कहते हैं कि वह जड उपाधि ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न है। यहाँ भेद और अभेद दोनों भी स्वाभाविक हैं। अभेद दृष्टि से विचारने पर यही निर्णय होता है ब्रह्म ही जड उपाधि बनकर नानाविध दोषरूपी विकारों को प्राप्त करता रहता है। यही अन्तर है कि जड और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक हैं, तथा जीव और ब्रह्म में भेद औपाधिक और अभेद स्वाभाविक है। इस सिद्धान्त में ब्रह्म सगुण है, जगत् सत्य है। अनेक उपाधियों के संयोग से ब्रह्म अनेक जीव बन जाता है। इसलिये बद्ध मुक्त व्यवस्था और शिष्याचार्य व्यवस्था घट जाती है।

यादवमतसंक्षेपः

श्रीयादवप्रकाशाचार्य मत का संक्षिप्त वर्णन

अन्ये पुनरैक्यावबोधयाथात्म्यं वर्णयन्तः स्वाभाविकनिरतिशयापरिमितोदारगुणसागरं ब्रह्मैव सुरनरतिर्यक्स्थावरनारकिस्वर्ग्यपवर्गिचेतनैकस्वभावं स्वभावतो विलक्षणमविलक्षणं च वियदादिनानाविधमलरूपपरिणामास्पदं च—इति प्रत्यवतिष्ठन्ते।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने द्वितीयमङ्गलाचरण श्लोक में उल्लिखित श्रीयादवप्रकाशाचार्य मत का इस प्रकार संक्षिप्त वर्णन किया है कि "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदश्रुतियों के तात्पर्य का वर्णन करते हुये श्रीयादवप्रकाशाचार्य ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि परब्रह्म स्वाभाविक अनन्त कल्याणगुणगणों से सदा युक्त है। अतएव वह सगुण है। परब्रह्म का जड और जीव के साथ भेदाभेद है। श्रीभास्कराचार्य के मत से इस मत में यह अन्तर है कि श्रीभास्कराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में अभेद स्वाभाविक एवं भेद औपाधिक है। श्रीयादवप्रकाशाचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक हैं कोई भी औपाधिक नहीं है। यादवप्रकाशाचार्य का यह कथन है कि जिस प्रकार उपनिषदों में जीव जड और ब्रह्म में भेदाभेद वर्णित हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म में भी भेदाभेद वर्णित हैं। इनको एक प्रकार से मानना चाहिये। सबको स्वाभाविक मानना चाहिये, किसी को भी औपाधिक नहीं मानना चाहिये। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वभावतः ही जड से भिन्न एवं अभिन्न है, तथा स्वभावतः ही जीव से भिन्न एवं अभिन्न है। अभेद दृष्टि से विचारने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि समस्त कल्याणगुण युक्त ब्रह्म ही देव मनुष्य तियक् स्थावर नारकी स्वर्गी एवं मुक्त इत्यादि रूप से विविध जीव बनकर रहता है तथा इतने से विलक्षण बनकर भी रहता है तथा वही परब्रह्म जड पदार्थ से अभिन्न बनकर आकाश इत्यादि विविध दोषमय परिणामों को प्राप्त करता रहता है तथा जड पदार्थ से विलक्षण बनकर भी रहता है। इस

प्रकार जड और ब्रह्म में तथा जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक रूप से भेद और अभेद सिद्ध होते हैं। यही श्रीयादवप्रकाशाचार्य का मत है। इस मत में भी ब्रह्म सगुण जगत् सत्य फलित होता है। बद्ध मुक्त व्यवस्था एवं शिष्याचार्य व्यवस्था इत्यादि का सांगत्य सिद्ध होता है।

शाङ्करमतनिराकरणम्

श्रीशङ्कराचार्य मत का निराकरण

शाङ्करमतस्यश्रुत्यपेतत्वनिरूपणम्—उसमें श्रुतिविरोध का प्रतिपादन

उभयलिङ्ग प्रतिपादक श्रुतिवचनविरोधः सद्विद्या निरूपणारम्भश्च

उभयलिङ्ग प्रतिपादक श्रुतिवचनों से विरोध और सद्विद्या का सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य

तत्र प्रथमे पक्षे श्रुत्यर्थपर्यालोचनपरा दुष्परिहरान् दोषानुदाहरन्ति, तथा हि—प्रकृतपरामर्शितच्छब्दावगतस्य ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयादयः, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इत्यारभ्य "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" इत्यादिभिः पदैः प्रतिपादिताः, तत्सम्बन्धितया प्रकरणान्तरनिर्दिष्टाः सर्वज्ञता—सर्वशक्तित्व—सर्वेश्वरत्व—सर्वप्रकारत्व—समाभ्यधिकनिवृत्ति—सत्यकामत्व—सत्यसङ्कल्पत्व—सर्वावभासकत्वाद्यनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणा "अपहतपाप्मे" त्याद्यनेकवाक्यावगतनिरस्तनिखिलदोषता च सर्वे तस्मिन् पक्षे विहन्यन्ते।

(क) इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने तीनों मतों का वर्णन कर इनका निराकरण किया हैं। यह निराकरण द्वितीय श्लोक के उत्तरार्ध में संगृहीत है। सर्वप्रथम श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीशङ्कराचार्य मत का निराकरण करते हुये यह कहा है कि उपनिषद के एकाग्र वाक्यमात्र से तृप्त न होकर सम्पूर्ण उपनिषदों के सभी वाक्यों के तात्पर्यार्थों का पर्यालोचन करने में प्रवृत्त विद्वान प्रथम वर्णित श्रीशङ्कराचार्य के पक्ष में निम्नलिखित दोषों को बतलाते हैं जिनका निराकरण अशक्य है। तथाहि—"तत्त्वमसि" वाक्य का अर्थ करते हुये श्रीशङ्कराचार्य इत्यादि अद्वैतियों ने यह माना है कि "तत्" शब्द से निर्गुण ब्रह्म विवक्षित है। उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं क्योंकि तच्छब्द पूर्व वर्णित ब्रह्म को बतलाता है। पूर्व वर्णित ब्रह्म सगुण है इसमें दो हेतु हैं। (१) "तत्त्वमसि" वाक्य के पूर्व "तदैक्षत बहु स्या प्रजायेय" ऐसा प्रारम्भ करके "सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इत्यादि वाक्य हैं। उन वाक्यों के द्वारा ब्रह्म जिन २ गुणधर्मों से

युक्त बतलाया गया है, उन गुणधर्मों से युक्त ब्रह्म ही "तत्त्वमसि" के तच्छब्द से बतलाया गया है। वे वाक्य ब्रह्म को सगुण बतलाते हैं। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इस वाक्य का यह अर्थ है कि उस जगत्कारण सत् पदार्थ ने ऐसा संकल्प किया कि मैं व्यष्टि सृष्टि के रूप में बहुत बनूँ, तदर्थ समष्टि सृष्टि के रूप में जन्म लेलूँ। इस वाक्य से सिद्ध होता है कि उस जगत्कारण सद्वस्तु ने संकल्प किया है। वह सद्वस्तु ब्रह्म ही है। इस वाक्य से ब्रह्म में संकल्परूपी गुण सिद्ध होता है। आगे "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा." यह वाक्य है। इसका यह अर्थ है कि हे सोम्य ! अर्थात् सोमपानार्ह सच्छिष्य ! ये सभी प्रजायें अर्थात् सभी चेतनाचेतन कार्य पदार्थ सद्वस्तु से उत्पन्न हुये हैं, सद्वस्तु में प्रतिष्ठित हैं, तथा सद्वस्तु में लय को प्राप्त होने वाले हैं। इस वाक्य से सिद्ध होता है कि सद्वस्तु ब्रह्म इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय का कारण है। इससे ब्रह्म में तीन धर्म फलित होते हैं। वे ये हैं कि (१) जगदुत्पत्ति कारणत्व, (२) जगत् स्थिति कारणत्व और (३) जगल्लय कारणत्व। "तत्त्वमसि" और उपर्युक्त "तदैक्षत" इत्यादि वाक्य एक ही प्रकरण में पढ़े गये हैं। इन समान प्रकरणस्थ वाक्यों से ब्रह्म में संकल्प और जगत्कारणत्व इत्यादि गुण सिद्ध होते हैं।

(२) पूर्वमीमांसा में सर्वशाखा प्रत्यय न्याय वर्णित है। उससे यह सिद्ध होता है सभी शाखाओं में वर्णित अर्थ एक है। उसके अनुसार यह मानना पड़ता है कि सभी उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म एक ही है, भिन्न २ नहीं है। विभिन्न उपनिषदों में वर्णित गुण एक ही ब्रह्म का है। जिस ब्रह्म का वर्णन प्रकृत सद्विद्या में हो रहा है, उसी ब्रह्म का वर्णन अन्यान्य उपनिषदों में भी होता है। अन्यान्य उपनिषदों में बहुत से गुण विभिन्न प्रकरणों में वर्णित हैं। वे सभी एक ही ब्रह्म के गुण हैं। एक उपनिषद् में यह कहा गया है कि "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" अर्थात् ब्रह्म सामान्य रूप से सब पदार्थों को जानता है, तथा विशेषरूप से सब पदार्थों को जानता है। इस वाक्य से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व गुण सिद्ध होता है। दूसरी उपनिषद् में यह वर्णन मिलता है कि "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" अर्थात् इस ब्रह्म की नाना प्रकार की पराशक्ति सुनने में आती है। इस वाक्य से ब्रह्म में सर्वशक्तित्व गुण सिद्ध होता है। अन्य उपनिषदों में ये वाक्य उपलब्ध हैं कि "स ईशोऽस्य जगतो नित्यमेव" "नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय"। इन वाक्यों का यह अर्थ है कि वह परब्रह्म इस जगत् पर सदा शासन करने वाला है, ईश्वर जगत् का जो शासन करते हैं, उसके लिये दूसरा कोई कारण नहीं, जगत् का ईश्वर बनकर रहना उनका स्वभाव है। इन वाक्यों से परब्रह्म में सर्वेश्वरत्व नामक गुण सिद्ध होता है। यह एक उपनिषद् वाक्य है कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है। इससे सिद्ध होता है कि सभी पदार्थ ब्रह्म का विशेषण है, ब्रह्म सभी पदार्थों का विशेष्य है। इस प्रकार ब्रह्म सभी पदार्थों से विशिष्ट अर्थात् युक्त होकर रहता है। इससे ब्रह्म में सर्वप्रकारत्व नामक गुण सिद्ध होता है। एक उपनिषद् यह बतलाती है कि "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते" अर्थात् उस ब्रह्म का समान कोई पदार्थ नहीं है, तथा उस ब्रह्म से श्रेष्ठ कोई पदार्थ नहीं। इस वाक्य से ब्रह्म में समाभ्यधिकराहित्य (सम और अधिक से रहित होना)

नामक धर्म सिद्ध होता है। उपनिषद् में ब्रह्म के विषय में यह वर्णन मिलता है कि "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" अर्थात् परमात्मा सदा विद्यमान अनन्त भोग्य पदार्थों से युक्त है, तथा सत्यसंकल्प वाले हैं। इससे सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व ऐसे दो गुण सिद्ध होते हैं। उपनिषद् में यह भी वर्णन मिलता है कि "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" अर्थात् उस परमात्मा के तेज से यह सब प्रपञ्च भासित होता है। इससे परमात्मा में सर्वावभासकत्व नामक गुण सिद्ध होता है। इतने ही गुण नहीं, इस प्रकार के अत्युच्चकोटि के असंख्य कल्याणगुण उपनिषदों में वर्णित हैं। उपनिषद् में "अपहतपाप्मा विरजो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के विषय में यह कहा गया है कि परमात्मा पाप जरामरण शोक बुभुक्षा और पिपासा से रहित है। इससे परमात्मा सर्वदोष रहित सिद्ध होते हैं। अन्यान्य उपनिषदों में परमात्मा के विषय में वर्णित सर्वज्ञत्व सर्वशक्तित्व सर्वेश्वरत्व सर्वप्रकारत्व समाभ्यधिकराहित्य सत्यकामत्व सत्यसंकल्पत्व सर्वावभासकत्व इत्यादि उच्चकोटि के असंख्य कल्याणगुण एवं निर्दोषत्व ये सभी विशेषण ब्रह्म के जगत्कारणत्व के समर्थक हैं। "तत्त्वमसि" वाक्य युक्त छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित संकल्पवत्व और जगत्कारणत्व तथा इनका समर्थन करने वाले अन्यान्य उपनिषद्वर्णित उपर्युक्त गुणों पर ध्यान देने पर यही निष्कर्ष होता है कि "तत्त्वमसि" इस वाक्य में तच्छब्द से वर्णित ब्रह्म सगुण एवं निर्दोष है। उसका अल्पज्ञ एवं दुःख इत्यादि दोषों से युक्त जीव के साथ स्वरूपैक्य हो नहीं सकता है। यहाँ उस स्वरूपैक्य को छोड़कर दूसरा ही अर्थ विवक्षित है।

अद्वैतिभिः श्रुतिवचनैर्ब्रह्मणो निर्विशेषत्वस्य साधनम्

अद्वैतियों द्वारा ब्रह्म के निर्विशेषत्व का समर्थन

अथ स्यात्—उपक्रमेऽप्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुखेन कारणस्यैव सत्यतां प्रतिज्ञाय तस्य कारणभूतस्यैव सत्यतां विकारजातस्य चासत्यतां मृद्दृष्टान्तेन दर्शयित्वा सत्यभूतस्यैव ब्रह्मणः "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय" मिति सजातीयविजातीयनिखिलभेदनिरसनेन निर्विशेषतैव प्रतिपादिता, एतच्छोधकानि प्रकरणान्तरगतवाक्यान्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "निष्कलं" "निष्क्रियं" "निर्गुणं" "विज्ञानम्" "आनन्द" मित्यादीनि सर्वविशेषप्रत्यनीकैकाकारतां बोधयन्ति। न च—एकाकारतावबोधनेऽपि पदानां पर्यायता एकत्वेऽपि वस्तुनः सर्वविशेषप्रत्यनीकाकारत्वोपस्थापनेन सर्वपदानामर्थवत्त्वात्—इति।

अद्वैतमत में "तत्त्वमसि" इस वाक्य का जो अर्थ किया जाता है उसके विषय में श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह दोष दिया है कि उस अर्थ को मानने पर छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का संकल्पवत्व एवं

जगत्कारणत्व तथा इन अर्थों का समर्थन करने वाले अन्यान्य उपनिषद्वर्णित असंख्य कल्याणगुण एवं निर्दोषत्व बाधित हो जायेंगे। इस दोष का परिहार करने के लिये अद्वैतियों के द्वारा जो उत्तर दिया जाता है उसका वर्णन रामानुज स्वामी जी ने इस प्रकार किया है कि यद्यपि "तत्त्वमसि" इस वाक्य की अपेक्षा पहले ही "तदैक्षत" इत्यादि वाक्य स्थित हैं जिनसे जगत्कारण ब्रह्म के कई गुण वर्णित हुये हैं। उन वाक्यों के आधार पर जगत्कारण ब्रह्म को विशिष्टाद्वैतवादियों ने सगुण सिद्ध करने के लिये चेष्टा की है तथा यह भी कहा है कि उपक्रमाधिकरण के (जो पूर्वमीमांसा में वर्णित है) अनुसार उपक्रम अर्थात् प्रारम्भस्थ वाक्य के अनुसार अग्रिम वाक्यों का अर्थ करना चाहिये। तथापि यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्वमीमांसा वर्णित उपक्रमाधिकरण न्याय के अनुसार अर्थ करना हमें भी अभीष्ट है। हम अद्वैतवादी मध्य में स्थित "तदैक्षत" इत्यादि वाक्यों को उपक्रम वाक्य न मानकर इस प्रकरण में सर्वप्रथम अवस्थित वाक्य को उपक्रम वाक्य मानकर उसके अनुसार अग्रिम वाक्यों का अर्थ करते हैं। यही युक्त है। यही पद्धति उपक्रमाधिकरण न्याय के अनुकूल है।

"तत्त्वमसि" के पूर्व "तदैक्षत" इत्यादि वाक्य हैं। उनसे पूर्व "येनाश्रुतम्" इत्यादि वाक्य हैं जिसमें एक के जानने से सबको जानने की प्रतिज्ञा वर्णित है। उपादान कारण—जो कार्य रूप में परिणत होता है—को जानने से कार्य का ज्ञान हो जाता है। जगत्कारणवस्तु को जानने पर जगत् के अन्तर्गत सभी कार्यपदार्थ जाने जा सकते हैं। इस प्रतिज्ञा का यह कहने में तात्पर्य है कि कारणवस्तु ही सत्य है, कार्य-पदार्थ मिथ्या है। इस अर्थ को श्रुति ने मृत्तिका दृष्टान्त से सिद्ध किया है। वह दृष्टान्त इस प्रकार है कि लोक में मृत्पिण्ड से घट और शराव इत्यादि अनेक कार्यपदार्थ बनते हैं। श्रुति कहती है कि वहाँ कार्य-पदार्थ वाणी का आलम्बनमात्र है, घट और शराव इत्यादि नाममात्र ही वहाँ है, कोई पदार्थ वास्तव में नहीं रहता, मृत्तिका ही सत्य है। इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि सभी कार्यपदार्थ मिथ्या हैं, कारण ही सत्य है। इससे फलित होता है कि कार्य होने के कारण यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, जगत् का कारण बनने वाला ब्रह्म ही सत्य है। उस जगत्कारण ब्रह्म को "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति ने निर्विशेष सिद्ध किया है। इसका अर्थ यह है कि हे सोम्य ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयकाल में सत् ब्रह्म के रूप में था वह ब्रह्म सभी भेदों से रहित था। सजातीय भेद विजातीय भेद एवं स्वगत भेद से शून्य था। ब्रह्म सजातीय भेद से रहित है क्योंकि उसके समान कोई पदार्थ है ही नहीं। ब्रह्म विजातीय भेद से रहित है क्योंकि विजातीय सभी पदार्थ मिथ्या हैं। ब्रह्म स्वगत भेद से रहित है क्योंकि ब्रह्म में कोई भी गुण धर्म है ही नहीं। इस प्रकार सब तरह के भेदों से रहित होने के कारण ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है। यह निर्विशेष ब्रह्म ही इस सद्विद्या में जगत्कारण के रूप में वर्णित है। किंच, अन्यान्य उपनिषदों में विभिन्न प्रकरणों में कई शोधक वाक्य हैं जो कारणवाक्यों से वर्णित कारणवस्तु का शोधन करते हैं, उन वाक्यों से भी ब्रह्म निर्विशेष ही सिद्ध होता है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "निष्कलं निष्क्रियम्" "निर्गुणम्"

"विज्ञानमानन्दम्" इत्यादि वे वाक्य हैं। इनका अर्थ यह है कि ब्रह्म सत्य अर्थात् असत्य से भिन्न है, ज्ञान अर्थात् जड से भिन्न है एवं अनन्त अर्थात् परिच्छिन्न से व्यावृत्त है। ब्रह्म निष्कल अर्थात् अवयवरहित है, निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित है, एवं निर्गुण अर्थात् गुणरहित है, ब्रह्म विज्ञान अर्थात् जड से व्यावृत्त है। एवं आनन्द अर्थात् दुःख से व्यावृत्त है। इन वाक्यों से ब्रह्म निर्धर्मक सिद्ध होता है। यह नहीं समझना चाहिये कि इन वाक्यों से ब्रह्म में अभावरूपी धर्म सिद्ध होते हैं क्योंकि वे सभी अभाव ब्रह्मस्वरूप ही हैं ब्रह्म से भिन्न नहीं। इस विवेचन से यह फलित होता है कि जगत्कारण को बतलाने वाले "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य से जगत्कारण ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है, तथा जगत्कारणवस्तु की सर्वविलक्षणता को बतलाने के लिये प्रवृत्त "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि शोधक वाक्यों से भी ब्रह्म निर्विशेष ही सिद्ध होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि पद ब्रह्मस्वरूपमात्र का वर्णन करते हुये ब्रह्म में सत्यत्व और ज्ञानत्व इत्यादि धर्मों को नहीं बतलाते तब तो ये सभी पद पर्याय बन जायेंगे। घट और कलश इत्यादि पद पर्याय माने जाते हैं क्योंकि ये पद एक घट का ही प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार यदि सत्य आदि पद भी एक ही वस्तु का प्रतिपादन करते हैं तो पर्याय हो जायेंगे। पर्याय शब्दों में एक शब्द ही पर्याप्त है, अन्य शब्दों की आवश्यकता नहीं। घट शब्द से जब घट बतलाया जाता है तब कलश शब्द की क्या आवश्यकता है? प्रकृत में सत्यादिपदों की पर्यायता सिद्ध होने पर एक पद ही पर्याप्त हो सकता है अन्यान्य पदों का वैयर्थ्य दोष उपस्थित होगा। इस दोष का निवारण कैसे किया जाय। इस प्रश्न का उत्तर अद्वैतवादी इस प्रकार देते हैं कि यद्यपि सत्य आदि पदों से एक ही ब्रह्मस्वरूप वर्णित होता है, तथापि ये पद पर्याय नहीं बनते हैं क्योंकि ये पद विभिन्न रूपों से प्रतिपादन करते हैं। सत्यपद असत्य विरोधी के रूप में, ज्ञानपद जडविरोधी के रूप में, अनन्तपद परिच्छिन्नविरोधी के रूप में एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार ही निष्कल आदि पदों के विषय में भी समझना चाहिये। यदि अनेक पद एक ही रूप से किसी वस्तु का प्रतिपादन करते हों तो उन्हें पर्याय मानना चाहिये। घटपद और कलशपद एक ही रूप से घट का प्रतिपादन करते हुये पर्याय बनते हैं। प्रकृत में सत्य आदि पद विभिन्न रूपों से ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये ये पर्याय नहीं माने जा सकते हैं। अतएव यहाँ एक पद से दूसरा पद गतार्थ नहीं होता। सभी पद सफल बन जाते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि सत्य ज्ञान आदि पद सब तरह के विशेषों के विरोधी के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इससे ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होता है। "सदेव सोम्य" इत्यादि कारण वाक्य जगत्कारण ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करते हैं तथा "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि शोधक वाक्य भी ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करते हैं। इससे यही फलित होता है कि ब्रह्म को सविशेष मानना उचित नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादियों ने अपने मन्तव्य को परिष्कृत करके रक्खा है।

सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्तात्पर्यम्

सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का तात्पर्य

नैतदेवम्—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं सर्वस्य मिथ्यात्वे सर्वस्य ज्ञातव्यस्या-भावान्न सेत्स्यति, सत्यमिथ्यात्वयोरेकताप्रसक्तिर्वा, अपि त्वेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा-सर्वस्य तदात्मकत्वेनैव सत्यत्वे सिद्धयति ।

इस मन्तव्य की समालोचना करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने आगे यह कहा है कि उपनिषद् में यह प्रतिज्ञा वर्णित है कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। अद्वैतियों ने अपने सिद्धान्त के समर्थन में इस प्रतिज्ञा का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। सूक्ष्म विचार करने पर विदित होता है कि यह प्रतिज्ञा अद्वैतसिद्धान्त में सर्वथा घटती नहीं। तथाहि—इस प्रतिज्ञा का यह भाव कि—जगत् के परममूल उपादान कारण—जो जगद्रूप में परिणत होता है—को जानने से सभी कार्यपदार्थ ज्ञात होते हैं—विशिष्टाद्वैतवादियों को भी संमत है। अद्वैत सिद्धान्त का यह डिण्डिमघोष प्रसिद्ध है कि ब्रह्म एक ही सत्य है यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। ब्रह्म जगत् का विवर्तोपादान है क्योंकि अधिष्ठान ब्रह्म में यह जगत् आरोपित होकर उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार शुक्ति में रजत प्रतीत होता है। जगत् वास्तव में है ही नहीं, केवल भ्रम से दिखाई देता है। इसलिये इसे अद्वैतियों ने मिथ्या माना है। मिथ्या पदार्थ तबतक ही भासता रहता है, जबतक अधिष्ठान का यथार्थज्ञान नहीं होता। अधिष्ठान वस्तु का यथार्थज्ञान होने पर मिथ्या वस्तु का भान बन्द हो जाता है। शुक्ति का यथार्थज्ञान होने पर रजत का भान बन्द हो जाता है। जगत् का उपादान कारण अधिष्ठान ब्रह्म को जानने पर जगत् एवं उसके अन्तर्गत सभी पदार्थों का भान बन्द हो जायेगा। एक ब्रह्म को जानने पर सबका ज्ञान होना असंभव है। जगत् एवं जागतिक पदार्थ मिथ्या होने के कारण जब हैं ही नहीं, तब इनको जानना असंभव ही है। एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म को जानने पर इन मिथ्या जागतिक पदार्थों का भान बन्द हो सकता है इनको ज्ञात होना तो असंभव ही है। इस विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि उपर्युक्त प्रतिज्ञा अद्वैतसिद्धान्त में जमती नहीं। यदि ब्रह्म एवं जगत् में तादात्म्य अर्थात् अभेद मानकर इस प्रतिज्ञा को संहालने के लिये चेष्टा की जाय तो सत्य ब्रह्म और मिथ्या जगत् में एकता सिद्ध हो जायेगी। यह वाञ्छनीय है। सत्य पदार्थ और मिथ्या पदार्थ कभी एक नहीं हो सकते। उपर्युक्त दोष के कारण अद्वैतमत में इस प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं सम्पन्न होता है।

ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा होती है कि इस श्रुत्युक्त प्रतिज्ञा का निर्वाह कैसे करना चाहिये ? उत्तर यह है कि जगत् के उपादान कारण ब्रह्म एवं जगत् को यदि सत्य माना जाय तथा जगत् को ब्रह्मात्मक माना जाय तो उपर्युक्त प्रतिज्ञा का समुचित निर्वाह हो जाता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में यह माना जाता है कि ब्रह्म सदा चेतनाचेतन तत्त्वों से विशिष्ट अर्थात् युक्त रहता है। प्रलयावस्था में चेतनाचेतन तत्त्व

सूक्ष्म बनकर रहते हैं, सृष्टिकाल में वे तत्त्व स्थूलावस्था को प्राप्त होते हैं। प्रलयकाल में सूक्ष्म चेतनाचेतन तत्त्वों से विशिष्ट बना हुआ ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूल चेतनाचेतन तत्त्वों से विशिष्ट बन जाता है। स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही यह जगत् है। जगत् में प्रत्येक स्थूल पदार्थ में तीन तत्त्व निहित हैं एक जड तत्त्व है, दूसरा चेतन जीव तत्त्व है, तीसरा ईश्वर तत्त्व है। यह ईश्वर ही ब्रह्म है। यह ब्रह्म ही विभिन्नावस्थाओं को प्राप्त हुये चेतनाचेतन तत्त्वों से युक्त होकर विश्वरूप को प्राप्त हुआ है। चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्मतत्त्व ही विश्वरूप से प्रकट है। यह कार्य जगत् ब्रह्मात्मक है। अतएव यह कथन उचित ही है कि एक उपादान तत्त्व को जानने पर सभी कार्य पदार्थ जाने जाते हैं। जगत् का उपादान कारण ब्रह्म सत्य है, यह कार्य जगत् भी सत्य है, साथ ही यह जगत् ब्रह्मात्मक भी है क्योंकि वह सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही इस जगत् के रूप में अवस्थित है। कारण ब्रह्म को जानने पर यह ब्रह्मात्मक जगत् जाना जा सकता है। इस प्रकार इस प्रतिज्ञा का निर्वाह करना चाहिये, तदर्थ जगत् एवं ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को ब्रह्मात्मक मानना चाहिये।

उद्दालकप्रश्नस्यतात्पर्यम्

उद्दालक प्रश्न का तात्पर्य

अयमर्थः—श्वेतकेतुं प्रत्याह "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः" इति, परिपूर्ण इव लक्ष्यसे तानाचार्यान्प्रति तमप्यादेशं पृष्टवानसीति, आदिश्यतेऽनेनेत्यादेशः, आदेशः प्रशासनम्, "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गिसूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिभिरैकार्थ्यात्। तथा च मानवं वचः 'प्रशासितारं सर्वेषा' मित्यादि। अत्राप्येकमेवेति जगदुपादानतां प्रतिपाद्य अद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणादस्यैवाधिष्ठातृत्वमपि प्रतिपाद्यते, अतस्तं प्रशासितारं जगदुपादानभूतमपि पृष्टवानसि, येन श्रुतेन मतेन विज्ञातेनाश्रुतममतमविज्ञातं श्रुतं मतं विज्ञातं भवति इत्युक्तं स्यात्, निखिलजगदुदयविभवविलयादिकारणभूतं सर्वज्ञत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वाद्यपरिमितोदारगुणसागरं किं ब्रह्म त्वया श्रुतमिति हार्दो भावः।

छान्दोग्योपनिषद्वर्णित सद्विद्या के प्रकरण में पठित श्रुति वाक्यों के अर्थ पर ध्यान देने पर उपर्युक्त निर्णय ही प्रामाणिक ठहरता है। तथाहि—सद्विद्या के आरम्भ में यह कथा वर्णित है कि पिता उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से पूछा कि "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः"। अर्थात् हे श्वेतकेतु! तुम स्तब्ध अर्थात् परिपूर्ण के समान दिखाई देते हो। क्या तुमने उन आचार्यों—जिनसे वेदाध्ययन किया है—से उस आदेश परमात्मा के विषय में सब कुछ पूछकर जान लिया है तभी तुम परिपूर्ण बन सकते हो। यह पिताजी का प्रश्न है।

इसमें आदेश शब्द से परमात्मा विवक्षित है। श्रीभगवान सबको आदेश देने वाले हैं, तथा सब पर शासन करने वाले हैं। इसलिये आदेश कहलाते हैं। श्रीभगवान् प्रशासन करते हैं। यह अर्थ श्रुति और स्मृति से प्रमाणित है। उपनिषद् में कहा गया है कि "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" अर्थात् हे गार्गि ? इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन के कारण ही सूर्य और चन्द्रमा धृत रहते हैं। मनुस्मृति में भी "प्रशासितारं सर्वेषाम्" कह कर मनु ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर सब पर शासन करने वाले हैं। इन सब वचनों के अनुसार यहाँ पर आदेश शब्द से सब पर शासन करने वाले परमात्मा का ही प्रतिपादन मानना चाहिये। परब्रह्म परमात्मा ईश्वर और श्रीभगवान् इन शब्दों से एक ही अर्थ बोधित होता है। ईश्वर संकल्प के द्वारा सब पर शासन करते हैं, तथा संकल्प के द्वारा सब की सृष्टि करते हैं। संकल्प के द्वारा सृष्टि करने के कारण ही ईश्वर जगत् के उसी प्रकार निमित्त कारण माने जाते हैं जिस प्रकार इच्छापूर्वक घट का निर्माण करने वाला कुम्भकार घट का निमित्त कारण माना जाता है। ईश्वर जगत् के दोनों प्रकार से कारण हैं। वे उपादान कारण हैं, तथा निमित्त कारण भी हैं। संकल्प से सृष्टि करते हैं, इसलिये निमित्त कारण हैं। जगत् के रूप में परिणत होते हैं इसलिये उपादान कारण कहलाते हैं। मृत्तिका घट का उपादान कारण है क्योंकि वह घट के रूप में परिणत होती है। उसी प्रकार सूक्ष्म चेतनाचेतनों से विशिष्ट ईश्वर जगद्रूप से परिणत होते हैं। इसलिये वे जगत् के उपादान कारण बनते हैं। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस उपनिषद्वाक्य से ईश्वर का उभयविधकारणत्व वर्णित है। इस वचन का यह अर्थ है कि प्रलयकाल में यह जगत् सत् ब्रह्म के रूप में था। सूक्ष्म चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही सत् ब्रह्म है। यह जगत् क्या वस्तु है ? स्थूल चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही यह जगत् है। प्रलय-काल में सूक्ष्म चेतनाचेतनों से युक्त रहने वाला ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूल चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म के रूप में परिणत होता है। प्रलयकाल में चेतनाचेतनों की सूक्ष्मता तथा सृष्टिकाल में उनकी स्थूलता क्यों कही जाती है ? उत्तर—प्रलयकाल में चेतनाचेतन नामरूपविभागरहित रहते हैं, नामरूपविभागरहितता ही उनकी सूक्ष्मता है। नामरूपविभाग न होने के कारण उस समय चेतनाचेतन एकीभूत होकर रहते हैं। नामरूपाभाव ही उनकी एकत्वावस्था है। सृष्टिकाल में चेतनाचेतन नामरूपविभाग को प्राप्त होते हैं। नामरूपविभाग वाला बनना ही उनकी स्थूलत्वावस्था है। यही बहुत्वावस्था कहलाती है। एकत्वावस्थारूपी सूक्ष्म दशा में पहुँचे हुये चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म बहुत्वावस्थारूपी स्थूल दशा को प्राप्त करने वाले चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म के रूप में अर्थात् जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव ब्रह्म जगत् का उपादान कारण माना जाता है। यह उपादानकारणत्व "एकमेव" इस उक्ति से सिद्ध होता है। ब्रह्म का उपादानकारणत्व सिद्ध होने पर यह जिज्ञासा होती है कि जगत् का निमित्त कारण क्या वह ब्रह्म ही है या दूसरा कोई ? इसका समाधान अद्वितीय पद से हो जाता है। अद्वितीय पद बतलाता है कि दूसरा कोई निमित्त कारण नहीं है, वह ब्रह्म ही निमित्त कारण है। निमित्त कारण ही अधिष्ठाता कहलाता है क्योंकि

वह संकल्प से उपादान को अधिष्ठित करके कार्य को उत्पन्न करता है। परब्रह्म संकल्प के द्वारा निमित्त कारण बनता है, तथा संकल्प के द्वारा जगत् पर शासन करता है। जो परब्रह्म आगे संकल्प के कारण जगत् का निमित्त कारण कहा गया है वही प्रशासक होने के कारण आरम्भ में आदेश शब्द से कहा गया है। उद्दालक प्रश्न का निर्गलित अर्थ यही है कि हे श्वेतकेतु ! क्या तुमने जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण बनने वाले तथा जगत् पर शासन करने वाले परब्रह्म को आचार्यों से पूछकर जान लिया ? आदेशशब्दार्थ उस परब्रह्म की विशेषता को व्यक्त करते उद्दालक ने आगे कहा कि "येनाश्रुत श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञात विज्ञातमिति"। अर्थात् जिस एक वस्तु का श्रवण करने पर उन सभी वस्तुओं का श्रवण सम्पन्न हो जाता है जिनका श्रवण कभी नहीं हुआ था, जिस एक वस्तु का मनन करने पर उन सभी वस्तुओं का मनन सम्पन्न हो जाता है जिनका अबतक मनन न हुआ हो तथा जिस एक वस्तु का ध्यान करने पर उन सभी वस्तुओं का ध्यान सम्पन्न हो जाता है, जिनका अबतक ध्यान नहीं किया गया हो। उस वस्तु को तुमने आचार्यों से पूछकर जाना या नहीं। यह उद्दालक का प्रश्न है। इसमें एक को जानने से सबको जाने जाने की प्रतिज्ञा वर्णित है। पूछने वाले पिता उद्दालक का यह अभिप्राय है कि इस सम्पूर्ण जगत् की एक मूलवस्तु है जो इस जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण बनती है। वह ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय इत्यादि का कारण है। वह अवाप्तसमस्तकाम है। अतएव वह सदा परिपूर्ण रहता हुआ लीला के रूप में सृष्टि स्थिति और प्रलय को करता रहता है। वह सर्वज्ञ एवं सत्यसंकल्प है, अतएव जगत् का निमित्त कारण माना जाता है। वह सर्वशक्तिसम्पन्न है अतएव उपादान कारण माना जाता है। सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय का आदि कारण बनने वाले तथा सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्व परिपूर्णत्व और सर्वशक्तित्व इत्यादि अनन्त गुणों के आकर उस परब्रह्म को तुमने गुरुओं से पूछकर जाना या नहीं। यही प्रश्न करने वाले पिता का हार्दभाव है।

किंच, प्रश्न करने वाले पिता उद्दालक ने इस मर्म को मन में रखकर पूछा है कि वह परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है, वही क्रम से विविध परिणामों को प्राप्त होता हुआ इस जगत् के रूप में परिणत हो गया है। लोक में देखा जाता है कि उपादान कारण ही कार्यरूप में परिणत होता है। सूक्ष्म चेतनाचेतन वस्तुरूपी शरीरों से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का कारण है। वही परब्रह्म सृष्टिकाल में स्थूलदशा में पहुँचे हुये चेतनाचेतनरूपी शरीरों से विशिष्ट बनकर कार्य जगत् बन जाता है। कारण ब्रह्म और कार्य जगत् एक है। अतएव उस कारण ब्रह्म को जानने पर कार्य बने हुये सभी पदार्थ विदित हो जाते हैं क्योंकि कारण ब्रह्म और कार्य जगत् वास्तव में एक ही वस्तु है। वह ब्रह्म ही जगत् बन गया है। कारण-वस्तु को समझने पर कार्यपदार्थ विदित हो जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इस मर्म को हृदय में रखकर पिता उद्दालक ने पुत्र श्वेतकेतु से यह पूछा कि जिस एक के ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है, उस वस्तु को तुमने आचार्यों से जाना या नहीं ?

श्वेतकेतोः प्रश्न उद्दालकस्योत्तरं च

श्वेतकेतु का प्रश्न और उद्दालक का उत्तर

तस्य निखिलकारणतया कारणमेव नानासंस्थानविशेषसंस्थितं कार्यमित्युच्यत इति कारणभूतसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकब्रह्मविज्ञानेन कार्यभूतमखिलं जगद्विज्ञातं भवतीति हृदि निधाय "येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं स्या" दिति पुत्रं प्रति पृष्टवान् पिता। तदेतत् सकलस्य वस्तुजातस्यैककारणत्वं पितृहृदि निहितमजानन्पुत्रः परस्पर-विलक्षणेषु वस्तुष्वन्यस्य विज्ञानेन तदन्यविज्ञानस्याघटमानतां बुद्ध्वा परिचोदयति "कथं नु भगवः स आदेशः" इति। परिचोदितः पुनस्तदेव हृदि निहितं ज्ञानानन्दामलत्वैक-स्वरूपमपरिच्छेद्यमाहात्म्यं सत्यसङ्कल्पत्वमिश्रैरनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणै-र्जुष्टमविकारस्वरूपं परं ब्रह्मैव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं स्वलीलार्थं स्वसङ्कल्पेनाऽनन्तविचित्रस्थिरत्रसरूपजगत्संस्थानं स्वांशेनावस्थितमिति तज्ज्ञानेनान्यस्य निखिलस्य ज्ञाततां ब्रुवन् लोकदृष्टं कार्यकारणयोरनन्यत्वं दर्शयितुं दृष्टान्तमाह "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति। एकमेव मृद्द्रव्यं स्वैकदेशेन नानाव्यवहारास्पदत्वाय घटशरावादिनाना-संस्थानावस्थारूपविकारापन्नं नानानामधेयमपि मृत्तिकासंस्थानविशेषत्वात् मृद्द्रव्य-मेवेत्यमवस्थितम्, न वस्त्वन्तरमिति, यथा मृत्पिण्डविज्ञानेन तत्संस्थानविशेषरूपं घटशरा-वादि सर्वं ज्ञातमेव भवतीत्यर्थः।

पिता यह जो जानते थे कि सभी पदार्थ एक कारण से उत्पन्न हुये इस मर्म को पुत्र श्वेतकेतु जान नहीं पाये। उन्होंने यही समझा कि ये सभी पदार्थ परस्पर विलक्षण हैं। इनमें एक को जानने से दूसरों का ज्ञान कैसे हो सकता है यह सर्वथा असंभव है। अतएव उन्होंने पिताजी से यह पूछा कि "कथ नु भगवः स आदेशः" अर्थात् भगवन्, वह आदेश कैसा है? अर्थात् शासक एक वस्तु को जानने पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, इस बात को मैं कैसे समझूँ। पुत्र के इस प्रश्न को सुनकर पिताजी ने विचार किया कि अब हमें सब मर्म को खोलकर बताना होगा। मर्म यही है कि परब्रह्म ज्ञानानन्द स्वरूप है एवं अमल है। उसका माहात्म्य अपरिच्छेद्य है अतएव वह अनन्त कहलाता है। वह परब्रह्म उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचे हुये सत्यसंकल्पत्व इत्यादि असंख्य कल्याणगुणों से युक्त है। उस विशिष्ट परब्रह्म में विशेष्यस्वरूप सदा निर्विकार रहता है। उसमें विशेषण बनकर रहने वाले चेतन एवं अचेतनों में ही सब प्रकार के विकार हुआ करते हैं। वह परब्रह्म प्रलयकाल में सूक्ष्मदशा में पहुँचे हुये चेतनाचेतनों से विशिष्ट अर्थात् युक्त होकर रहता है। प्रलय में चेतनाचेतनों में नामरूपविभाग को प्राप्त करने की योग्यता नहीं रहती है, उस समय

वे नामरूपविभागहीन बनकर रहते हैं। यही उनकी सूक्ष्मता है। वह परब्रह्म लीला करने के लिये संकल्पमात्र से चेतनाचेतनों को सृष्टिकाल में अनन्त विचित्र स्थावर जंगममय जगत् के रूप में परिणत कराकर उनका अन्तर्यामी बनकर जगद्रूप को धारण कर लेता है। यही सृष्टिप्रक्रिया है। इस प्रकार सृष्टि करने का प्रयोजन केवल लीला ही है। इसमें परब्रह्म को आयास नहीं होता है क्योंकि वह बिना किसी आयास के संकल्पमात्र से इसे सम्पन्न कर देता है। परब्रह्म सृष्टिकाल में चेतनाचेतनों को विविध नामरूपों में परिणत कर देता है। यही इनकी स्थूलता है। इस प्रकार प्रलयकाल में सूक्ष्म चेतनाचेतनों से विशिष्ट बनकर रहने वाला परब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूलचेतनाचेतनों से विशिष्ट बनकर जगद्रूप से अवस्थित है। एक ही वस्तु पूर्वावस्था में कारण एवं उत्तरावस्था में कार्य है। इसलिये कारणवस्तु को जानने पर उससे बनने वाले सभी कार्यपदार्थ अनायास जाने जा सकते हैं। उपादान कारण बनने वाला पदार्थ ही कार्य बनकर रहता है। कारण और कार्य में अभेद है। यह अर्थ लोक में देखा गया है। इस अर्थ को दिखलाने के लिये इस प्रकार दृष्टान्त का उल्लेख करते हुये पिताजी ने कहा कि "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। अर्थात् एक मृत्तिकापिण्ड ही वाणी के द्वारा सम्पन्न होने वाले घट और शराव इत्यादि व्यवहारों को तथा जलाहरण इत्यादि व्यवहारों को प्राप्त करने के लिये घट और शराव इत्यादि विविध संनिवेशरूपी अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करता है, तथा विविध नामों को भी प्राप्त करता है। इन सन्निवेशों को प्राप्त कर मृत्तिका ही घट और शरावादि के रूप में अवस्थित है, घट और शराव इत्यादि मृत्तिका से भिन्न द्रव्य नहीं हैं। मृत्तिका द्रव्य ही घट और शराव इत्यादि बन जाता है। इसलिये एक मृत्पिण्ड को जानने से घट और शराव इत्यादि जाने जाते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त कहकर पिताजी ने समझाया।

श्वेतकेतोरुपदेशप्रार्थना उद्दालकेन सतो जगत्कारणत्वप्रतिपादनं च

श्वेतकेतु की प्रार्थना और उद्दालक के द्वारा जगत्कारणत्व का प्रतिपादन

ततः कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणतामजानन्पुत्रः पृच्छति "भगवांस्त्वेव मे तद्ब्रवीतु" इति। ततः सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्वकारणमित्युपदिशन् स होवाच "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इति। अत्रेदमिति जगन्निर्दिष्टम्, अग्र इति च सृष्टेः पूर्वकालः, तस्मिन्काले जगतः सदात्मकतां सदेवेति प्रतिपाद्य तत्सृष्टिकालेऽप्यविशिष्टमिति कृत्वा "एकमेवे" ति सदापन्नस्य जगतस्तदानीमविभक्तनामरूपतां प्रतिपाद्य तत्प्रतिपादनेनैव सतो जगदुपादानत्वं प्रतिपादितमिति, स्वव्यतिरिक्तनिमित्तकारणमद्वितीयपदेन प्रतिषिद्धमिति, "तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवती" ति आदावेव प्रशासितैव जगदुपादानमिति हृदि निहितम् इदानीं सुव्यक्तम्।

पुत्र श्वेतकेतु ने—यह न समझकर कि ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है—विचार किया कि इस जगत् में परस्पर विलक्षण अनन्त पदार्थ हैं, ये सब एक कारण से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। इस विचार में पड़कर पुत्र ने पिता से पूछा कि "भगवांस्त्वेव मे तद् ब्रवीतु"। अर्थात् भगवन् आप ही मुझे इस बात को अच्छी तरह से समझाइये।

सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तियुक्त ब्रह्म ही इस जगत् में विद्यमान विलक्षण विविध कार्यपदार्थों का उपादानकारण एवं निमित्तकारण है। इस अर्थ का उपदेश देते हुये पिताजी ने अनन्तर कहा कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"। इस श्रुति में "इदम्" शब्द का अर्थ है यह जगत्, जो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से विदित होता है। "अग्रे" शब्द का अर्थ है सृष्टि का पूर्वकाल, जो प्रलयकाल कहलाता है। आगे सृष्टि कही जाने वाली है इसलिये सृष्टि का पूर्वकाल प्रलयकाल ही होना चाहिये। इस वचन का यह अर्थ है कि हे सोम्य, यह जगत् प्रलयकाल में भी सत् ही था क्योंकि उस समय यह जगत् कारणवस्तु के रूप में था। इस कथन से वैशेषिक दार्शनिकों का सिद्धान्त अमान्य सिद्ध होता है। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त है कि यह जगत् प्रलयकाल में किसी रूप में भी नहीं था, सृष्टिकाल में वह सत्ता को प्राप्त करता है। यह जगत् प्रलयकाल में कारणवस्तु के रूप में विद्यमान ही है अतएव वैशेषिकों का उपर्युक्तवाद खण्डित हो जाता है। सूक्ष्मप्रकृति पुरुष और काल से विशिष्ट ब्रह्म ही वह कारणवस्तु है। इस प्रकार का ब्रह्म प्रामाणिक होने के कारण सत् शब्द से व्यवहृत होता है। वैशेषिकों ने यह माना है कि कार्य कारण से भिन्न है, प्रलयकाल में भले ही कारण रहे कार्य रह नहीं सकता, वह तो सृष्टिकाल में ही सद्भाव रखता है। इस वाद को अमान्य मानकर उपनिषदों में यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि उपादानकारण और कार्य एक ही द्रव्य है। इसलिये यह मानना उचित ही है कि यह कार्यजगत् प्रलयकाल में कारणवस्तु के रूप में रहता ही है। यह जगत् क्या वस्तु है? स्थूलचेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही यह जगत् है। यह ब्रह्म प्रलयकाल में सूक्ष्मचेतनाचेतनों से विशिष्ट बनकर रहता है। यही कारणावस्था है। इस जगत् को प्रलयकाल में कारणवस्तु के रूप में रहना युक्त ही है। सृष्टि और प्रलय में यही अन्तर है कि सृष्टि में ये चेतनाचेतन स्थूल बन जाते हैं अर्थात् विविधनामरूपों को प्राप्त करते रहते हैं। प्रलय में ये चेतनाचेतन सूक्ष्म बन जाते हैं अर्थात् नामरूपविभागहीन बन जाते हैं। नामरूपविभाग को प्राप्त होना ही बहुत्वावस्था है। नामरूपविभागहीन होना ही एकत्वावस्था है। प्रलयकाल एवं सृष्टिकाल में इस जगत् का किसी न किसी रूप में सद्भाव अवश्य रहता है। अन्तर यही है कि यह जगत् प्रलय में एकत्वावस्था में रहता है तथा सृष्टिकाल में बहुत्वावस्था में रहता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में सूक्ष्मत्वावस्था को त्यागकर स्थूलत्वावस्था को प्राप्त कर यह जगत् बन जाता है। इसलिये सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को उपादानकारण (जो कार्यरूप में परिणत होने वाला है) तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को कार्य मानना चाहिये। यहाँ पर "एकमेव" कहकर ब्रह्म के उपादानत्व का उल्लेख किया गया है। उपादानकारण बनने वाला यह सद्ब्रह्म ही निमित्तकारण भी है। दूसरा कोई निमित्तकारण नहीं। यह अर्थ "अद्वितीय" पद से वर्णित है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि लोक में उपादानकारण एवं निमित्तकारण भिन्न २ दिखाई देते हैं, यहाँ उनको एक कैसे माना जा सकता है। घट का उपादानकारण मृत्पिण्ड है क्योंकि वही घट बन जाता है। घट का निमित्तकारण कुलाल है क्योंकि वही स्वेच्छा से मृत्पिण्ड को घट के रूप में परिणत कर देता है। मृत्पिण्ड और कुलाल भिन्न २ पदार्थ हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ पर उन दोनों को एक पदार्थ कैसे मान सकते हैं? उत्तर यह है कि लोक में मृत्पिण्ड केवल परिणत हो सकता है, संकल्प नहीं कर सकता इसलिये उसमें उपादानकारण बनने की ही योग्यता है। तथा कुलाल केवल संकल्प ही कर सकता है घट के रूप में परिणत नहीं हो सकता इसलिये उसमें केवल निमित्तकारण बनने की ही योग्यता है। इसलिये लोक में उपादानकारण एवं निमित्तकारण भिन्न २ दिखाई देते हैं। यहाँ पर ब्रह्म में सब प्रकार की योग्यता है। ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट होने के कारण जगद्रूप में परिणति को प्राप्त कर सकता है तथा चेतन होने के कारण संकल्प भी कर सकता है। अतएव ब्रह्म स्वेच्छा से अपने को जगद्रूप में परिणत कर देता है। इसलिये वह उपादानकारण एवं निमित्तकारण बन जाता है। यह निमित्तोपादानैक्य "अद्वितीय" पद का फलितार्थ है।

आरम्भ में पिताजी ने उपादानकारण एवं निमित्तकारण की एकता को मन में रखकर ही पुत्र से यह प्रश्न किया था कि क्या तुमने आचार्यों से उस आदेश को अर्थात् शासन करने वाले तत्त्व को पूछकर जान लिया है? जिस एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। यहाँ पर उस तत्त्व को शासन करने वाला कहा गया। इससे वह तत्त्व निमित्तकारण अर्थात् संकल्पपूर्वक कार्य करने वाला सिद्ध होता है। जिस तत्त्व को जानने से सब कुछ जाना जाता है ऐसा कहने से वह तत्त्व उपादानकारण सिद्ध होता है क्योंकि उपादानकारण को जानने पर ही उससे बनने वाले सभी कार्य जाने जाते हैं। इस प्रकार प्रश्न करने के कारण उस तत्त्व में जो उपादानकारणत्व एवं निमित्तकारणत्व फलित होता है ब्रह्मतत्त्व का यह उभयविधकारणत्व "एकमेवाद्वितीयम्" इन दोनों पदों से स्पष्ट बता दिया गया है।

सद्ब्रह्मण उभयविधकारणत्वम्

सद्ब्रह्म का उभयविधकारणत्व

एतदेवोपपादयति स्वयमेव जगदुपादानं जगन्निमित्तं च सत् "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये" ति तदेतत्तच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्मैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसङ्कल्पमवाप्तसमस्तकाममपि लीलार्थं विचित्रानन्तचिदचिन्मिश्रजगद्रूपेणाऽहमेव बहु स्यां तदर्थं प्रजायेयेति स्वयमेव सङ्कल्प्य स्वांशैकदेशादेव वियदादिभूतानि सृष्ट्वा

इस उभयविधकारणत्व का स्पष्टीकरण करते हुये पिताजी ने आगे कहा कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" अर्थात् सच्छब्दवाच्य उस परब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं बहुत बन जाऊँ तदर्थ वैसा उत्पन्न होऊँ। भावार्थ यह है कि श्रुति ने "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस वाक्य में "एकमेव" कहकर सच्छब्द-वाच्यवस्तु को जगत् का उपादानकारण कहा है। इससे उसमें उन सभी शक्तियों का समावेश फलित हो जाता है जो उपादानकारण बनने के लिये अवश्य अपेक्षित हैं। उसी श्रुति ने "अद्वितीयम्" कहकर इस सच्छब्दवाच्य वस्तु को जगत् का निमित्तकारण कहा है। इससे उस वस्तु में उन सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व इत्यादि गुणों का समावेश फलित होता है। इन गुणों के विना वह निमित्तकारण बन ही नहीं सकता। एवंविध विशेषताओं से युक्त उस सच्छब्दवाच्य परब्रह्म ने अवाप्त समस्तकाम अर्थात् परिपूर्ण होने पर भी केवल लीलार्थ यह संकल्प किया कि मैं विचित्र एवं अनन्तचेतनाचेतनों से मिश्रित इस जगत् के रूप में बहुत बनकर रहूँ तदर्थ वैसा उत्पन्न होऊँ। पहले वस्तु की उत्पत्ति होती है, बाद वह अस्तित्व को प्राप्त करता है। यह क्रम लोक में देखने में आता है। अतएव ब्रह्म ने इस प्रकार संकल्प किया कि मुझे जगत् के रूप में बहु बनकर रहना चाहिये तदर्थ पहले वैसा उत्पन्न होना चाहिये। इस प्रकार स्वयं संकल्प करके उस ब्रह्म ने चेतनाचेतनविशिष्ट अपने स्वरूप में विशेषण के रूप में एक देश बनकर रहने वाली अचेतन प्रकृति के द्वारा महदादितत्त्व क्रम से आकाशादि पंचमहाभूतों की सृष्टि की। यद्यपि इस सद्विद्या में तेज आदि भूतों की सृष्टि का ही वर्णन मिलता है तथापि अन्यान्य उपनिषदों के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व, अहंकार, ११ इन्द्रिय, ५ तन्मात्र, और ५ महाभूतों की सृष्टि माननी चाहिये। इस प्रकार परब्रह्म ने २३ प्राकृत तत्त्वों की सृष्टि की। इन २३ तत्त्वों को ही समष्टि सृष्टि कहते हैं।

इस वचन से ब्रह्म का उभयविधकारणत्व सिद्ध होता है क्योंकि संकल्प करने के कारण उसका निमित्तकारणत्व सिद्ध होता है, तथा एक को बहुत बनने के कारण उसका उपादानकारणत्व सिद्ध होता है। सृष्टि के विषय में यह अर्थ ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार अलग रहता हुआ कुम्भकार मृत्तिका को घट के रूप में परिणत कर देता है, उसी प्रकार परब्रह्म प्रकृति से अलग रहकर प्रकृति को जगत् के रूप में परिणत कर देता हो, ऐसी बात नहीं, क्योंकि परब्रह्म प्रकृति से अलग नहीं रह सकता है, न प्रकृति ही परब्रह्म को छोड़कर अलग रह सकती है। परमात्मा प्रकृति के अन्दर और बाहर व्याप कर संकल्प से प्रकृति को जगत् के रूप में परिणत कर देते हैं। प्रकृति परमात्मा का आश्रय लेकर ही अस्तित्व रखती है, परमात्मरूपी आधार में रहती हुई प्रकृति जगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति परमात्मा का शरीर है। प्रकृति एवं उसमें होने वाले सभी विकार परमात्मा का आश्रय लेकर ही स्वरूप को प्राप्त करते हैं अस्तित्व रखते हैं। प्रकृति में होने वाले विकारों का आधार परमात्मा ही है। वे परम्परा से अर्थात् प्रकृति के द्वारा उनके आधार बनते हैं। प्रकृति का अन्तरात्मा ही उससे बनने वाले महतत्त्व इत्यादि विकारों का भी अन्तरात्मा है। इसलिये यह कथन भी सत्य निकलता है कि प्रकृतिशरीर वाले परमात्मा ही महत्तत्त्व इत्यादि शरीर वाले

बन जाते हैं। यहाँ पर बालक का उदाहरण ध्यान देने योग्य है। लोक में देखा जाता है कि बालक युवा बन जाता है। बाल्य और यौवन इत्यादि शरीर का धर्म है। जो शरीर बाल्यावस्था में रहता है, वह बालशरीर कहलाता है, तथा युवावस्था में रहने वाला शरीर युवशरीर कहलाता है। इतना ही नहीं, किन्तु बालशरीर वाला जीवात्मा बाल कहलाता है, तथा युवशरीर वाला जीवात्मा युवा कहलाता है। जीवात्मा शरीर के द्वारा बाल्यावस्था एवं युवावस्था को प्राप्त करता है साक्षात् नहीं। ये अवस्थायें परम्परा से आत्मा का आश्रय लेकर ही सत्ता पाती हैं, आत्मा का आश्रय न लें तो इनकी सत्ता मिलना ही कठिन है। आत्मा उन अवस्थाओं का किसी न किसी प्रकार से आश्रय बन जाता है अतएव बालक युवा बन जाता है। इस प्रकार आत्मा के विषय में व्यवहार होता है। इसका कारण यही है कि आत्मा उन अवस्थाओं का आश्रय है अतएव वैसा व्यवहार चलता है। वे अवस्थायें आत्मा का आश्रय लिये बिना रह ही नहीं सकती। प्रकृत में भी वैसे ही समझना चाहिये। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का आश्रय जो द्रव्य है, वह प्रकृति कहलाता है। उसमें रहने वाले ये तीनों गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं तब वह प्रकृति मूलप्रकृति कहलाती है। उसमें रहने वाले ये तीनों गुण जब वैषम्यावस्था को प्राप्त होते हैं। तब वह मूलप्रकृति महत्तत्त्वावस्था को प्राप्त कर महत्तत्त्व बन जाती है इसी प्रकार आगे विविधावस्थाओं को प्राप्त कर विविध नामों से व्यवहृत होती है। ये सभी अवस्थायें प्रकृति की हैं इनमें पूर्व २ अवस्था कारणावस्था तथा उत्तरोत्तरावस्था कार्यावस्था कहलाती हैं। ऐसे विविधावस्थाओं को प्राप्त करती हुई प्रकृति सदा परमात्मा का शरीर बनकर रहती है। परमात्मा का आश्रय लेकर ही प्रकृति एवं उसकी अवस्थाओं का अस्तित्व होता है, परमात्मा का आश्रय छोड़ दे तो प्रकृति का अस्तित्व ही कठिन है, इन अवस्थाओं का अस्तित्व सर्वथा असंभव है। परमात्मा ही प्रकृतिरूप शरीर के द्वारा इन अवस्थाओं का धारण करते हैं। प्रकृति शरीर वाले परमात्मा ही उत्तरकाल में महत्तत्त्व शरीर वाले बन जाते हैं। अतएव जगत् का उपादान कारण परमात्मा कहलाते हैं तथा जगद्रूप को धारण करने वाले भी परमात्मा ही हैं। हाँ, कारणावस्था एवं कार्यावस्था को परमात्मा प्रकृति के द्वारा प्राप्त करते हैं, साक्षात् नहीं। साक्षात् प्राप्त न करने के कारण ही परमात्मा निर्विकार सिद्ध होते हैं, तथा परमात्मा से प्राप्त करने के कारण ही परमात्मा उपादान कारण एवं कार्य कहलाते हैं। चेतनाचेतन द्रव्य एवं उनमें होने वाली विविध अवस्थायें परमात्मा का आश्रय लेकर ही अस्तित्व को प्राप्त करती हैं अतएव सबकी सत्ता भगवदधीन मानी जाती है। इस प्रकार साक्षात् अथवा परम्परा से सबके धारक होने के कारण ही कारण और कार्य इत्यादि सब कुछ श्रीभगवान् ही माने जाते हैं। इस प्रकार परम्परा से विविध अवस्थाओं को प्राप्त करने के कारण परब्रह्म उपादानकारण बन जाता है तथा संकल्प के द्वारा उत्पादक होने के कारण निमित्तकारण भी बन जाता है।

नामरूपव्याकरणवर्णनम्

नामरूपव्याकरण का वर्णन

पुनरपि सैव सच्छब्दाभिहिता परा देवतैवमैक्षत "हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता: अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी" ति, अनेन जीवेनात्मनेति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मकजीवानुप्रवेशादेव कृत्स्नस्याचिद्वस्तुनः पदार्थत्वम्, एवं-भूतस्यैव सर्वस्य वस्तुनो नामरूपभाक्त्वमिति च दर्शयति ।

इस प्रकार श्रुति समष्टिसृष्टि का वर्णन कर आगे व्यष्टिसृष्टि का वर्णन करती हुई यह कहती है कि "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" अर्थात् सच्छब्दवाच्य जिस तत्त्व ने संकल्पपूर्वक तेज जल और पृथिवी की सृष्टि की है, समष्टिसृष्टि करने वाला वह तत्त्व एक देवता है। वह तत्त्व सामान्य देवता नहीं, किन्तु परा अर्थात् श्रेष्ठ देवता है क्योंकि "परस्यां देवतायाम्" कहकर श्रुति आगे उसे परदेवता बतलाती है। देवता कहने से सच्छब्दवाच्य वह तत्त्व सगुण ब्रह्म सिद्ध होता है। उस परदेवता ने व्यष्टिसृष्टि करने के लिये यह संकल्प किया कि मैं अबतक निर्मित इन समष्टि तत्त्वों में इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूप व्याकरण करूँ। यद्यपि इस श्रुति में "तिस्रो देवता:" कहकर तेज जल और पृथिवी इन तीनों तत्त्वों का ही उल्लेख है ऐसा मानना चाहिये तथापि अन्यान्य श्रुतियों में वर्णित महत्तत्त्व इत्यादि तत्त्वों के प्रदर्शनार्थ यह उल्लेख है अतएव उन तत्त्वों को भी यहाँ समझना चाहिये। ब्रह्माण्डों में अनन्त भोगस्थान भोगोपकरण एवं भोग्यपदार्थों की जो सृष्टि होती है तथा चौरासी लाख योनियों में विविध भोक्ता जीवों की जो सृष्टि होती है, यह सब व्यष्टिसृष्टि कहलाती है। जो सृष्टि ब्रह्माण्डनिर्माण के पूर्व होती है वह समष्टिसृष्टि कहलाती है। इस व्यष्टिसृष्टि को ही नामरूपव्याकरण कहते हैं क्योंकि इसमें विविधरूपों से पदार्थों की सृष्टि होती है तथा उनके अलग २ नाम व्यवहृत होते हैं। व्यष्टिसृष्टि करने के पूर्व परमात्मा ने यह संकल्प—कि इन समष्टि तत्त्वों में इन जीवात्माओं के द्वारा हम प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करेंगे—क्यों किया ? यह विचारणीय विषय है। क्या परमात्मा जीवों के द्वारा इनमें प्रविष्ट न होकर नामरूपव्याकरण कर नहीं सकते ? उनको इस प्रकार प्रवेश करने की क्या आवश्यकता ? लोक में पिता पुत्र का नाम रखते हैं, यह नाम व्याकरण है। क्या पिता पुत्र के अन्दर प्रविष्ट होकर नामकरण करते हैं ? नहीं। जिस प्रकार पिता बाहर रहकर नामकरण करते हैं क्या उसी प्रकार परमात्मा नहीं कर सकते ? लोक में कुम्भकार मृत्तिका को घटरूप देता है यह रूपव्याकरण है। क्या कुम्भकार मृत्तिका के अन्दर प्रविष्ट होकर ही उसको घटरूप में परिणत करता है ? नहीं। जिस प्रकार कुम्भकार बाहर रहकर मृत्तिका को घटरूप दे देता है, क्या उसी प्रकार परमात्मा बाहर रहकर इन पदार्थों की सृष्टि नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। ऐसी स्थिति

में उनको जीवात्मा के द्वारा इन समष्टितत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण करने की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि परमात्मा सब कुछ कर सकते हैं परन्तु उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा ने जो संकल्प किया है उसका तात्पर्य यह है कि जीवों को इन रूपों को अर्थात् शरीरों को प्राप्त कर कर्मफल भोगना चाहिये इसलिये उनको इन तत्त्वों में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। जीवात्मा एवं ये रूप अर्थात् शरीर परमात्मा का आश्रय लेकर ही रह सकते हैं, उनको छोड़ने पर इनको मिटना होगा। ऐसी स्थिति है अतएव परमात्मा को यह संकल्प करना पड़ता है कि मैं जीवों के द्वारा इनमें प्रवेश कर नामरूप-व्याकरण करूँ। ऐसा करने पर ही जीव एवं जीवों के द्वारा धृत होने वाले ये रूप अर्थात् शरीर अस्तित्व पा सकते हैं अन्यथा नहीं। अतएव परमात्मा अन्तर्यामी के रूप में जीवों के अन्दर अवस्थित होकर जीवों के द्वारा इन रूपों का धारण करते हैं, तथा इन रूपों को बतलाने वाले शब्दों के द्वारा अभिहित होते हैं। परमात्मा की यह इच्छा है कि मैं अन्दर रहकर जीवों के द्वारा इन रूपों का धारण करूँ तभी इनका अस्तित्व हो सकता है तथा इनके वाचक शब्दों के द्वारा मैं अभिहित हो जाऊँ इसलिये परमात्मा को जीवों का अन्तर्यामी बनकर जीवों के द्वारा इनमें प्रवेश करना पड़ता है। प्रत्येक जडपदार्थ के अन्दर जीव रहकर जीव उसका धारण करता है। जीव के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में रहकर परमात्मा, जीव एवं उनके द्वारा धृत रूपों का धारण भी करते हैं तभी उनको सत्ता प्राप्त होती है। उन रूपों को अर्थात् शरीरों को बतलाने वाले शब्द उन रूपों को बतलाते हुये उनके अन्दर रहने वाले जीव एवं उनके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी के वाचक बनते हैं। इस प्रकार सभी शब्दों से अन्तर्यामी ही अभिहित होते हैं।

नामरूपव्याकरणश्रुत्यर्थस्य स्पष्टीकरणम्

नामरूपव्याकरणश्रुति के भावार्थ का स्पष्टीकरण

एतदुक्तं भवति—जीवात्मा तु ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वात् ब्रह्मात्मकः "यस्यात्मा शरीर" मिति श्रुत्यन्तरात्। एवंभूतस्य जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादि-संस्थानानि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि। अतो देवो मनुष्यो यक्षो राक्षसः पशुर्मृगः पक्षी वृक्षो लता काष्ठं शिला तृणं घटः पट इत्यादयः सर्वे प्रकृतिप्रत्यययोगे-नाभिधायकतया प्रसिद्धाः शब्दाः लोके तत्तद्वाच्यतया प्रतीयमानतत्तत्संस्थानवस्तुमुखेन तदभिमानिजीवतदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्तस्य संघातस्यैव वाचका इति।

इस अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा कि लोक में यह देखा जाता है कि शरीर आत्मा का आश्रय लेकर रहता है, तथा आत्मा शरीर का आधार बनकर रहता है। इनमें

आत्मा विशेष्य तथा शरीर प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर रहता है क्योंकि यह मनुष्य है इस व्यवहार का यही अर्थ है कि यह मनुष्य शरीर वाला है। इस प्रतीति में मनुष्यशरीर प्रकार अर्थात् विशेषण के रूप में तथा आत्मा विशेष्य के रूप में प्रतीत होता है। आधार वस्तु को विशेष्यरूप में प्रतीत होना तथा आधेय वस्तु को विशेषणरूप में प्रतीत होना उचित ही है क्योंकि ऐसा ही सर्वत्र देखा गया है। 'यह घट शुक्ल है' इस प्रतीति को ले लिया जाय। इस प्रतीति में आधार घट विशेष्यरूप में तथा घट का आश्रय लेकर रहने वाला आधेय शुक्लरूप विशेषणरूप में भासित होता है। शुक्ल शब्द का अर्थ शुक्लरूप वाला है। 'यह गौ है' इस प्रतीति को ले लिया जाय। इस प्रतीति में जाति का आधार बनने वाला व्यक्ति विशेष्यरूप में तथा उसका आश्रय लेकर रहने वाली गोत्वजाति विशेषणरूप में भासित होती है। गो शब्द का अर्थ गोत्वजाति वाला व्यक्ति ही है। "यस्यात्मा शरीरम्" यह श्रुति बतलाती है कि जीवात्मा परमात्मा का शरीर है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा जीव का अन्तर्यामी है इसलिये जीव ब्रह्मात्मक सिद्ध होता है। जीवात्मा सदा अपने अन्दर परमात्मा को अन्तर्यामी के रूप में लेकर ही रहता है। ये ब्रह्मात्मक जीव उन शरीरों के अन्दर आत्मा के रूप में रहते हैं जो शरीर देव मनुष्य आदि शब्दों से जीवों के प्रति विशेषण के रूप में अभिहित होते हैं। शरीरवाचक शब्द शरीर मात्र ही में विश्रान्त न होकर आत्मा तक का प्रतिपादन करते हैं यह बात देव मनुष्य आदि शब्दों में देखी गई है क्योंकि वे शब्द देव मनुष्य आदि शरीर वाले जीवात्माओं का प्रतिपादन करते हैं। ये जडपदार्थ जीवात्मा का शरीर हैं, जीवात्मा परमात्मा का शरीर हैं। जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्मात्मक है, उसी प्रकार ये जडपदार्थ भी ब्रह्मात्मक हैं। प्रकृति और प्रत्ययों से युक्त होकर विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले देव मनुष्य यक्ष राक्षस पशु मृग पक्षी वृक्ष लता काष्ठ शिला तृण घट और पट इत्यादि सभी शब्द उन अर्थों को—लोक में जो इनके वाच्य हैं—बतलाते हुये उन विचित्र सन्निवेश वाले जडपदार्थों के अन्दर रहने वाले अभिमानी जीवों को बतलाकर उनके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा तक का बोध कराते हैं। प्रत्येक शब्द इस समुदाय का—जिसमें जडपदार्थ उनके अन्दर रहने वाले जीव एवं अन्तर्यामी परमात्मा का समावेश होता है—ही प्रतिपादन करते हैं। घटशब्द घटरूपी जडपदार्थ उसके अन्दर रहने वाले जीव एवं उसके अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा तक का प्रतिपादन करता है। ऐसे ही सब शब्दों के विषय में भी समझना चाहिये। इस प्रकार सभी शब्द जड जीव एवं ईश्वर तक का प्रतिपादन करें, तदर्थ ही ईश्वर जीवों के द्वारा समष्टितत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूपव्याकरण अर्थात् व्यष्टिसृष्टि का निर्माण करते हैं।

"तत्त्वमसि" इति श्रुतेरर्थवर्णनम्

"तत् त्वमसि" इस श्रुति वाक्य का अर्थ

एवं समस्तस्य चिदचिदात्मकप्रपञ्चस्य सदुपादनता-सन्निमित्तता-सदाधारता-सन्नियाम्यता-सच्छेषतादिसर्वं च "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजास्सदायतनास्सत्प्रतिष्ठाः" इत्यादिना विस्तरेण प्रतिपाद्य कार्यकारणभावादिमुखेन "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्य-" मिति कृत्स्नस्य जगतः ब्रह्मात्मकत्वमेव सत्यमिति प्रतिपाद्य कृत्स्नस्य जगतः स एवात्मा कृत्स्नं जगत्तस्य शरीरम्, तस्मात्त्वशब्दवाच्यमपिजीवप्रकारं ब्रह्मैवेति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं प्रतिज्ञातं "तत्त्वमसी" ति जीवविशेषे उपसंहृतम् ।

उपनिषद् सद्विद्या में आगे यह वर्णन करती है कि "सन्मूलाः सोम्येमा सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, तत् सत्यम्, स आत्मा"। इस वाक्य से पिता पुत्र को यह उपदेश देते हैं कि सद्ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला यह चेतनाचेतन प्रपञ्च प्रजा कहा जाता है। सशरीर जीव प्रजा शब्द से अभिहित होता है। इसमें शरीर अचेतन है जीव चेतन है। यह चेतनाचेतन प्रपञ्च सत् से उत्पन्न हुआ है सत् इसका उपादान एवं निमित्त कारण होने से इसका मूल है। सत् इसका आयतन अर्थात् धारक है, यह प्रपञ्च सत् आधार के ऊपर अवस्थित है। वह सत् नियामक बनकर इसका आधार है। यह प्रपञ्च सत के द्वारा नियाम्य है तथा सत् का शेष है अर्थात् सत् के लिये यह रहता है। यह प्रपञ्च सत् में लीन होने वाला है। सत् इसका लय स्थान है, अतएव प्रतिष्ठा है। श्रुति इन विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कर आगे बतलाती है कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"। अर्थात् सद्ब्रह्म इस प्रपञ्च का सब तरह से कारण है यह प्रपञ्च उसका कार्य है। इन दोनों में कार्यकारणभावसम्बन्ध है तथा इनमें शरीरात्मभावसम्बन्ध भी है क्योंकि सत् इस प्रपञ्च का आत्मा है, यह प्रपञ्च सत् का शरीर है। इस प्रकार उभयविधसम्बन्ध होने के कारण यह फलित होता है कि यह चेतनाचेतन प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है। सत् ब्रह्म इस प्रपञ्च का आत्मा है तथा यह प्रपञ्च उसका शरीर है। इस प्रकार इस चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म में शरीरात्मभावसम्बन्ध होने के कारण यह फलित होता है कि "त्वम्" अर्थात् 'तुम' इस शब्द का वाच्यार्थ वह ब्रह्म ही है जो समक्ष अवस्थित जीव का अन्तर्यामी है। यह पूर्व ही बतलाया गया है कि शरीरवाचक शब्द उस शरीर के अन्दर रहने वाले आत्मा तक का बोध कराता है। जीव ब्रह्म का शरीर है ब्रह्म जीव का आत्मा है। इसलिये जीववाचक "त्वम्" इत्यादि शब्दों से जीवान्तरात्मा ब्रह्म का बोध होना उचित है। अतएव आगे श्रुति बतलाती है कि "तत् त्वमसि" अर्थ—तुम अर्थात् समक्ष अवस्थित जीव का अन्तरात्मा वह जगत्कारण सद्ब्रह्म ही है। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" कहकर सम्पूर्ण जगत् का जो ब्रह्मात्मकत्व कहा गया है, सामान्यरूप से कही गई उस बात का अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व का जीवविशेष में अर्थात् समक्ष अवस्थित जीव में उपसंहार "तत्त्वमसि" वाक्य

से किया गया है। यह "तत्त्वमसि" वाक्य नये किसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त नहीं है, किन्तु "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य से सामान्यरूप से जो अर्थ कहा गया है, उसको विशेषरूप से जीव-विशेष में दुहराता है।

शरीरात्मभावेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वम्

शरीरात्मभाव को लेकर प्रपञ्च का ब्रह्मात्मकत्व

एतदुक्तं भवति—"ऐतदात्म्यमिदं सर्व" मिति चेतनाचेतनप्रपञ्चमिदं सर्वमिति निर्दिश्य तस्य प्रपञ्चस्यैष आत्मेति प्रतिपादितः, प्रपञ्चोद्देशेन ब्रह्मात्मकत्वं प्रतिपादितमित्यर्थः। तदिदं ब्रह्मात्मकत्वं किमात्मशरीरभावेन? उत स्वरूपेणेति विवेचनीयम्, स्वरूपेणेति चेत् ब्रह्मणः सत्यसङ्कल्पत्वादयः "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये" त्युपक्रमावगता बाधिता भवन्ति। शरीरात्मभावेन च तदात्मकत्वं श्रुत्यन्तराद्विशेषतोऽवगतम्। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मे" ति, प्रशासितृत्वरूपात्मत्वेन सर्वेषां जनानामन्तः प्रविष्टः, अतः सर्वात्मा सर्वेषां जनानामात्मा, सर्वं चास्य शरीरमिति विशेषतो ज्ञायते ब्रह्मात्मकत्वम्। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति च, अत्राप्यनेन जीवेनात्मनेति इदमेव ज्ञायत इति पूर्वमेवोक्तम्।

आगे इस अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वचन में "इद सर्वम्" इन शब्दों से इस चेतनाचेतन प्रपञ्च का निर्देश करके "ऐतदात्म्यम्" शब्द से यह बतलाया गया है कि इस प्रपञ्च का आत्मा यह सद्ब्रह्म है, इससे फलित होता है कि यह प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है। यहाँ पर यह विचार उपस्थित होता है कि प्रपञ्च का ब्रह्मात्मकत्व जो कहा गया है उसका दो प्रकार से निर्वाह हो सकता है। प्रथम प्रकार यह है कि प्रपञ्च शरीर है तथा ब्रह्म आत्मा है इसलिये प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्मरूपी आत्मा से युक्त है। दूसरा प्रकार यह है कि यह चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म एक ही पदार्थ हैं, इनमें स्वरूपैक्य है। इसलिये यह प्रपञ्च ब्रह्मात्मक है। इन दोनों प्रकारों में यहाँ पर कौनसा प्रकार श्रुति का विवक्षित है। प्रथम प्रकार ही श्रुति का विवक्षित है द्वितीय प्रकार नहीं। ऐसा ही निर्णय करना पड़ता है। इसमें कारण भी हैं। यदि यहाँ पर इस चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म में स्वरूपैक्य विवक्षित होता है तो यहाँ पर उपक्रम में "तदैक्षत" इत्यादि वाक्यों से वर्णित सत्यसंकल्पत्व इत्यादि ब्रह्मगुण बाधित हो जायेंगे क्योंकि अचेतन प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का स्वरूपैक्य मानने पर ब्रह्म को अचेतन मानना

होगा। अचेतन में संकल्प हो ही नहीं सकता। ब्रह्म सत्यसंकल्प हो नहीं सकता। किंच, चेतन प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का स्वरूपैक्य होने पर ब्रह्म को चेतन अर्थात् जीव मानना होगा कर्मवश्य जीव इस प्रकार सृष्टि-संकल्प कर नहीं सकता। ब्रह्म सत्यसंकल्प वाला होगा नहीं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि चेतनाचेतन प्रपञ्च का ब्रह्म के साथ स्वरूपैक्य मानने पर इस उपनिषद् में आरम्भ में "तदैक्षत" इत्यादि वाक्यों से वर्णित सत्यसंकल्पत्व इत्यादि ब्रह्मगुण बाधित हो जायेंगे इसलिये स्वरूपैक्य नहीं मानना चाहिये। शरीरात्मभाव के अनुसार ही इस प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक मानना चाहिये। उपर्युक्त अर्थ दूसरी श्रुति के द्वारा विशेषरूप से विदित होता है। वह श्रुतिवाक्य यह है कि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा"। अर्थात् परमात्मा प्रशासक के रूप में सब जीवों के अन्दर प्रविष्ट हैं। इसलिये परमात्मा "सर्वात्मा" हैं सबके आत्मा हैं सब इनका शरीर हैं। दूसरा श्रुतिवाक्य है जो यह बतलाता है कि जीवात्मा परमात्मा का शरीर है, परमात्मा जीवात्मा का आत्मा है। वह वाक्य यह है कि "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः"। अर्थात् जो परमात्मा जीवात्मा में रहता है, जीवात्मा के अन्दर अवस्थित है, जिसे जीवात्मा जानता नहीं, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वह अमृत परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा है। इस श्रुतिवाक्य से जीवात्मा और परमात्मा में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस सद्विद्या में भी "अनेन जीवेनात्मना" इस वाक्यखण्ड से यही बतलाया जाता है कि परमात्मा जीवान्तर्यामी बनकर उसी रूप में जडतत्त्वों में अनुप्रवेश करते हैं। इन सब वचनों से यही फलित होता है कि परमात्मा परब्रह्म चेतनाचेतन प्रपञ्च का अन्तरात्मा है, चेतनाचेतन प्रपञ्च उनका शरीर है। इस प्रकार इनमें शरीरात्मभावसम्बन्ध है। शरीरात्मभाव-सम्बन्ध होने के कारण ही प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक मानना चाहिये।

"तत्त्वमसि" श्रुत्यर्थस्य समर्थनम्

"तत् त्वमसि" श्रुत्यर्थ का समर्थन

अतः सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वात्सर्वशरीरं सर्वप्रकारं सर्वशब्दैर्ब्रह्मै-वाभिधीयत इति "तत्त्व" मिति सामानाधिकरण्येन जीवशरीरतया जीवप्रकारं ब्रह्मैवाभि-हितम्। एवमभिहिते सत्ययमर्थो ज्ञायते, त्वमिति यः पूर्वं देहाधिष्ठातृतया प्रतीतः स परमात्मशरीरतया परमात्मप्रकारभूतः परमात्मपर्यन्तः पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हः, अतस्त्व-मिति शब्दस्त्वत्प्रकारविशिष्टं त्वदन्तर्यामिणमेवाचष्ट इति, "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी" ति ब्रह्मात्मकतयैव जीवस्य शरीरिणः स्वनामभाक्त्वात्, तत्त्व-

मिति समानाधिकरणवृत्तयोर्द्वयोरपि पदयोर्ब्रह्मैव वाच्यम्। तत्र तत्पदं जगत्कारणभूतं सकलकल्याणगुणगणाकरं निरवद्यं निर्विकारमाचष्टे। त्वमिति च तदेव ब्रह्म जीवान्तर्यामिरूपं सशरीरजीवप्रकारविशिष्टमाचष्टे। तदेवं प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैकस्मिन् ब्रह्मण्येव तत्त्वमिति द्वयोः पदयोर्वृत्तिरुक्ता। ब्रह्मणो निरवद्यत्वं निर्विकारत्वं सर्वकल्याणगुणाकरत्वं जगत्कारणत्वं चाबाधितम्।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि सभी चेतनाचेतन पदार्थ ब्रह्म का शरीर हैं, ब्रह्म आत्मा बनकर इन सब शरीरों का धारण करता है। सर्वशरीर वाला बनकर सर्वरूप से अवस्थित यह ब्रह्म ही सभी उन शब्दों से—जो इन शरीरों के वाचक हैं—अभिहित होता है। इसलिये "तत् त्वमसि" इस श्रुति में तच्छब्दार्थ एवं त्वं शब्दार्थ में अभेद बतलाने वाले "तत् त्वम्" इन दोनों पदों से वह परब्रह्म ही अभिहित होता है जो जीवरूपी शरीर का धारण करके जीवविशिष्ट बनकर रहता है। वहाँ पर जीव ब्रह्म का शरीर बनकर विशेषण है ब्रह्म जीव का विशेष्य है। जीव आश्रित वस्तु है। ब्रह्म जीव का आश्रय है। इस प्रकार उनमें विशेषता स्फुट होती है। इस विशेषता से यह फलित होता है कि समस्त विद्यमान शरीर पर अधिष्ठान करने वाला जीव "त्व" शब्द का अर्थ है। यह लोकव्यवहार के अनुसार प्रथमतः विदित होता है। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार उस जीवात्मा में ये विशेषतायें सिद्ध होती हैं कि वह जीव परमात्मा का शरीर बनकर उसी प्रकार परमात्मा का विशेषण हो जाता है जिस प्रकार शुक्ल इत्यादि रूप द्रव्य का आश्रय लेकर द्रव्य के विशेषण बन जाते हैं, तथा जिस प्रकार गोत्व इत्यादि जाति, व्यक्ति का आश्रय लेकर उस व्यक्ति का विशेषण बन जाती है। यह जीव अपने अस्तित्व के लिये उसी प्रकार सुदृढ़ रूप से परमात्मा को पकड़ कर रहता है जिस प्रकार शुक्लादि रूप अपने अस्तित्व के लिये द्रव्य को पकड़े रहते हैं तथा जाति अपने अस्तित्व के लिये व्यक्ति को पकड़े रहती है। जिस प्रकार द्रव्य की सत्ता से गुण सत्तावान् होता है, तथा जिस प्रकार व्यक्ति की सत्ता से जाति सत्ता वाली होती है, उसी प्रकार परमात्मा की सत्ता से ही जीव सत्तावान् होता है। जिस प्रकार गुण द्रव्य को छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्ति के योग्य नहीं होता तथा जिस प्रकार जाति व्यक्ति को छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्ति नहीं रख सकती उसी प्रकार यह जीवात्मा भी परमात्मा को छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्ति रखने के योग्य नहीं है। इसकी स्थिति और प्रवृत्ति सब कुछ परमात्मा के अधीन है। इससे यही सिद्ध होता है कि "त्वम्" इत्यादि जीववाचक शब्द उस परमात्मा को—जो जीव को विशेषण बनाकर स्वयं उसके अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित है—उसी प्रकार बतलाते हैं जिस प्रकार गुणवाचक शुक्ल आदि शब्द शुक्ल रूप वाले द्रव्य को बतलाते हैं तथा जिस प्रकार गोत्व आदि जाति के वाचक गो आदि शब्द गोत्वादिजातियुक्त व्यक्ति को बतलाते हैं। यह अर्थ "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इस श्रुति से सिद्ध होता है। इस श्रुति का यही तात्पर्य है कि ब्रह्म का शरीर बना हुआ तथा ब्रह्म को अन्तर्यामी के रूप में अपनाने वाला यह ब्रह्मात्मक जीव ही शब्दों के

द्वारा अभिहित होता है। जीववाचक शब्द जीवमात्र में विश्रान्त न होकर जीव के अन्तर्यामी तक का वाचक होता है। "तत् त्वमसि" इस वाक्य में "तत्" और "त्वम्" पद एक सी विभक्ति को अपनाने वाले हैं अतएव अपने वाच्यार्थों में अभेद को सिद्ध करते हैं। ये दोनों पद विभिन्न रूपों से एक ही ब्रह्म को बतलाते हैं। इनमें तत् पद जगत्कारण सकलकल्याणगुणनिधि निर्दोष एवं निर्विकार ब्रह्म का वाचक है। त्वं पद भी समस्त विद्यमान शरीर पर अभिमान करने वाले जीव के अन्तर्यामी बने हुये उसी ब्रह्म का वाचक है। इस त्वं पद से शरीर जीवरूपविशेषणविशिष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। तत् पद जगत्कारण के रूप में ब्रह्म को बतलाता है, त्वं पद जीवान्तर्यामी के रूप में बतलाता है। इस प्रकार प्रतिपाद्यरूप भिन्न होने पर भी ये दोनों पद एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। जीवान्तर्यामी और जगत्कारण ब्रह्म में अभेद इस श्रुति से ऐसा सिद्ध होता है। इस श्रुति से जीव और ब्रह्म में शङ्कर सम्मत अभेद नहीं बतलाया जाता। हमारे प्रकार से बतलाये जाने पर ब्रह्म के निर्दोषत्व निर्विकारत्व सर्वकल्याणगुणनिधित्व और जगत्कारणत्व इत्यादि स्वभाव सुरक्षित रहते हैं। यदि जीव और ब्रह्म में अभेद माना जाय तो ये सभी स्वभाव बाधित हो जायेंगे। इसलिये यही मानना पड़ता है कि "तत्त्वमसि" यह श्रुति उपर्युक्तरीति से जीवान्तर्यामी और ब्रह्म में अभेद बतलाती है। अद्वैतियों ने यह जो व्याख्या की है कि यह श्रुति जीव और ब्रह्म में अभेद बतलाती है वह व्याख्या समीचीन नहीं।

सर्वार्थानां ब्रह्मात्मकत्वस्य सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचकत्वस्य च समर्थनम्

सभी पदार्थों का ब्रह्मात्मकत्व तथा सभी शब्दों का ब्रह्मवाचकत्व

अश्रुतवेदान्ताः पुरुषाः "सर्वे पदार्थाः सर्वे जीवात्मानश्च ब्रह्मात्मका" इति न पश्यन्ति, सर्वशब्दानां च केवलेषु तत्तत्पदार्थेषु वाच्यैकदेशेषु वाच्यपर्यवसानं मन्यन्ते, इदानीं वेदान्तवाक्यश्रवणेन ब्रह्मकार्य्यतया तदन्तर्यामिकतया सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं सर्वशब्दानां तत्तत्प्रकारसंस्थितब्रह्मवाचित्वं च जानन्ति।

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि विशिष्टाद्वैतवादी यह कहते हैं कि सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं, तथा सभी शब्द ब्रह्म तक के वाचक हैं। इनका यह सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है क्योंकि जगत् में कोई भी पदार्थ ब्रह्मात्मक नहीं समझा जाता, किन्तु सभी पदार्थ स्वतन्त्र ही दिखाई देते हैं। जगत् में घट आदि शब्द लोकप्रसिद्ध घटादि पदार्थों के वाचक ही माने जाते हैं, इनमें कोई भी शब्द अन्तर्यामी का वाचक मानकर प्रयुक्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में सब पदार्थों को ब्रह्मात्मक तथा सभी शब्दों को ब्रह्मवाचक कैसे माना जा सकता है ? यह शङ्का है। श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने विस्तार से उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते

हुये यह कहा है कि प्रमाणों की गति सीमित है। कई प्रमाण आश्रित गुणधर्मों का ही ग्रहण करने में क्षमता रखते हैं, ये प्रमाण उन गुणधर्मों को आश्रय देने वाले द्रव्य का ग्रहण करने में असमर्थ रह जाते हैं। कई प्रमाण गुणधर्मों के साथ ही साथ उनको आश्रय देने वाले द्रव्य का भी ग्रहण करते हैं। उदाहरण—घ्राण रसना एवं श्रोत्र गुणमात्र के ग्राहक हैं। ये इन गुणधर्मों का आधार बनने वाले द्रव्य का ग्रहण करने में असमर्थ हैं। घ्राण गन्ध भर का ग्रहण कर सकता है, गन्धाश्रय द्रव्य का नहीं। रसनेन्द्रिय रसमात्र का ग्रहण कर सकता है, रसाश्रय द्रव्य का नहीं, तथा श्रोत्रेन्द्रिय शब्दमात्र का ग्रहण कर सकता है शब्द का आश्रय बनने वाले द्रव्य का नहीं। इन इन्द्रियों की द्रव्य का ग्रहण करने में सामर्थ्य न होने के कारण ही इनसे गृहीत होने वाले वे गुण स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं, अन्याश्रित प्रतीत नहीं होते। चक्षु और त्वगिन्द्रिय गुण और द्रव्य का ग्रहण करने में समर्थ हैं। चक्षु रूप का ग्रहण करता हुआ उसका आधार बनने वाले द्रव्य का भी ग्रहण करता है तथा त्वगिन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण करता हुआ उसका आश्रय बनने वाले द्रव्य का भी ग्रहण करता है। अतएव उनके द्वारा गृहीत होने वाले रूप और स्पर्श इत्यादि गुण द्रव्यपरतन्त्र अर्थात् द्रव्याश्रित प्रतीत होते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि धर्म सदा धर्मी का आश्रय लेकर रहता है कभी स्वतन्त्र नहीं रहता। रूपादि धर्म और धर्मी द्रव्य का ग्रहण करने में समर्थ चक्षुरादि इन्द्रियों से धर्म, धर्मिपरतन्त्र प्रतीत होता है। धर्मी द्रव्य का ग्रहण करने में असमर्थ घ्राण इन्द्रियों से गन्धादि धर्म स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं क्योंकि वे इन्द्रिय धर्मी द्रव्य का ग्रहण करने में असमर्थ हैं, धर्मी द्रव्य का ग्रहण किये विना गन्ध आदि को परतन्त्र सिद्ध नहीं कर सकते। वास्तव में गन्धादि गुण परतन्त्र ही हैं। उनमें स्वातन्त्र्यभान भ्रम ही है। इस भ्रमात्मक ज्ञान से वे स्वतन्त्र नहीं सिद्ध हो सकते। ऐसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। हमारे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण इन लौकिक पदार्थों का ही ग्रहण कर सकते हैं, इनके आधारभूत ब्रह्म का ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हैं अतएव इनसे गृहीत होने वाले पदार्थ स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। ब्रह्मात्मक प्रतीत नहीं होते। यह स्वातन्त्र्यभान केवल भ्रम है। हमारे पास शब्द ही—जो वेदादिशास्त्ररूप है—एक ऐसा प्रमाण है जो इन पदार्थों का ग्रहण करता हुआ इनके अन्तरात्मा ब्रह्म तक का ग्रहण कर सकता है। उस शब्दप्रमाण से ये पदार्थ ब्रह्मात्मक एवं ब्रह्मपरतन्त्र प्रतीत होते हैं। इन पदार्थों का वास्तविक आकार शास्त्र से ही गृहीत होता है। वेदान्तशास्त्र से ही यह भी विदित होता है कि सभी शब्द उन लोकसिद्ध अर्थों को बतलाते हुये ब्रह्म तक का बोध कराते हैं। वेदान्तशास्त्र को न सुनने वाले मनुष्य ही सभी पदार्थों को तथा सभी जीवात्माओं को ब्रह्मात्मक नहीं समझ पाते हैं, तथा सभी शब्दों को केवल लोकप्रसिद्ध उन २ अर्थों का ही वाचक मानते हैं यह समझने में असमर्थ रह जाते हैं कि ये शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थों को बतलाते हुये उनके अन्तर्यामी ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इसमें कारण यही है कि उन्होंने वेदान्तशास्त्र का श्रवण नहीं किया है। अब वेदान्त वाक्यों को सुनने पर समझ जाते हैं कि सभी पदार्थों के अन्दर

परब्रह्म अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित हैं, तथा सभी कार्य ब्रह्म से उत्पन्न हुये। इन दोनों कारणों से सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं। सभी शब्द जडशरीरों के अन्दर अवस्थित जीवों के अन्तर्यामी परब्रह्म के वाचक हैं। अधिकाधिक विचार करने पर भी यही सिद्धान्त सुस्थिर होता है कि सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं, तथा सभी शब्द ब्रह्म के वाचक हैं।

लोकव्युत्पत्तिबाधशङ्कायाः समाधानम्

लोकव्युत्पत्तिबाधशङ्का का समाधान

नन्वेवं गवादिशब्दानां तत्तत्पदार्थवाचितया व्युत्पत्तिर्बाधिता स्यात्, नैवम्, सर्वे शब्दा अचिज्जीवविशिष्टस्य परमात्मनो वाचका इत्युक्तं "नामरूपे व्याकरवाणि" त्यत्र। तत्र लौकिकास्तु पुरुषाः शब्दं व्याहरन्तो शब्दवाच्ये प्रधानांशस्य परमात्मनः प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्यत्वाद्वाच्यैकदेशभूते वाच्यसमाप्तिं मन्यन्ते। वेदान्तश्रवणेन च व्युत्पत्तिः पूर्यते।

यहाँ पर प्रतिवादी यह आक्षेप करते हैं कि यह जो कहा जाता है कि सभी शब्द ब्रह्म के वाचक हैं यह अर्थ माना नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध उपस्थित होगा। लोक व्यवहार से यह निश्चित होता है कि घट और पट इत्यादि शब्द घट और पट इत्यादि अर्थों के वाचक हैं। यदि इन शब्दों को ब्रह्म का वाचक माना जाय तो लोकव्युत्पत्ति बाधित हो जायेगी इसलिये शब्दों को ब्रह्मवाचक नहीं मानना चाहिये। यह एक आक्षेप है। इसका समाधान यह है कि सब शब्दों को ब्रह्मवाचक मानने में कोई दोष नहीं हैं। "नामरूपे व्याकरवाणि" इस श्रुति का अर्थ करते समय यह कहा गया है कि सभी शब्द उन २ जडशरीरों का धारण करने वाले जीवों से विशिष्ट ब्रह्म के वाचक हैं केवल ब्रह्म के वाचक नहीं। गौ आदि शब्दों का लोकप्रसिद्ध अर्थ वह शरीरविशेष और उसके अन्दर रहने वाला जीव है। इस अर्थ को अपनाकर आगे यह कहा जाता है कि गौ आदि शब्द उन जीवों को बतलाते हुये उनके अन्तर्यामी परब्रह्म को भी बतलाते हैं, यह नहीं कहा जाता है कि ये शब्द उन लोक प्रसिद्ध अर्थों को त्याग कर परमात्मा भर को बतलाते हैं। ऐसा कहने पर अवश्य लोकव्युत्पत्ति में विरोध उपस्थित होगा। वैसा तो कहा नहीं जाता इसलिये किसी विरोध की संभावना नहीं है। सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थों को लेकर ब्रह्म तक का प्रतिपादन करने में क्षमता रखते हैं। ऐसा होने पर भी लौकिक पुरुष गौ आदि शब्दों को जीववाचक ही मानते हैं, ब्रह्मवाचक नहीं मानते, उनकी यह धारणा है कि इन शब्दों की शक्ति जीव का प्रतिपादन कर समाप्त हो जाती है। उनकी यह धारणा गलत है क्योंकि वे शब्द परमात्मा तक का प्रतिपादन करने में क्षमता रखते हैं। वे लोग ऐसी धारणा इसलिये कर लेते हैं कि इन शब्दों का प्रयोग करते समय

तथा सुनते समय वे इन शब्दों के प्रधान प्रतिपाद्य परमात्मा को जानते नहीं, क्योंकि परमात्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण से जाने नहीं जा सकते, परमात्मा को न जानने के कारण ही वे यह नहीं समझ पाते हैं कि ये शब्द जडशरीरधारी जीव से युक्त परमात्मा के वाचक हैं, किन्तु यही समझते हैं कि ये शब्द जडशरीरधारी जीव के ही वाचक हैं। वास्तव में ये जीव जीवविशिष्ट परमात्मरूपी मुख्यार्थ का एक देश हैं। परमात्मा को न जानने के कारण वे इस एक देश को ही वाच्य मानकर इसमें ही शब्दशक्ति की परिसमाप्ति मानते हैं। जब वे वेदान्तशास्त्र को सुनकर यह समझ लेते हैं कि सभी पदार्थ अन्तर्यामी परमात्मा का आश्रय लेकर ही अस्तित्व पाते हैं तथा सब पदार्थों के अन्दर प्रधान रूप में अन्तर्यामी अवस्थित हैं अन्तर्यामी ही उन रूपों का धारण करते हुये सामने विद्यमान हैं, तब इनको यह विदित होता है कि सभी शब्द लोकप्रसिद्ध अर्थों को बतलाते हुये उनके अन्दर अवस्थित अन्तर्यामी तक के वाचक होते हैं। इस प्रकार वेदान्त सुनने पर उनकी व्युत्पत्ति लोकप्रसिद्ध अर्थ में ही न रुककर आगे परमात्मा तक बढ़कर पूर्ण हो जाती है।

वैदिकलौकिकशब्दानामैक्यम्

वैदिक एवं लौकिक शब्दों में ऐक्य

एवमेव वैदिकास्सर्वे शब्दाः परमात्मपर्यन्तान् स्वार्थान् बोधयन्ति। वैदिका एव सर्वे शब्दा वेदादेवोद्धृत्योद्धृत्य परेणैव ब्रह्मणा सर्वपदार्थान्पूर्ववत्सृष्ट्वा तेषु परमात्मपर्यन्तेषु पूर्ववन्नामतया प्रयुक्ताः। तदाह मनुः "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" इति। संस्थाः—संस्थानानि रूपाणीति यावत्। आह च भगवान् पराशरः "नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" इति। श्रुतिश्च "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पय" दिति। सूर्यादीन् पूर्ववत्परिकल्प्य नामानि च पूर्ववच्चकारेत्यर्थः।

वैदिक और लौकिक सभी शब्द परमात्मा तक का बोध कराने में क्षमता रखते हैं। वैदिक शब्द ही लौकिक प्रयोग में आने के कारण लौकिक कहलाते हैं। शास्त्र से यह पता चलता है कि परमात्मा ने पूर्वकल्पों में जिस प्रकार सृष्टि की है, उसी प्रकार इस कल्प में भी ब्रह्मात्मक जीव के द्वारा समष्टि तत्त्वों में प्रविष्ट होकर सभी पदार्थों की सृष्टि करके उनमें अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित हो जाते हैं, वेदों में विद्यमान उन गौ आदि सभी शब्दों को वेदों से निकालकर अन्तर्यामी तक के वाचक होने के लिये नियुक्त करते हैं इसलिये वे शब्द सृष्टि में रहने वाले पदार्थों को बतलाते हुये उनमें अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित परमात्मा तक का बोध कराते हैं। मनु ने कहा है कि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

अर्थात् श्री ब्रह्माजी के अन्तर्यामी परमात्मा ने वेदशब्दों के अनुसार सभी पदार्थों की अलग २ अवयवरचना तथा उनके अलग २ नाम और कर्मों का निर्माण किया है। भगवान् पराशर ब्रह्मर्षि ने यह कहा है कि—

नाम रूपं च भूतानां कृत्यानां च प्रपञ्चनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीना चकार सः ॥

अर्थात् उस परमात्मा ने वेदशब्दों के अनुसार देव आदि जीवों के नाम रूप और कर्तव्य कर्मों के बिस्तार का निर्माण किया है। श्रुति ने भी इस अर्थ की इस प्रकार पुष्टि की है कि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

अर्थात् ईश्वर ने पूर्वकल्प के अनुसार सूर्य और चन्द्र इत्यादि पदार्थों की सृष्टि करके उनका वैसा ही नाम रक्खा है। इन वचनों से यह सिद्ध होता है कि वैदिक शब्द ही लौकिक शब्द बने हैं। ये अन्तर्यामी तक के वाचक होते हैं। "तत्त्वमसि" वाक्य में "त्व" पद जीवान्तर्यामी का वाचक है। वह वाक्य जीवान्तर्यामी और जगत् कारण ब्रह्म में अभेद को बतलाता है जीव और ब्रह्म में अभेद को नहीं।

सद्विद्याविचारस्योपसंहारः

सद्विद्या सम्बन्धी विचार का उपसंहार

एव जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं प्रपञ्चितम्, तेनैकेन ज्ञातेन सर्वस्य ज्ञाततोपपादिता भवति। सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वप्रतिपादनेन तदात्मतयैव सत्यत्वं नान्यथेति "तत्सत्य" मित्युक्तम्। यथा दृष्टान्ते सर्वस्य मृद्विकारस्य मृदात्मनैव सत्यत्वम्।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने सद्विद्याविचार का उपसंहार करते हुये यह कहा है कि कार्य जगत् और कारण ब्रह्म एक ही वस्तु है, भिन्न वस्तु नहीं। सूक्ष्मचेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म कारणवस्तु है, स्थूल चेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही यह कार्य जगत् है। इसलिये ये दोनों एक ही वस्तु हैं। उपादान कारण बनने वाले उस एक ब्रह्म को जानने पर यह सम्पूर्ण जगत् जाना जाता है। इस प्रकार सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का उपपादन होता है। सभी पदार्थ ब्रह्म का कार्य हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक है। यही सत्य अर्थ है। किसी भी पदार्थ को अब्रह्मात्मक मानना भ्रम ही है। इस अर्थ को "तत् सत्यम्" इस वाक्य ने बतलाया है। जिस प्रकार दृष्टान्त में मृत्तिका से बनने वाले घट इत्यादि सभी

पदार्थ मृत्तिका ही हैं मृत्तिका से भिन्न नहीं इस बात को सत्य मानना पड़ता है उसी प्रकार ब्रह्म से बनने वाले ये सभी कार्य पदार्थ ब्रह्म ही हैं, ब्रह्म से भिन्न नहीं यही अर्थ सत्य है। उस ब्रह्म ने संकल्पपूर्वक जगत् की रचना की है। इससे ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है। सद्विद्या इस प्रकार सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है।

शोधकवाक्यैरपि सविशेषस्यैव ब्रह्मणः सिद्धिः

शोधक वाक्यों से भी ब्रह्म की सविशेषता की सिद्धि

शोधकवाक्यान्यपि निरवद्यं सर्वकल्याणगुणाकरं परं ब्रह्म शोधयन्ति । सर्वप्रत्यनीकाकारताबोधनेऽपि तत्तत्प्रत्यनीकाकारतायां भेदस्यावर्जनीयत्वान्न निर्विशेषवस्तुसिद्धिः ।

सद्विद्या सविशेष ब्रह्म का ही वर्णन करती है इस अर्थ को सिद्ध करके श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने आगे यह सिद्ध किया है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि शोधकवाक्य भी सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। कारणवाक्यों के बाद शोधकवाक्यों की प्रवृत्ति मानी जाती है। ब्रह्म को जगत्कारण कहने वाले वाक्य कारणवाक्य माने जाते हैं। उन वाक्यों से ब्रह्म जगत्कारण सिद्ध होने पर यह शङ्का होती है कि जिस प्रकार लोक में कारण बनने वाले पदार्थों में विकार इत्यादि दोष होते हैं क्या उसी प्रकार जगत्कारण ब्रह्म में भी विकार इत्यादि दोष होते हैं ? इस शङ्का का परिहार करने के लिये शोधकवाक्य प्रवृत्त होते हैं। शोधकवाक्य ब्रह्म को सर्वविलक्षण पदार्थ बतलाकर उन शंकित दोषों को दूर कर देते हैं जिससे ब्रह्म निर्दोष सिद्ध होता है।

अद्वैतवादी कहते हैं कि "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" "निर्गुणम्" इत्यादि वाक्य ब्रह्म को निर्गुण सिद्ध करते हैं। इसलिये ब्रह्म को निर्गुण मानना चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर श्रीभाष्यकार स्वामी जी कहते हैं कि सभी वेदवाक्यों को एक सा प्रमाण मानकर अर्थ करना चाहिये। जिस प्रकार उपर्युक्त वाक्य ब्रह्म में गुणों का निषेध करते हैं, उसी प्रकार "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि उपनिषद् वाक्य ब्रह्म में सर्वज्ञत्व और पराशक्ति इत्यादि कल्याणगुणों का विधान करते हैं। ऐसे ही "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" यह एक वाक्य ब्रह्म में पाप जरा मृत्यु शोक बुभुक्षा और पिपासा इत्यादि दोषों का निषेध करके सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व इत्यादि कल्याणगुणों का विधान करता है। इन सभी वाक्यों का एक सा प्रामाण्य मानना चाहिये। किसी वाक्य का अकाट्य प्रामाण्य और किसी वाक्य का कटने वाला प्रामाण्य नहीं मानना चाहिये। ऐसा मानने पर वह वाक्य अप्रमाण हो जायेगा जिसका

प्रामाण्य कटने वाला है। सामान्यविशेषन्याय और उत्सर्गापवादन्याय इत्यादि न्यायों के अनुसार यही निष्कर्ष निकलता है कि गुणनिषेधक वाक्य विहितगुणों को छोड़कर अन्यान्य उन दुर्गुणों का ही निषेध करते हैं जिनका नाम ले २ कर अन्यान्य वाक्यों से निषेध किया गया है। गुणविधायक वाक्य कल्याण-गुणों का विधान करते हैं। इससे ब्रह्म निर्दोष एवं सर्वकल्याणगुणनिधि सिद्ध होता है। शोधकवाक्य शंकित दोषों का निराकरण करके उपर्युक्त ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

किंच, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस शोधक वाक्य से ब्रह्म में सत्यत्व ज्ञानत्व और अनन्तत्व गुण ही प्रतिपादित होते हैं। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि सत्य शब्द का अर्थ सत्यत्व वाला नहीं है किन्तु असत्य से भिन्न वस्तु अर्थ है। ज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञानत्व वाला नहीं, किन्तु जडभिन्न अर्थ है। अनन्त शब्द का अर्थ अनन्तत्व वाला नहीं, किन्तु परिच्छिन्नभिन्न अर्थ है। ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म है ही नहीं, क्योंकि वह निर्धर्मक है। ब्रह्म असत्य से भिन्न है जड से भिन्न है तथा परिच्छिन्न से भिन्न है। इससे यह न समझना चाहिये कि ब्रह्म में असत्य से भेद इत्यादि धर्म रहते हैं। ये असत्यभेद इत्यादि ब्रह्म के धर्म नहीं हैं किन्तु ये ब्रह्म का स्वरूप ही हैं। ब्रह्मस्वरूप ही असत्य इत्यादि विभिन्न प्रतियोगी के अनुसार विभिन्नभेद के रूप में बुद्ध्यारूढ होता है। विभिन्न भेदों के रूप में ब्रह्म को बतलाकर ये सत्य आदि पद सार्थक होते हैं। इस प्रकार यह "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि वाक्य निर्धर्मक ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। यह अद्वैतियों का कथन है। यह कथन ठीक नहीं क्योंकि सत्य आदि पद सरल रीति से शक्ति से सत्यत्वादि धर्म वाले पदार्थ का ही प्रतिपादन करते हैं। ये शब्द लक्षणा से ही असत्यभिन्न इत्यादि अर्थों का प्रति-पादन कर सकते हैं, शक्ति से नहीं। यदि ये शब्द असत्यभिन्न इत्यादि अर्थों का प्रतिपादन करते हैं तो इन पदों में लक्षणा माननी होगी। यह एक दोष है। ऐसा प्रतिपादन करने पर भी ब्रह्म में तीन धर्म अवश्य सिद्ध होंगे। यदि सत्य शब्द ब्रह्म को असत्य से भिन्न, ज्ञान शब्द ब्रह्म को जड से भिन्न तथा अनन्त शब्द ब्रह्म को परिच्छिन्न से भिन्न बतलाता तो भी ब्रह्म में असत्य से भेद जड से भेद और परिच्छिन्न से भेद ऐसे तीन धर्म अवश्य सिद्ध होंगे। असत्य इत्यादि प्रतियोगी भिन्न होने के कारण तीन भेद भिन्न २ धर्म हैं, एक नहीं, क्योंकि यह सर्वसंमत सिद्धान्त है कि प्रतियोगी भिन्न होने पर अभाव भी भिन्न होता है। घट का अभाव और पट का अभाव विभिन्न पदार्थ हैं। ऐसे ही ये तीनों भेद भी विभिन्न पदार्थ हैं। ये तीनों भेद ब्रह्म में रहने वाले धर्म हैं। यहाँ पर अद्वैती कहते हैं कि ये तीनों भेद ब्रह्मस्वरूप ही हैं ब्रह्म का धर्म नहीं हैं। अद्वैतियों का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है क्योंकि वहीं स्वरूपभेद माना जाता है जहाँ स्वरूप का भान प्रतियोगी के अध्यास को होने नहीं देता। जहाँ स्वरूप का भान होने पर भी दूसरे पदार्थ का अध्यास होता है, वहाँ धर्मभेद हो जाता है। उदाहरण—मनुष्य रज्जु को देखकर भ्रम से उसे सर्प समझता है। वह समझता है कि यह सर्प है। वह रज्जु को "यह" ऐसा समझता है, वह रज्जु अधिष्ठान है, उसमें सर्प का अध्यास होता है। सर्प से भेद को रज्जु में समझने पर वह भ्रम बन्द हो जाता है। वह भेद रज्जु-

स्वरूप नहीं है क्योंकि रज्जु का "यह" इस रूप में भान होने पर भी सर्पभ्रम होता रहता है, वह भेद रज्जुत्व ही है, रज्जुत्व को समझने पर सर्पभ्रम बन्द हो जाता है। यहाँ अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म का भान होता रहता है तथा जगत् का अध्यास अर्थात् भ्रम भी होता है, ब्रह्म का भान होते रहते समय में ही असत्य जड एवं परिच्छिन्न जगत् का अध्यास चलता रहता है, यह अर्थ अद्वैतियों को मान्य है। यदि असत्य भेद जडभेद एवं परिच्छिन्नभेद ब्रह्मस्वरूप होता तो अधिष्ठान के रूप में ब्रह्मस्वरूप का भान होते समय असत्य जड और परिच्छिन्न का अध्यास न होना चाहिये किन्तु होता रहता है। इससे सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं है किन्तु ब्रह्म का धर्म हैं। अध्यास होते समय अधिष्ठान के रूप में ब्रह्ममात्र का भान होता है। इन धर्मों का—जो भ्रमों के प्रतिबन्धक हैं—भान नहीं होता। इसलिये भ्रम होता रहता है। जब इन धर्मों की प्रतीति होगी तभी अध्यास बन्द होंगे। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि ये भेद ब्रह्मस्वरूप नहीं हैं किन्तु ब्रह्म का धर्म हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति में सत्यादि पदों में लक्षणा मानकर इस प्रकार अर्थ करने पर भी—कि ब्रह्म असत्यभिन्न जडभिन्न एवं परिच्छिन्नभिन्न है—ब्रह्म में भेदरूपी धर्म अवश्य सिद्ध होते हैं। शक्ति के अनुसार अर्थ करने पर भी ब्रह्म में सत्यत्व इत्यादि धर्म सिद्ध होते हैं। किसी भी अर्थ में ब्रह्म निर्धर्मक सिद्ध नहीं होता। "सत्य ज्ञानम्" इत्यादि वाक्य से भी निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता।

——

आर्थगुणनिषेधस्य निराकरणम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित आर्थगुण के निषेध का निराकरण

ननु च ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति प्रतिपादिते निर्विशेषज्ञानमात्रं ब्रह्मेति निश्चीयते। नैवम्। स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्ममुखेन स्वरूपमपि प्रतिपादयन्ति गवादिशब्दवत्। तथाह सूत्रकारः "तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" "यावदात्मभावित्वाच्च न दोष" इति। ज्ञानेन धर्मेण स्वरूपमपि निरूपितं न तु ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति। कथमिदमवगम्यत इति चेत् "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिज्ञातृत्वश्रुतेः, "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "विज्ञातारमरे केन विजानीया" दित्यादिश्रुतिशतसमधिगतमिदम्। ज्ञानस्य धर्ममात्रत्वाद्धर्ममात्रस्यैकस्य वस्तुत्वप्रतिपादनानुपपत्तेश्च, अतः सत्यज्ञानादिपदानि स्वार्थभूतज्ञानादिविशिष्टमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।

अद्वैतियों ने ब्रह्म को निर्विशेष माना है। उन लोगों ने यह माना है कि उपनिषद्वचनों से ब्रह्म निर्गुण सिद्ध होता है। गुणनिषेध दोनों प्रकार से सिद्ध होता है। एक प्रकार यह है कि "निष्कलं निष्क्रियं

शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" इत्यादि श्रुतियाँ स्पष्टरूप से गुणों का निषेध करती हैं। इसे ही "श्रौतगुणनिषेध" कहते हैं। इस श्रौतगुणनिषेध का तात्पर्य श्रीरामानुज स्वामी जी ने यों माना है कि ये वचन ब्रह्म में दुर्गुणों का निषेध करते हैं। अद्वैतियों ने गुणनिषेध के दूसरे प्रकार को आर्थगुणनिषेध कहा है। आर्थगुणनिषेध का तात्पर्य यह है कि कई वचन यद्यपि स्पष्टरूप से गुणनिषेध नहीं करते हैं, तथापि उनसे फलितार्थ के रूप में गुणनिषेध ही प्रतिपादित होता है। भाव यह है कि उन वचनों से अर्थतः गुणनिषेध फलित होता है। उदाहरण के रूप में उन वचनों को लेकर विचार किया जा सकता है जो ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप बतलाते हैं। इन वचनों से सिद्ध होता है कि ज्ञानमात्र ही ब्रह्म का स्वरूप है। इन वचनों से फलित होता है कि ब्रह्म ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि ब्रह्म जब ज्ञानस्वरूप है तब वह ज्ञान का आश्रय बन नहीं सकता, कारण, ज्ञान ज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। वही वस्तु उसी वस्तु का आश्रय हो ऐसा जगत् में कहीं भी देखा नहीं गया है। ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप बतलाने वाले वचनों से अर्थतः फलित होता है कि ब्रह्म ज्ञान का आश्रय नहीं है। यही आर्थगुणनिषेध है।

इस आर्थगुणनिषेध के विषय में श्रीरामानुज स्वामी जी का यह कथन है कि किसी भी वस्तु का निरूपण किसी स्थायी धर्म को लेकर ही होता है। उसी स्थायी धर्म को "स्वरूपनिरूपकधर्म" कहते हैं क्योंकि उस धर्म से ही वस्तुस्वरूप निरूपित होता है। उदाहरण—गोव्यक्ति गोत्वधर्म को लेकर ही बतलायी जा सकती है। वह गोत्वधर्म गौ का स्वरूपनिरूपकधर्म है। ज्ञानरूप धर्म को लेकर ही ब्रह्मस्वरूप बतलाया जा सकता है। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूपनिरूपक धर्म है। जिस प्रकार गोव्यक्ति गोत्व जाति का आश्रय है उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान का आश्रय है। शब्दों में यह स्वभाव देखने में आता है कि स्वरूपनिरूपकधर्म को बतलाने वाले शब्द उस धर्म को बतलाकर उसमें ही नहीं रुक जाते हैं किन्तु उस धर्म को बतलाते हुये धर्मी तक को बतलाते हैं। उदाहरण के लिये गोशब्द को ही ले लिया जाय। गोशब्द गोत्वधर्म को बतलाता हुआ उस धर्म के आश्रय गोव्यक्ति तक का बोध कराता है। उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप को बतलाने वाला ज्ञानशब्द भी ज्ञानरूपी स्वरूपनिरूपकधर्म को बतलाता हुआ उस धर्म का आश्रय बनने वाले ज्ञाता अर्थात् जानकार ब्रह्म को बतलाता है। ब्रह्म ज्ञाता अर्थात् जानकार है, ज्ञान उसका सारभूत अर्थात् स्वरूपनिरूपक धर्म है, इसलिये ब्रह्म ज्ञान कहा गया है। इस अथ को ब्रह्मसूत्रकार ने "तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्" इस सूत्र से सिद्ध किया है। ज्ञान ब्रह्म में सदा रहने वाला धर्म है। इस अर्थ को सूत्रकार ने "यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः" इस सूत्रखण्ड से बतलाया है। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मस्वरूप को ज्ञान बतलाने वाली श्रुति का यही तात्पर्य है कि ब्रह्म ज्ञानरूपी धर्म का आश्रय है केवल ज्ञानमात्र नहीं। ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप बतलाने वाली श्रुति का इस प्रकार अर्थ करने का कारण यही है कि अनेक श्रुतिवाक्य ब्रह्म को ज्ञानाश्रय सिद्ध करते हैं। वे वचन ये हैं (१) "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" अर्थात् जो ब्रह्म सामान्यरूप से सबको समझता है तथा विशेषरूप से सबको समझता है। इस वचन से ब्रह्म ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय सिद्ध होता है।

(२) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" अर्थात् इस परब्रह्म की विविध पराशक्ति सुनने में आती है तथा स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया भी सुनने में आती है। इस श्रुति से ब्रह्म का ज्ञान स्वाभाविक बतलाया गया है। इससे ब्रह्म का ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। उसका स्वाभाविकत्व उपर्युक्त श्रुति से फलित होता है। इससे अद्वैतियों का यह सिद्धान्त—कि ब्रह्म का ज्ञातृत्व अविद्यासिद्ध है स्वाभाविक नहीं—भी खण्डित हो जाता है। (३) "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" अर्थात् जानने वाले ब्रह्म को किससे जान सकते हैं। इस वचन से भी ब्रह्म जानने वाला सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। इसलिये ब्रह्म को ज्ञान बतलाने वाली श्रुति का भी ब्रह्म को ज्ञानाश्रय बतलाने में ही तात्पर्य मानना चाहिये। किंच, लोक में सभी यह जानते हैं कि ज्ञान आत्मा का धर्म है ज्ञान आत्मा का आश्रय लेकर ही रहता है। धर्म बनने वाला ज्ञान कभी स्वतन्त्र वस्तु बनकर नहीं रह सकता इसलिये केवल ज्ञान को ब्रह्म मानना उचित नहीं, ब्रह्म को ज्ञानाश्रय ही मानना चाहिये। इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति के अन्तर्गत सत्य ज्ञान इत्यादि पद सत्यत्व ज्ञानत्व आदि गुणविशिष्ट ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं निर्विशेष ब्रह्म का नहीं।

अद्वैतिभिरुक्तस्य "तत्त्वमसि" वाक्यार्थस्य खण्डनम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित "तत् त्वमसि" वाक्यार्थ का निराकरण

तत्त्वमिति द्वयोरपि पदयोः स्वार्थप्रहाणेन निर्विशेषवस्तुस्वरूपोपस्थापनपरत्वे मुख्यार्थपरित्यागश्च। ऐक्ये तात्पर्यनिश्चयान्न लक्षणादोषः "सोऽयं देवदत्त" इतिवत्। यथा सोऽयमित्यत्र स इति शब्देन देशान्तरकालान्तरसम्बन्धी पुरुषः प्रतीयते, अयमिति च संनिहितदेशवर्तमानकालसम्बन्धी, तयोस्सामानाधिकरण्येनैक्यं प्रतीयते, तत्रैकस्य युगपद्विरुद्धदेशकालसम्बन्धितया प्रतीतिर्न घटत इति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपमात्रोपस्थापनपरत्वं स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपाद्यत इति चेत्—नैतदेवं, सोऽयं देवदत्त इत्यत्रापि लक्षणागन्धो न विद्यते विरोधाभावात्। एकस्य भूतवर्त्तमानक्रियाद्वयसम्बन्धो न विरुद्धः, देशान्तरस्थितिर्भूता, सनिहितदेशस्थितिर्वर्तते, अतो भूतवर्त्तमानक्रियाद्वयसम्बन्धितयैक्यप्रतिपादनमविरुद्धम्, देशद्वयविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः। लक्षणायामपि न द्वयोरपि पदयोर्लक्षणासमाश्रयणम्, एकेनैव लक्षितेन विरोधपरिहारात्। लक्षणाभाव एवोक्तः, देशान्तरसम्बन्धितया भूतस्यैवान्यदेशसम्बन्धितया वर्तमानत्वाविरोधात्। एवमत्रापि जगत्कारणभूतस्यैव परस्य ब्रह्मणो जीवान्तर्यामितया जीवात्मत्वमविरुद्धमिति प्रति-

पादितम् । यथाभूतयोरेव हि द्वयोरैक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतीयते, तत्परित्यागेन स्वरूपमात्रैक्यं न सामानाधिकरण्यार्थः । "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिस्सामानाधिकरण्य" मिति हि तद्विदः । तथाभूतयोरेवैक्यं सम्पादितमस्माभिः । उपक्रमविरोध्युपसंहारवाक्यतात्पर्यनिश्चयश्च न घटते, उपक्रमे हि "तदैक्षत बहु स्या" मित्यादिना सत्यसङ्कल्पत्वं जगदेककारणत्वमप्युक्तम्, तद्विरोधि चाविद्याश्रयत्वादि ब्रह्मणः ।

इस प्रकार श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने उन शाब्दगुणनिषेध और आर्थगुणनिषेध—जिन्हें अद्वैतियों ने ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत किया था—के विषय में अपना सिद्धान्त बतलाकर आगे "तत्त्वमसि" इस श्रुति के विषय में अद्वैतियों के द्वारा वर्णित अर्थ का खण्डन किया है । "तत्त्वमसि" श्रुति का अर्थ करते हुये अद्वैतियों ने यह कहा कि जगत्कारणत्व और सर्वज्ञत्व इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म तच्छब्द का मुख्यार्थ है, अल्पज्ञत्व इत्यादि धर्मों से विशिष्ट जीव त्वं शब्द का मुख्यार्थ है । ब्रह्म और जीव चैतन्यस्वरूप हैं । सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य तच्छब्दार्थ है, अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्य त्वंशब्दार्थ हैं । यहाँ पर तच्छब्द सर्वज्ञत्व इत्यादि विशेषणों को त्याग कर चैतन्य भर को बतलाता है, त्वं शब्द अल्पज्ञत्व इत्यादि विशेषणों को त्याग कर चैतन्य भर को बतलाता है । दोनों चैतन्यों में ऐक्य होने में कोई आपत्ति नहीं । इस प्रकार दोनों चैतन्यों में ऐक्य "तत्त्वमसि" वाक्य से बोधित होता है अद्वैतियों के इस वाद पर श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह दोष दिया है कि उपर्युक्त रीति से अर्थ करने पर यह मानना होगा कि तच्छब्द सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूपी मुख्यार्थ को—जो शब्दशक्ति से अवगत होता है— त्याग देता है, तथा लक्षणा से चैतन्य मात्र को बतलाता है । एवं "त्व" शब्द अल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूपी मुख्यार्थ को त्याग देता है तथा लक्षणा से चैतन्यमात्र को बतलाता है । ऐसा मानने पर मुख्यार्थ का त्याग एवं लक्षणा का स्वीकार करना होगा । यह दोष उपस्थित होता है जो वांछनीय नहीं है ।

श्रीभाष्यकार स्वामी जी के द्वारा दिये गये उपर्युक्त दोष का समाधान करते हुये अद्वैती कहते हैं कि यह बात सर्वसंमत है कि "तत्त्वमसि" इस वाक्य का ऐक्य में तात्पर्य है । उस तात्पर्य को निभाने के लिये लक्षणा मानने में आपत्ति नहीं करनी चाहिये । इस बात पर "सोऽयं देवदत्तः" यह वाक्य दृष्टान्त माना जा सकता है । "सोऽय देवदत्तः" का यह अर्थ है कि वही यह देवदत्त है । "स." का अर्थ है उस देश और उस काल में रहने वाला देवदत्त । "अय" शब्द का अर्थ है इस देश और इस काल में रहने वाला देवदत्त । उस देश और उस काल में रहने वाले देवदत्त तथा इस देश और इस काल में रहने वाले देवदत्त में ऐक्य बतलाने के लिये उपर्युक्त वाक्य प्रवृत्त है, उसका ऐक्य में तात्पर्य है । यह अर्थ सर्वसंमत है । यहाँ पर यह आपत्ति आती है कि एक ही देवदत्त उस देश तथा इस देश से एक साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता तथा एक ही देवदत्त अतीतकाल एवं वर्तमानकाल से एक साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता । एक मनुष्य का एक ही साथ दो देशों से सम्बन्ध होना विरुद्ध है तथा एक मनुष्य का एक साथ दो कालों से सम्बन्ध होना

विरुद्ध है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यहाँ उस ऐक्य को—जिसमें वाक्य का तात्पर्य है—कैसे निभाया जाय। उत्तर वहाँ ऐक्य को निभाने के लिये यह मानना पड़ता है कि वहाँ तच्छब्द तत्काल-तद्देशविशिष्ट देवदत्तरूपी मुख्यार्थ को त्याग कर लक्षणा से देवदत्तमात्र को बतलाता है तथा इदंशब्द एतद्देशैतत्कालविशिष्ट देवदत्तरूपी मुख्यार्थ को त्याग कर लक्षणा से देवदत्तमात्र को बतलाता है। देवदत्त देवदत्त के साथ अभेद मानने में कोई आपत्ति नहीं उठती। वाक्यतात्पर्यसिद्ध ऐक्य को निभाने के लिये वहाँ दोनों पदों में लक्षणा मानी जाती है। उसी प्रकार "तत्त्वमसि" यहाँ पर भी वाक्यतात्पर्यसिद्ध ऐक्य को निभाने के लिये दोनों पदों में लक्षणा मानना दोष नहीं है। लक्षणा मानकर उपर्युक्तरीति से ऐक्य को निभाने में ही औचित्य है। यह अद्वैतियों का कथन है।

अद्वैतियों के उपर्युक्त समाधान का निराकरण करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने कहा कि अद्वैतियों के द्वारा दृष्टान्त के रूप में वर्णित "सोऽयं देवदत्त." इस वाक्य में लक्षणा का गन्ध तक नहीं। मुख्यार्थ के अन्वय में विरोध उपस्थित होने पर लक्षणा मानी जा सकती है। परन्तु वहाँ कोई विरोध उपस्थित होता नहीं। ऐसी स्थिति में वहाँ लक्षणा मानने की आवश्यकता ही नहीं। हम लोग बौद्धों की तरह पदार्थों को क्षणिक नहीं मानते किन्तु स्थिर मानते हैं। ऐसी स्थिति में देवदत्त का अतीतकालसम्बन्ध एवं वर्तमानकालसम्बन्ध होने में कोई विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता है। कुछ काल तक जीवित रहने वाले मनुष्य का अतीतकाल एवं वर्तमानकाल से सम्बन्ध होता ही है। हाँ, यह प्रश्न उठता है कि एक ही देवदत्त का दूरस्थदेश एवं सन्निहित देश से सम्बन्ध कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि यद्यपि एक काल में दोनों देशों से सम्बन्ध नहीं हो सकता तथापि विभिन्नकाल में दोनों देशों से सम्बन्ध हो सकता है। भूतकाल में देवदत्त का दूरस्थदेश के साथ सम्बन्ध है तथा वर्तमानकाल में देवदत्त का सन्निहित देश के साथ सम्बन्ध है। इस प्रकार विभिन्न कालों में देवदत्त का दोनों देशों से सम्बन्ध है इसमें भी कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। प्रत्यक्ष प्रमाण से देवदत्त का उभयकालसम्बन्ध तथा विभिन्नकाल में देशद्वयसम्बन्ध अवगत होता है। प्रमाणसिद्ध उस अर्थ को उसी रीति से ही शब्द बतलाता है। यह शब्द का स्वभाव है। कालद्वय सम्बन्ध एक साथ हुआ हो, देशद्वयसम्बन्ध एक साथ हुआ हो ऐसा शब्द नहीं बतलाता किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाण से जैसा अर्थ अवगत होता है, उसी प्रकार ही शब्द बतलाता है। स्थिर होने के कारण अतीतकालसम्बद्ध एवं वर्तमानकालसम्बद्ध देवदत्त में ऐक्य कहा जा सकता है तथा भूतकाल में दूरस्थ-देशसम्बद्ध तथा वर्तमानकाल में सन्निहितदेशसम्बद्ध देवदत्त में ऐक्य कहा जा सकता है। इस प्रकार मुख्यार्थ संगत हो जाता है। "सोऽयं देवदत्तः" इस वाक्य में लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं। उस वाक्य को यहाँ दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत करना निरर्थक है। "सोऽयं देवदत्तः" इस वाक्य में लक्षणा है ही नहीं यही सिद्धान्त है। "तुष्यतु" न्याय से यदि लक्षणा की आवश्यकता मान भी ली जाय, तो भी किसी एक पद की लक्षणा मानने पर भी विरोध शान्त हो सकता है, दोनों पदों में लक्षणा की आवश्यकता नहीं। यह बात

"तुष्यतु" न्याय से कही गई है। वास्तव में वहाँ लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि भूतकाल में दूरस्थ देश से सम्बन्ध रखने वाले देवदत्त को वर्तमानकाल में सन्निहितदेश से सम्बन्ध रखने में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता। "सोऽयं देवदत्तः" के अनुसार "तत्त्वमसि" में लक्षणा की आवश्यकता नहीं। यह बात पहले ही कही गई है कि जगत्कारण ब्रह्म तच्छब्द का अर्थ है, जीव का अन्तर्यामी त्वं शब्द का अर्थ है। जगत्कारण परब्रह्म जीवान्तर्यामी के रूप में जीव का आत्मा बनकर रह सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं। "तत्त्वमसि" वाक्य का यही अर्थ है। इसमें लक्षणा की आवश्यकता है ही नहीं।

किंच, जिन रूपों में रहने वाले दोनों पदार्थों का ऐक्य अभेद वाक्य से बतलाया जाता है, उन रूपों को छोड़कर पदार्थस्वरूपमात्र का ऐक्य अभेद वाक्य से कहा नहीं जा सकता। वैयाकरणों ने समानाधिकरण वाक्य अर्थात् अभेदपरक वाक्य का इस प्रकार लक्षण कहा है कि "भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानां एकस्मिन् अर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्"। इसका अर्थ यह है कि शब्द जिस निमित्त को लेकर अर्थ को बतलाते हैं, उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। घट शब्द घटत्वरूप निमित्त को लेकर घटपदार्थ को बतलाता है। घट शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व है। नीलपद नीलत्वरूपी निमित्त को लेकर नीलपदार्थ को बतलाता है। नीलपद का प्रवृत्तिनिमित्त नीलत्व है। घटत्व और नीलत्व विभिन्न धर्म है। इस प्रकार विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों को लेकर चलने वाले पद यदि एक ही अर्थ में पर्यवसान पावें तो उन पदों से युक्त वाक्य को समानाधिकरण वाक्य अर्थात् अभेदपरक वाक्य कहा जाता है। "नीलो घटः" यह वाक्य समानाधिकरण वाक्य है। यह वाक्य उस एक अर्थ को बतलाता है जो नीलत्वगुणवाला होता हुआ घटत्व धर्म वाला है। उन २ पदों से बोधित विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों को लेकर—त्याग कर नहीं—यदि वाक्य एक अर्थ में पर्यवसान पावे, तभी वह अभेदपरक माना जा सकता है। अद्वैतवादी "तत्त्वमसि" इस वाक्य में तच्छब्दबोधित सर्वज्ञत्व इत्यादि प्रवृत्तिनिमित्तों को तथा त्वंशब्दबोधित अल्पज्ञत्व इत्यादि धर्मों को छोड़कर "तत्त्वमसि" वाक्य का स्वरूपमात्र के ऐक्य में जो तात्पर्य कहते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर लक्षणवाक्य से मेल सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों पदों से बोधित प्रवृत्तिनिमित्तों को लेकर ही इस वाक्य का ऐक्य में तात्पर्य मानना चाहिये। ऐसा निर्वाह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में ही सम्पन्न होता है। तच्छब्दार्थ जगत्कारण ब्रह्म तथा त्वं शब्दार्थ जीवान्तर्यामी के अभेद में उपर्युक्त वाक्य का तात्पर्य है। ऐसा हम लोगों ने अर्थात् विशिष्टाद्वैती विद्वानों ने सिद्ध किया है। इस प्रकार श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतियों की शङ्का का परिहार करते हुये यह दूषण भी दिया है कि अद्वैतसिद्धान्त में अभेदपरक पदों में प्रवृत्तिनिमित्त भेद न माने जाने के कारण अभेदपरक समानाधिकरण पदों के विषय में वैयाकरणों के द्वारा वर्णित लक्षण भी नहीं घटता है।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतिसम्मत "तत्त्वमसि" वाक्यार्थ के विषय में और एक दोष देते हुये यह कहा है कि पूर्वमीमांसा के उपक्रमाधिकरण में यह न्याय निर्णीत है कि प्रारम्भस्थ वाक्य के

अनुसार ही उपसंहारस्थ वाक्य का अर्थ करना चाहिये प्रारम्भवाक्यार्थ के विरुद्ध अर्थ में उपसंहारस्थ वाक्य का तात्पर्य नहीं मानना चाहिये। प्रकृत सद्विद्या में "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" यह प्रारम्भवाक्य है जिसका अर्थ यह है कि उस सद्ब्रह्म ने यह संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ, तदर्थ विविधरूपों में उत्पन्न होऊँ। इस वाक्य से ब्रह्म में दो विशेषतायें सिद्ध होती हैं। (१) ब्रह्म सत्यसंकल्प है, (२) ब्रह्म जगत् का प्रधान कारण है। सद्विद्या में "तत्त्वमसि" यह उपसंहार वाक्य है। यदि इस वाक्य से अद्वैतमतानुसार जीव और ब्रह्म में ऐक्य बतलाया जाय तो ब्रह्म में अज्ञान मानना होगा क्योंकि अज्ञान में फँसकर ही ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त हो सकता है। अद्वैतियों ने "तत्त्वमसि" वाक्य के द्वारा प्रतिपादित जीवब्रह्मैक्य का समर्थन करने के लिये ब्रह्म में अज्ञान माना है। ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानना उस प्रारम्भस्थ वाक्य से विरोध रखता है जो ब्रह्म को सत्यसंकल्प एवं सर्वज्ञ सिद्ध करता है। उपक्रमाधिकरण के अनुसार विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि "तत्त्वमसि" वाक्य का उस जीवब्रह्मैक्य में तात्पर्य नहीं हो सकता जिससे ब्रह्म में अज्ञान मानना पड़े। किन्तु "तत्त्वमसि" वाक्य का वही अर्थ होना चाहिये जिससे ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध न हो तथा प्रारम्भवाक्यप्रतिपादित सर्वज्ञत्व इत्यादि गुण अक्षुण्ण बना रहे। ऐसा ही अर्थ विशिष्टाद्वैती विद्वानों ने किया है। वही अर्थ मान्य हो सकता है जिसमें सर्वज्ञत्व इत्यादि पूर्वोक्त गुण स्थिर रहें। इस प्रकार विवेचना करके श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतसम्मत अर्थ में उपक्रमविरोध का प्रतिपादन किया है।

श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने "तत्त्वमसि" वाक्य के अद्वैतसम्मत अर्थ के विषय में प्रधानरूप से चार दोषों का उल्लेख किया है। वे ये हैं कि (१) तच्छब्द के द्वारा सूचित सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व इत्यादि गुणों का खण्डन हो जाता है। (२) दोनों पदों में लक्षणा माननी पड़ती है। (३) अभेदपरक पदों के विषय में वैयाकरण विद्वानों के द्वारा वर्णित लक्षण नहीं घटता। (४) प्रारम्भवाक्य से विरोध भी उपस्थित होता है।

शब्दप्रमाणस्य निर्विशेषवस्त्वप्रतिपादकत्वम्

शब्दप्रमाण से निर्विशेषवस्तु की अप्रतिपादकता

अपि चार्थभेदतत्संसर्गविशेषबोधनकृतपदवाक्यस्वरूपतालब्धप्रमाणभावस्य शब्दस्य निर्विशेषवस्तुबोधनासामर्थ्यान्न निर्विशेषवस्तुनि शब्दः प्रमाणम्। निर्विशेष इत्यादि-शब्दास्तु केनचिद्विशेषेण विशिष्टतयाऽवगतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरावगतविशेषनिषेधकतया बोधकाः, इतरथा तेषामप्यनवबोधकत्वमेव, प्रकृतिप्रत्ययरूपेण पदस्यैवानेकविशेषगर्भितत्वात्, अनेकपदार्थसंसर्गबोधकत्वाच्च वाक्यस्य।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतियों के द्वारा वर्णित निर्विशेषब्रह्मवाद का खण्डन किया है। अद्वैतियों ने ब्रह्म को निर्विशेष अर्थात् सर्वविशेषरहित माना है। इस अर्थ का खण्डन करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि शब्दप्रमाण से निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकता। निर्विशेष ब्रह्म क्या, कोई भी निर्विशेष पदार्थ शब्दप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। शब्दप्रमाण दो प्रकार का है। एक पद है, दूसरा वाक्य है। पद एवं वाक्य के स्वरूप पर यदि ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि ये दोनों सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। पद में दो भाग हैं। (१) प्रकृतिभाग और (२) प्रत्यय-भाग। प्रायः करके प्रत्येक पद में प्रकृतिभाग पहले स्थान पाता है प्रत्ययभाग बाद स्थान पाता है। प्रकृति और प्रत्यय का भिन्न २ अर्थ होता है। ये दोनों अर्थ परस्पर में अन्वय रखते हैं। इससे फलित होता है कि प्रकृति प्रत्ययार्थ से अन्वित स्वार्थ का प्रतिपादन करती है, और प्रत्यय प्रत्ययार्थ से अन्वय रखने वाले स्वार्थ का प्रतिपादन करता है। पद प्रकृत्यर्थ से युक्त प्रत्ययार्थ का प्रतिपादन करता है। इससे सिद्ध होता है कि पद विशेषणविशिष्ट अर्थ का ही प्रतिपादन कर सकता है निर्विशेष का नहीं। वाक्य में अनेक पद रहते हैं। वाक्य पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। इससे फलित होता है कि वाक्य पदार्थों के संसर्ग का बोधक है। पदार्थसंसर्ग एक विशिष्ट वस्तु है क्योंकि वह पदार्थों से सम्बद्ध है। वाक्य भी विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन कर सकता है, निर्विशेष का नहीं। निर्विशेष वस्तु का प्रतिपादन करने में न पद का सामर्थ्य है, न वाक्य का। इससे मानना पड़ता है कि निर्विशेष वस्तु के विषय में शब्दप्रमाण बन नहीं सकता। ऐसी स्थिति में निर्विशेष ब्रह्म शब्दप्रमाण से सिद्ध हो नहीं सकता।

यहाँ पर अद्वैती विद्वानों के द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि "निर्विशेष" यह शब्द किसका प्रतिपादन करता है मानना पड़ता है कि यह निर्विशेष शब्द निर्विशेष वस्तु का ही प्रतिपादन करता है। जिस प्रकार घट शब्द से पट का प्रतिपादन हो नहीं सकता, उसी प्रकार निर्विशेष शब्द से सविशेष वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी शब्द सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि निर्विशेष शब्द भी सविशेष वस्तु का ही बोधक है। विचार करना होगा कि लोक में निर्विशेष शब्द का प्रयोग कब होता है। लोक में कोई पूछता है कि उस नगर में आज क्या विशेष है। दूसरा कहता है कि आज उस नगर में कोई विशेष नहीं, आज वह नगर निर्विशेष है अर्थात् विशेषरहित है। क्या इस उत्तर का यह भाव हो सकता है कि उस नगर में आज गृहमार्ग जनता और बाजार इत्यादि कोई विशेष है ही नहीं, वह नगर इन विशेषों से रहित है? इस उत्तर का यह भाव नहीं हो सकता क्योंकि नगर में वे सभी विशेष विद्यमान हैं। निर्विशेष कहने का भाव यही है कि उस नगर में आज कोई विशेष समाचार नहीं है। विशेष समाचाररूपी विशेष का ही निषेध करने के लिये वहाँ निर्विशेष शब्द का प्रयोग होता है। इस विवेचन से फलित होता है कि कई विशेषों से युक्त नगर इत्यादि पदार्थों में निर्विशेष शब्द का प्रयोग इस भाव से ही किया जाता है

कि दूसरे नगर इत्यादि पदार्थों में होने वाले विशेष समाचार इत्यादि विशेष उस नगर में नहीं हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये ही निर्विशेष शब्द प्रयुक्त होता है। अनेक विशेषों से युक्त पदार्थ में अन्य पदार्थों में देखे गये किसी विशेष के न होने के कारण ही निर्विशेष शब्द प्रयुक्त होता है। निर्विशेष शब्द भी सविशेष वस्तु का ही प्रतिपादक है। अन्यान्य विशेष होने पर भी विवक्षित विशेष न होने के कारण निर्विशेष शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार कहकर श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने इसी सिद्धान्त को स्थिर किया है कि सभी शब्द सविशेष वस्तु के ही प्रतिपादक हैं। निर्विशेष ब्रह्म शब्दप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।

निर्विशेषब्रह्मस्वयंप्रकाशवादस्य खण्डनम्

निर्विशेषब्रह्म के स्वयंप्रकाशवाद का निराकरण

अथ स्यात्—नास्माभिर्निर्विशेषे स्वयंप्रकाशे वस्तुनि शब्दः प्रमाणमित्युच्यते, स्वतः सिद्धस्य प्रमाणानपेक्षत्वात्। सर्वैः शब्दैस्तदुपरागविशेषा ज्ञातृत्वादयः सर्वे निरस्यन्ते, सर्वेषु विशेषेषु निवृत्तेषु वस्तुमात्रमनवच्छिन्नं स्वयंप्रकाशं स्वत एवावतिष्ठत इति। नैतदेवम्, केन शब्देन तद्वस्तु निर्दिश्य तद्गता विशेषा निरस्यन्ते, ज्ञप्तिमात्रशब्देनेति चेन्न, सोऽपि सविशेषमेव वस्त्ववलम्बते, प्रकृतिप्रत्ययरूपेण विशेषगर्भत्वात्तस्य। ज्ञा अवबोधन इति सकर्मकः सकर्तृकः क्रियाविशेषः क्रियान्तरव्यावर्तकस्वभावविशेषश्च प्रकृत्याऽवगम्यते, प्रत्ययेन लिङ्गसङ्ख्यादयः। स्वतःसिद्धावप्येतत्स्वभावविशेषविरहे सिद्धिरेव न स्यात्। अनन्यसाधनस्वभावतया हि ज्ञप्तेः स्वतःसिद्धिरुच्यते। ब्रह्मस्वरूपं कृत्स्नं सर्वदा स्वयमेव प्रकाशते चेत्, न तस्मिन्नन्यधर्माध्यासः सम्भवति। न हि रज्जुस्वरूपेऽवभासमाने सर्पत्वादिरध्यस्यते। अत एव हि भवद्भिराच्छादिकाऽविद्याऽभ्युपगम्यते। ततश्च शास्त्रीयनिवर्तकज्ञानस्य ब्रह्मणि तिरोहितांशो विषयः। अन्यथा तस्य निवर्तकत्वं च न स्यात्। अधिष्ठानातिरेकिरज्जुत्वप्रकाशनेन हि सर्पत्वं बाध्यते। एकश्चेद्विशेषो ज्ञानमात्रे वस्तुनि शब्देनाभिधीयते, स च ब्रह्मविशेषणं भवतीति सर्वश्रुतिप्रतिपादितसर्वविशेषणविशिष्टं ब्रह्म भवति। अतः प्रामाणिकानां न केनापि प्रमाणेन निर्विशेषवस्तुसिद्धिः।

श्रीभाष्यकार स्वामी जी के द्वारा यह सिद्ध किये जाने पर कि निर्विशेष ब्रह्म शब्दप्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता, अद्वैतवादी विद्वान् कहते हैं कि हम शब्दप्रमाण के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि नहीं मानते। ब्रह्म स्वयंसिद्ध पदार्थ है, उसे किसी प्रमाण से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है।

ज्ञान स्वयंप्रकाश वस्तु है । बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान अपने को स्वयं प्रकाशित करे, यह युक्त ही है । बाह्य पदार्थ स्वयं प्रकाशित नहीं होते किंतु ज्ञान से प्रकाशित होते हैं, अतएव जब तक ज्ञान न हो, तब तक उन पदार्थों की सत्ता के विषय में मनुष्यों को सन्देह होता है । मनुष्यों को ज्ञान के विषय में यह सन्देह कभी नहीं होता कि हमको इस समय ज्ञान हो रहा है या नहीं । इसका कारण यही है कि ज्ञान रहते समय स्वयं अपने को प्रकाशित करता रहता है । बाह्य पदार्थ ज्ञान से सिद्ध होते हैं ज्ञान स्वयं-प्रकाश होने के कारण स्वयंसिद्ध होता है, उसे दूसरे किसी प्रमाण से सिद्ध होने की आवश्यकता नहीं । यहाँ पर यह शंका होती है कि यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म स्वयंसिद्ध है तो वेदान्तशास्त्र निरर्थक हो जायगा, क्योंकि ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है । इस शंका का समाधान यह है कि वेदान्तशास्त्र ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये नहीं आये हैं किन्तु ब्रह्म में आरोपित ज्ञातृत्व इत्यादि विशेषों का निषेध करने के लिये आये हैं । विशेषों का निषेध करके वेदान्तशास्त्र सफल होते हैं । ज्ञातृत्व इत्यादि सभी आरोपित विशेषों का बाध होने पर निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपमात्र रह जाता है । वह किसी भी विशेष से विशिष्ट न होकर स्वयंसिद्ध बना रहता है । यह निर्विशेषब्रह्मसिद्धि के विषय में अद्वैती विद्वानों का कथन है । अद्वैतियों के उपर्युक्त वाद का निराकरण करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा है कि यदि उपनिषच्छास्त्र ब्रह्म में आरोपित विशेषों का निषेध करने के लिये प्रवृत्त हैं तो किस शब्द से ब्रह्मवस्तु का निर्देश करके वेदान्तशास्त्र उसमें आरोपित विशेषों का निषेध करते हैं क्योंकि किसी शब्द से ब्रह्म का निर्देश करके ही वेदान्तशास्त्र को बतलाना होगा कि ब्रह्म में ये विशेष नहीं हैं । अद्वैती कहते हैं कि ज्ञप्ति शब्द से ब्रह्म का निर्देश कर वेदान्तशास्त्र आरोपितविशेषों का निषेध करते हैं । अद्वैतियों का यह कथन ठीक नहीं क्योंकि ज्ञप्ति शब्द सविशेष वस्तु को ही बतला सकता है, निर्विशेष पदार्थ को नहीं बतला सकता । ज्ञप्ति शब्द अर्थात् ज्ञानवाची शब्द प्रकृति और प्रत्यय से बना है । विशेषविशिष्ट पदार्थ ही उस पद से बोधित होता है । ज्ञप्ति शब्द में प्रधान प्रकृति भाग ज्ञाधातु है जिस का अर्थ ज्ञान है । "ज्ञा अवबोधने" ऐसा धातुपाठ है । अवबोधन शब्द का अर्थ है ज्ञान । ज्ञाधातु ज्ञानरूपी क्रियाविशेष को बतलाता है जो सकर्मक एवं सकर्तृक है । जानकार पुरुष ज्ञान का कर्ता है ज्ञान का विषय घटादिपदार्थ ज्ञान का कर्म है । इस प्रकार ज्ञान क्रिया सकर्मक एवं सकर्तृक होती है । ज्ञान क्रिया में असाधारण एक स्वभाव रहता है जो दूसरी किसी क्रिया में नहीं पाया जाता । वह स्वभाव यही है कि ज्ञान परप्रकाशक एवं स्वयंप्रकाश है, अन्य सभी क्रियायें जड होने के कारण ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होने वाली हैं, स्वयंप्रकाश नहीं । इस प्रकार सकर्मक सकर्तृक तथा विलक्षण स्वभावविशिष्ट ज्ञानरूपी क्रियाविशेष प्रकृतिभाग से अभिहित होता है । प्रत्ययभाग से लिङ्ग संख्या आदि अभिहित होते हैं । इस विवेचन से सिद्ध होता है कि ज्ञान सकर्मकत्व और सकर्तृकत्व इत्यादि विशेषों से युक्त है, ज्ञान निर्विशेष नहीं हो सकता । विषयों का प्रकाशक होने के कारण ज्ञान सकर्मक माना जाता है तथा अहमर्थ का आश्रय लेकर रहने के कारण ज्ञान सकर्तृक माना

जाता है। इस प्रकार सविशेष होने के कारण ही ज्ञान स्वयंप्रकाश सिद्ध होता है। अद्वैतवादी भी ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के विषय में यही युक्ति देते हैं कि ज्ञान इतर पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण स्वयंप्रकाश है। जो ज्ञान दूसरों को प्रकाशित करने में क्षमता रखता है वह अपने को प्रकाशित करने में दूसरों की अपेक्षा नहीं रख सकता। वह अपने को प्रकाशित करने की क्षमता स्वयं रखता है। दूसरों को प्रकाशित करने वाले ज्ञान को सकर्मक मानना ही होगा। ज्ञान में सकर्मकत्व इत्यादि विशेष न माने जायँ तो ज्ञान का स्वयंप्रकाशत्व ही सिद्ध नहीं होगा। ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानने वाले अद्वैतवादियों को ज्ञान सविशेष मानना ही होगा। यदि ज्ञान निर्विशेष माना जाय तो वह स्वयंप्रकाश सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्म के निर्विशेषत्व के विषय में यह एक दोष है जो अबतक कहा गया है। दूसरा दोष यह है कि यदि पूरा ब्रह्मस्वरूप सदा स्वयं प्रकाशित होता रहता है तो उसमें अन्यत्र विद्यमान किसी भी धर्म का आरोप नहीं हो सकता। लोक में देखा जाता है कि जबतक रज्जुस्वरूप प्रकाशता रहता है तबतक सर्पत्व आदि धर्म का आरोप नहीं होता। किन्तु जब रज्जुस्वरूप नहीं प्रकाशता है तभी सर्पत्व आदि धर्मों का आरोप अर्थात् भ्रम होता है। आप लोगों ने अर्थात् अद्वैतवादियों ने भी इस बात को माना है कि ब्रह्मस्वरूप पूरा प्रकाशते समय आरोप नहीं हो सकता। अतएव आप लोगों ने ब्रह्मस्वरूप को आच्छादित करने वाली अविद्या को माना है। आप लोगों ने यह स्वीकार किया है कि प्रथमतः अविद्या ब्रह्म को आच्छादित करती है ब्रह्मस्वरूप का अच्छी तरह से प्रकाश नहीं होता अतएव आगे नाना प्रकार का आरोप होता रहता है। यह आरोप तभी बन्द होगा जब शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञान से अविद्या नष्ट हो जायेगी। आच्छादित ब्रह्मगत विशेष का ग्रहण करने वाला तत्त्वज्ञान ही अविद्या को नष्ट कर सकता है, यदि वह ज्ञान उस तिरोहित विशेष का ग्रहण न करे तो अविद्या को नष्ट नहीं कर सकता। रज्जुसर्पभ्रम में रज्जुस्वरूप अधिष्ठान है, सर्प अध्यस्त है। अधिष्ठान रज्जुस्वरूप की अपेक्षा अतिरिक्त बनने वाले रज्जुत्वरूप विशेषधर्म का ग्रहण करने वाले तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सर्पभ्रम निवृत्त होता है। प्रकृत में यह मानना होगा कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में वह विशेष वेदान्तशास्त्र से बतलाया जाता है जिसको जान लेने पर यह सम्पूर्ण भ्रम नष्ट हो जाता है। वह विशेष ब्रह्म में रहने वाला कोई विशेष धर्म है। ऐसी स्थिति में प्रपञ्च भ्रम का बाध करने वाले शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञान के द्वारा गृहीत होने वाले एक विशेष धर्म को ब्रह्म में मानना होगा। यदि ब्रह्म एक विशेषण से भी विशिष्ट हो जाता है तो वह सविशेष बन ही जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को सभी श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित सर्वविशेषणों से विशिष्ट मानना ही उचित होगा। इस प्रकार विवेचन कर श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह सिद्ध किया है कि प्रामाणिक पुरुषों को किसी भी प्रमाण से निर्विशेषवस्तु सिद्ध नहीं होती। प्रामाणिकों को निर्विशेषवस्तु मानना उचित नहीं। इस प्रकार सिद्ध कर श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने निर्विशेष ब्रह्मवाद का खण्डन किया है।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षं निर्विशेषग्राहकमितिवादस्य निराकरणम्

निर्विकल्पकप्रत्यक्ष द्वारा निर्विशेषवस्तु के ग्राहकत्व का निराकरण

निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते, अन्यथा सविकल्पके सोऽयमिति पूर्वावगतप्रकारविशिष्टप्रत्ययानुपपत्तेः, वस्तुसंस्थानविशेषरूपत्वाद्। गोत्वादेर्निर्विकल्पकदशायामपि ससंस्थानमेव वस्त्वित्थमिति प्रतीयते। द्वितीयादिप्रत्ययेषु तस्यैव संस्थानविशेषस्यानेकवस्तुनिष्ठतामात्रं प्रतीयते। संस्थानरूपप्रकाराख्यस्य पदार्थस्यानेकवस्तुनिष्ठतयाऽनेकवस्तुविशेषणत्वं द्वितीयादिप्रत्ययावगम्यमिति द्वितीयादिप्रत्ययास्सविकल्पका इत्युच्यन्ते।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतवादियों के इस कथन का—कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष निर्विशेषवस्तु का ग्रहण करता है—खण्डन किया है। बौद्ध और अद्वैती इत्यादि वादियों ने यह माना है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष सर्वविशेषशून्य वस्तु का ग्रहण करता है। उनका यह मन्तव्य समीचीन नहीं है। 'यह वस्तु ऐसी है' इस प्रकार का ही ज्ञान का स्वरूप होता है। ज्ञान में "यह वस्तु" कहकर पदार्थ का स्वरूप तथा "ऐसी" कहकर तद्गत विशेष भासित होता है। इससे यही फलित होता है कि सभी ज्ञान सविशेषवस्तु का ही ग्रहण करते हैं। कई वादियों ने यह माना है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में जाति गुण और द्रव्य इत्यादि बिना आपसी सम्बन्ध के अलग २ गृहीत होते हैं। उनका यह वाद भी ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर में सदा सम्बन्ध रखने वाले तथा एक इन्द्रिय से गृहीत होने योग्य जातिगुण और द्रव्य इत्यादि पदार्थ विशेष्यविशेषणभाव से एक साथ गृहीत हो सकते हैं तथा यह अनुभव भी—कि "यह पदार्थ ऐसा है"—यही सिद्ध करता है कि प्राथमिकप्रत्यक्ष में जातिगुण और द्रव्य इत्यादि पदार्थ विशेष्यविशेषणभाव से गृहीत होते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि अन्यान्यवादियों ने निर्विकल्पक एवं सविकल्पकप्रत्यक्ष में इस प्रकार भेद को सिद्ध किया है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष विशेषणरहितवस्तु का ग्रहण करता है सविकल्पकप्रत्यक्ष विशेषणविशिष्ट पदार्थ का ग्रहण करता है। यदि सिद्धान्त में ये दोनों प्रत्यक्ष विशेषणविशिष्टवस्तु के ग्राहक माने जायँ तो इनमें भेद कैसे सिद्ध किया जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह कहा है कि अनुभव के अनुसार सभी ज्ञान विशेषणविशिष्टवस्तु के ही ग्राहक सिद्ध होते हैं, कोई भी ज्ञान निर्विशेषवस्तु का ग्राहक प्रतीत नहीं होता। उसको सिद्ध करने के लिये परवादियों के द्वारा कही जाने वाली युक्तियाँ सारहीन हैं। ऐसी स्थिति में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष और सविकल्पकप्रत्यक्ष में भेद इस प्रकार ही सिद्ध करना होगा कि अधिकविशेषणविशिष्ट पदार्थ का ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष सविकल्पकप्रत्यक्ष है। अल्पविशेषण से विशिष्ट पदार्थ का ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष निर्विकल्पकप्रत्यक्ष है। जिस प्रकार लोक में अल्प धन वाले पुरुष को निर्धन एवं अधिक धन

वाले पुरुष को धनिक कहा जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। इस प्रकार भेद करना असंगत ही है कि निर्विशेषवस्तु का ग्राहक ज्ञान निर्विकल्पक है तथा सविशेषवस्तु का ग्राहक ज्ञान सविकल्पक है। यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार के प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक एवं किस प्रकार के प्रत्यक्ष को सविकल्पक कहना चाहिये। उत्तर यही है कि प्रथमपिण्ड के विषय में होने वाले प्रत्यक्ष को निविकल्पक एवं द्वितीय आदि पिण्डों के विषय में होने वाले प्रत्यक्ष को सविकल्पक कहना चाहिये। भाव यह है कि प्रथम गोव्यक्ति को देखने वाला मनुष्य समझता है कि यह गौ है। वही मनुष्य आगे दूसरे और तीसरे इत्यादि गोव्यक्तियों को देखते समय समझता है कि यह भी गौ है। प्रथमपिण्डग्रहण में "यह गौ है" ऐसा ज्ञान होता है। द्वितीय आदि पिण्डग्रहण में "यह भी गौ है" ऐसा ज्ञान होता है। प्रथमपिण्डग्रहण में गोव्यक्ति विशेष्य के रूप में तथा गोत्वजाति प्रकार रूप में भासती है। द्वितीय आदि पिण्डग्रहण में भी गोव्यक्ति विशेष्यरूप में तथा गोत्वजाति प्रकार रूप में भासती है। इस प्रकार दोनों ही प्रत्यक्ष प्रकार-विशिष्टवस्तु का ही ग्रहण करते हैं। कोई भी प्रत्यक्ष निष्प्रकारवस्तु का ग्रहण नहीं करता। अन्तर इतना ही है कि प्रथमपिण्डग्रहण में यद्यपि गोत्वजाति भासती है किन्तु उस समय यह पता नहीं चलता कि यह गोत्वजाति व्यक्त्यन्तर में भी रहने वाली है। किन्तु द्वितीयादिपिण्डग्रहण में गोत्वजाति के भान के साथ यह भी विदित होता है कि यह गोत्वजाति—जो पहले व्यक्ति में देखी गयी है—इन द्वितीयादि व्यक्तियों में भी दिखाई देती है। इस प्रकार गोत्वजाति की व्यक्त्यन्तरों में अनुवृत्ति द्वितीयादिपिण्डग्रहण में भासती है, प्रथमपिण्डग्रहण में नहीं। प्रथमपिण्डग्रहण में व्यक्ति और जाति भासती है किन्तु जाति की व्यक्त्यन्तर में अनुवृत्ति नहीं भासती है। अतएव प्रथमपिण्डग्रहण अल्पग्राहक होने से निर्विकल्पक कहलाता है। द्वितीयादिपिण्डग्रहणों में गोव्यक्ति जाति एवं जाति की व्यक्त्यन्तर में अनुवृत्ति ये तीनों अर्थ भासते हैं। अतएव द्वितीयादिपिण्डग्रहण अधिक ग्राहक होने से सविकल्पक कहलाते हैं। द्वितीयादिपिण्डग्रहण में जाति की अनुवृत्ति भी भासती है अतएव उस ज्ञान का आकार "यह भी गौ है" इस प्रकार का होता है। प्रथमपिण्डग्रहण में गोत्वजाति की अनुवृत्ति नहीं भासती है। अतएव उस ज्ञान का आकार "यह गौ है" इस प्रकार का होता है। द्वितीयादिपिण्डग्रहण में अनुवृत्ति भासने का कारण यही है कि प्रथमपिण्डग्रहण में भी जाति का साक्षात्कार हो गया, उससे संस्कार उत्पन्न हुआ, उस संस्कार से युक्त इन्द्रिय से द्वितीयादि-पिण्डों को देखते समय जाति की जानकारी के साथ ही साथ यह भी विदित होता है कि यह जाति पहले एक व्यक्ति में देखी गई है अब इस अन्य व्यक्ति में दिखाई देती है। अतएव द्वितीयादिपिण्डग्रहण में अनुवृत्ति भी भासने लगती है। निर्विकल्प कहे जाने वाले प्रथमपिण्डग्रहण में भी जातिविशिष्टवस्तु ही भासती है निर्विशेष नहीं। निर्विकल्प में जाति का भान होने पर ही सविकल्प में अनुवृत्ति का भान घट सकता है। "वैसे ही यह भी गौ है" यही सविकल्पक ज्ञान का आकार है। इसमें पूर्वविदित गोत्वजाति की व्यक्त्यन्तर-सम्बन्धरूपिणी अनुवृत्ति संस्कारबल से भासती है। निर्विकल्पक में यदि जाति का भान न होता तो सविकल्पक

में उनकी अनुवृत्ति का भान हो ही नहीं सकता। किन्तु हो रहा है, इसलिये मानना पड़ता है कि निर्विकल्पक में भी जातिविशिष्टवस्तु का ही भान होता है, निर्विशेष का नहीं। गोव्यक्ति में जो विलक्षण अवयवसन्निवेश है, वही गोत्वजाति है, उससे अतिरिक्त नहीं। प्रथम गोव्यक्ति को देखते समय भी विलक्षण अवयवसन्निवेश से युक्त व्यक्ति ही "यह गौ है" ऐसा भासता है। द्वितीयादिपिण्डग्रहणों में उसी सन्निवेश का अन्य व्यक्ति में भी सद्भाव प्रतीत होता है। सन्निवेश ही जाति है, वही ज्ञान में प्रकाररूप में भासती है, उसका अन्यान्य व्यक्तियों के प्रति विशेषण के रूप में भान द्वितीयादिपिण्डग्रहणों में ही होता है। अतएव अधिक ग्राहक होने के कारण द्वितीयादिपिण्डग्रहण सविकल्पक कहलाते हैं अल्पग्राहक होने से प्रथम-पिण्डग्रहण निर्विकल्पक कहलाता है। विषयभान की दृष्टि से निर्विकल्पक और सविकल्पक में यह भेद सिद्ध होता है कि निर्विकल्पक में व्यक्ति और जाति ये दो पदार्थ भासते हैं, सविकल्पक में व्यक्ति जाति और जाति की अनुवृत्ति ये तीन पदार्थ भासते हैं। ज्ञानोत्पादक कारण की दृष्टि से इन दोनों में यह भेद सिद्ध होता है कि केवल इन्द्रिय से निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, संस्कारसहित इन्द्रिय से सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। यह भेद सर्वथा असंगत है कि निर्विकल्पक निर्विशेषवस्तु का ग्राहक है, तथा सविकल्पक सविशेषवस्तु का ग्राहक है। इस प्रकार विवेचन करके श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतवादी इत्यादि वादियों के इस मत का—कि निर्विकल्पक निर्विशेषवस्तु का ग्राहक है—खण्डन किया है।

प्रसङ्गात् जातिव्यक्तिविषये भेदाभेदवादस्य खण्डनम्

जाति और व्यक्ति में भेदाभेद वाद का निराकरण

अत एवैकस्य पदार्थस्य भिन्नाभिन्नरूपेण द्व्यात्मकत्वं विरुद्धं प्रत्युक्तम्, संस्थानस्य संस्थानिनः प्रकारतया पदार्थान्तरत्वं, प्रकारत्वादेव पृथक्सिद्ध्यनर्हत्वं पृथगनुपलम्भश्चेति न द्व्यात्मकत्वसिद्धिः।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रसंगसंगति से भेदाभेदवादियों के मत का खण्डन किया है। भेदाभेदवादियों ने जाति और व्यक्ति में भेद के साथ अभेद भी माना है। यह अर्थ श्रीभाष्यकार स्वामी जी के स्मरणपथ में आ गया है। स्मरण में आये हुये अर्थ पर विचार करना चाहिये, उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यही प्रसंगसंगति कहलाती है। अब प्रसंगसंगति के अनुसार भेदाभेदवादियों के मत पर विचार किया जाता है। भेदाभेदवादी जाति और व्यक्ति के विषय में भेदाभेद मानते हुये यह कहते हैं कि जाति व्यक्ति से भिन्न एवं अभिन्न है। इसमें चार हेतु हैं (१) सहोपलम्भ नियम है अर्थात् जाति और व्यक्ति सदा साथ ही प्रतीत होते रहते हैं, इसलिये इनमें भेदाभेद सिद्ध होता है। (२) सामानाधिकरण्य प्रत्यय है

अर्थात् जाति और व्यक्ति अभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। "यह गौ है" इस प्रतीति में "यह" शब्द व्यक्ति-वाचक है, "गो" शब्द जातिवाचक है। "यह गौ है" इस प्रतीति के अनुसार जाति और व्यक्ति में अभेद भी सिद्ध होता है और भेद भी। घट और कलश इत्यादि अत्यन्त अभिन्न पदार्थों के विषय में अभेदप्रतीति नहीं होती, घट और पट इत्यादि अत्यन्त भिन्न पदार्थों के विषय में भी अभेदप्रतीति नहीं होती, किन्तु जाति और व्यक्ति के विषय में "यह गौ है" ऐसी अभेदप्रतीति होती है। यही सामानाधिकरण्य प्रत्यय है। इससे जाति और व्यक्ति में भेदाभेद सिद्ध होता है। (३) एकशब्दानुविद्ध प्रत्यय है अर्थात् "यह एक गौ है" ऐसी प्रतीति होती है, इससे भी जाति और व्यक्ति में अभेद सिद्ध होता है क्योंकि एक शब्द ऐक्य का वाचक है। (४) प्रथमपिण्डग्रहण में जाति और व्यक्ति में अभेद प्रतीति होती है। भाव यह है कि मनुष्य जब सर्वप्रथम गोव्यक्ति को देखता है, उस समय व्यक्ति और जाति में भेद विदित नहीं होता। भेद तभी विदित हो सकता है जब भेद कराने वाले आकार विदित हों। व्यक्ति और जाति में भेद कराने वाले आकार ये ही हैं कि व्यक्ति व्यावृत्त रहती है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अलग २ रहती है, जाति अनुवृत्त रहती है अर्थात् सब व्यक्तियों में बनी रहती है। प्रथमपिण्डग्रहण के समय अन्यान्य व्यक्ति विदित न होने के कारण न व्यक्ति व्यावृत्त दिखाई देती है, न जाति ही अनुवृत्त दिखाई देती है। इस प्रकार भेद कराने वाले आकारों का भान न होने के कारण प्रथमपिण्डग्रहण में जाति और व्यक्ति में भेद विदित नहीं होता किन्तु अभेद विदित होता है। इस प्रकार उपयुक्त चार हेतुओं से जाति और व्यक्ति में भेद और अभेद सिद्ध होते हैं। जाति और व्यक्ति में भेदाभेद सिद्ध होने पर यह भी कहा जा सकता है कि सभी व्यक्ति व्यक्ति की दृष्टि से भिन्न हैं, तथा जाति की दृष्टि से अभिन्न हैं। इस प्रकार एक ही पदार्थ भिन्नाभिन्नरूप से उभयरूप बन जाता है। यह भेदाभेदवादियों का कथन है। इस वाद पर समालोचना करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि एक पदार्थ भिन्नाभिन्न रूप से उभयरूप वाला नहीं बन सकता क्योंकि वह भिन्न होने पर अभिन्न नहीं हो सकता तथा अभिन्न होने पर भिन्न भी नहीं बन सकता। भिन्नत्व और अभिन्नत्व ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं अतएव एकत्र समावेश नहीं पा सकते। जाति और व्यक्ति में भेदाभेद को सिद्ध करने के लिये जो चार हेतु बतलाये गये हैं वे हेत्वाभास हैं, उनसे भेदाभेद सिद्ध नहीं हो सकता। तथाहि—यह जो चतुर्थ हेतु बताया गया है कि प्रथमपिण्डग्रहण में व्यावृत्तिरूप और अनुवृत्तिरूप भेदक आकार विदित न होने से जाति और व्यक्ति में अभेद सिद्ध होता है, यह हेतु हेत्वाभास है क्योंकि प्रथमपिण्डग्रहण में भी जाति और व्यक्ति में भेद ही विदित होता है कारण यह कि "यह गौ है" इस प्रकार के प्रथमपिण्डग्रहण में व्यक्ति विशेष्यरूप में तथा जाति प्रकाररूप में भासती है, प्रथमपिण्डग्रहण व्यक्ति को विशेष्यरूप में तथा जाति को विशेषणरूप में दिखाता हुआ उनमें भेद को ही सिद्ध करता है। यह विशेष्यविशेषणभाव ही भेदक आकार है। इससे भेद ही सिद्ध होता है। व्यावृत्तिरूप और अनुवृत्तिरूप भेदक आकार विदित न होने पर भी विशेष्यविशेषणभावरूपी भेदक आकार प्रथमपिण्ड-

ग्रहण में भी भासता है उससे जाति और व्यक्ति में भेद ही सिद्ध होता है। प्रथमहेतु सहोपलम्भ नियम है, वह भी हेत्वाभास है। जाति और व्यक्ति सदा साथ प्रतीत होते रहते हैं इसमें यह कारण नहीं है कि इनमें अभेद है, किन्तु कारण यही है कि जाति व्यक्ति के साथ ही रहने वाली वस्तु है। जाति और व्यक्ति में जो अपृथक् सिद्धि सम्बन्ध है वह यही है कि जाति व्यक्ति को छोड़कर नहीं रह सकती, साथ ही रहने वाली है। जाति और व्यक्ति चक्षुरादि इन्द्रियों की ग्राह्यवस्तु है। एक इन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण तथा साथ रहने के कारण ही जाति और व्यक्ति साथ विदित होती हैं। इनमें अभेद होने के कारण साथ विदित होती हों, यह बात नहीं। द्वितीय हेतु सामानाधिकरण्य है, यह भी हेत्वाभास है। द्वितीय हेतु की व्याख्या करते हुये भेदाभेदवादियों ने यह कहा है कि "यह गौ है" ऐसी प्रतीत होती है, इसमें "यह" शब्द व्यक्तिवाचक है "गो" शब्द जातिवाचक है। "यह गौ है" इस अभेद प्रतीत से जाति और व्यक्ति में अभेद सिद्ध होता है। अभेदप्रतीति ही सामानाधिकरण्य प्रत्यय कहलाती है। उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि गोशब्द गोत्वजाति भर का वाचक नहीं, किन्तु गोत्वविशिष्टपदार्थ का वाचक है। गो शब्द से गोत्वजाति प्रकार रूप में तथा गोव्यक्ति विशेष्यरूप में अभिहित होती है। जाति अपृथक् सिद्ध विशेषण है, अतएव जाति-बोधक गोशब्द व्यक्ति तक का बोध करता है। "यह गौ है" इस प्रतीति का यह अर्थ नहीं है कि "यह गोत्वजाति है" किन्तु यही अर्थ है कि "यह गोत्वजातिविशिष्ट है"। जातिवाचकशब्द जातिमात्र में पर्यवसान न पाकर व्यक्ति तक का बोध कराते हैं। "यह गौ है" इस प्रतीति से जाति और व्यक्ति में अभेद सिद्ध नहीं होता किन्तु व्यक्ति विशिष्टवस्तु और जातिविशिष्टवस्तु में अभेद सिद्ध होता है। तृतीय हेतु यह कहा गया है कि "यह एक गौ है" इस एकशब्दयुक्त प्रतीति से जाति और व्यक्ति में ऐक्य सिद्ध होता है। यह हेतु भी हेत्वाभास ही है क्योंकि "यह एक गौ है" यह प्रतीति व्यक्ति को एक सिद्ध करती है जाति और व्यक्ति में एकता को सिद्ध नहीं करती। इस प्रतीति का यही भाव है कि यह एक गोव्यक्ति है अनेक गोव्यक्ति नहीं। इस प्रकार श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने चार हेतुओं को अन्यथासिद्ध कहकर जाति और व्यक्ति में भेदाभेद का खण्डन किया है तथा उनमें भेद को ही सिद्ध किया है। यह विचार अद्वैत से सम्बन्ध न रखने पर भी प्रसंगसंगति से यहाँ वर्णित हुआ है।

अद्वैतिकृताया वाचारम्भणश्रुतिव्याख्याया निराकरणम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित "वाचारम्भण" श्रुति व्याख्या का निराकरण

अपि च निर्विशेषवस्तुवादिना स्वयंप्रकाशे वस्तुनि तदुपरागविशेषाः शब्दैः सर्वैर्निरस्यन्त इति वदता के ते शब्दा निषेधका इति वक्तव्यम्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्य" मिति विकारनामधेययोर्वाचारम्भणमात्रत्वात् यत्तत्र कारणतयोपलक्ष्यते वस्तुमात्रं तदेव सत्यमन्यदसत्यमितीयं श्रुतिर्वदतीति चेत्—नैतदुपपद्यते,

"एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवती" ति प्रतिज्ञाते अन्यज्ञानेनान्यज्ञानासंभवं मन्वानस्यैकमेव वस्तु विकाराद्यवस्थाविशेषेण पारमार्थिकेनैव नानारूपमवस्थितं चेत्, तत्रैकस्मिन् विज्ञाते तस्माद्विलक्षणसंस्थानान्तरमपि तदेव वस्त्विति तत्र दृष्टान्तोऽयं निदर्शितः। नात्र कस्यचिद्विशेषस्य निषेधकः कोऽपि शब्दो दृश्यते। "वाचारम्भण" मिति वाचा व्यवहारेण, आरभ्यत इति आरम्भणम्। पिण्डरूपेणावस्थितताया मृत्तिकाया नाम चान्यत्, व्यवहारश्चान्यः। घटशरावादिरूपेणावस्थितायास्तस्या एव मृत्तिकाया अन्यानि नामधेयानि व्यवहाराश्चान्यादृशाः। तथाऽपि सर्वत्र मृत्तिकाद्रव्यमेकमेव नानासंस्थाननानानामधेयाभ्यां नानाव्यवहारेणारभ्यत इत्येतदेव सत्यमित्यनेनान्यज्ञानेनान्यज्ञानसंभवो निदर्शितः। नात्र किञ्चिद्वस्तु निषिध्यत इति पूर्वमेवायमर्थः प्रपञ्चितः।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतियों के इस वाद का—कि वेदान्त ब्रह्म में आरोपित भेदों का निषेध करने के लिये प्रवृत्त हैं—खण्डन करते हुये कहा कि अद्वैती लोग कहा करते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष एवं स्वयंप्रकाश पदार्थ है। उसमें अविद्या से विविध भेदरूपी विशेष आरोपित होते रहते हैं वेदान्तों से उन भेदों का निषेध किया जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि वेदान्त में ऐसे कौन से शब्द हैं जिनसे उन विशेषों का निषेध होता है जो ब्रह्म में आरोपित हैं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये अद्वैतवादी कहते हैं कि सद्विद्या में "वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्" ऐसा एक वाक्य है। इस वाक्य से ब्रह्म में आरोपित विशेषों का निषेध होता है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि जहाँ मृत्तिका घट और शराव इत्यादि रूप में परिणत होकर विविध विकार एवं नामधेयों को प्राप्त करती है वहाँ विकार और नामधेय कहने भर के हैं अतएव मिथ्या हैं वहाँ कारण रूप में रहने वाला मृत्तिकाद्रव्य ही सत्य है। ऐसे ही जगत् में विद्यमान सभी विकार नामधेयमात्र—कहने भर के—हैं, अतएव मिथ्या हैं। यहाँ कारण रूप में लक्षित होने वाला सन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है और सब असत्य है। यह इस श्रुति का अर्थ है। इस श्रुति से ब्रह्म में आरोपित सभी विशेषों का निषेध हो जाता है। यह अद्वैतियों का कथन है। यह ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति दूसरे ही अर्थ का प्रतिपादन करती है। यह वाक्य सद्विद्या का है। सद्विद्या के आरम्भ में यह प्रतिज्ञा वर्णित है कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। इसे ही एक विज्ञान से सम्पन्न होने वाले सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कहते हैं। इस प्रतिज्ञा को सुनकर शिष्य ने यह सोचा कि एक को जानने से सबको जानना असंभव है क्योंकि जगत् में विविध पदार्थ हैं उनमें एक को जानने से दूसरे पदार्थ नहीं जाने जा सकते। शिष्य की इस जिज्ञासा को समझकर गुरु ने इस भाव से उत्तर दिया कि इस सम्पूर्ण जगत् का आदि कारण एक वस्तु है। वह कारणावस्था में एक रूप से रहता है, वही विविध कार्यावस्थाओं को प्राप्त करता हुआ विविध रूपों में अवस्थित रहता है। उसका कारणावस्था में होने वाला रूप तथा कार्यावस्था में होने वाले सभी रूप सत्य हैं। कारणावस्था में अवस्थित वही एक वस्तु जब कार्यावस्था में होने वाले

विविध रूपों को प्राप्त करता है तब कारणवस्तु को जानने से सभी कार्यपदार्थ जाने जा सकते हैं, क्योंकि कारणवस्तु और कार्यपदार्थ सभी अन्त में एक ही पदार्थ है। वही विविध रूपों को प्राप्त होता रहता है, उस कारणवस्तु को जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। इस बात का समर्थन करने के लिये यहाँ पर मृत्तिकादृष्टान्त वर्णित हुआ है। यहाँ ऐसा कोई भी शब्द नहीं है जो किसी भी विशेष का निषेध करता हो। इस दृष्टान्त का भाव यह है कि मृत्तिका ही घट और शराव आदि के रूप में परिणत होती है। मृत्तिका की पिण्डत्वावस्था कारणावस्था है, उसकी घटत्व और शरावत्व इत्यादि अवस्थायें कार्यावस्था हैं। मृत्तिका का कारणावस्था में मृत्पिण्ड ऐसा नाम है उससे भित्ति और घट इत्यादि कार्य होते हैं। घट और शराव इत्यादि कार्यावस्था में उसी मृत्तिकाद्रव्य के घट और शराब इत्यादि नाम होते हैं, तथा जलाहरण इत्यादि कार्य होते हैं। इस प्रकार एक ही मृत्तिकाद्रव्य कारणावस्था में किसी एक नाम को प्राप्त होता है तथा किसी एक कार्य को सम्पन्न करता है वही मृत्तिकाद्रव्य कार्यावस्था में दूसरे नाम को प्राप्त होता है, तथा दूसरे कार्य को सम्पन्न करता है। वाणी के द्वारा होने वाले विभिन्न व्यवहार को साधने के लिये मृत्तिकाद्रव्य ही घटत्व और शरावत्व इत्यादि विभिन्न कार्यावस्था को तथा विभिन्न नामों को प्राप्त करता है। कार्यावस्था एवं कारणावस्था में होने वाले नामभेद और कार्यभेद के कारण मृत्तिकाद्रव्य में भेद नहीं होता। मृत्तिकाद्रव्य एक ही है। उसमें अवस्था भेद के कारण नामभेद और कार्यभेद हुआ करता है। इसलिये घट और शराव इत्यादि कार्यपदार्थ भी वास्तव में मृत्तिकाद्रव्य ही है, उससे भिन्न नहीं। यही सत्य है, यही प्रामाणिक बात है। कारणद्रव्य और कार्यद्रव्य एक ही वस्तु है, इसलिये यह प्रतिज्ञा युक्त ही है कि कारण को समझने से कार्य विदित हो सकता है। सम्पूर्ण जगत् का कारण बनने वाले सद्ब्रह्म को जानने से जगत् के अन्तर्गत सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं। इस प्रतिज्ञा का भाव एक दृष्टान्त के द्वारा विशद जाना जा सकता है। वह दृष्टान्त यह है कि मान लिया जाय कि बचपन में देवदत्त को यज्ञदत्त ने देख लिया था। युवावस्था में पहुँचे हुये उसी देवदत्त को फिर वही यज्ञदत्त देखकर कहता है कि इसे मैंने पहले ही देखा है। यदि उस प्रसंग में यज्ञदत्त से यह पूछा जाय कि क्या आपने इसे इसी युवत्वावस्था में ही पहले देखा था तो वह क्या उत्तर देगा ? यही उत्तर देगा कि यद्यपि मैंने इसे पहले ऐसी युवत्वावस्था में नहीं देखा था, तथापि बाल्यावस्था में इसे मैंने देखा था इसलिये मेरा यह कथन युक्त ही है कि इसे मैंने पहले देखा था। इस दृष्टान्त के अनुसार प्रकृत में इस प्रतिज्ञा का भाव समझना चाहिये। कारणब्रह्म को जानने पर यह कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण कार्यजगत् भी जान लिया गया है क्योंकि वह कारणब्रह्म ही तो इस जगत् के रूप में बना है। यही इस श्रुति वाक्य का भाव है। इस श्रुति वाक्य में ऐसा एक भी शब्द नहीं है जो किसी वस्तु का निषेध करता हो। इस श्रुति वाक्य का उपर्युक्त अर्थ पहले भी एकबार विस्तार से कहा गया है। इस प्रकार विवेचना कर श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह सिद्ध किया है कि जगत् का निषेध करने वाला एक भी शब्द श्रुति में नहीं है।

अद्वैतिमते श्रुतिवर्णितमृद्विकारदृष्टान्तस्यानुपपत्तिः

अद्वैतमत में श्रुति वर्णित मृत्पिण्डादि दृष्टान्त की अनुपपत्ति

अपि च "येनाश्रुतं श्रुत" मित्यादिना ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं प्रतिज्ञातं चेत् "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादिदृष्टान्तः साध्यविकलः स्यात्, रज्जुसर्पादिवन्मृत्तिकाविकारस्य घटशरावादेरसत्यत्वं श्वेतकेतोः शुश्रूषोः प्रमाणान्तरेण युक्त्या चासिद्धमिति। एतदपि सिषाधयिषितमिति चेत् यथेति दृष्टान्ततयोपादानं न घटते।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" यह श्रुति जगत् का निषेध करती है। यह अद्वैतियों का मत है। इसमें दूसरा दोष देते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि उपर्युक्त श्रुति का वह तात्पर्य तभी माना जा सकता है जबकि "येनाश्रुतं श्रुत भवति" इस श्रुतिवाक्य में ब्रह्मव्यतिरिक्त सबका मिथ्यात्व प्रतिज्ञात हो। यदि कहा जाय कि उस श्रुतिवाक्य से ब्रह्मव्यतिरिक्त सबके मिथ्यात्व की ही प्रतिज्ञा की गई है, तब तो उन रज्जुसर्पादि को—जिसका मिथ्यात्व सुनिश्चित है—दृष्टान्त रूप में बतलाना चाहिये था। श्रुति उसका उल्लेख न करके "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादि वाक्य से मृत्तिकाविकार घट शराव आदि का दृष्टान्त रूप में उल्लेख करती है। यह दृष्टान्त साध्यविकल अर्थात् साध्यहीन हो जाता है। यह महान् दोष है। यहाँ जगत् में मिथ्यात्व साध्य है, इसमें दृष्टान्त के रूप में मृत्तिका के विकार घट और शराव आदि का उल्लेख है। दृष्टान्त वही हो सकता है, जिसमें पहले से ही साध्य सुनिश्चित हो। श्वेतकेतु के सामने घट और शराव इत्यादि विकार दृष्टान्त रूप में रक्खे जा रहे हैं। जिस प्रकार श्वेतकेतु रज्जुसर्प अर्थात् रज्जु में दीखने वाले सर्प आदि को मिथ्या जान सकता है, वैसे ही घट और शराव आदि विकार को मिथ्या नहीं जान सकता। श्वेतकेतु के पास न ऐसा कोई प्रमाण है, न ऐसी कोई युक्ति है जिससे वह घट और शराव आदि को मिथ्या जान सके। यदि कहा जाय कि यहाँ घट और शराव आदि विकारों को भी मिथ्या सिद्ध करना है तो उनको दृष्टान्त के रूप में वर्णन न करना चाहिये। वादी और प्रतिवादी दोनों जिसमें पहले से ही साध्य को जानते हैं, उसे ही तो दृष्टान्त रूप में रखना चाहिये। श्रोता का जिसमें साध्य निश्चित नहीं है, उसे दृष्टान्त रूप में नहीं रक्खा जा सकता। यहाँ दृष्टान्त रूप में घट और शराव आदि विकार ही रक्खे जाते हैं, रज्जुसर्पादि नहीं। इससे विदित होता है कि यहाँ ब्रह्मव्यतिरिक्त सबके मिथ्यात्व की घोषणा विवक्षित नहीं, इस प्रकार विवेचन कर श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतमत में दृष्टान्तानुपपत्तिरूप दोष को सिद्ध किया है।

अद्वैतिवर्णितायाः "सदेवे" त्यादि श्रुतिव्याख्याया निराकरणम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित "सदेव" इत्यादि वाक्य व्याख्या का निराकरण

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय" मित्यत्र सदेवैकमेवेत्यवधारणद्वयेनाद्वितीयमित्यनेन च सन्मात्रातिरेकिसजातीयविजातीयाः सर्वे विशेषा निषिद्धा इति प्रतीयते इति चेत्—नैतदेवं, कार्यकारणभावावस्थाद्वयावस्थितस्यैकस्य वस्तुनः एकावस्थावस्थितस्य ज्ञानेनावस्थान्तरावस्थितस्यापि वस्त्वैक्येन ज्ञाततां दृष्टान्तेन दर्शयित्वा श्वेतकेतोरप्रज्ञातं सर्वस्य ब्रह्मकारणत्वं च वक्तुं "सदेव सोम्येद" मित्यारब्धम्। इदमग्रे सदेवासीत्—इति, अग्र इति कालविशेषः, इदंशब्दवाच्यस्य प्रपञ्चस्य सदापत्तिरूपां क्रियां सद्द्रव्यतां च वदति, "एकमे" वेति चास्य नानानामरूपविकारप्रहाणम्। एतस्मिन् प्रतिपादिते अस्य जगतस्सदुपादानता प्रतिपादिता भवति। अन्यत्रोपादानकारणस्य स्वव्यतिरिक्ताधिष्ठात्रपेक्षादर्शनेऽपि सर्वविलक्षणत्वादस्य सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगो न विरुद्ध इति अद्वितीयपदमधिष्ठात्रन्तरं वारयति। सर्वशक्तियुक्तत्वादेव ब्रह्मणः काश्चन श्रुतयः प्रथममुपादानकारणत्वं प्रतिपाद्य निमित्तकारणमपि तदेवेति प्रतिपादयन्ति, यथेयं श्रुतिः।

आगे अद्वैतवादियों ने सद्विद्या के अन्तर्गत "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुतिवाक्य को प्रस्तुत कर यह कहा है कि यह वाक्य ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी भेदों का निषेध करता है। इस वाक्य का यह अर्थ है कि यह विश्व पहले अर्थात् प्रलयकाल में सत् ही था, एक ही था, तथा अद्वितीय था। इस वाक्य में "सदेव" में एव अवधारण अर्थात् एवकार है जो "ही" इस अर्थ का वाचक है। दूसरा "एकमेव" में एक अवधारण है। तीसरा "अद्वितीयम्" पद है। इनसे सन्मात्र से व्यतिरिक्त वे सभी विशेष निषिद्ध होते हैं जो सजातीय और विजातीय इत्यादि रूप से विविध होते हैं। इन सब विशेषों का निषेध करने से यह फलित होता है कि निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य है, तथा सभी विशेष मिथ्या है। यह अद्वैतियों का वाद है। इसका निराकरण करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने कहा है कि यह बात सर्वमान्य है कि दृष्टान्तवाक्य के अनुसार दार्ष्टान्तिक वाक्य का अर्थ करना चाहिये। यहाँ पर "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन" इत्यादि दृष्टान्त वाक्य है जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार कारणावास्था अर्थात् पिण्डावस्था में अवस्थित मृत्तिका को समझने से कार्यावस्था अर्थात् घटत्व और शरावत्व इत्यादि अवस्थाओं में अवस्थित मृत्तिका एक द्रव्य होने के कारण विदित मानी जाती है, उसी प्रकार ही कार्यावस्था और कारणावस्थारूपी दोनों अवस्थाओं को प्राप्त होने वाली एक वस्तु जहाँ होती है, वहाँ एक अवस्था में अवस्थित को जानने पर दूसरी अवस्था में अवस्थित वह वस्तु एक द्रव्य होने के कारण विदित हो जाती है। यह दृष्टान्त का भाव है। इसके अनुसार "सदेव सोम्य" इत्यादि वाक्य का अर्थ करना चाहिये। वैसा अर्थ किया जा सकता है। श्वेतकेतु ने

इस बात को जाना ही नहीं था कि यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, तथा ब्रह्म इसका कारण है। इस बात को बतलाने के लिये ही पिताजी ने "सदेव सोम्येदम्" इत्यादि कहा था। इस वाक्य में विद्यमान विविध पदों से विविध विशेष ही सिद्ध होते हैं निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं होता। तथाहि—"इदमग्रे सदेवासीत्" इस वाक्य खण्ड से यह बतलाया जाता है कि यह प्रपञ्च पहले अर्थात् कालविशेष में सत् ही था। वह कालविशेष प्रलयकाल है। इस वाक्य से कालविशेष सिद्ध होता है। इस प्रपञ्च को सत् बनकर रहना एक क्रिया है। वह क्रिया भी इस वाक्य से सिद्ध होती है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म द्रव्य ही सत् है। इससे इस प्रपञ्च का सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट सद्द्रव्य के रूप में बने रहना भी सिद्ध होता है। इस प्रकार तीन विशेष इस वाक्य से वर्णित होते हैं। यहाँ पर यह शंका होती है कि अब भी अर्थात् सृष्टिकाल में भी जगत् सत् है। यदि प्रलयकाल में भी यह जगत् सत् है तो सृष्टिकाल से प्रलयकाल में क्या विशेषता है। इस शंका का समाधान करने के लिये ही "एकमेव" ऐसा कहा गया है। इसका भाव यह है कि प्रलयकाल में यह जगत् एक था अर्थात् नाना प्रकार के नामरूप विकारों को छोड़कर एक होकर रहता था। वही जगत् सृष्टिकाल में नाना प्रकार के नामरूप विकारों से युक्त होकर बहु बनकर रहता है। सृष्टिकाल से प्रलयकाल में यही विशेषता है कि उस समय जगत् नामरूपविभाग को छोड़कर एक होकर रहता है। यह विशेषता "एकमेव" से बतलायी गई है। इससे फलित होता है कि इस जगत् का उपादान कारण सत् है, यह जगत् सत् का कार्य है। पूर्वावस्थाविशिष्टवस्तु उस अवस्था को छोड़कर जब उत्तरावस्था को प्राप्त होता है, तब उत्तरावस्थाविशिष्ट कार्य तथा पूर्वावस्थाविशिष्ट उपादान कारण माना जाता है। सत् द्रव्य पूर्वावस्था अर्थात् प्रलयकालिक एकत्वावस्था को छोड़कर सृष्टिकाल में बहुत्वावस्था को प्राप्त होता है। बहुत्वावस्था-विशिष्ट सत् द्रव्य ही यह जगत् है यही कार्य है। इसका कारण एकत्वावस्थाविशिष्ट सत् है। इससे एकत्वा-वस्थाविशिष्ट सत् का उपादान कारणत्व तथा बहुत्वावस्थाविशिष्ट इस प्रपञ्च का कार्यत्व व्यक्त होता है। इस कार्यकारणभाव को व्यक्त करने के लिये ही "एकमेव" कहा गया है। यहाँ पर यह शंका होती है कि लोक में देखा जाता है कि उपादान कारण बनने वाली वस्तु अपने से व्यतिरिक्त निमित्त कारण की अपेक्षा रखती है। उदाहरणार्थ—घट आदि के रूप में परिणत होने वाली मृत्तिका घट आदि का उपादान कारण है। वह मृत्तिका घट आदि के रूप में परिणत होने के लिये कुलाल की अपेक्षा रखती है। कुलाल नहीं हो तो मृत्तिका घट आदि के रूप में अपने आप परिणत नहीं हो सकती। वह कुलाल निमित्त कारण है, वही अधिष्ठाता कहलाता है वह मृत्तिका को अधिष्ठित करके उसे घट रूप में परिणत कर देता है। क्या प्रकृत में भी उपादान कारण बनने वाली सद्वस्तु दूसरे किसी निमित्त कारण की अपेक्षा रखती है? इस शंका का समाधान करने के लिये ही "अद्वितीयम्" ऐसा कहा गया है। इसका भाव यह है कि यहाँ दूसरा कोई निमित्त कारण नहीं है, सत् ब्रह्म ही निमित्त कारण है। लोक में उपादान कारण दूसरे निमित्त कारण की अपेक्षा इसलिये रखता है, कि वह स्वयं जड है, इसलिये वहाँ दूसरे चेतनरूपी निमित्त कारण की अपेक्षा होती है।

प्रकृत में तो जो सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म सत् कहा गया है, वह सर्वज्ञ है, परमचेतन है। यहाँ दूसरे निमित्त-कारण की आवश्यकता नहीं। वही संकल्प करके अपने को जगत् के रूप में परिणत कर सकता है। यह ब्रह्म सर्वविलक्षणवस्तु है। इसमें वैसी सब प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं जो अन्यत्र नहीं देखी गयी हैं। जिस प्रकार अग्नि विलक्षणवस्तु होने के कारण जल आदि में दीखने में न आने वाली उष्णता उसमें मानी जाती है, उसी प्रकार परब्रह्म विलक्षणवस्तु होने के कारण, अन्यत्र दीखने में न आने वाली सर्वशक्तियाँ उसमें मानी जा सकती हैं तथा माननी भी चाहिये। वह परब्रह्म सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट होने के कारण उपादान कारण बन जाता है तथा संकल्पविशिष्ट होकर निमित्तकारण बन जाता है। यहाँ दूसरे किसी निमित्तकारण की आवश्यकता नहीं। यह अद्वितीयपद का भाव है। इससे जगत् का अभिन्न निमित्तो-पादानत्व फलित होता है।

अभिन्ननिमित्तोपादानत्वप्रतिपादकश्रुतिव्याख्या

अभिन्न निमित्तोपादानत्व की प्रतिपादक श्रुतियों की व्याख्या

अन्याश्च श्रुतयो ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमनुज्ञाय अस्यैवोपादानतादि कथमिति परिचोद्य सर्वशक्तियुक्तत्वादुपादानकारणं तदितराशेषोपकरणं च ब्रह्मैवेति परिहरन्ति, "किँस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छते दुतद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" इति सामान्यो दृष्टेन विरोधमाशङ्क्य ब्रह्मणः सर्वविलक्षणत्वेन परिहार उक्तः।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह कहा है कि अनेक श्रुतिवाक्यों से जगत् का उपादानकारण एवं निमित्तकारण एक सिद्ध होता है। ब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न है। उसमें उपादानकारण बनने की शक्ति है, तथा निमित्त कारण बनने की भी शक्ति है। कई श्रुतियाँ प्रारम्भ में जगत् का उल्लेख करके बाद में ब्रह्म का वर्णन करती हैं। ये श्रुतियाँ प्रथमतः ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करती हैं, बाद में ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण कहती हैं। सद्विद्या के उपर्युक्त "सदेव सोम्येदम्" इत्यादि वाक्य ने प्रथमतः "एकमेव" कहकर ब्रह्म को उपादानकारण कहा, बाद में "अद्वितीयम्" कहकर ब्रह्म को निमित्तकारण कहा। अन्य श्रुतियाँ जो प्रथमतः ब्रह्म का वर्णन करने वाली हैं वे, ब्रह्म चेतन होने के कारण प्रथमतः ब्रह्म को निमित्तकारण कहकर बाद में ब्रह्म को उपादानकारण सिद्ध करती है। उदाहरण—"किं स्विद्वनम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म की निमित्तकारणता का स्वीकार कर इस शंका को—कि ब्रह्म उपादानकारण इत्यादि कैसे बन सकता है

उठाकर इस प्रकार समाधान करती है कि सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण ब्रह्म उपादानकारण एवं अन्यान्य उपकरण भी बन जाता है। इस जगत् का उपादानकारण निमित्तकारण एवं सहकारिकारण सब कुछ ब्रह्म ही है। "किंस्विद्वनम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य इस प्रकार है कि—

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छते दुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥

इन मन्त्रों में प्रथम मन्त्र में लोकदृष्टरीति से यह मानकर—कि जगत् के निर्माण में भी निमित्त उपादान एवं सहकारी ऐसे कारण भिन्न २ होना चाहिये—किये गये प्रश्न का वर्णन है। दूसरे मन्त्र में उपर्युक्त प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया गया है कि सर्वविलक्षणवस्तु होने के कारण ब्रह्म एक ही सर्वविध कारण बन जाता है। इन मन्त्रों में द्यावापृथिवी शब्द—जो द्युलोक और पृथिवीलोक का वाचक है—सम्पूर्ण जगत् का निर्देशक है। सम्पूर्ण जगत् को काष्ठों से बने हुये पदार्थ के समान मानकर ये मन्त्र प्रवृत्त हैं। मन्त्रों का अर्थ यह है कि हे विद्वानों आप लोग मन से सोचकर यही प्रश्न करते हैं कि वह वन कौन है? अर्थात् जगन्निर्माण में आधार बनने वाला कारण कौन है? वह वृक्ष कौन है? अर्थात् जगत् का उपादान-कारण कौन है? जिससे इस द्यावापृथिव्यात्मक सम्पूर्ण जगत् का निर्माण ईश्वर ने किया है। तथा भुवनों के धारण करने वाले ईश्वर ने जिस सहकारिकारण पर अधिष्ठान किया होगा, वह सहकारिकारण कौन है? तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर जगत् का निमित्तकारण है यह मानी हुई बात है। किन्तु लोक में उपादानकारण सहकारिकारण एवं निमित्तकारण भिन्न २ देखे गये हैं। वैसे ही जगत् के वे कारण भी भिन्न २ होना चाहिये। वे कौन हैं। इस प्रश्न का वर्णन प्रथम मन्त्र में है। द्वितीय मन्त्र का अर्थ उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर है जो इस प्रकार है कि हे विद्वानों, मैं मन से विचार कर आप लोगों को उत्तर बताता हूँ कि ब्रह्म ही वन है अर्थात् जगत् का आधारकारण है। ब्रह्म ही वह वृक्ष है अर्थात् जगत् का उपादानकारण है, जिससे ईश्वर ने द्यावापृथिव्यात्मक जगत् का निर्माण किया है। भुवनों के धारण करने वाले ईश्वर ने जिस सहकारिकारण पर अधिष्ठान किया है वह भी ब्रह्म है। अधिष्ठाता ईश्वर भी ब्रह्म है, उनके द्वारा अधिष्ठेय सहकारिकारण भी ब्रह्म है। तात्पर्य यह कि ब्रह्म सर्वविलक्षण पदार्थ है अतएव वह जगत् का सर्वविध कारण बन जाता है। इस प्रकार कहकर इन मन्त्रों से उपादानकारण और निमित्तकारण की एकता ही सिद्ध की गई है।

"सदेव" इत्यादि श्रुतिवचनेन सविशेषब्रह्मण एव प्रतिपादनम्

"सदेव" इत्यादि श्रुतिवाक्य से सविशेषब्रह्म की सिद्धि

अतः "सदेव सोम्येदमग्र आसी" दित्यत्राप्यग्र इत्याद्यनेकविशेषा ब्रह्मणः प्रतिपादिताः। भवदभिमतविशेषनिषेधवाचकः कोऽपि शब्दो न दृश्यते। प्रत्युत जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावज्ञापनाय अग्र इति कालविशेषसद्भावः आसीदिति च क्रियाविशेषः, जगदुपादानता जगन्निमित्तता च निमित्तोपादानयोर्भेदनिरसनेन तस्यैव ब्रह्मणस्सर्वशक्तियोगश्चेत्यप्रज्ञातास्सहस्रशो विशेषा एव प्रतिपादिताः।

अद्वैतियों ने "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुतिवाक्य को प्रमाणरूप में रखकर निर्विशेषब्रह्म को सिद्ध करना चाहा। श्रीरामानुज स्वामी जी ने उस वाक्य के अर्थ पर पूर्णविवेचना की। उपसंहार में आपने कहा कि इस वाक्य में भी "अग्रे" इत्यादि शब्दों से ब्रह्म के अनेक विशेष ही प्रतिपादित हुये हैं, आप अद्वैतियों ने जैसा चाहा वैसा विशेष का निषेध करने वाला एक भी शब्द नहीं। उल्टा जगत् और ब्रह्म में कार्य कारणभाव को बतलाने के लिये प्रवृत्त इस वाक्य में "अग्रे" शब्द से कालविशेष का सद्भाव और "आसीत्" शब्द से क्रियाविशेष प्रतिपादित हुआ है। "एकमेव" शब्द से ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहा गया है। इससे ब्रह्म में जगदुपादानत्वरूप विशेष सिद्ध होता है। "अद्वितीयम्" शब्द से ब्रह्म को निमित्तकारण कहा गया है। इससे ब्रह्म में जगन्निमित्तत्वनामक विशेष सिद्ध होता है। जगत् के विषय में उपादानकारण और निमित्तकारण में भेद का निराकरण करके उसी ब्रह्म का सर्वशक्तित्वनामक विशेष कहा गया है। इस प्रकार अज्ञात अनेक विशेष बताये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह वाक्य सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त है।

वैशेषिकोक्तासत्कार्यवादनिराकरणपरतया श्रुतेर्व्याख्या

वैशेषिकदार्शनिकोक्त असत्कार्यवाद के निराकरण में श्रुति का तात्पर्य

यतो वास्तवकार्यकारणभावादिज्ञापने प्रवृत्तमिदम्, अत एव "असदेवेदमग्र आसी" दित्यारभ्यासत्कार्यवादनिषेधश्च क्रियते "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्या" दिति। प्रागसत उत्पत्तिरहेतुकेत्यर्थः। तदेवोपपादयति "कथमसतस्सज्जायेते" ति असत उत्पन्नमसदात्मकमेव भवतीत्यर्थः। यथा मृद उत्पन्नं घटादिकं मृदात्मकम्, सत उत्पत्तिर्नाम व्यवहारविशेषहेतुभूतोऽवस्थाविशेषयोगः। एतदुक्तं भवति—एकमेव कारणभूतं द्रव्यमवस्थान्तर-

योगेन कार्यमित्युच्यत इति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिपिपादयिषितम्, तदसत्कार्यवादे न सेत्स्यति। तथा हि–निमित्तासमवाय्यसमवायिप्रभृतिभिः कारणैरवयव्याख्यं कार्यं द्रव्यान्तरमेवारभ्यत इति कारणभूताद्वस्तुनः कार्यस्य वस्त्वन्तरत्वात् तज्ज्ञानेनास्य ज्ञातता कथमपि न संभवतीति। कथमवयवि द्रव्यान्तरं निरस्यत इति चेत्–कारणगतावस्थान्तरयोगस्य द्रव्यान्तरोत्पत्तिवादिनः सम्प्रतिपन्नस्यैवैकत्वनामान्तरव्यवहारान्तरादेरुपपादकत्वात् द्रव्यान्तरादर्शनाच्चेति कारणमेवावस्थान्तरापन्नं कार्यमित्युच्यत इत्युक्तम्।

"सदेव सोम्य" इत्यादि वाक्य वास्तविक कार्यकारणभाव को बतलाने के लिये प्रवृत्त है। अतएव "असदेवेदमग्र आसीत्" इस वाक्य से असत्कार्यवाद का उल्लेख करके "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्" इस वाक्य से उसका निराकरण किया गया है। वैशेषिक इत्यादि दार्शनिक असत्कार्यवाद को मानते हैं। वे कहते हैं कि नूतन कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है जो उत्पत्ति के पहले नहीं रहा। यही असत्कार्यवाद है, इसमें उत्पत्ति के पूर्व नहीं रहने वाले नये कार्यद्रव्य की उत्पत्ति मानी जाती है। उपनिषदों ने सत्कार्यवाद का स्वीकार किया है। उसका अर्थ यह है कि पहले से द्रव्य विद्यमान रहता है, वह नूतन अवस्था को प्राप्त होने पर कार्य कहलाता है। कार्य कहा जाने वाला द्रव्य पहले से ही विद्यमान होने के कारण वह सत्कार्य कहलाता है। "असदेवेदमग्र आसीत्" इस वाक्य का अर्थ यह है कि यह कार्य बनने वाला जगद्रूपी द्रव्य सृष्टि के पूर्व असत् ही था। इस असत्कार्यवाद का निराकरण करने वाले "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्" इस वाक्य का यह अर्थ है कि हे सोम्य ? उपर्युक्त बात कैसे जम सकती है। यदि जगद्द्रव्य उत्पत्ति के पहले असत् है तो उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। द्रव्य का आश्रय लेकर ही तो उत्पत्ति को सत्ता प्राप्त करनी होगी। आश्रय द्रव्य ही न रहा तो किसका आश्रय लेकर उत्पत्ति टिक सकती है। इस प्रकार कहकर असत्कार्यवाद का निराकरण किया गया है। इस निराकरण का उपपादन आगे मिलता है वह वाक्य यह है कि "कथमसतः सज्जायेत"। इसका अर्थ यह है कि असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा। असत् से उत्पन्न होने वाला पदार्थ भी असत् ही होगा। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न घटादि मृत्तिका बनकर रहते हैं, उसी प्रकार असत् से उत्पन्न होने वाला यह जगत् भी असत् ही होगा। यह जगत् असत् नहीं किन्तु सत् है। इससे विदित होता है कि यह सत् जगत्, सत् से ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है यदि यह जगद्द्रव्य पहले से ही सत् है तो उसकी उत्पत्ति कैसे घट सकती है ? उत्तर यह है कि पहले से ही विद्यमान द्रव्य जब उसी नयी अवस्था को—जो नये व्यवहार का कारण बनती है—प्राप्त होता है, तब उसकी उत्पत्ति कही जाती है।

इस असत्कार्यवाद के निराकरण का भाव यह है कि उपनिषत्सिद्धान्त में यह माना जाता है कि एक ही द्रव्य कारण एवं कार्य बन जाता है। पूर्वावस्था में रहने वाला वह द्रव्य कारण है, वही द्रव्य पूर्वावस्था को छोड़कर जब नयी अवस्था को प्राप्त होता है तब कार्य कहलाता है। सम्पूर्ण जगत् का कारण

बनने वाले द्रव्य को समझने पर उससे बने हुये सभी कार्य जाने जा सकते हैं क्योंकि वह कारणद्रव्य ही जगद्रूप में परिणत हुआ है। इस प्रकार एक को जानने से सबको ज्ञात होना यह अर्थ ही यहाँ कहने के लिये अभिमत है। इसे ही एक विज्ञान से होने वाले सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कहते हैं। यह प्रतिज्ञा उस असत्कार्यवाद में—जो वैशेषिक दार्शनिकों के द्वारा वर्णित है—नहीं सिद्ध होती। तथाहि—वैशेषिकों ने यह माना है कि निमित्तकारण समवायिकारण और असमवायिकारण इत्यादि कारणों के द्वारा अवयवी नामक नया कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है। उदाहरण—वस्त्र के निर्माण में कुविन्द अर्थात् जुलाहा निमित्तकारण है, तन्तुगण समवायिकारण हैं, तन्तुओं का पारस्परिक संयोग असमवायिकारण है, तुरी और वेमदण्ड इत्यादि सहकारिकारण हैं। इन कारणों से वस्त्रनामक नूतन अवयविद्रव्य उत्पन्न होता है जो पहले नहीं था। यह वैशेषिकों के द्वारा वर्णित असत्कार्यवाद है। इस वाद में कारण बनने वाले द्रव्य से कार्य बनने वाला द्रव्य भिन्न होता है। उदाहरण—तन्तुद्रव्य से वस्त्रद्रव्य भिन्न है। द्रव्यभेद होने के कारण इस वाद में यह बात घट नहीं सकती कि कारण को समझने से कार्य ज्ञान हो जाय। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि एक के विज्ञान से सम्पन्न होने वाले सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा वैशेषिकों के द्वारा वर्णित असत्कार्यवाद में नहीं जमती है अतएव उपनिषद् ने उसका निराकरण किया है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि कारण बनने वाला द्रव्य ही नूतन अवस्था को प्राप्त होकर कार्यद्रव्य कहलाता है, अवयविनामक नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता तो वैशेषिकों के द्वारा वर्णित अवयविनामक द्रव्यान्तर का निराकरण करना चाहिये, वह कैसे किया जाय ? उत्तर यह है कि द्रव्यान्तर की उत्पत्ति मानने वाले वैशेषिकों ने भी कारणद्रव्य में नूतनावस्था मानी है। उदाहरण—वस्त्र का कारण तन्तुद्रव्य हैं। वस्त्रोत्पत्ति के पूर्व उन तन्तुद्रव्यों में विलक्षण संयोगनामक अवस्था उत्पन्न होती है। इस बात को वैशेषिकों ने माना है। इसी संयोग को ही उन्होंने असमवायिकारण कहा है जिससे वस्त्रद्रव्य की उत्पत्ति होती है। उपनिषद्वादी और वैशेषिकों में यही अन्तर है कि वैशेषिकों ने समवायिकारण तन्तुगण एवं उनमें होने वाली संयोगावस्था—जिसे उन्होंने असमवायिकारण माना है—से वस्त्रनामक नूतन कार्यद्रव्य की उत्पत्ति मानी है। औपनिषदवादियों ने यह माना है कि संयोगावस्था को प्राप्त होने वाले तन्तु ही पट बनकर पट कहलाते हैं, पटनामक द्रव्यान्तर उत्पन्न नहीं होता। जहाँ दोनों मतों में माने हुये पदार्थों से ही काम चल जाता है, वहाँ अन्य पदार्थ की कल्पना करना उचित नहीं है। वैशेषिकों ने अवयविनामक द्रव्यान्तर को साधने के लिये जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, वे सारहीन हैं। तथाहि—वैशेषिकों ने कहा है कि तन्तुओं में बहुत्वसंख्या है, वस्त्र में एकत्वसंख्या है। इस प्रकार इनमें संख्याभेद है। तन्तुओं का नाम तन्तु है, वस्त्र का नाम वस्त्र है, इस प्रकार इनके नामों में भेद है। तन्तुओं से होने वाला काम दूसरा है, वस्त्र से होने वाला काम उससे भिन्न है। इस प्रकार इनके व्यवहार में भेद है। इस प्रकार बहुत से भेद हैं। इन भेदों के कारण यह मानना पड़ता है कि तन्तुद्रव्य से वस्त्रद्रव्य दूसरा द्रव्य है। वैशेषिकों की ये युक्तियाँ सारहीन हैं

क्योंकि तन्तुद्रव्य और वस्त्रद्रव्य एक होने पर भी नूतनावस्था भिन्न होने के कारण उनमें नामभेद संख्याभेद और व्यवहारभेद उपपन्न हो जाते हैं। उनसे द्रव्यान्तर की कल्पना नहीं हो सकती। किंच, तन्तुगण ही पटरूप से दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरा द्रव्य दिखाई नहीं देता। वहाँ द्रव्यान्तर की कल्पना करना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि कारणद्रव्य ही नूतन अवस्था को प्राप्त कर कार्य बन जाता है। वहाँ नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। वैशेषिकों का असत्कार्यवाद असमीचीन है। औपनिषद सत्कार्यवाद ही समीचीन है।

अद्वैतिवर्णितायाः शून्यवादनिराकरणव्याख्यायाः खण्डनम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित शून्यवादनिराकरणपरक व्याख्या का खण्डन

ननु निरधिष्ठानभ्रमासंभवज्ञापनायासत्कार्यवादनिरासः क्रियते। तथा हि—एकं चिद्रूपं सत्यमेवाविद्याच्छादितं जगद्रूपेण विवर्तत इति, अविद्याश्रयत्वाय मूलकारणं सत्यमित्यभ्युपगन्तव्यमित्यसत्कार्यवादनिरासः। नैतदेवम्, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा-दृष्टान्तमुखेन सत्कार्यवादस्यैव प्रसक्तत्वादित्युक्तम्, भवत्पक्षे निरधिष्ठानभ्रमासंभवस्य दुरुपपादत्वाच्च। यस्य हि चेतनगतदोषः पारमार्थिकः, दोषाश्रयत्वं च पारमार्थिकं तस्य पारमार्थिकदोषेण युक्तस्यापारमार्थिकगन्धर्वनगरादिदर्शनमुपपन्नम्। यस्य तु दोषश्चा-पारमार्थिकः, दोषाश्रयत्वं चापारमार्थिकम्, तस्यापारमार्थिकेनाप्याश्रयेण तदुपपन्नमिति भवत्पक्षे न निरधिष्ठानभ्रमासंभवः।

श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने उपनिषद्वर्णित असत्कार्यवाद के निराकरण की यह व्याख्या की कि वैशेषिकों द्वारा वर्णित असत्कार्यवाद का यहाँ निराकरण किया गया है। यहाँ पर अद्वैतवादी कहते हैं कि यहाँ पर वैशेषिकवर्णित असत्कार्यवाद का खण्डन श्रुति का अभिप्रेत नहीं। किन्तु माध्यमिक बौद्धों ने जिस असत्कार्यवाद का प्रतिपादन किया है, उस असत्कार्यवाद का निराकरण श्रुति का अभिप्रेत है। माध्यमिक ने यह माना है कि शून्य ही तत्त्व है। सभी पदार्थ शून्य हैं। कारण असत् है, तथा कार्य भी असत् है। जिस प्रकार भ्रम में एक पदार्थ दूसरे के रूप में दिखाई देता है उसी प्रकार ही सभी पदार्थ असत् होते हुये सत् के रूप में भ्रम से दिखाई देते हैं। यही माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद है। श्रुति इसी असत्कार्यवाद का निराकरण करती है। श्रुतिसंमत सिद्धान्त यह है कि एक चिद्रूप ब्रह्म सत्य है, वही अविद्या से आच्छादित होकर जगत् के रूप में भासता है। अविद्या का आश्रय बनने के लिये एक सत्य मूलकारण की आवश्यकता है। वह सत्य मूलकारण ही ब्रह्म है। यह श्रुतिसंमत सिद्धान्त है। यह समीचीन है क्योंकि कम से कम एक वस्तु तो सत्य होनी चाहिये। भ्रम में भी एक वस्तु सत्य अवश्य है।

शुक्तिरजत भ्रम में शुक्ति सत्य है, रजत आरोपित है रज्जुसर्पभ्रम में रज्जु सत्य है, सर्प अध्यस्त है। इन भ्रमों में अधिष्ठान बनने वाले शुक्ति और रजक इत्यादि पदार्थ सत्य हैं। आरोपित होने वाले रजत और सर्प इत्यादि पदार्थ ही मिथ्या होते हैं। भ्रम में, भले ही अध्यस्त पदार्थ मिथ्या बने, किन्तु अधिष्ठान तो सत्य होना चाहिये। यदि भ्रम में अधिष्ठान को भी मिथ्या माना जाय तो अनवस्था दोष होगा। मिथ्या बनने वाला वह अधिष्ठान भी किसी दूसरे अधिष्ठान पर अध्यस्त होगा, वह दूसरा अधिष्ठान भी किसी तीसरे अधिष्ठान पर अध्यस्त होगा, अधिष्ठान को मिथ्या मानने पर इस प्रकार अनवस्था होगी। इस अनवस्था दोष से त्राण पाने के लिये यह मानना होगा कि भ्रम में अधिष्ठान सत्य होना चाहिये। सत्य अधिष्ठान के विना भ्रम हो ही नहीं सकता अतएव उपनिषत्सिद्धान्त में जगद्भ्रम में अधिष्ठान बनने वाले ब्रह्म को सत्य मानकर आरोपित जगत् भर को मिथ्या माना गया है। असत्कार्यवाद को मानने वाले शून्यवादी माध्यमिक यह मानते हैं कि विना सत्य अधिष्ठान के ही भ्रम होता रहता है, अधिष्ठान भी अध्यस्त है, वह सत्य नहीं है अतएव शून्य ही तत्त्व होता है। यह माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद, अधिष्ठान को सत्य मानने वाले उपनिषत्सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। अतएव उपनिषद् ने उपर्युक्त माध्यमिकसंमत असत्कार्य-वाद का खण्डन किया है। यह खण्डन आवश्यक है, इसके विना उपनिषत्सिद्धान्त टिक नहीं सकता। उपनिषद् ने वैशेषिकसंमत असत्कार्यवाद का खण्डन नहीं किया है, किन्तु माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद अर्थात् शून्यवाद का खण्डन किया है। यह अद्वैतियों का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा है कि उपनिषद् ने वैशेषिकसंमत असत्कार्यवाद का ही खण्डन किया है। अद्वैतियों ने यह सिद्धान्त माना है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, वह अविद्या से आच्छादित होकर जगत् के रूप में भासता है, जगत् मिथ्या है। यदि यह सिद्धान्त श्रुति का विवक्षित होता तभी माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद का निरास श्रुति का विवक्षित हो सकता है। सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना करने पर विदित होता है कि अद्वैतियों के द्वारा वर्णित उपर्युक्त सिद्धान्त श्रुति का विवक्षित नहीं है। श्रुति ने आरम्भ में एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का वर्णन किया है। यह प्रतिज्ञा अद्वैतिमत से मेल नहीं खाती। अद्वैतमत में यह माना जाता है कि एकमात्र ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है। सत्य ब्रह्म के समझने पर मिथ्या जगत् विदित नहीं हो सकता। सत्यअधिष्ठान रज्जु को समझने पर उसमें अध्यस्त होने वाले सर्प भूविदलन और जलधारा इत्यादि लोक में विदित नहीं होते। पूर्वोक्त प्रतिज्ञा ही अद्वैतमत में नहीं घटती इतनी बात नहीं, किन्तु दृष्टान्त भी नहीं घटता। यहाँ पर दृष्टान्त का वर्णन इस प्रकार है कि मृत्तिका को ज्ञात करने पर मृत्तिका के विकार घट और शराव आदि ज्ञात होते हैं। यह दृष्टान्त अद्वैतमत में नहीं घटता क्योंकि श्वेतकेतु जिस प्रकार रज्जु को सत्य और उसमें अध्यस्त होने वाले सर्प आदि को मिथ्या समझ सकता है उस प्रकार मृत्तिका को सत्य और घट शराव आदि को मिथ्या नहीं समझ सकता, तदर्थ उसके पास न कोई प्रमाण ही है न युक्ति ही। वह तो मृत्तिका और घट आदि को सत्य ही समझ सकता है जैसे हम लोग समझते हैं।

अद्वैतियों के मत के अनुसार यहाँ रज्जुसर्प और शुक्तिरजत आदि दृष्टान्तों का वर्णन होना चाहिये। वह तो है नहीं। इस प्रकार श्रुतिवर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों अद्वैतमत में नहीं घटते। इससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त अद्वैतसिद्धान्त श्रुति का संमत नहीं तथा माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद का खण्डन भी श्रुति का संमत नहीं है। वैशेषिकवर्णित असत्कार्यवाद का निराकरण ही श्रुतिसंमत हो सकता है। श्रुति ने एकविज्ञान से होने वाले सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा एवं मृद्विकार दृष्टान्त को कहकर सत्कार्यवाद का इस प्रकार समर्थन किया है कि कारणद्रव्य ही दूसरी अवस्था को प्राप्त कर कार्यद्रव्य बन जाता है, कारणद्रव्य और कार्यद्रव्य एक हैं, कारणद्रव्य को समझने पर कार्यद्रव्य समझा जाता है। उपर्युक्त सत्कार्यवाद से वैशेषिकवर्णित असत्कार्यवाद विरोध रखता है जिसमें कारणद्रव्य से कार्यद्रव्य को भिन्न माना जाता है। विरुद्ध होने के कारण वैशेषिकसंमत असत्कार्यवाद का निराकरण आवश्यक हो जाता है। अतएव श्रुति ने वैशेषिकवर्णित असत्कार्यवाद का ही यहाँ निराकरण किया है। श्रुति का इस प्रकार ही अर्थ करना चाहिये तभी सभी श्रुतिवाक्यों का समन्वय हो सकता है। आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतियों के प्रति यह कहा है कि आप लोगों ने माध्यमिकसंमत शून्यवाद का निराकरण करते हुये यह जो कहा कि सत्य अधिष्ठान को लेकर ही भ्रम हो सकते हैं विना अधिष्ठान के भ्रम हो नहीं सकता, यह युक्ति निःसार है। लोक में भ्रम ऐसे स्थल में भी देखे गये हैं जहाँ चेतन में कोई सत्य दोष हो, दोषसम्बन्ध भी सत्य हो, तथा अधिष्ठान भी सत्य हो। वहाँ सत्य दोष से युक्त उस चेतन को सत्य अधिष्ठान में गन्धर्वनगर इत्यादि मिथ्या पदार्थों का भ्रम होता है। कभी २ आकाशस्थ मेघमण्डल में दिखाई देने वाला नगर गन्धर्वनगर कहलाता है। आप लोगों के मत में दोष मिथ्या है तथा दोष सम्बन्ध भी मिथ्या है इस मिथ्या दोष के बल से भ्रम आप लोगों के मत में होता है। ऐसी स्थिति में मिथ्या अधिष्ठान को लेकर भी भ्रम आप लोगों के मत में हो सकता है। 'भ्रम के लिये सत्य अधिष्ठान की आवश्यकता है' यह अर्थ आप लोगों के मत के अनुसार सिद्ध नहीं हो सकता। यदि आप लोगों के प्रति माध्यमिक यह कहें कि जिस प्रकार आप लोगों के मत में मिथ्या दोष के बल से भ्रमोत्पत्ति मानी जाती है उसी प्रकार मिथ्या अधिष्ठान को लेकर भी भ्रम हो सकता है, अधिष्ठानसत्यता की आवश्यकता नहीं तो आप लोग माध्यमिक को क्या उत्तर देंगे? कहने का भाव यह है कि आप लोगों के मत के अनुसार विचार करने पर यही फलित होता है कि सत्य अधिष्ठान न होने पर भ्रम उसी प्रकार घट सकता है जिस प्रकार दोष सत्य न होने पर भी भ्रम होता है। माध्यमिक के शून्यवाद का निराकरण करने के लिये आप लोगों के द्वारा प्रस्तावित युक्ति आप लोगों के सिद्धान्त से मेल नहीं रखती। आप लोगों के मत के अनुसार निरधिष्ठान भ्रम हो सकता है। आप लोगों की युक्ति सारहीन होने के कारण यह मानना पड़ता है कि यहाँ वैशेषिकसंमत असत्कार्यवाद का निराकरण ही श्रुति का अभिप्रेत है, माध्यमिकसंमत असत्कार्यवाद का निराकरण श्रुति का अभिप्रेत नहीं।

शोधक वाक्यैरपि सविशेषब्रह्मण एव सिद्धिः

शोधक वाक्यों से भी सविशेष ब्रह्म की ही सिद्धि होती है

शोधकवाक्येष्वपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मे" त्यादिषु सामानाधिकरण्यव्युत्पत्तिसिद्धानेकगुणविशिष्टैकार्थाभिधानमविरुद्धमिति सर्वगुणविशिष्टं ब्रह्माभिधीयते इति पूर्वमेवोक्तम् ।

"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" यह वाक्य जगत्कारणवस्तु का प्रतिपादक है। अतएव कारणवाक्य कहलाता है। अद्वैतियों ने इस वाक्य का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने के लिये प्रयास किया कि यह वाक्य निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, तथा भेदों का निषेध करता है। श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यहाँ तक के ग्रन्थ से अद्वैतियों के उपर्युक्तवाद का निराकरण किया है। कारणवाक्य के बाद शोधकवाक्यों की प्रवृत्ति मानी जाती है। कारणवाक्य के द्वारा जगत्कारणवस्तु के विषय में यह शंका होना सहज है कि जगत्कारणवस्तु भी लोकदृष्टकारणों के समान ही होगी। लोक में जो २ उपादानकारण हैं, वे विकारयुक्त, जड एवं परिच्छिन्न है। जगत्कारणवस्तु भी इसी प्रकार की होगी। ऐसी शंकाओं का निराकरण करके जगत्कारणवस्तु को सर्वविलक्षण सिद्ध करने के लिये "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि शोधकवाक्य प्रवृत्त हैं। इस वाक्य से अद्वैतियों ने निर्विशेष ब्रह्म को सिद्ध करना चाहा। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि इस वाक्य का यह अर्थ है कि ब्रह्म सत्य ज्ञान एवं अनन्त है। यह वाक्य समानाधिकरण वाक्य है अर्थात् सत्य ज्ञान और अनन्त इन पदों के अर्थों में अभेद को सिद्ध करता है। इस वाक्य से ब्रह्म में सत्यत्व ज्ञानत्व एवं अनन्तत्व गुण सिद्ध होते हैं जगत्कारण ब्रह्म निर्विकार है, इसलिये सत्य कहलाता है, वह स्वयंप्रकाश एवं ज्ञानवान् होने से ज्ञान कहलाता है तथा अपरिच्छिन्न होने से अनन्त कहा जाता है। इस प्रकार सत्यत्व ज्ञानत्व एवं अनन्तत्व इन गुणों से युक्त एक अर्थ ब्रह्म का वर्णन इस वाक्य में है। इससे मानना पड़ता है कि सर्वगुणविशिष्ट ब्रह्म ही इस वाक्य से अभिहित होता है यह बात पहले ही एकवार सिद्ध की गई है। "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादि शोधकवाक्य से सविशेष ब्रह्म ही सिद्ध होता है, निर्विशेष नहीं।

नेतिनेतीति श्रुत्यापि प्रपञ्चनिषेधो न क्रियते इत्यर्थस्य प्रतिपादनम्

"नेतिनेति" इस श्रुतिवाक्य से भी प्रपञ्च निषेध की असिद्धि का प्रतिपादन

"अथात आदेशो नेति नेती" ति बहुधा निषेधो दृश्यत इति चेत्—किमत्र निषिध्यत इति वक्तव्यम् । "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तमेव चे" ति मूर्तामूर्तात्मकः प्रपञ्चः

सर्वोऽपि निषिध्यत इति चेत् ब्रह्मणो रूपतया अप्रज्ञातं सर्वं रूपतयोपदिश्य पुनस्तदेव निषेद्धुमयुक्तम्, प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायात्। कस्तर्हि निषेधवाक्यार्थः? सूत्रकारः स्वयमेव वदति "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय" इति, उत्तरत्र "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्य" मित्यादिना गुणगणस्य प्रतिपादितत्वात् पूर्वप्रकृतैतावन्मात्रं न भवति ब्रह्मेति ब्रह्मणस्तावन्मात्रता प्रतिषिध्यत इति सूत्रार्थः।

आगे अद्वैतियों ने "अथात आदेशो नेति नेति" इस वाक्य का उद्धरण देकर कहा कि यह वाक्य प्रपञ्च का निषेध करता है। वहाँ के प्रकरण के आरम्भ में "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तमेव च" कहकर यह बतलाया गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्तप्रपञ्च है, दूसरा अमूर्तप्रपञ्च है। इस प्रकार मूर्तामूर्तप्रपञ्चों को ब्रह्म का रूप कहकर आगे "अथात आदेशो नेति नेति" ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि इसके आगे एक उपदेश है, वह यह है कि ब्रह्म ऐसा नहीं-ऐसा नहीं अर्थात् मूर्तामूर्तप्रपञ्च उसका रूप नहीं। इससे मूर्तामूर्तप्रपञ्च का निषेध होता है। उससे इस प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। यह अद्वैतियों का कथन है। इस पर समालोचना करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी आगे कहते हैं कि उपर्युक्त अर्थ समीचीन नहीं है। मूर्तामूर्तप्रपञ्च ब्रह्म का रूप है, यह अर्थ श्रुतिप्रमाण को छोड़कर दूसरे किसी प्रमाण से विदित नहीं हो सकता। श्रुति से ही इसे जानना होगा। श्रुति इस अज्ञात अर्थ को बतलाकर पीछे इसका निषेध करे यह उचित नहीं। अज्ञात किसी अर्थ को बतलाकर उसके निषेध करने की अपेक्षा तो यही अच्छा है कि उस अर्थ को बतलाया ही न जाय। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"। इसका यह अर्थ है कि पङ्क का लेप लगाकर उसको धोने की अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही अच्छा है। जिस प्रकार पङ्क का स्पर्श करके उसको धोने की अपेक्षा उसका स्पर्श न करना ही अच्छा है उसी प्रकार मूर्तामूर्त-प्रपञ्च को ब्रह्म का रूप कहकर भ्रम को बढ़ाना (क्योंकि अद्वैतमत के अनुसार यह भ्रम ही है) आगे उसका निषेध करना इसकी अपेक्षा मूर्तामूर्तप्रपञ्च को ब्रह्म का रूप न कहना ही अच्छा है। किसी अज्ञात अर्थ को कहकर उसका निषेध करना अच्छा नहीं, उस बात को न कहना ही उचित है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त वाक्य का अद्वैतियों के द्वारा किया गया अर्थ समीचीन नहीं। अब प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त वाक्य का क्या अर्थ होना चाहिये। उत्तर देते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि ब्रह्मसूत्रकार ने "प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" इस सूत्र के द्वारा उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ स्वयं इस प्रकार किया है कि "नेति नेति" इस वाक्य का यह अर्थ है कि ब्रह्म मूर्तामूर्तप्रपञ्च रूप वाला है, इतना ही ब्रह्म का रूप नहीं है, ब्रह्म का रूप इससे कहीं अधिक है। मूर्तामूर्तप्रपञ्च को ब्रह्म का रूप कहने पर यह धारणा हो सकती है कि ब्रह्म इतने ही रूप वाला हो। इस धारणा को दूर करने के लिये "नेति नेति" कहकर श्रुति ने बतलाया कि ब्रह्म इतना ही नहीं, इतना ही नहीं। इसका भाव यही है कि ब्रह्म इससे भी अधिक

रूप वाला है। इस प्रकार यह श्रुति प्रकृत इयत्ता का निषेध करती है, यह नहीं कि रूपों का ही निषेध करती हो। यदि रूपों का निषेध करके ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करना श्रुति का अभिमत होता तो श्रुति को आगे ब्रह्म के गुणों का वर्णन न करना चाहिये। किन्तु श्रुति आगे ब्रह्म के गुणों का वर्णन करती है। आगे का श्रुतिवाक्य यह है कि "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्" इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म का नाम "सत्य का सत्य" ऐसा है। जीव सत्य हैं उनसे बढ़कर ब्रह्म सत्य है। निर्विकारवस्तु को सत्य कहते हैं। जडपदार्थ के स्वरूप में विकार होता रहता है। जडपदार्थ विकार वाला है। जीव के स्वरूप में विकार नहीं होता किन्तु जीव का स्वभाव बनने वाले धर्मभूतज्ञान में विकार होता है। जीव स्वरूप में विकार वाला नहीं, इसलिये वह सत्य कहा जा सकता है। ब्रह्म के स्वरूप में विकार नहीं, स्वभाव में भी विकार नहीं। इसलिये जीव से बढ़कर ब्रह्म निर्विकार सिद्ध होता है। अतएव उसका "सत्य का सत्य" ऐसा नाम रक्खा गया है। इस प्रकार उपनिषद् में आगे ब्रह्म के निर्विकारत्व इत्यादि गुणों का वर्णन है। इससे विदित होता है कि "नेति नेति" श्रुति का प्रपञ्च के निषेध में तात्पर्य नहीं है, किन्तु ब्रह्म की इयत्ता के निषेध में तात्पर्य है। इस प्रकार सूत्रकार ने ही उपर्युक्त श्रुति का अर्थ किया है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि "नेति नेति" श्रुति निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिपादिका नहीं, न प्रपञ्च की ही निषेधिका है।

नेह नानास्तीति श्रुत्यापि न प्रपञ्चनिषेधसिद्धिः

"नेह नानास्ति" इत्यादि श्रुतिवाक्य से प्रतिपादित प्रपञ्चनिषेध का खण्डन

"नेह नानास्ति किञ्चने" त्यादिना नानात्वप्रतिषेध एव दृश्यत इति चेत्—अत्राप्युत्तरत्र "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इति सत्यसङ्कल्पत्व—सर्वेश्वरत्वप्रतिपादनाच्चेतनाचेतनवस्तु-शरीर ईश्वर इति सर्वप्रकारसंस्थितः सर्वेश्वरः स एक एवेति तत्प्रत्यनीकाब्रह्मात्मकनानात्वं प्रतिषिद्धम्, न भवदभिमतम्। सर्वास्वेवंप्रकारासु श्रुतिष्वियमेव स्थितिरिति न क्वचिदपि ब्रह्मणः सविशेषत्वनिषेधवाची कोऽपि शब्दो दृश्यते।

आगे अद्वैतियों ने कहा कि "नेह नानास्ति किंचन" यह श्रुतिवाक्य भेदप्रपञ्च का निषेध करता है। इसका यह अर्थ है कि यहाँ नाना प्रकार के पदार्थ सर्वथा हैं ही नहीं। अद्वैतियों के इस कथन पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि यह वाक्य भी प्रपञ्च का निषेध नहीं करता क्योंकि आगे ब्रह्म के अनेक गुणों का वर्णन होता है, उससे विरोध न हो, ऐसा उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ करना चाहिये। आगे "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" "सर्वस्याधिपतिः" "सर्वमिदं प्रशास्ति" "एष सेतुर्विधरणः" इत्यादि वाक्य है। ईश्वर सबको वश में रखने वाले हैं, सब पर शासन करने वाले हैं, सबके स्वामी हैं। सबका धारण करने वाले हैं। इन

वाक्यों से ईश्वर में सत्यसंकल्पत्व सर्वेश्वरत्व स्वामित्व नियन्तृत्व और धारकत्व इत्यादि गुण सिद्ध होते हैं। इससे फलित होता है कि यह चेतनाचेतनप्रपञ्च ईश्वर की शेष नियाम्य एवं धार्य वस्तु है। अतएव यह प्रपञ्च ईश्वर का शरीर है, ईश्वर इसका आत्मा है। सर्वपदार्थों के अन्दर आत्मा के रूप में विराजमान एकमात्र ईश्वर ही विश्वरूप से दिखाई देते हैं, दूसरा कोई नहीं। यहाँ के सब पदार्थ ब्रह्मात्मक हैं अब्रह्मात्मक कोई भी पदार्थ नहीं। किसी पदार्थ के देखते समय यह समझना चाहिये कि ईश्वर ही इस पदार्थ के अन्दर आत्मा के रूप में विराजमान होकर सामने अवस्थित हैं। इस प्रकार सब पदार्थों को ब्रह्मात्मक समझना चाहिये। तदर्थ यह श्रुतिवाक्य अब्रह्मात्मक नाना पदार्थों का निषेध करता है, यह नहीं कि प्रपञ्चस्वरूप का निषेध करता हो। ब्रह्मात्मकप्रपञ्च श्रुति का अभिप्रेत है। इस प्रकार अर्थ करने पर ही उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का आगे के श्रुतिवाक्यों से मेल हो सकता है। अन्यान्य श्रुतिवाक्यों का भी निर्वाह इस प्रकार हो जाता है। अबतक कहे गये न्यायों के अनुसार सब श्रुतियों का समन्वय हो जाता है। सब श्रुतियों का अर्थ ऐसा ही है जैसा अबतक कहा गया है। श्रुतियों में कहीं भी ब्रह्म के सविशेषत्व का खण्डन करने वाला एक भी शब्द नहीं है। इस विस्तृत विचार से सिद्ध होता है कि श्रीशंकराचार्यप्रवर्तित अद्वैतसिद्धान्त श्रुतिविरुद्ध है।

अद्वैतस्य न्यायापेतत्वसमर्थनम्—अद्वैतसिद्धान्त के निराकरणार्थ न्यायविरुद्धत्व का प्रतिपादन

तिरोधानानुपपत्तिः

अविद्या से ब्रह्म के तिरोधान की अनुपपत्ति

अपि च निर्विशेषज्ञानमात्रं ब्रह्म, तच्च आच्छादिकाविद्यातिरोहितस्वस्वरूपं स्वगत-नानात्वं पश्यतीत्ययमर्थो न घटते। तिरोधानं नाम प्रकाशनिवारणम्, स्वरूपातिरेकि-प्रकाशधर्मानभ्युपगमेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात्स्वरूपनाश एव स्यात्। प्रकाशपर्यायं ज्ञानं नित्यम्, स च प्रकाशोऽविद्यातिरोहित इति बालिशभाषितमिदम्। अविद्यया प्रकाशस्ति-रोहित इति प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धो वा विद्यमानस्य विनाशो वा, प्रकाशस्यानुत्पाद्यत्वाद् विनाश एव स्यात्। प्रकाशो नित्यो निर्विकारस्तिष्ठतीति चेत् सत्यामप्यविद्यायां ब्रह्मणि न किञ्चित्तिरोहितमिति नानात्वं पश्यतीति भवतामयं व्यवहारः सत्स्वनिवर्चनीय एव।

यहाँ तक के ग्रन्थ से श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतसिद्धान्त को श्रुतिविरुद्ध सिद्ध किया है। आगे उसे न्यायविरुद्ध अर्थात् तर्कविरुद्ध सिद्ध करते हुये आपने कहा कि अद्वैतियों का सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म निर्विशेषज्ञानमात्रस्वरूप है। उसका स्वस्वरूप आच्छादिका अविद्या से तिरोहित हो जाता है, तिरोहित होने पर वह परब्रह्म अपने में भेदप्रपञ्च को देखता रहता है। अद्वैतियों का उपर्युक्त सिद्धान्त समीचीन

नहीं। प्रकाश को नष्ट करना ही तिरोधान है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने से स्वयंप्रकाश है। प्रकाश उसका स्वरूप है, धर्म नहीं है। यदि प्रकाशधर्म बनता तो प्रकाश स्वरूपातिरिक्त सिद्ध होता है। किन्तु अद्वैतियों ने प्रकाश को धर्म नहीं माना, मानने पर ब्रह्म सधर्मक सिद्ध हो जायेगा। इसी भय से ही अद्वैतियों ने प्रकाश को धर्म न मानकर ब्रह्म का स्वरूप माना। प्रकाश का नाश ही तिरोधान है। प्रकाश ब्रह्मस्वरूप है। ऐसी स्थिति में अविद्या से ब्रह्मस्वरूप का तिरोधान होते समय ब्रह्मस्वरूप को नष्ट होना पड़ेगा। यह दोष उपस्थित होता है अद्वैतियों ने ब्रह्म को नित्य माना है। यह अर्थ खण्डित हो जाता है। ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं कि नित्य ब्रह्मप्रकाशात्मक ज्ञानस्वरूप है, तथा वह प्रकाश अविद्या से तिरोहित है। अद्वैती यह जो कहते हैं कि अविद्या से प्रकाशतिरोहित होता है, इसका भाव क्या है? क्या इसका यह भाव है कि अविद्या से प्रकाश की उत्पत्ति रुक जाती है, अथवा यह भाव है कि विद्यमान प्रकाश का नाश हो जाता है। अद्वैतियों ने ब्रह्मस्वरूप प्रकाश की उत्पत्ति नहीं मानी है, अतएव प्रकाश की उत्पत्ति को रोक देना यह कोटि नहीं जमती। यदि प्रकाश का विनाश तिरोधान माना जाय तो ब्रह्म का नाश हो जायेगा। यदि अद्वैती यह कहें कि प्रकाशात्मक ब्रह्म नित्य निर्विकार होकर सदा बना रहता है, तब तो मानना होगा कि अविद्या से ब्रह्म में कुछ भी तिरोहित नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में यह बात सन्तों के समक्ष नहीं रक्खी जा सकती कि ब्रह्म अविद्या से तिरोहित होकर भेदप्रपञ्च को देखता है क्योंकि पहले तिरोधान ही नहीं जमता है।

अद्वैतिभिर्विशिष्टाद्वैतमते जीवात्मतिरोधानानुपपत्तेर्विवेचनम्

अद्वैतियों द्वारा विशिष्टाद्वैतमत में जीवात्मतिरोधानानुपपत्ति का वर्णन

ननु च भवतोऽपि विज्ञानस्वरूप आत्माऽभ्युपगन्तव्यः। स च स्वयंप्रकाशः। तस्य च देवादिस्वरूपात्माभिमाने स्वरूपप्रकाशतिरोधानमवश्याश्रयणीयम्, स्वरूपप्रकाशे सति स्वात्मन्याकारान्तराध्यासायोगात्। अतो भवतश्चायं समानो दोषः। किञ्चास्माकमेकस्मिन्नेवात्मनि भवदुदीरितं दुर्घटत्वम्, भवतामात्मानन्त्याभ्युपगमात्सर्वेष्वयं दोषः परिहरणीयः।

आगे अद्वैतियों ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर एक दोष दिया है जिसका निराकरण भाष्यकार स्वामी जी ने किया है। वह दोष यह है कि अद्वैतियों ने कहा कि आपको अर्थात् विशिष्टाद्वैती को भी आत्मा ज्ञानस्वरूप अभिप्रेत है। जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप मानना चाहिये क्योंकि उपनिषदों में "विज्ञानघनः" कहकर जीवात्मा ज्ञानस्वरूप बताया गया है। ज्ञान स्वयंप्रकाशवस्तु है। आत्मा को स्वयंप्रकाश मानना चाहिये। उपनिषद् में "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति" यह वाक्य आत्मा को स्वयंप्रकाश सिद्ध करता है।

इसका यह अर्थ है कि यहाँ यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है। यह स्वयंप्रकाश जीवात्मा अपने को देव मनुष्य इत्यादि रूप में समझता है। यह समझ भ्रम है। इसे ही देहात्माभिमान कहते हैं। जीवस्वरूप का तिरोधान होने पर ही यह भ्रम हो सकता है। यदि जीवात्मस्वरूप का तिरोधान नहीं ही होता, जीवात्मस्वरूप स्वयं-प्रकाश होने से अपने स्वरूप में चमकता रहता तो देहात्माभिमान इत्यादि भ्रम नहीं हो सकते। इन भ्रमों का उपपादन करने के लिये आत्मस्वरूप का तिरोधान मानना होगा। आत्मा प्रकाशस्वरूप है, प्रकाश का नाश ही तिरोधान है। इसलिये विशिष्टाद्वैती के मत में देहात्मभ्रम इत्यादि को सम्हालने के लिये आत्म-स्वरूप में तिरोधान आवश्यक होने के कारण प्रकाशरूपी आत्मा का नाश हो जायेगा। तिरोधान मानने पर जो दोष अद्वैती के मत में दिया गया है, वह दोष विशिष्टाद्वैती के मत में भी आ जाता है। किंच विशिष्टाद्वैती के मत में अधिक दोष होता है। विशिष्टाद्वैतियों ने अनेक जीवात्माओं को माना है। जीवों में कई सुखी हैं, कई दुःखी हैं, कई शिष्य हैं, कई आचार्य हैं, कई बद्ध हैं तथा कई मुक्त हैं। ये सब व्यवस्थायें प्रामाणिक हैं। अनेक जीवों को मानने पर ही ये सब व्यवस्थायें घट सकती हैं। इन व्यवस्थाओं को प्रामाणिक मानने वाले विशिष्टाद्वैतियों ने अनेक जीवों को माना है। अद्वैतियों ने इन व्यवस्थाओं को काल्पनिक माना है। अतएव अद्वैतियों को अनेक जीव मानने की आवश्यकता नहीं रहती। विशिष्टाद्वैती के मत में प्रामाणिक इन व्यवस्थाओं का निर्वाह नहीं हो सकता। यह दूसरा दोष है। कारण, तिरोधान से जहाँ प्रकाशस्वरूप जीवात्मा का नाश हो जाता है, वहाँ अपने को सुखी और दुःखी इत्यादि कौन माने? ऐसी स्थिति में इन व्यवस्थाओं का भंग हो जाता है। अद्वैती के मत में ये व्यवस्थायें काल्पनिक हैं, अतएव इनका भंग दोष नहीं होता। विशिष्टाद्वैती के मत में ये व्यवस्थायें सत्य हैं। इनका भंग दोष ही है। विशिष्टाद्वैती के मत में इन व्यवस्थाओं का भंग हो ही जाता है, क्योंकि एक जीव अपने को सुखी मानता है। दूसरा जीव अपने को दुःखी मानता है। यह अभिमानरूपी भ्रम स्वरूप तिरोहित होने पर ही हो सकेगा। तिरोधान से यदि प्रकाशरूपी जीवों का नाश होगा तो ये व्यवस्थायें कहाँ रह सकेंगी। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में दो दोष उपस्थित होते हैं, विशिष्टाद्वैती इन दोषों का जैसा परिहार करते हैं वैसा हम भी हमारे मत में आये हुये दोषों का परिहार करेंगे। यह अद्वैतियों का पूर्वपक्ष है।

उपर्युक्तदोषनिराकरणार्थमद्वैतसिद्धान्ताद्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते विद्यमानस्य विशेषस्य प्रतिपादनम्

उपर्युक्त दोष समाधानार्थ अद्वैत से विशिष्टाद्वैत में विद्यमान वैशिष्ट्य का वर्णन

अत्रोच्यते स्वभावतो मलप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपं स्वाभाविकानवधिकातिशया-परिमितोदारगुणसागरं निमेषकाष्ठाकलामुहूर्तादिपरार्द्धपर्यन्तापरिमितव्यवच्छेदस्वरूप-

सर्वोत्पत्तिस्थितिविनाशादिसर्वपरिणामनिमित्तभूतकालकृतपरिणामास्पृष्टानन्तमहाविभूति-स्वलीलापरिकरस्वांशभूतानन्त–बद्धमुक्तनानाविधचेतनतद्भोग्यभूतानन्त–विचित्रपरिणाम-शक्तिचेतनेतरवस्तुजातान्तर्यामित्वकृतसर्वशरीरत्वसर्वप्रकारावस्थानावस्थितं परं ब्रह्म च वेद्यम्, तत्साक्षात्कारक्षमभगवद्द्वैपायनपराशर वाल्मीकिमनुयाज्ञवल्क्यगौतमापस्तम्ब-प्रभृतिमुनिगणप्रणीतविध्यर्थवादमन्त्ररूप–वेदमूलेतिहासपुराणधर्मशास्त्रोपबृंहित–परमार्थ-भूतानादिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदायऋग्यजुस्सामाथर्वरूपानन्तशाखं वेदं चाभ्युपगच्छ-तामस्माकं किं न सेत्स्यति ।

श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतियों के उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुये विस्तार से अपने सिद्धान्त का इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि हम शास्त्रोक्तरीति से परब्रह्म के स्वरूप और स्वभाव को मानते हैं तथा वेदशास्त्र को परमप्रमाण मानते हैं। अतएव हम लोगों को सब कुछ सिद्ध हो सकता है। अद्वैतियों ने यह माना है कि विशिष्टाद्वैती उपर्युक्त दोष का निराकरण जिस प्रकार करेंगे उसी प्रकार हम भी करेंगे। विशिष्टाद्वैती को पूर्वपक्ष का समाधान इस प्रकार करना होगा कि शास्त्रों से यह अर्थ प्रमाणित है कि जीवस्वरूप नित्य है, तथा संसार में वह तिरोहित रहता है। जो तर्क शास्त्रप्रतिपादित इस अर्थ का खण्डन करे, वह तर्क ही दुष्ट माना जायेगा। "न हि वचनविरोधे न्यायः प्रवर्तते" यह न्याय प्रसिद्ध है। इसका अर्थ यह है कि शास्त्रवचन से विरोध होने पर तर्क चल नहीं सकता। ज्ञानस्वरूप जीवात्मा का नित्यत्व एवं उसका तिरोधान शास्त्रसिद्ध है, तर्क से इसका खण्डन नहीं हो सकता, उल्टा तर्क ही खण्डित हो जायेगा। इसलिये तिरोधान होने पर भी प्रकाशस्वरूप जीवात्मा नित्य माना जा सकता है। यही समाधान विशिष्टाद्वैती को कहना होगा। हम अद्वैती भी वैसा ही समाधान करेंगे। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का नित्यत्व एवं अविद्या से उसका तिरोधान ये दोनों अर्थ शास्त्रसिद्ध हैं। तिरोधान होने पर प्रकाश का नाश हो जायेगा। ऐसे तर्क से शास्त्रोक्त अर्थ खण्डित नहीं होगा उल्टा तर्क ही दुष्ट माना जायेगा। श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि अद्वैती अपने मत में आये हुये दोष का इस प्रकार ही समाधान करना चाहते हैं। परन्तु उनका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वचन से विरोध होने पर यद्यपि तर्क कट जाता है तथापि वचन कट नहीं सकता है। स्पष्ट अर्थ को बतलाने वाले अनेक वचनों के अनुसार अस्पष्टार्थक वचन का अर्थ करना चाहिये। अनेक शास्त्रवचन यह बतलाते हैं कि ब्रह्म निर्दोष है तथा सर्वज्ञत्व इत्यादि कल्याण-गुणों का निधि है। यह जगत् ब्रह्म की विभूति है, अधीन रहने वाली वस्तु है इससे सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ ब्रह्म भ्रान्त नहीं, तथा जगत् भ्रम से दिखाई देने वाली वस्तु नहीं है। ब्रह्म को भ्रमाश्रय मानना तथा जगत् को भ्रमविषयक मानना अनेक वचनों से विरोध रखता है। अतएव ऐसा मानना उचित नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म का तिरोधान एवं भ्रम को बतलाने में शास्त्र का तात्पर्य है ही नहीं। [illegible] आप [illegible] का तिरोधान एवं भ्रम मानते हैं, शास्त्रविरुद्ध अर्थ को तर्क काट सकता है। अतएव

अद्वैत सिद्धान्त को काटने के लिये यह तर्क प्रस्तुत करना उचित ही है कि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का तिरोधान होने पर उसका नाश हो जायेगा। जीवस्वरूप का तिरोधान इत्यादि अर्थ किसी वचन से भी विरोध नहीं रखते हैं। अतएव वचन इन अर्थों का प्रतिपादन कर सकते हैं इन वचनसिद्ध अर्थों को काटने वाला तर्क ही त्याज्य माना जायेगा। इस विवेचन से फलित होता है कि जीवस्वरूप का तिरोधान इत्यादि उपपन्न हैं तथा ब्रह्मस्वरूप का तिरोधान इत्यादि अनुपपन्न हैं। सम्पूर्ण शास्त्रार्थ पर ध्यान देने पर इसी निष्कर्ष पर ही पहुँचना पड़ता है।

उपनिषद् इत्यादि शास्त्र यह प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म का स्वरूप निर्दोष है तथा दोषों को नष्ट करने वाला है। स्वभाव से ही ब्रह्म दोषों का शत्रु होता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म में अविद्या दोष हो ही नहीं सकता। किंच, शास्त्र यह बतलाता है कि अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म के किसी भी अंश में जडत्व नहीं, अननुकूलत्व नहीं। वह अनन्त ब्रह्म पूरा ज्ञानस्वरूप है तथा आनन्दस्वरूप है। ब्रह्म में ऐसे २ कल्याणगुण विद्यमान हैं जो स्वाभाविक हैं चरमसीमा तक पहुँचे हैं उनसे बढ़कर कोई भी गुण अन्यत्र नहीं पाया जा सकता। उनमें एक २ गुण ही अनेक गुणों का सागर है ऐसे अपरिमित उदारगुणों का समुद्र श्रीभगवान् में लहराता रहता है। सर्वज्ञत्व इत्यादि ये सब गुण स्वाभाविक हैं। यह अर्थ "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच" इस श्रुतिवाक्य से प्रमाणित है। सर्वज्ञ ब्रह्म भ्रम का आश्रय नहीं हो सकता। अद्वैती ब्रह्म को भ्रमाश्रय मानते हैं जो उचित नहीं। शास्त्र कहता है कि श्रीभगवान् की दो विभूतियाँ हैं (१) लीलाविभूति (२) भोगविभूति। दोनों भी विभूति अनन्त हैं, लीलाविभूति नीचे अनन्त है, भोगविभूति ऊपर अनन्त है। ये दोनों श्रीभगवान् के अधीन रहती हैं तथा उनकी सम्पत्ति हैं इसलिये विभूति कहलाती हैं। इनमें लीलाविभूति से भोगविभूति बड़ी है। उस विभूति में काल का जोर नहीं है, वहाँ कालकृत परिणाम नहीं होते। वहाँ परिणाम केवल भगवत्संकल्प से ही होते रहते हैं। काल इस लीलाविभूति में निमेष काष्ठा कला और मुहूर्त से लेकर परार्ध पर्यन्त अनेक विभागों को प्राप्त करता हुआ सब पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश का कारण होता है। परन्तु भोगविभूति में इसका प्रभाव नहीं है। इस प्रकार अनन्त महान् भोगविभूति श्रीभगवान् की है। यह प्रकृतिमण्डल ही लीलाविभूति है। इसमें श्रीभगवान् लीला करते हैं। विविध रूपों में रहने वाले अनन्त बद्धचेतन तथा मुक्तचेतन श्रीभगवान् की लीला के परिकर हैं, मुक्त जीव श्रीभगवान् की मोक्षलीला में सहायक होते हैं, बद्ध जीव सांसारिक लीला में सहायक होते हैं इन चेतनों को भोग्य बनने के लिये प्रकृति इत्यादि अचेतन पदार्थ अनन्त विचित्र रूपों में परिणत होते रहते हैं, ऐसी शक्ति उनमें निहित है। इन चेतनाचेतन पदार्थों में परब्रह्म अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित रहता है, ये सब उसके शरीर हैं। परब्रह्म ही विश्वशरीरक होकर विश्वरूप में अवस्थित है। इस प्रकार परब्रह्म शास्त्रों से बोधित होता है। ये विभूतियाँ परमात्मा की सम्पत्ति हैं। ये ठोस सत्य हैं, भ्रम से दिखाई देने वाली नहीं हैं। अद्वैती जो इनको भ्रम से दिखाई देने वाली मानते हैं, वे ही भ्रम में

हैं। सार यह है निर्दोष सर्वज्ञ ब्रह्म को अज्ञान एवं भ्रम मानना तथा सत्यविभूतियों को मिथ्या मानना महान् दोष है। यह अर्थ अनेक शास्त्रों से विरोध रखता है। कोई भी शास्त्र इस अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता। अद्वैतियों के शास्त्रविरुद्ध ये अर्थ तर्क से कट सकते हैं।

किंच. अद्वैतियों ने यह माना है कि वेदादि शास्त्र अविद्यासिद्ध हैं, उनका प्रामाण्य भी अविद्यासिद्ध है तथा तर्क और उसका प्रामाण्य भी अविद्यासिद्ध है। अविद्यासिद्ध होने से ये सब मिथ्या हैं। ऐसी स्थिति में तर्क से शास्त्र का प्राबल्य सिद्ध नहीं होगा तथा शास्त्र से तर्क नहीं कटेगा। विशिष्टाद्वैतियों के मत में शास्त्र और उसका प्रामाण्य सत्य है। शास्त्र निर्दोष है क्योंकि वेद शास्त्र पुरुषप्रणीत नहीं हैं, किन्तु नित्य हैं, सम्प्रदाय में उनका पाठ अविच्छिन्न रूप में चला आता है। वेद शास्त्र ऋक् यजु साम और अथर्व रूप से चार प्रकार का है प्रत्येक में अनेक शाखायें हैं। सब शाखाओं में प्रतिपादित अर्थ एक है। अधीत शाखा और अनधीत शाखाओं को मिलाकर विचार करने पर वेदार्थ विशद रूप में समझ में आता है। हम लोग अनधीत शाखाओं को समझ नहीं सकते हैं उनमें प्रतिपादित अर्थों को कैसे समझें। हमारे इस क्लेश को दूर करने के लिये भगवान् व्यास पराशर वाल्मीकि मनु याज्ञवल्क्य गौतम और आपस्तम्ब इत्यादि महर्षियों ने—जो वेदप्रतिपाद्य प्रधान अर्थ परब्रह्म के साक्षात्कार में सामर्थ्य रखते थे—वेदों के आधार पर अर्थात् अनधीत वेदार्थों को भी लेकर उपबृंहण शास्त्रों का निर्माण किया है। जिन शास्त्रों से वेदार्थ व्यक्त होते हैं, वे उपबृंहण शास्त्र कहलाते हैं। वेद में जो विधिभाग है, उसके आधार पर धर्मशास्त्र निर्मित हुये। वेदों में जो अर्थवाद भाग एवं मन्त्र भाग हैं, उनके आधार पर पुराण और इतिहास निर्मित हुये। ये सब उपबृंहण शास्त्र हैं। इनसे वेदार्थ स्पष्ट विदित होते हैं। इनसे उपबृंहित होने वाले निर्दोष अनादिसिद्ध वेदों को हम प्रमाण मानते हैं। हमारे मत में निर्दोष वेद से सदोष तर्क कट सकता है। अविद्यासिद्ध होने के कारण अद्वैत मत में शास्त्र से तर्क नहीं कट सकता है। यह महान् अन्तर है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्तरीति से परब्रह्म को वेदवेद्य तथा वेदों को परमप्रमाण मानने वाले विशिष्टाद्वैतियों के सभी अर्थ सिद्ध हो सकते हैं। सारांश यह है जीवस्वरूप का संसार में तिरोधान प्रबल शास्त्रों से प्रमाणित है, इसे तर्क नहीं काट सकता। सर्वज्ञ परब्रह्म का तिरोधान भ्रम एवं जगत् का भ्रान्तिसिद्धत्व इत्यादि अर्थ शास्त्रविरुद्ध तथा तर्कविरुद्ध हैं, इनको तर्क काट सकता है। अद्वैतमत और विशिष्टाद्वैतमत में समता [illegible] है ही नहीं।

विशिष्टाद्वैतसैद्धान्तिकार्थप्रतिष्ठापकप्रमाणवचनोदाहरणम्

विशिष्टा[illegible] सैद्धान्तिकार्थ स्थापक प्रमाणवचन

यथोक्तं भगवता द्वैपायनेन महाभारते "यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्" "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरस्सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" ॥ "कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः । एते वै निरयास्तात ! स्थानस्य परमात्मनः ॥ अव्यक्तादिविशेषान्तं परिणामर्द्धिसंयुतम् । क्रीडा हरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्" ॥ "कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरमिति । कृष्णस्य हि कृते इति कृष्णस्य शेषभूतं सर्वमित्यर्थः" ॥ भगवता पराशरेणाप्युक्तम् "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते । मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥ ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥ एवमेष महाशब्दो मैत्रेय ! भगवानिति । परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥ तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः" ॥ "एवंप्रकारममलं सत्यं व्यापकमक्षयम् । समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्" ॥ "कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः" । "क्रीडतो बालकस्येव चेष्टास्तस्य निशामय" इत्यादि । मनुनाऽपि "प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम्" इत्याद्युक्तम् । याज्ञवल्क्येनापि "क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता" इत्यादि । आपस्तम्बेनापि "पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य" इति । सर्वे प्राणिनः गुहाशयस्य परमात्मनः पूः—पुरं शरीरमित्यर्थः । प्राणिन इति जीवात्मकभूतसंघाताः ।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपर्युक्त अर्थों के विषय में महर्षियों के वचनों को प्रमाणरूप से उपस्थापित करते यह कहा कि भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास जी ने महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता में निम्नलिखित रूप में श्रीभगवान् की श्रीसूक्ति को ग्रथित किया है कि—

योमामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थात् श्रीभगवान ने कहा कि मनुष्यों में जो मनुष्य हमें इतरसजातीय न मानकर अच्छी तरह से समझता हो वह भक्त्युत्पत्ति के विरोधी सब पापों से छूट जाता है। हमें वह इस प्रकार समझता है कि श्रीभगवान् अज हैं अर्थात् नहीं जन्मने वाले हैं। इससे सिद्ध होता है श्रीभगवान् जडपदार्थ और बद्धचेतन से विलक्षण है क्योंकि जडपदार्थ विकार वाला द्रव्य है, अतएव वह पूर्वावस्था को छोड़ता हुआ उत्तरावस्था को प्राप्त होता रहता है, अतएव उसका नाश एवं उत्पत्ति होती रहती है उसके संसर्ग में पड़कर संसारिचेतन को भी जन्मना एवं मरना पड़ता है। संसारिचेतन का नूतन देहसम्बन्ध ही जन्म एवं देहवियोग ही मरण है। इस प्रकार जडपदार्थ एवं संसारिचेतन जन्म लेने वाले होते हैं। श्रीभगवान् कभी जन्मने वाले नहीं हैं अतएव वे इनसे विलक्षण हैं। श्रीभगवान् अज होते हुये अनादि हैं अर्थात् अनादिकाल से ही श्रीभगवान्

का जन्म नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् मुक्त जीवों से विलक्षण हैं क्योंकि मुक्त जीव पहले संसार में रहते समय जन्मते रहे हैं मोक्ष में पहुँचने के बाद ही उनका जन्म लेना बन्द होता है। श्रीभगवान् का तो कभी भी जन्म न हुआ, अवतार को जन्म मानना भ्रम है वह तो जन्म से अत्यन्त विलक्षण है। मुक्त जीवों का पहले संसार में रहते समय दोषों से सम्बन्ध था। श्रीभगवान् का कभी भी दोषसम्बन्ध नहीं। इससे श्रीभगवान् मुक्तपुरुषों से विलक्षण सिद्ध होते हैं। किंच श्रीभगवान् लोकमहेश्वर हैं, अर्थात् लोकेश्वरों के भी ईश्वर हैं। श्रीभगवान् सर्वविलक्षण हैं। उन्हें इतरसजातीय न समझना चाहिये। लोक में अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष भी दूसरों के सजातीय ही प्रतीत होते हैं। श्रीभगवान् को वैसा नहीं समझना चाहिये। लोक में राजा शासक होने के कारण मनुष्यों में श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु वह इतरमनुष्यों का सजातीय ही है क्योंकि वह भी एक मनुष्य ही है। वैसे ही देवों का अधिपति इन्द्र देवों से श्रेष्ठ होने पर भी देवों का सजातीय ही है। वैसे ही ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मा जी सब जीवों से श्रेष्ठ होने पर भी इतर-संसारियों के सजातीय ही हैं। इसी प्रकार अणिमा इत्यादि ऐश्वर्यों को प्राप्त हुये उत्तम साधक भी अन्यान्य जीवों के सजातीय ही हैं। परन्तु श्रीभगवान् सर्वविलक्षण हैं। वे कार्यकारण रूप में रहने वाले अचेतन द्रव्य तथा बद्ध मुक्तचेतन इत्यादि सभी पदार्थों से सब तरह से अत्यन्त विलक्षण हैं। श्रीभगवान् कहते हैं कि इस प्रकार हमको जो साधक समझता है। वह सर्व पापों से छूट जाता है। इस वचन से सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् चेतनाचेतन पदार्थों से सर्वथा विलक्षण हैं।

श्रीवेदव्यास जी ने श्रीभगवद्गीता में इन श्लोकों को भी ग्रथित किया है कि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात् पुरुष दो प्रकार के हैं (१) क्षरपुरुष (२) और अक्षरपुरुष। उत्पत्ति विनाशशील शरीर रूप में परिणत जडपदार्थ से मिलकर उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होने वाले जीव क्षरपुरुष कहलाते हैं। अचेतन संसर्ग से रहित एवं निर्विकार स्वस्वरूप में अवस्थित मुक्त जीव अक्षरपुरुष कहलाते हैं। एक उत्तम पुरुष ही इन क्षराक्षरपुरुषों से अर्थात् बद्ध और मुक्तपुरुषों से सर्वथा भिन्न है। वह उपनिषदों में परमात्मा कहा गया है। जडशरीरों के अन्दर रहने वाले जीवात्मा वस्तुतः एक आत्मा हैं। ये जीवात्माओं के अन्दर रहते हैं अतएव उनसे भिन्न हैं। उनके अन्दर रहने वाला कोई आत्मा नहीं है। वे ही जड और जीवों के अन्दर रहने वाले आत्मा हैं इसलिये वे परमात्मा कहे गये हैं। प्रमाणों से विदित होने वाले जडपदार्थ बद्धचेतन और मुक्तचेतन इन तीन प्रकार के पदार्थों में अन्तरात्मा के रूप में आवेश करके परमात्मा इन पदार्थों का धारण करते हैं। ये पदार्थ उनके द्वारा आविष्ट हैं वे आवेश करने वाले हैं। इससे वे इनसे

भिन्न सिद्ध होते हैं। ये पदार्थ उनके द्वारा धृत हैं, वे इनका धारण करने वाले हैं। इससे वे इनसे भिन्न सिद्ध होते हैं। जडपदार्थ विकार वाला है इसका सम्बन्ध पाकर बद्ध जीव भी ज्ञान में संकोच एवं विकास रूपी विकारों को प्राप्त होते हैं। मुक्तपुरुष विकाररहित होने पर भी परतन्त्र चेतन होने के कारण विकारों को प्राप्त करने के योग्य हैं। परमात्मा सदा निर्विकार हैं तथा सदा एक रूप रहते हैं। इस दृष्टि से भी वे इनसे भिन्न सिद्ध होते हैं। वे उत्तम पुरुष स्वामी होकर इन पर शासन करते हैं। इसलिये वे ईश्वर कहलाते हैं। ये पदार्थ उनके नियन्त्रण में रहने वाले हैं। इस दृष्टि से भी उत्तम पुरुष में जड और चेतन-पदार्थों से भेद सिद्ध होता है। इस प्रकार श्रीभगवान् ने पुरुषोत्तमतत्त्व को बद्ध और मुक्त चेतनों से भिन्न सिद्ध किया है। श्रीभगवान् ने पूर्वश्लोक में "वेदविदेव चाहम्" कहकर यह बतलाया कि हम ही वेद को जानने वाले हैं। आगे वेदप्रतिपाद्य प्रधानार्थ पुरुषोत्तमतत्त्व का वर्णन करते हुये श्रीभगवान् ने उसे सर्व-विलक्षण बतलाया है। इससे पुरुषोत्तमतत्त्व चेतनाचेतनों से सर्वथा विलक्षण प्रमाणित होता है।

श्रीवेदव्यास जी ने महाभारत में कहा है कि—

कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः।
एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः॥

अर्थात् श्रीभगवान् की भोगविभूति में काल का प्रभाव नहीं चलता है, वहाँ भगवान् काल को पचा देते हैं। परमात्मा श्रीभगवान् के उस दिव्य स्थान के समक्ष ये स्वर्ग इत्यादि लोक नरक के समान हैं। इन वचनों से श्रीवेदव्यास जी ने श्रीभगवान् की उस भोगविभूति को सिद्ध किया है जो अकालकाल्य एवं परमभोग्य है।

श्रीवेदव्यास जी ने महाभारत में लीलाविभूति के विषय में कहा है कि—

अव्यक्तादिविशेषान्तं परिणामर्द्धिसंयुतम्।
क्रीडा हरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्॥

अर्थात् अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से पंचमहाभूत तक के जितने पदार्थ हैं ये परिणाम और वृद्धि इत्यादि अवस्थाओं को प्राप्त होने वाले हैं। ये सब श्रीमन्नारायण भगवान् की लीलाविभूति हैं। इन्हें क्षर समझना चाहिये क्योंकि यह नश्वर हैं। इस वचन से लीलाविभूति सिद्ध होती है।

महाभारत में अन्यत्र वेदव्यास जी ने कहा है कि—

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।
कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्॥

अर्थात् इन लोकों की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण श्रीकृष्ण हैं। यह चराचर विश्व श्रीकृष्ण भगवान् के लिये है, उनके मुखोल्लास के लिये है। इस वचन से सिद्ध होता है कि इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और विनाश श्रीभगवान् के अधीन हैं तथा यह जगत् श्रीभगवान् की वस्तु है।

श्रीभगवान् पराशरब्रह्मर्षि ने विष्णु पुराण में कहा है कि—

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्द्यते ।
मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
एवमेष महाशब्दो मैत्रेय भगवानिति ।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः ॥
तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः ।
शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः ॥

अर्थात् हे मैत्रेय, श्रीभगवान् नित्यशुद्ध हैं। वे बड़ी भोगविभूति के स्वामी हैं इससे उनका "महाविभूति" ऐसा नाम पड़ा है। वे लीलाविभूति के अन्तर्गत सब पदार्थों के कारण हैं। वे परब्रह्म हैं। उनके नाम के रूप में भगवच्छब्द प्रयुक्त होता है। "भगवान्" इस शब्द में "भ ग व अन्" ऐसे चार वर्ण हैं। "अन्" को उलटने पर "न" बन जाता है। पहले तीन वर्णों से ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, और तेज ये ६ गुण बतलाये जाते हैं। "न" से दोषाभाव बतलाया जाता है। "भगवान्" इस शब्द से सम्पूर्ण ६ गुणों से युक्त एवं निर्दोष भगवत्तत्त्व बतलाया जाता है। हे मैत्रेय ? इस प्रकार महान् अर्थ को बतलाने वाला "भगवान्" यह महान् शब्द परमब्रह्म वासुदेव को बतलाता है, दूसरे किसी को भी नहीं बतलाता है। इस शब्द में योगशक्ति और रूढिशक्ति नामक दो शक्तियाँ हैं। इस शब्द में अवयव बनने वाले एक २ अक्षर से श्रेष्ठ गुणों का बतलाना यह योगशक्ति है। समुदायशक्ति से अर्थ को बतलाना यह रूढिशक्ति है। इसे ही परिभाषा कहते हैं। योगशक्ति एवं रूढिशक्ति से युक्त यह शब्द मुख्यरूप से श्रीवासुदेव भगवान् को बतलाता है। श्रीवासुदेव भगवान् इस शब्द का मुख्यार्थ है। यदि अन्य किसी अर्थ में प्रयुक्त हो तो वह गौण अर्थ है। श्रीपराशर के इन वचनों से श्रीभगवान् की दोनों विभूतियाँ तथा श्रीभगवान् का नित्यनिर्दोषत्व और कल्याणगुणाकरत्व सिद्ध होते हैं।

श्रीपराशरब्रह्मर्षि ने विष्णुपुराण में अन्यत्र कहा है कि—

एवंप्रकारममलं सत्यं व्यापकमक्षयम् ।
समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम् ॥

अर्थात् श्रीविष्णु भगवान् का स्वरूप ही परमप्राप्य वस्तु है। वह स्वरूप वैसे गुणों से युक्त है जैसे गुण मुक्तों में हुआ करते हैं। वह स्वरूप निर्मल एवं मलों को नष्ट करने वाला है। वह स्वरूप सत्य अर्थात् निर्विकार व्यापक एवं क्षयहीन है। वह स्वरूप सभी दोषों से शून्य है। इससे श्रीभगवान् का विशुद्ध स्वरूप सिद्ध होता है।

श्रीपराशरब्रह्मर्षि ने यह भी कहा है कि—

कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः ।

अर्थात् कला और मुहूर्त इत्यादि रूप में परिणत होने वाला काल श्रीभगवान् की भोगविभूति को परिणत करने में असमर्थ है। इससे भोगविभूति का अकालकाल्यत्व (काल के द्वारा परिणत न होना) प्रमाणित होता है।

श्रीपराशर जी ने कहा है कि—

क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।

अर्थात् श्रीभगवान् बालक की तरह खेल रहे हैं, उनकी लीला को देखो। इससे प्रमाणित होता है कि श्रीभगवान् इस लीलाविभूति में लीला करते रहते हैं।

श्रीमान् मनु महाराज ने मनुस्मृति में कहा है कि—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् ।

अर्थात् श्रीभगवान सब पर शासन करने वाले हैं तथा उनका स्वरूप अणुओं से भी अणु है अर्थात् परमसूक्ष्म है। इस प्रकार मनु ने श्रीभगवान् की कई विशेषताओं का वर्णन किया है।

याज्ञवल्क्य महर्षि ने कहा है कि—

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता ।

अर्थात् यह मानी हुई बात है कि ईश्वरज्ञान से जीवात्मा को परमशुद्धि प्राप्त होती है। इस वचन से सिद्ध होता है कि ईश्वरज्ञान से ही जीव शुद्ध होगा, निर्गुणब्रह्मज्ञान से नहीं।

आपस्तम्ब महर्षि ने कहा है कि—

पूः प्राणिनः सर्व एव गुहाशयस्य ।

अर्थात् सभी प्राणी हृदयगुहा में विराजमान श्रीभगवान् के वासस्थान हैं। यहाँ प्राणिशब्द से वे शरीर विवक्षित हैं जिनके अन्दर जीव रहते हैं। इस वचन से यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् सबके अन्तर्यामी हैं। इस प्रकार श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने महर्षियों के वचनों का उद्धरण देकर अपने उन सैद्धान्तिक अर्थों को प्रामाणिक सिद्ध किया जिनका अबतक आपने वर्णन किया है।

अद्वैतमते तिरोधानासंभवस्य विशिष्टाद्वैतमते तत्संभवस्य च वर्णनम्

अद्वैत में ब्रह्मतिरोधान के असंभव और विशिष्टाद्वैत में जीवात्मतिरोधान के संभव का प्रतिपादन

ननु च किमनेनाडम्बरेण ? चोद्यं तु न परिहृतम् । उच्यते, एवमभ्युपगच्छताम-स्माकमात्मधर्मभूतस्य चैतन्यस्य स्वाभाविकस्यापि कर्मणा पारमार्थिकं संकोचं विकासं

च ब्रुवतां सर्वमिदं परिहृतम् । भवतस्तु प्रकाश एव स्वरूपमिति प्रकाशो न धर्मभूतः, तस्य संकोचो विकासो वा नाऽभ्युपगम्यते । प्रकाशप्रसरानुत्पत्तिमेव तिरोधानभूताः कर्मादयः कुर्वन्ति । अविद्या चेत् तिरोधानं, तिरोधानभूतया तया स्वरूपभूतप्रकाशनाशः पूर्वमेवोक्तः । अस्माकं त्वविद्यारूपेण कर्मणा स्वरूपनित्यधर्मभूतज्ञानप्रकाशः संकुचितः । तेन देवादिस्वरूपात्माभिमानो भवतीति विशेषः ।

श्रीरामानुज स्वामी जी ने महर्षियों के वचनों के आधार पर अपने सिद्धान्त का जब विस्तार से प्रतिपादन किया तब सब बातें सुनकर अद्वैती ने यह प्रश्न किया कि आपने बड़े आडम्बर से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, इससे क्या होगा ? हमारे आक्षेप का तो आपने परिहार किया ही नहीं । अद्वैती के इस प्रश्न का उल्लेख करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि हमने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करके आपके प्रश्न का उत्तर दे दिया है । आपने समझा नहीं । आपका और हमारा विवाद इस बात पर छिड़ा था कि आपने प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का अविद्या से तिरोधान माना है । इस पर हमारी ओर से यह दोष दिया गया है कि प्रकाश को नष्ट करना ही तिरोधान होता है । ब्रह्म जब निर्विशेष प्रकाशस्वरूप है, तब उसका तिरोधान होने पर उस प्रकाशरूपी ब्रह्म को नष्ट होना पड़ेगा ब्रह्म का नित्यत्व नहीं रहेगा । हमारे इस खण्डन पर आपने कहा कि यह दोष तुम्हारे मत में भी आता है । तुम्हारे मत में भी जीवात्मा ज्ञानस्वरूप होने से स्वयंप्रकाश है । संसार में उस जीवात्मस्वरूप का कर्म से तिरोधान आपने भी माना है । कर्म से तिरोधान होने पर ही स्वस्वरूप को यथार्थ रूप से नहीं समझने से देहात्मभ्रम और स्वतन्त्रात्मभ्रम इत्यादि होते हैं । यहाँ पर आपको अर्थात् विशिष्टाद्वैती को संसार में कर्म से प्रकाशस्वरूप जीवात्मस्वरूप को तिरोधान मानना ही पड़ता है । वहाँ पर यह दोष आता है कि तिरोधान होने पर जीवात्मस्वरूप को नष्ट होना पड़ेगा क्योंकि प्रकाश का नाश ही तिरोधान है जीव प्रकाशस्वरूप है । आप अर्थात् विशिष्टाद्वैती इस दोष का जिस प्रकार परिहार करेंगे, उसी प्रकार हम भी अर्थात् अद्वैती भी अपने मत पर आये हुये दोष का परिहार करेंगे । आपको अर्थात् विशिष्टाद्वैती को यही कहकर परिहार करना होगा कि शास्त्रों से सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है तथा संसार में उसका कर्म से तिरोधान होता है । शास्त्रसिद्ध इस अर्थ को इस तर्क से—कि तिरोधान होने पर प्रकाशात्मक जीवात्मस्वरूप को नष्ट होना पड़ेगा, काटा नहीं जा सकता, क्योंकि वचन से विरुद्ध होने पर तर्क ही कट जाता है न कि तर्क से शास्त्र । इसलिये तर्कविरुद्ध होने पर भी उस शास्त्रसिद्ध अर्थ को मानना ही पडेगा । इसी प्रकार ही हम अद्वैती भी अपने मत पर आये हुये दोष का यह परिहार करेंगे कि यह अर्थ शास्त्रसिद्ध है कि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप एवं नित्य है, उसका अविद्या से तिरोधान होता है । इस शास्त्रसिद्ध अर्थ को इस तर्क से—कि तिरोधान होने पर प्रकाशात्मक ब्रह्मस्वरूप को नष्ट होना पड़ेगा—काटा नहीं जा सकता है क्योंकि तर्क से शास्त्र प्रबल है, विरोध होने पर शास्त्र से तर्क ही कटेगा, न कि तर्क से शास्त्र । इसलिये शास्त्रसिद्ध उपर्युक्त ब्रह्मतिरोधान

को मानना होगा, यह अद्वैतियों का मन्तव्य है। अद्वैतियों के इस मन्तव्य का खण्डन करने के लिये श्रीरामानुज स्वामी जी ने महर्षियों के वचनों के आधार पर विस्तार से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्रतिपादन करने वाले श्रीरामानुज स्वामी जी का यह भाव है कि वचन से विरोध होने पर तर्क कट जाता है। इस युक्ति को हम विशिष्टाद्वैती प्रस्तुत कर सकते हैं अद्वैती प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसमें दो कारण हैं (१) अद्वैतियों के मत में शास्त्रवचन और तर्क ये दोनों अविद्या से कल्पित हैं इसलिये शास्त्रवचन प्रबल नहीं बनता, अतएव विरुद्ध तर्क को नहीं काट सकता। विशिष्टाद्वैती के मत में शास्त्रवचन अविद्या से कल्पित नहीं किन्तु वह सत्य है उसका प्रामाण्य भी सत्य है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा अज्ञेय अर्थ को बतलाने में शास्त्र का अधिकार है तर्क का नहीं। अतएव अधिकृत शास्त्रवचन प्रबल होकर अनधिकृत तर्क को काट देता है। (२) अद्वैतियों का यह सिद्धान्त—कि स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अविद्या से तिरोहित होता है—न केवल तर्क से विरोध रखता है किन्तु शास्त्र से भी विरोध रखता है। अनेक शास्त्र ब्रह्म को सर्वज्ञ एवं निर्दोष बतलाते हैं। ये शास्त्रवचन ब्रह्म में अविद्यादोष एवं भ्रम इत्यादि दोषों का खण्डन करते हैं। शास्त्रविरुद्ध अर्थ को तर्क काट सकता है। अद्वैत सिद्धान्त शास्त्रविरुद्ध होने से तर्क से काटा जा सकता है। विशिष्टाद्वैती का यह सिद्धान्त अनेक शास्त्रवचनों से प्रमाणित है कि ब्रह्म में अविद्या और भ्रम इत्यादि दोष न होने पर भी जीवों में ये दोष हुआ करते हैं जीवों का ज्ञान कर्म से संकुचित हो जाता है। अतएव जीव स्वस्वरूप को ठीक न समझ कर अज्ञान एवं विविधभ्रमों में फँस जाते हैं। ये अर्थ शास्त्रों से प्रमाणित हैं, कोई भी शास्त्रवचन इन अर्थों का खण्डन नहीं करता। अतएव इन अर्थों को बतलाने वाले शास्त्र प्रबल होकर विरुद्ध तर्क को काट सकते हैं। इस प्रकार अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत मत में महान् अन्तर है। इस तत्त्व को बतलाने के लिये श्रीरामानुज स्वामी जी ने शास्त्रवचनों से अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस मर्म को न समझ कर अद्वैती ने पूछा कि हमारे आक्षेप का आपने परिहार नहीं किया। इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि शास्त्रों के आधार पर उपर्युक्त सिद्धान्तों को मानने वाले हम लोगों ने यह माना है कि जीवात्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है। उसमें एक ज्ञान धर्म बनकर रहता है जिसे धर्मभूतज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार दीप और प्रभा ये दोनों तेजोद्रव्य हैं, इनमें दीप धर्मी है, प्रभा उसका धर्म है, उसी प्रकार आत्मा और उसका ज्ञान ये दोनों ज्ञान द्रव्य हैं। इनमें आत्मा धर्मी है, ज्ञान उसका धर्म है। प्रभा जिस प्रकार संकोच और विकास को प्राप्त करती है उसी प्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म बनने वाला ज्ञान भी कर्म से संकोच एवं विकास को प्राप्त होता रहता है। हमारे मत में आत्मा अनेक विशेषताओं से युक्त है निर्विशेष नहीं। आत्मा में अहन्त्व अणुत्व नित्यत्व देहातिरिक्तत्व प्रकृतिविलक्षणत्व और भगवद्दासत्व इत्यादि अनेक धर्म हैं। इनमें अहन्त्व धर्म को लेकर आत्मा सदा स्वयं प्रकाशता रहता है। अन्य धर्म आत्मस्वरूप के द्वारा प्रकाशित होने वाले नहीं, वे धर्मभूतज्ञान के द्वारा प्रकाशित होने वाले हैं। धर्मभूतज्ञान कर्म से संकुचित होकर उन गुण

स्वभावों को जब प्रकाशित नहीं करता तब उतने रूप में आत्मा का तिरोधान हो जाता है। यह हमारा मत है। आप लोगों के अर्थात् अद्वैतियों के मत में आत्मा निर्विशेष निर्धर्मक एवं निर्गुण है। उसमें कोई गुण धर्म नहीं रहता। प्रकाश ही आत्मा का स्वरूप है। इस बात को आप लोग नहीं मानते कि प्रकाश आत्मा का धर्म है, उसका संकोच और विकास होता है। तिरोधान करने वाले कर्म आदि यही करते हैं कि प्रकाश को फैलने नहीं देते। इन अर्थों को आप लोग नहीं मानते। आप लोगों के मत में प्रकाश आत्मा का स्वरूप है। आप लोग यह भी मानते हैं कि अविद्या से आत्मा तिरोहित होता है, तिरोधान का अर्थ है प्रकाश को नष्ट करना। अविद्या से आत्मा तिरोहित होने पर आत्मस्वरूप को नष्ट होना पड़ेगा। यह दोष अद्वैतसिद्धान्त में लग ही जाता है। हमारे मत में आत्मा सधर्मक है, आत्मा का धर्मिस्वरूप सदा अहन्त्व धर्म को लेकर प्रकाशता ही रहता है। यह प्रकाश कभी बन्द नहीं होता। आत्मा में अणुत्व इत्यादि अनेक धर्म हैं जो धर्मभूतज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं। जब धर्मभूतज्ञान कर्म से संकुचित हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है, उस समय अणुत्व इत्यादि धर्म प्रकाश में नहीं आते। आत्मा उन धर्मों को—जो देह आदि से आत्मा को भिन्न करते हैं—न समझ कर अज्ञान में फँस जाता है, अपने को देवादिशरीररूप मान लेता है। इस प्रकार विविधभ्रमों में फँस जाता है। हमारे मत में आत्मा अहन्त्व धर्म को सदा प्रकाशित करता रहता है। इसलिये अन्यान्य धर्मों का तिरोधान होने पर भी आत्मा के नष्ट होने का प्रसंग नहीं उठता। अद्वैतमत में आत्मा केवल प्रकाशस्वरूप होने के कारण तिरोधान होने पर आत्मनाश का प्रसंग आ ही जाता है। यह इन दोनों मतों में महान् अन्तर है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने मर्म को खोला है।

जीवधर्मभूतज्ञानस्य संकोचविकासवत्त्वे प्रमाणवचनोदाहरणम्

जीवात्मा के धर्मभूतज्ञान के संकोच एवं विकास में प्रमाण

यथोक्तम्—"अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप! सर्वगा॥ संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्। तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता॥ सर्वभूतेषु भूपाल! तारतम्येन वर्त्तते"॥ इति। क्षेत्रज्ञानां स्वधर्मभूतस्य ज्ञानस्य कर्मसंज्ञयाऽविद्यया संकोचं विकासं च दर्शयति।

उपर्युक्त अर्थ को निम्नलिखित वचनों से श्रीरामानुज स्वामी जी ने सिद्ध किया है वे वचन ये हैं कि—

अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्।

तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते ॥

अर्थात् हे राजन, कर्म नाम से प्रसिद्ध अविद्या तीसरी शक्ति मानी जाती है। जिससे सब शरीरों में रहने वाला जीवात्मा—जो श्रीभगवान् का विशेषण होने से शक्ति कहलाता है—आवृत होकर लगातार होने वाले सर्वविध संसारतापों को भोगता रहता है। हे राजन्, कर्मनामक अविद्याशक्ति से तिरोहित होने के कारण ही जीवात्मा ज्ञान को लेकर विविध शरीरों में तारतम्य से रहते हैं। किसी शरीर में कोई जीव अधिक ज्ञान वाला होता है, दूसरे शरीर में दूसरा जीव अल्पज्ञान वाला होता है। जिस जीव का ज्ञान कर्म से संकुचित होता है, वह जीव अल्पज्ञ हो जाता है। जिस जीव का ज्ञान कर्म से विकसित होता है वह बहुज्ञ हो जाता है। इन वचनों से सिद्ध होता है कि जीव का धर्मभूतज्ञान कर्म से संकुचित एवं विकसित होता है।

अविद्यास्वरूपानुपपत्तिवर्णनम्

अद्वैतमत में अविद्या के स्वरूप की अनुपपत्ति का वर्णन

अपि च आच्छादिकाऽविद्या श्रुतिभिश्चैक्योपदेशबलाच्च ब्रह्मस्वरूपतिरोधानहेतुदोषरूपाऽऽश्रीयते, तस्याश्च मिथ्यारूपत्वेन प्रपञ्चवत् स्वदर्शनमूलदोषापेक्षत्वात् न सा मिथ्यादर्शनमूलदोषः स्यादिति ब्रह्मैव मिथ्यादर्शनमूलं स्यात्। तस्याश्चानादित्वेऽपि मिथ्यारूपत्वादेव ब्रह्मदृश्यत्वेनवानादित्वात्तद्दर्शनमूलपरमार्थदोषानभ्युपगमाच्च ब्रह्मैव तद्दर्शनमूलं स्यात्, तस्य नित्यत्वादनिर्मोक्ष एव।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैत सिद्धान्त एवं विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में अन्तर बतलाकर अविद्या के विषय में स्वरूपानुपपत्ति दोष को सिद्ध करते हुये यह कहा है कि अद्वैतियों ने अविद्या के विषय में कहा है कि अविद्या श्रुतियों से सिद्ध होती है तथा ऐक्योपदेश से भी सिद्ध होती है, विना अविद्या लगे ब्रह्म जीव नहीं बन सकता। ब्रह्म जीव बना है इससे भी अविद्या प्रमाणित होती है। यह अविद्या ब्रह्मस्वरूप का आच्छादन करने वाला तथा विविध भ्रमों को उत्पन्न करने वाला महान् दोष है। यह दोष भी मिथ्या है क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। अद्वैतियों का यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है क्योंकि अविद्या मूल दोष नहीं बन सकती। दूसरा ही मूल दोष होना चाहिये। अद्वैतमत के अनुसार अविद्या मिथ्या है। मिथ्यापदार्थ की सत्ता तब तक होती है जब तक उसका भान बना रहता है। ब्रह्म अविद्या का दर्शन करे तब ही अविद्या सिद्ध हो सकती है। मिथ्याभूत अविद्या का दर्शन ब्रह्म को तभी होगा जब ब्रह्म दोष से आक्रान्त हो। इससे सिद्ध होता है कि अविद्यादर्शन का कारण बनने वाला एक दोष आवश्यक

है। ऐसी स्थिति में अविद्या मूल दोष नहीं बन सकती ब्रह्म में दूसरा भी कोई दोष नहीं है जिससे आक्रान्त होकर ब्रह्म अविद्या का दर्शन करे। यही कहना होगा कि ब्रह्म स्वयं ही अविद्या का दर्शन करता है। इससे यही सिद्ध होगा कि मिथ्यादर्शन का मूल कारण ब्रह्म ही है, ब्रह्म जब तक रहेगा, तब तक मिथ्यादर्शन होता रहेगा, इससे छुटकारा नहीं हो सकता। यहाँ पर अद्वैती यह कहते हैं कि अविद्या अनादि है इसके लिये दूसरे दोष की आवश्यकता नहीं। अद्वैती का यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि अद्वैतियों ने यह माना है कि जीवभेद अनादि है। अनादिकाल से ब्रह्म जीवभेद का दर्शन करता रहता है। इसलिये जीवभेद अनादि माना जाता है। अनादि जीवभेद का दर्शन जो ब्रह्म को हो रहा है उसका कारण अविद्या दोष है। यह अद्वैतियों का मत है। इससे सिद्ध होता है कि किसी अनादि मिथ्यापदार्थ के दर्शन के लिये दोष की आवश्यकता है। अनादि मिथ्यापदार्थ अविद्या का दर्शन ब्रह्म को होता रहता है इसका मूल कारण दोष क्या है। ब्रह्म को छोड़कर दूसरा कोई सत्य तो है नहीं। इसलिये मानना होगा कि ब्रह्म ही अविद्या-दर्शन का मूल कारण है, दूसरा कोई दोष नहीं। ऐसी स्थिति में यह दोष आ जाता है कि ब्रह्म नित्य है, सदा अविद्या एवं मिथ्या प्रपञ्च का दर्शन करता रहेगा कभी इससे छुटकारा नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति में मोक्ष सिद्ध होगा ही नहीं। मिथ्यादर्शन से छुटकारा पाना ही तो मोक्ष है। इस प्रकार दोष देकर श्रीरामानुज स्वामी जी ने अविद्यास्वरूप का खण्डन किया तथा यह भी बतलाया कि अविद्या मूल दोष नहीं हो सकती।

अद्वैतिसम्मतस्यैकजीववादस्य खण्डनम्

अद्वैतियों द्वारा वर्णित एकजीववाद का निराकरण

अतएवेदमपि निरस्तम्—एकमेव शरीरं जीववत्, निर्जीवानीतराणि शरीराणि, स्वप्नदृष्टनानाविधशरीराणां यथा निर्जीवत्वं तत्र स्वप्ने द्रष्टुः शरीरमेकमेव जीववत्, तस्य स्वप्नवेलायां दृश्यभूतनानाविधानन्तशरीराणां निर्जीवत्वमेव अनेनैकेनैव अन्येषां जीवानां शरीराणां च परिकल्पितत्वात् जीवा मिथ्याभूता इति, ब्रह्मणा स्वस्वरूपव्यतिरिक्तस्य जीवभावस्य सर्वशरीराणां च कल्पितत्वादेकस्मिन्नपि शरीरे शरीरवज्जीवसद्भावस्य च मिथ्यारूपत्वात् सर्वाणि शरीराणि मिथ्यारूपाणि, तत्र जीवभावश्च मिथ्यारूप इत्येकस्य शरीरस्य तत्र जीवसद्भावस्य च न कश्चिद्विशेषः। अस्माकं तु स्वप्ने द्रष्टुः शरीरस्य तस्मिन्नात्मसद्भावस्य च प्रबोधवेलायामबाधितत्वात् अन्येषां शरीराणां तद्गतजीवानां च बाधितत्वात् ते सर्वे मिथ्याभूताः, स्वशरीरमेकं तस्मिन् जीवभावश्च परमार्थ इति विशेषः।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अद्वैतियों के एकजीववाद का खण्डन किया है। अद्वैतियों ने एकजीववाद को इस प्रकार सिद्ध किया है कि संसार में अनन्त शरीर दिखाई देते हैं, इनमें किसी एक शरीर में ब्रह्म जीव बनकर संसारस्वप्न को देख रहा है उसको इस संसारस्वप्न में अनेक शरीर दिखाई देते हैं, उन शरीरों में अवस्थित होकर काम करते हुये अनेक जीव प्रतीत होते हैं। ब्रह्म को इस संसारस्वप्न में दिखाई देने वाले अनेक शरीर मिथ्या हैं उनमें जो जीव प्रतीत होते हैं वे भी मिथ्या हैं इसलिये वे सभी शरीर वास्तव में निर्जीव हैं। जिस शरीर में ब्रह्म जीवरूप में अवस्थित होकर इस स्वप्न को देखता है, वह एक शरीर ही जीववाला है। यही एकजीववाद है। इसका भाव लौकिक दृष्टान्त से खुल जाता है। वह दृष्टान्त यह है कि मान लिया जाय कि कोई मनुष्य स्वप्न में अनेक देहधारी जीवों को विभिन्न कार्य करते हुये देखता है। यहाँ पर स्वप्न में दीखने वाले अनेक शरीर वास्तव में निर्जीव हैं, उनमें जीव केवल प्रतीत होते हैं, वास्तव में हैं नहीं। जिस शरीर में वह मनुष्य रहकर स्वप्न देखता है केवल वही शरीर जीववाला है। उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। जिस शरीर में ब्रह्म जीव बनकर स्वप्न देखता है, वह देह जीववाला है। उस ब्रह्म को इस संसारस्वप्न में जितने शरीर दिखाई देते हैं वे सब जीवयुक्त प्रतीत होने पर भी वास्तव में निर्जीव हैं। यही अद्वैतियों का एकजीववाद है। श्रीरामानुज स्वामी जी ने इस एकजीववाद का निराकरण करते हुये कहा है कि अद्वैतियों के मत में यह अर्थ सुप्रसिद्ध है कि एक ब्रह्म ही सत्य है, और सब मिथ्या हैं, अविद्या से कल्पित हैं। तत्त्वज्ञान से ब्रह्मव्यतिरिक्त सबका बाध उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जागते ही स्वप्नदृष्ट प्रपञ्च का बाध हो जाता है, एक ब्रह्म ही अबाधित रहता है। इस अद्वैतसिद्धान्त से इस एकजीववाद का मेल नहीं होता क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार वह एक शरीर भी मिथ्या ही है! जिसमें जीवभाव से ब्रह्म की स्थिति मानी गई है, उसमें ब्रह्म का जीवभाव भी मिथ्या ही है क्योंकि वह भी ब्रह्मव्यतिरिक्त ठहरता है। वह शरीर एवं उसमें ब्रह्म का जीवभाव ये दोनों भी तत्त्वज्ञान से मोक्षरूपी जागरण में बाधित होने वाले हैं इसलिये मानना पड़ता है कि वास्तव में न रहने पर भी वह शरीर तथा उसमें ब्रह्म का जीवभाव भ्रम से ब्रह्म को दिखाई देता है, वास्तव में वे दोनों हैं ही नहीं। इससे सिद्ध होता है कि भ्रम से दिखाई देने वाला वह शरीर भी निर्जीव ही है। जिस प्रकार संसारस्वप्न में ब्रह्म को दिखाई देने वाले अन्यान्य शरीर वास्तव में निर्जीव हैं, उसी प्रकार वह शरीर भी वास्तव में निर्जीव ही है जिसमें मिथ्याभूत जीवभाव को प्राप्त होकर ब्रह्म संसारस्वप्न देखता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है। कि वह शरीर—जिसमें ब्रह्म मिथ्याभूत जीवभाव को प्राप्त होकर संसारस्वप्न देखता है—तथा संसारस्वप्न में दिखाई देने वाले अन्यान्य शरीर भी निर्जीव ही हैं। यह अन्तर सर्वथा अयुक्त है कि एक शरीर सजीव हो अन्य शरीर निर्जीव हों। इससे फलित होता है कि अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार भले ही निर्जीववाद सिद्ध हो, एकजीववाद सिद्ध नहीं हो सकता। दृष्टान्त में यह घटता है कि जिस शरीर में अवस्थित मनुष्य स्वप्न देखता है वह शरीर जीववाला है क्योंकि जागने पर भी यह अर्थ बाधित नहीं होता है। जागनेवाला

समझता है कि मैं इस शरीर में हूँ, यह शरीर सजीव है। केवल स्वप्न में दिखाई देने वाले शरीर एवं उनमें प्रतीत होने वाले जीव जागरणदशा में बाधित होते हैं क्योंकि जागनेवाला समझता है कि स्वप्न में दिखाई देने वाले शरीर एवं उनमें प्रतीत होने वाले जीव वास्तव में थे ही नहीं, केवल भ्रम से दिखाई देते थे। इस प्रकार जागरणदशा में बाधित होने के कारण स्वप्नदृष्ट शरीर निर्जीव माने जा सकते हैं, अबाधित होने के कारण केवल वह शरीर—जिसमें रहकर मनुष्य स्वप्न देखता है—सजीव माना जा सकता है। इस प्रकार यह बात दृष्टान्त में घट जाती है। प्रकृत में यह बात नहीं घटती है। प्रकृत में ब्रह्मव्यतिरिक्त सब तत्त्वज्ञान से बाधित हो जाते हैं। इसलिये वह शरीर—जिसमें ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त होकर स्वप्न देखता है—तथा जीवभाव भी बाधित होते हैं, एवं अन्यान्य शरीर—जो संसारस्वप्न में ब्रह्म को दिखाई देते हैं—एवं उनमें प्रतीत होने वाले जीव भी बाधित होते हैं। ऐसी स्थिति में सभी शरीर निर्जीव ही सिद्ध होते हैं। एवं च एकजीववाद अद्वैतसिद्धान्त के अनुसार ही कट जाता है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रसंग-संगति से एकजीववाद का खण्डन किया है।

निवर्तकानुपपत्तेर्निवृत्त्यनुपपत्तेश्च वर्णनम्

निवर्तकानुपपत्ति एवं निवृत्त्यनुपपत्ति का वर्णन

अपि च केन वाऽविद्यानिवृत्तिः, सा च कीदृशीति विवेचनीयम्। ऐक्यज्ञानं निवर्त्तकम्, निवृत्तिश्च—अनिर्वचनीयप्रत्यनीकाकारेति चेत्—अनिर्वचनीयप्रत्यनीकं निर्वचनीयम् तच्च सद्वा असद्वा द्विरूपं वा, कल्पान्तरं न विद्यते। ब्रह्मव्यतिरेकेणैतदभ्युपगमे पुनरप्यविद्या न निवृत्ता स्यात्। ब्रह्मैव चेन्निवृत्तिः, तत्प्रागप्यविशिष्टमिति वेदान्तज्ञानात् पूर्वमेव निवृत्तिः स्यात्, ऐक्यज्ञानं निवर्तकं, तदभावात् संसार इति भवद्दर्शनं विहन्यते। किंच निवर्तकज्ञानस्याप्यविद्यारूपत्वात्तन्निवर्तनं केनेति वक्तव्यम्, निवर्तकज्ञानं स्वेतरसमस्तभेदं निवर्त्य क्षणिकत्वादेव स्वयमेव विनश्यति, दावानलविषनाशनविषान्तरवदितिचेन्न, निवर्तकज्ञानस्य ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन तत्स्वरूपतदुत्पत्तिविनाशानां मिथ्यारूपत्वात् तद्विनाश-रूपाऽविद्या तिष्ठत्येवेति तद्विनाशदर्शनस्य निवर्त्तकं वक्तव्यमेव। दावाग्न्यादीनामपि पूर्वावस्थाविरोधिपरिणामपरम्पराऽवर्ज्जनीयैव।

अद्वैतियों ने व्यावहारिकदशा में अविद्या की स्थिति एवं पारमार्थिकदशा में अविद्या की निवृत्ति मानी है। श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रसंगसंगति से एकजीववाद का खण्डन करके अविद्यानिवृत्ति का खण्डन करते हुये यह प्रश्न रक्खा है कि किससे अविद्या की निवृत्ति होती है? तथा अविद्यानिवृत्ति किस

प्रकार की है ? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतियों ने कहा है कि जीव और ब्रह्म में ऐक्य का ज्ञान अविद्या को हटा देता है, उपर्युक्त ज्ञान से अविद्यानिवृत्ति होती है। अनिर्वचनीय का विरुद्ध होना यही अविद्यानिवृत्ति का आकार है। अविद्या सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीय मानी जाती है। अनिर्वचनीय अविद्या की निवृत्ति अनिर्वचनीय नहीं हो सकती। यदि यह निवृत्ति अनिर्वचनीय होती तो सब अनिर्वचनीयों की निवृत्ति कैसे बन सकती है जब स्वयं अनिर्वचनीय है। इसलिये मानना पड़ता है कि अविद्यानिवृत्ति अनिर्वचनीय के विरुद्ध आकार रखती है। यह अद्वैतियों का कथन है। इस पर विकल्प करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने पूछा कि यदि अविद्यानिवृत्ति निर्वचनीय है तो कहना होगा कि क्या वह सत् है या असत् है अथवा सदसत् है। भाव यह है कि वह अविद्यानिवृत्ति अबाधित है या बाधित है, अथवा कुछ अंश में बाधित और कुछ अंश में अबाधित है। निर्वचनीय होने पर अविद्यानिवृत्ति को इनमें किसी रूप में मानना चाहिये। इससे अतिरिक्त रूप तो है ही नहीं। इस प्रकार प्रश्न करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने आगे खण्डन करते हुये कहा कि यदि अविद्यानिवृत्ति सत् अर्थात् अबाधित होती, साथ ही ब्रह्मव्यतिरिक्त होती तो अद्वैत का भंग होगा क्योंकि ब्रह्म और अविद्यानिवृत्ति ऐसे दो अबाधित पदार्थ मानने पड़ेंगे, किंच, आपके अर्थात् अद्वैती के मत में यह माना जाता है कि यदि ब्रह्मव्यतिरिक्त कोई पदार्थ रहे तो अविद्या भी बनी रहेगी, ऐसी स्थिति में ब्रह्मव्यतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति जब रहेगी, तब अविद्या को भी बने रहना होगा, अविद्या के बने रहते अविद्यानिवृत्ति कैसे हो सकती है। इस प्रकार ब्रह्मव्यतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति पक्ष में अविद्यानिवृत्ति होना असंभव है। यदि यह माना जाय कि अविद्यानिवृत्ति अबाधित सत् है साथ ही वह ब्रह्मस्वरूप है ब्रह्म-व्यतिरिक्त नहीं। इस पक्ष में यह दोष होता है कि ब्रह्म वेदान्तज्ञान से पहले से ही विद्यमान है। इसलिये मानना पड़ेगा कि अविद्यानिवृत्ति भी वेदान्तज्ञान के पहले से है। यदि अविद्यानिवृत्ति ब्रह्मरूप होने के कारण प्रारम्भ से ही विद्यमान हो तो ऐक्यज्ञान से उसे उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं, ऐसी स्थिति में अद्वैतियों का यह सिद्धान्त—कि ऐक्यज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐक्यज्ञान न होने के कारण संसार बना रहता है—कट ही जायेगा। अविद्यानिवृत्ति को सत् अर्थात् अबाधित मानने पर उपर्युक्त दोष लगते हैं। यदि अविद्यानिवृत्ति असत् अर्थात् बाधित होगी तो अविद्या का सद्भाव मानना होगा। यदि अविद्यानिवृत्ति को सदसत् अर्थात् कुछ अंश में बाधित और कुछ अंश में अबाधित माना जाय तो अबाधित अंश को लेकर अद्वैतहानि होगी, बाधित अंश को लेकर अविद्या का सद्भाव प्रसक्त होगा, क्योंकि अविद्या-निवृत्ति बाधित होने पर अविद्या का सद्भाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने अविद्या-निवृत्ति का खण्डन किया है।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने प्रकारान्तर से निवर्तकज्ञान का खण्डन करते हुये यह कहा कि अद्वैती यह मानते हैं कि ऐक्यज्ञान अविद्या का निवर्तक है, यह ऐक्यज्ञान वेदान्तश्रवण से उत्पन्न होता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि निवर्तकज्ञान उत्पाद्यवस्तु है, अतएव ब्रह्मव्यतिरिक्त है अतएव अद्वैतियों को

मानना पड़ता है कि निवर्तकज्ञान भी अविद्या का कार्य है, जब तक निवर्तकज्ञान बना रहेगा, तब तक अविद्या भी बनी रहेगी। यदि निवर्तकज्ञान भी निवृत्त हो, तभी पूर्णरूप से अविद्या की निवृत्ति होगी। निवर्तकज्ञान की निवृत्ति किससे होती है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसके उत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि निवर्तकज्ञान स्वव्यतिरिक्त सम्पूर्ण भेदों को निवृत्त कराकर स्वयं निवृत्त हो जाता है क्योंकि सभी ज्ञान क्षणिक होने के कारण निवर्तकज्ञान भी क्षणिक है, क्षणिक होने के कारण अन्तर क्षण में स्वयं नष्ट हो जाता है, इसके लिये दूसरे किसी कारण को ढूँढने की आवश्यकता नहीं। कई पदार्थ स्वयं नष्ट होते हुये देखे गये हैं, वैसे ही निवर्तकज्ञान भी स्वयं नष्ट हो जायेगा। उदाहरण—वन में लगी हुई अग्नि सबको जलाकर अन्त में स्वयं नष्ट हो जाती है, लोक में विष को नष्ट करने के लिये विष का प्रयोग किया जाता है। वहाँ उत्तर विष पूर्वविष को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में सम्पूर्ण भेदों को निवृत्त करने वाला ऐक्यज्ञान सबको निवृत्त करके स्वयं निवृत्त होता है। यह अद्वैतियों का उत्तर है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह दोष दिया कि निवर्तकज्ञान उत्पाद्यवस्तु होने से ब्रह्मव्यतिरिक्त है। ब्रह्मव्यतिरिक्त होने से ऐक्यज्ञान का स्वरूप ही मिथ्या है। इसकी उत्पत्ति स्थिति और विनाश कल्पित हैं वास्तविक नहीं। निवर्तकज्ञान स्वयं निवृत्त होने पर मानना पड़ेगा कि उस समय निवर्तकज्ञान का विनाश है। यह विनाश अविद्याकल्पित पदार्थ है। मानना पड़ेगा कि जब तक यह विनाश है तब तक अविद्या भी बनी रहती है। मिथ्यापदार्थ तब तक ही सत्ता रखता है जब तक उसका ज्ञान होता रहे। इसलिये मानना पड़ता है कि जब तक विनाश है तब तक वह ब्रह्म का दृष्टिगोचर होकर रहता है। मिथ्यापदार्थ विनाश का दर्शन यदि ब्रह्म को होता है तो कहना पड़ेगा कि ब्रह्म को भ्रम बना रहता है। उस भ्रम की निवृत्ति किससे हो ? अद्वैतियों के पास क्या उत्तर है ? किंच यहाँ दावानल और विषनाशक विष का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह भी समीचीन नहीं क्योंकि दावानल के विनाश का यही अर्थ है कि अग्निद्रव्य अग्नित्वावस्था को छोड़कर विरोधी दूसरी अवस्था को प्राप्त हो गया है, विष नाश का भी ऐसा ही अर्थ है। उसी प्रकार अविद्यानाश के विषय में भी यदि यह माना जाय कि अविद्या विरोधी अवस्था को प्राप्त हो गई है, तब तो अविद्या का सर्वथा नाश सिद्ध नहीं होगा अविद्या की रूपान्तर में स्थिति रहेगी। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने निवर्तकज्ञान की निवृत्ति का खण्डन किया है।

ज्ञात्रनुपपत्तिवर्णनम्

ज्ञात्रनुपपत्ति का वर्णन

अपि च चिन्मात्रब्रह्मव्यतिरिक्तकृत्स्ननिषेधविषयज्ञानस्य कोऽयं ज्ञाता, अध्यासरूप इति चेन्न, तस्य निषेध्यतया निवर्तकज्ञानकर्मत्वात् तत्कर्तृत्वानुपपत्तेः। ब्रह्मस्वरूपमेवेति

चेन्न, ब्रह्मणो निवर्त्तकज्ञानं प्रति ज्ञातृत्वं किं स्वरूपम् ? उताध्यस्तम् ? अध्यस्तं चेत्, अयमध्यासस्तन्मूलाविद्यान्तरं च निवर्तकज्ञानाविषयतया तिष्ठत्येव, तन्निवर्तकान्तराभ्युपगमे तस्यापि त्रिरूपत्वादनवस्थैव, सर्वस्य हि ज्ञानस्य त्रिरूपत्वविरहे ज्ञानत्वमेव हीयते, कस्यचित्कञ्चनार्थविशेषं प्रति सिद्धिरूपत्वात्, ज्ञानस्य त्रिरूपत्वविरहे भवतां स्वरूपभूतज्ञानवन्निवर्तकज्ञानमप्यनिवर्तकं स्यात्, ब्रह्मस्वरूपस्यैव ज्ञातृत्वाभ्युपगमे अस्मदीय एव पक्षः परिगृहीतः स्यात् । निवर्तकज्ञानस्वरूपं ज्ञातृत्वं च स्वनिवर्त्यान्तर्गतमिति वचनं भूतलव्यतिरिक्तं कृत्स्नं छिन्नं देवदत्तेनेत्यस्यामेव छेदनक्रियायामस्याश्छेदनक्रियायाश्छेत्तृत्वस्य च छेद्यान्तर्भाववचनवदुपहास्यम् ।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने निवर्तकज्ञान के ज्ञाता का खण्डन किया है। वह इस प्रकार है कि अद्वैतियों का यह मत है कि चिन्मात्र ब्रह्म ही सत्य है। उसे छोड़कर और सब मिथ्या हैं। तत्त्वज्ञान से उन सबका निषेध हो जाता है। उन ब्रह्मव्यतिरिक्त सब पदार्थों के अभाव का ग्रहण करने वाला ज्ञान ही निषेधज्ञान एवं निवर्तकज्ञान कहलाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि उस निषेधज्ञान का आश्रय बनने वाला ज्ञाता कौन है? क्योंकि सभी ज्ञान किसी न किसी ज्ञाता का आश्रय लेकर ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना सहज है कि निवर्तकज्ञान का आश्रय बनने वाला ज्ञाता कौन है? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म में आरोपित अहंकार ज्ञाता है तो वह निवर्तकज्ञान का कर्ता नहीं बन सकता क्योंकि वह ब्रह्मव्यतिरिक्त होने से निषेध्य है अतएव निवर्तकज्ञान का कर्म है, निवर्तकज्ञान का कर्ता नहीं बन सकता। कर्मकारक और कर्तृकारक भिन्न २ होते हैं। निवर्तकज्ञान का कर्ता बनने वाला ही ज्ञाता होता है। वह अहंकार मिथ्यापदार्थ होने से निवर्तकज्ञान का कर्म बनता है, कर्ता ज्ञाता नहीं बन सकता। यह दोष इस पक्ष में होता है। निवर्तकज्ञान का ज्ञाता ब्रह्म ही होता है, ऐसा यदि कहा जाय तो इस पक्ष में भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि निवर्तकज्ञान के प्रति ब्रह्म का जो ज्ञातृत्व है क्या वह ब्रह्म का स्वाभाविक धर्म है या ब्रह्म में आरोपित धर्म है? यदि इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय कि वह ज्ञातृत्व धर्म ब्रह्म में आरोपित धर्म है तो यह दोष उपस्थित होता है कि निवर्तकज्ञान के समय में भी ब्रह्म में ज्ञातृत्व का अध्यास बना रहेगा, तथा उसका कारण अविद्या भी बनी रहेगी। ये दोनों निवर्तकज्ञान के विषय नहीं बनेंगे इसलिये उससे निवृत्त नहीं होंगे, बने ही रहेंगे। यह दोष उपर्युक्त पक्ष में होता है। यदि उक्त दोष का निराकरण करने के लिये यह कहें कि ये दोनों दूसरे निवर्तकज्ञान से निवृत्त होते हैं, तो उस दूसरे निवर्तकज्ञान में भी ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान ऐसी त्रिपुटी अवश्य होगी, बिना त्रिपुटी के कोई ज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी ज्ञाता के प्रति किसी अर्थ की सिद्धि ही ज्ञान है। इसमें सिद्धि ज्ञान है, अर्थ ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता है। इस प्रकार सभी ज्ञानों में त्रिपुटी अवश्य होती है दूसरे निवर्तकज्ञान में भी त्रिपुटी अवश्य होगी। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि उस दूसरे निवर्तकज्ञान का ज्ञाता कौन है। प्रथम निवर्तकज्ञान के विषय

में जैसा कहा गया है उसी प्रकार यदि द्वितीय निवर्तकज्ञान के विषय में भी यह कहा जाय कि ब्रह्म ही ज्ञाता है, उसमें ज्ञातृत्व आरोपित है—तो यह दोष उपस्थित होता है कि द्वितीय निवर्तकज्ञान के समय में भी ज्ञातृत्वाध्यास और उसका कारण अविद्या भी बनी रहती है, उनको निवृत्त करने के लिये तीसरे निवर्तकज्ञान की अपेक्षा होगी। इस प्रकार अनवस्था चलेगी। यदि यह कहें कि निवर्तकज्ञान में त्रिपुटी नहीं, तो वह ज्ञान ही न होगा। सब ज्ञानों में त्रिपुटी नियत है। किंच, निवर्तकज्ञान में त्रिपुटी न हो तो वह निवर्तक ही नहीं होगा। जिस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानस्वरूप होने पर भी वह त्रिपुटीशून्य होने के कारण निवर्तक नहीं होता वैसे ही यह निवर्तकज्ञान भी—जो वृत्तिज्ञान माना जाता है—त्रिपुटीशून्य होने पर निवर्तक ही नहीं होगा। संसार सदा के लिये बना रहेगा। यदि इन दोषों को दूर करने के लिये यह माना जाय कि ब्रह्मस्वरूप का ज्ञातृत्वधर्म स्वाभाविक है अध्यस्त नहीं तब तो विशिष्टाद्वैतियों के पक्ष को अपनाना होगा क्योंकि विशिष्टाद्वैती के सिद्धान्त में ही ब्रह्म का ज्ञातृत्वधर्म स्वाभाविक माना जाता है। अद्वैती के मत में ब्रह्म निर्धर्मक है, उसमें ज्ञातृत्वधर्म स्वाभाविक नहीं हो सकता। ब्रह्म के ज्ञातृत्वधर्म को स्वाभाविक मानने पर अद्वैती को अपसिद्धान्त दोष भी लगेगा। अद्वैती यदि यह कहें कि निवर्तकज्ञान के द्वारा जो पदार्थ निवर्त्य है उसमें निवर्तक ज्ञानस्वरूप और ज्ञातृत्व भी अन्तर्गत है, अतएव वे निवर्तकज्ञान से ही निवृत्त हो जाते हैं तदर्थ ज्ञानान्तर की आवश्यकता नहीं—तो कहना पड़ता है अद्वैतियों का यह कथन उपहास के योग्य है। यह अर्थ एक दृष्टान्त के द्वारा समझाया जा सकता है। दृष्टान्त यह है कि किसी ने कहा देवदत्त ने भूमिव्यतिरिक्त सब पदार्थों को काट डाला है। इस वचन की यदि इस प्रकार व्याख्या की जाय कि देवदत्त के द्वारा जितने पदार्थ काटे गये हैं उनमें छेदन क्रिया और देवदत्त का छेदनकर्तृत्व भी अन्तर्गत है। देवदत्त ने जैसे अन्यान्य पदार्थों को काटा है उसी प्रकार छेदन क्रिया को भी काट डाला एवं अपने छेदनकर्तृत्व को भी काट डाला। इस प्रकार उपर्युक्त कथन की व्याख्या करना उपहास्य है, इस बात को सभी मान सकते हैं क्योंकि देवदत्त के द्वारा भले ही अन्यान्य पदार्थ कटें किन्तु छेदन क्रिया और उसका कर्तृत्व नहीं कट सकता। इनके कट जाने पर सबको काटना असंभव होगा। उसी प्रकार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। निवर्तकज्ञान के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त सब पदार्थों के निवृत्त होते समय निवर्तकज्ञान का स्वरूप और उसका ज्ञातृत्व निवृत्त नहीं हो सकते, ये तो बने ही रहेंगे। निवर्तकज्ञान के द्वारा निवृत्त होने वाले पदार्थों में निवर्तक ज्ञानस्वरूप और इसके ज्ञातृत्व का अन्तर्भाव मानना उपहास्य ही है। इस प्रकार विवेचना करके श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने निवर्तकज्ञान के ज्ञाता का खण्डन किया है।

———

निवर्तकज्ञानोत्पादकसामग्र्यनुपपत्ति वर्णनम्

निवर्तकज्ञानोत्पादक सामग्री की अनुपपत्ति का वर्णन

अपि च निखिलभेदनिवर्तकमिदमैक्यज्ञानं केन जातमिति विवेचनीयम्, श्रुत्यैवेति चेन्न, तस्या ब्रह्मव्यतिरिक्ताया अविद्यापरिकल्पितत्वात् प्रपञ्चबाधकज्ञानस्योत्पादकत्वं न संभवति, तथा–हि दुष्टकारणजन्यमपि रज्जुसर्पज्ञानं न दुष्टकारणजन्येन "रज्जुरियं न सर्प" इति ज्ञानेन बाध्यते, रज्जुसर्पज्ञानभये वर्तमाने केनचिद्भ्रान्तेन पुरुषेण रज्जुरियं न सर्प इत्युक्तेऽप्ययं भ्रान्त इति ज्ञाते सति तद्वचनं रज्जुसर्पज्ञानस्य बाधकं न भवति भयं च न निवर्तते, प्रयोजकज्ञानवतः श्रवणवेलायामेव हि ब्रह्मव्यतिरिक्तत्वेन श्रुतेरपि भ्रान्तिमूलत्वं ज्ञातमिति। किंच निवर्तकज्ञानस्य ज्ञातुस्तत्सामग्रीभूतशास्त्रस्य च ब्रह्मव्यतिरिक्ततया यदि बाध्यत्वमुच्यते, हन्त तर्हि प्रपञ्चनिवृत्तेर्मिथ्यात्वमापततीति प्रपञ्चस्य सत्यता स्यात्, स्वप्नदृष्टपुरुषवाक्यावगतपित्रादिमरणस्य मिथ्यात्वेन पित्रादिसत्यतावत्। किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यं न प्रपञ्चस्य बाधकं भ्रान्तिमूलत्वात् भ्रान्तप्रयुक्तरज्जुसर्पबाधकवाक्यवत्। ननु च स्वप्ने कस्मिंश्चिद्भये वर्तमाने स्वप्नदशायामेवायं स्वप्न इति ज्ञाते सति पूर्वभयनिवृत्तिर्दृष्टा, तद्वदत्रापि संभवतीति। नैवम्, स्वप्नवेलायामेव सोऽपि स्वप्न इति ज्ञाते सति पुनर्भयानिवृत्तिरेव दृष्टेति न कश्चिद्विशेषः। श्रवणवेलायामेव सोऽपि स्वप्न इति ज्ञातमेवेत्युक्तम्।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने निवर्तकज्ञान के कारण का खण्डन किया है। वह इस प्रकार है कि अद्वैतियों ने माना है कि ऐक्यज्ञान सम्पूर्ण भेदों का निवर्तक होता है। उस ऐक्यज्ञान के विषय में यह विचार करना चाहिये कि वह ज्ञान किससे उत्पन्न होता है? अद्वैती कहते हैं कि वह ज्ञान "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उत्पन्न होता है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि यह प्रपञ्चबाधकज्ञान श्रुति से उत्पन्न नहीं होगा। श्रुति ब्रह्मव्यतिरिक्त है अतएव अविद्या से कल्पित है। यह अर्थ अद्वैतियों को मान्य है। अविद्या दोष है। अविद्याकल्पित श्रुति दोषजन्य सिद्ध होती है। दोषजन्य श्रुति के द्वारा जो ज्ञान होगा वह दूषित है, उससे किसी का भी बाध नहीं होगा। यहाँ पर यह दृष्टान्त ध्यान देने योग्य है, मान लिया जाय कि किसी मनुष्य को इन्द्रियदोष के कारण रज्जु में सर्पज्ञान हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि यह ज्ञान दुष्ट कारण से उत्पन्न है। वैसे ही दूसरा कोई मनुष्य है जिसके इन्द्रिय में दूसरा कोई दोष है। उसको रज्जु देखकर यह ज्ञान होता है कि यह रज्जु है, सर्प नहीं। रज्जुसर्पज्ञान से भयभीत होने वाले प्रथम मनुष्य को दूसरा मनुष्य समझाता है कि यह रज्जु है, सर्प नहीं। ऐसा समझाने पर भी प्रथम मनुष्य का न भ्रम ही दूर होता है न भय ही क्योंकि प्रथम मनुष्य, द्वितीय मनुष्य के विषय में समझता है कि इस

मनुष्य के इन्द्रिय में दोष है, यह भ्रान्त है, इसके वचन पर विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसी स्थिति में प्रथम मनुष्य का भ्रम दूर नहीं होता, न द्वितीय मनुष्य के उपदेश से वहाँ सर्प का बाध ही होता है। यह दृष्टान्त है। प्रकृत में भी वैसा ही समझना चाहिये। साधक शास्त्र सुनते समय ही यह जान लेता है कि ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थ अविद्या से कल्पित हैं, वे भ्रम से ही दिखाई देते हैं, वे सब मिथ्या हैं। शास्त्र सुनते समय साधक यह भी समझ लेता है कि वेदशास्त्र भी ब्रह्मव्यतिरिक्त होने से अविद्या से कल्पित हैं तथा मिथ्या हैं। ऐसे समझने वाले साधक को दोषदूषित शास्त्र प्रपञ्चबाधक ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता, न उस ज्ञान से प्रपञ्च का बाध ही होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रपञ्चबाधक ज्ञान का यह अविद्यादोषप्रसूत शास्त्र उत्पादक नहीं हो सकता। किंच, अद्वैतियों ने यह माना है कि प्रपञ्चनिवर्तक ज्ञान, उसका ज्ञाता, और उस ज्ञान का साधन बनने वाला शास्त्र यह सब ब्रह्मव्यतिरिक्त होने के कारण अन्त में बाधित हो जाते हैं। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह दोष दिया कि यदि प्रपञ्चनिवर्तक ज्ञान इत्यादि बाधित माने जायेंगे तो प्रपञ्चनिवर्तकज्ञान से होने वाली प्रपञ्चनिवृत्ति मिथ्या हो जायेगी तथा प्रपञ्च सत्य हो जायेगा। दृष्टान्त—मान लिया जाय किसी मनुष्य के स्वप्न में स्वप्नदृष्ट पुरुष ने उससे कहा कि तुम्हारे पिता मर गये हैं। जागने पर वह पुरुष—जिसने स्वप्न देखा था—समझता है कि स्वप्नदृष्ट पुरुष मिथ्या है, उसके द्वारा कथित पितृमरण भी मिथ्या है। ऐसा समझने वाला पुरुष पिता को जीवित मानता है। जिस प्रकार स्वप्नश्रुत पितृमरण मिथ्या सिद्ध होने पर पिता का जीवन सत्य सिद्ध होता है उसी प्रकार स्वप्नदृष्ट पुरुष के समान निवर्तकज्ञान का बाध होने पर स्वप्नश्रुत पितृमरण की तरह प्रपञ्चनिवृत्ति भी मिथ्या सिद्ध होगी, तथा पितृजीवन के समान प्रपञ्च का सत्यत्व सिद्ध होगा। किंच, अद्वैती यह मानते हैं कि भ्रान्त पुरुष का वाक्य रज्जुसर्प का बाध नहीं करता उसी प्रकार अद्वैतियों को यह भी मानना चाहिये कि भ्रान्तिमूलक होने के कारण "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य भी प्रपञ्च का बाध नहीं कर सकते। इस प्रसंग पर अद्वैती ने यह कहा कि भ्रान्तिमूलक "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्य प्रपञ्च का बाध कर सकते हैं क्योंकि भ्रान्तिमूलक ज्ञान का भी बाधकत्व अनेक स्थलों में देखा गया है। उदाहरण—मान लिया जाय कि स्वप्न में किसी मनुष्य को किसी दुर्घटना को सुनकर भय हो रहा है, यदि उस स्वप्न में ही वह मनुष्य यह भी समझ ले कि हमको दुर्घटना सुनने का स्वप्न हुआ है, हमने स्वप्न में दुर्घटना सुनी है तो उसका भय दूर हो जाता है। यहाँ पर "हमने स्वप्न में दुर्घटना सुनी है" यह बाधकज्ञान स्वप्न में होता है, अतएव भ्रान्तिमूलक है। भ्रान्तिमूलक होने पर भी वह भय को निवृत्त कर देता है। वैसे ही प्रकृत में भी भ्रान्ति-मूलक तत्त्वमस्यादि वाक्य से होने वाला ज्ञान भी प्रपञ्च का बाध कर सकता है। यह अद्वैती का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि स्वप्न में होने वाला भय "यह स्वप्न है" ऐसा समझने पर जरूर दूर होता है पर यदि वहाँ मनुष्य यह समझ ले "यह स्वप्न है" ऐसा ज्ञान हमको स्वप्न में हो रहा है तो फिर भय होने लगता है क्योंकि भयबाधक ज्ञान के विषय में "यह ज्ञान स्वप्न में हो रहा है" ऐसा

ज्ञान होने पर वह ज्ञान भय को नहीं दूर सकता है, फिर भय होना उचित ही है। वैसे ही प्रकृत में भेद-प्रपञ्चबाधक तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान के विषय में भी श्रवणकाल से लेकर "यह ज्ञान मिथ्या है यह ज्ञान अविद्याविजृम्भित है" ऐसी धारणा बन जाने के कारण वह ज्ञान भी प्रपञ्च को नहीं बाध सकता। इस प्रकार विवेचना करके श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने निवर्तकज्ञान को उत्पन्न करने वाली सामग्री का खण्डन किया है।

अबाधितत्वात् ब्रह्म सत्यमिति वादस्य खण्डनम्

ब्रह्म के अबाधित सत्यत्ववाद का निराकरण

यदपि चेदमुक्तं भ्रान्तिपरिकल्पितत्वेन मिथ्यारूपमपि शास्त्रं सदद्वितीयं ब्रह्मेति बोधयति, तस्य सतो ब्रह्मणो विषयस्य पश्चात्तनबाधादर्शनाद् ब्रह्म सुस्थितमेवेति। तदयुक्तं, शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्येन तस्यापि बाधितत्वात्। इदं भ्रान्तिमूलवाक्यमिति चेत्सदद्वितीयं ब्रह्मेति वाक्यमपि भ्रान्तिमूलमिति त्वयैवोक्तम्। पश्चात्तनबाधादर्शनं तु सर्वशून्यवाक्यस्यैवेति विशेषः।

अद्वैती ने मिथ्या बनने वाले शास्त्र से सिद्ध होने वाले ब्रह्म को सत्य माना है। आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने इस अर्थ का खण्डन करते हुये कहा है कि अद्वैती कहते हैं कि शास्त्र भ्रान्ति से कल्पित है। अतएव मिथ्या है, यह शास्त्र सम्पूर्ण प्रपञ्च को मिथ्या सिद्ध करके एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म को बतलाता है। शास्त्रप्रतिपाद्य इस ब्रह्म का उत्तरकाल में बाध नहीं होता है, इसलिये यह ब्रह्म सत्य सिद्ध होता है। इसे सत्य मानना चाहिये। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि "शून्य ही तत्त्व है" इस माध्यमिक बौद्ध के कथन से ब्रह्म का बाध हो जाता है। उत्तरकाल में ब्रह्म का बाध नहीं होता, ऐसी बात नहीं। माध्यमिक के वाक्य से ब्रह्म का बाध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म कैसे सिद्ध होगा? अद्वैती ने कहा कि माध्यमिक का वाक्य भ्रान्तिमूलक है इसलिये वह ब्रह्म को नहीं बाध सकता। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि अद्वैती के मत के अनुसार शास्त्र भी भ्रान्तिकल्पित है, ऐसी स्थिति में शास्त्र से ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी। यदि भ्रान्तिमूलक शास्त्र से ब्रह्म की सिद्धि होगी तो भ्रान्तिमूलक माध्यमिक वाक्य से ब्रह्म का बाध भी हो सकता है। उत्तरकाल में बाध न होना यह बात माध्यमिक सिद्धान्त में ही घटती है। सर्वशून्यवाद ही सबको काटने वाला अन्तिमवाद है। वही विजयी होगा। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि सत्य शास्त्र से ही ब्रह्म सिद्ध होगा, भ्रान्तिकल्पितशास्त्र से वह सिद्ध नहीं होगा। ब्रह्मसिद्धि को मानने वालों को शास्त्र सत्य मानना चाहिये। इस प्रकार कहकर श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह सिद्ध किया कि मिथ्या शास्त्र से ब्रह्म की सिद्धि नहीं होगी।

अद्वैतिनां वादानधिकारस्य वर्णनम्

अद्वैतियों का वाद में अनधिकार वर्णन

सर्वशून्यवादिनो ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुमिथ्यात्ववादिनश्च स्वपक्षसाधनप्रमाणपारमार्थ्यानभ्युपगमेन अभियुक्तैर्वादानधिकार एव प्रतिपादितः। "अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः" इति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह सिद्ध किया है कि माध्यमिक एवं अद्वैती को शास्त्रार्थ करने में अधिकार नहीं। माध्यमिक सबको शून्य मानता है। इसलिये उसको अपने पक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण तक को शून्य मानना पड़ता है। अद्वैती ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी वस्तुओं को मिथ्या मानते हैं इसलिये इनको अपने पक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण तक को मिथ्या मानना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये दोनों अपने पक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण को सत्य नहीं मानते हैं। इसलिये इनको वाद में अर्थात् शास्त्रार्थ करने में अधिकार नहीं होता है। वाद भी संग्राम के समान है। जिस प्रकार आयुधधारियों को ही युद्ध करने में अधिकार है। वैसे ही प्रमाण और तर्कों को मानने वालों को ही वाद में अधिकार हो सकता है। ये दोनों प्रमाणतर्कों को सत्य नहीं मानते। इनको अपने मत के अनुसार मानना पड़ता है कि वास्तव में मेरे पास प्रमाण और तर्क नामक कोई पदार्थ हैं ही नहीं। जिस प्रकार मध्यस्थ पुरुष एक शस्त्रधारी व्यक्ति और दूसरे शस्त्रहीन व्यक्ति को युद्ध में नहीं लगा सकता, वह शस्त्रधारी व्यक्तियों को ही युद्ध करने की अनुमति दे सकता है अतएव शस्त्रहीन व्यक्ति को युद्ध में अनधिकार सिद्ध होता है। उसी प्रकार ही शास्त्रार्थ के प्रसंग में भी मध्यस्थ पुरुष प्रमाणतर्कों को मानने वाले वादियों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये प्रमाणतर्कों को न मानने वाले वादियों को अनुमति नहीं दे सकते, यदि देंगे उनकी मध्यस्थता ही न रहेगी। वास्तव में अपने को मध्यस्थ मानने वाले पुरुष प्रमाणतर्कों को मानने वालों को ही शास्त्रार्थ करने के लिये अनुमति दे सकते हैं। प्रमाणतर्क न मानने वालों को शास्त्रार्थ में अनधिकार ही सिद्ध होता है। मीमांसाचार्य कुमारिल भट्टाचार्य ने इस अर्थ का प्रतिपादन करते हुये यह कहा कि—

सर्वदा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते।
अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः॥

अर्थात् शास्त्रार्थ में उपाय बनने वाले प्रमाण और तर्कों को वास्तव में अपने पास रखने वालों के लिये ही वादमार्ग में अधिकार माना जाता है। जो अपने मत के अनुसार वास्तव में प्रमाणतर्करूपी उपायों को अपने पास न रखते हों उन शून्यवादियों को शास्त्रार्थ में अधिकार नहीं होता है। यद्यपि इस श्लोक में शून्यवादी का ही उल्लेख है, तथापि यहाँ दी गई व्यवस्था अद्वैती के प्रति भी संगत हो जाती है क्योंकि अद्वैती भी प्रमाणतर्कों को मिथ्या मानते हैं, सत्य नहीं मानते। इसलिये ये भी उपायहीन होने से

वाद के अधिकारी नहीं बन सकते हैं। इस प्रकार विवेचना कर श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतियों के वादानधिकार को सिद्ध किया है। वादाधिकार को सूचित करने वाले ग्रन्थ लोकरञ्जनार्थ प्रवृत्त हैं।

प्रत्यक्षप्राबल्यस्य निरूपणम् अद्वैतसिद्धान्तखण्डनस्योपसंहारश्च

प्रत्यक्ष का प्राबल्य निरूपण एवं अद्वैतनिराकरण का उपसंहार

अपि च प्रत्यक्षदृष्टप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं केन प्रमाणेन साध्यते। प्रत्यक्षस्य दोषमूलत्वेनान्यथासिद्धिसंभवान्निर्दोषं शास्त्रमनन्यथासिद्धं प्रत्यक्षस्य बाधकमिति चेत्, केन दोषेण जातं प्रत्यक्षमनन्तभेदविषयमिति वक्तव्यम्, अनादिभेदवासनाख्यदोषजातं प्रत्यक्षमिति चेत्, हन्त तर्ह्यनेनैव दोषेण जातं शास्त्रमपीत्येकदोषमूलत्वात् प्रत्यक्षशास्त्रयोर्न बाध्यबाधकभावसिद्धिः। आकाशवाय्वादिभूत—तदारब्धशब्दस्पर्शादियुक्तमनुष्यत्वादिसंस्थानसंस्थितपदार्थग्राहि प्रत्यक्षम्, शास्त्रं तु प्रत्यक्षाद्यपरिच्छेद्यसर्वान्तरात्मत्वसत्यत्वाद्यनन्तविशेषणविशिष्टब्रह्मस्वरूप-तदुपासनाद्याराधनप्रकार-तत्प्राप्तिपूर्वकतत्प्रसादलभ्यफलविशेष—तदनिष्टकरणमूलनिग्रहविशेषविषयम् इति शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोधः। अनादिनिधनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदायताद्यनेकगुणविशिष्टस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वं वदता प्रत्यक्षपारमार्थ्यमवश्यमभ्युपगन्तव्यमित्यलमनेन श्रुतिशतविततिवातवेगपराहतकुदृष्टिदुष्टयुक्तिजालतूलनिरसनेनेत्युपरम्यते।

अद्वैतियों ने माना है कि शास्त्र बाधक है, और प्रत्यक्ष बाध्य है। इस अर्थ का खण्डन करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह प्रश्न किया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रपञ्च सत्य दिखाई देता है। इस प्रपञ्च का मिथ्यात्व किस प्रमाण से सिद्ध होता है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैती कहते हैं कि प्रत्यक्ष के मूल में दोष है, दोष से प्रत्यक्ष होते हैं, दोषमूलक होने से प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं बन सकते, वे अप्रमाण कोटि में रक्खे जा सकते हैं। शास्त्र दोषरहित है, अप्रमाणकोटि में रक्खा नहीं जा सकता। उसे प्रमाण मानना ही होगा। ऐसी स्थिति में निर्दोष शास्त्र से दोषमूलक प्रत्यक्ष बाधित हो जाता है। शास्त्र, प्रपञ्च को मिथ्या बतलाता है। प्रत्यक्ष, प्रपञ्च को सत्य सिद्ध करता है। शास्त्र और प्रत्यक्ष में विरोध है। विरोध होने पर शास्त्र से प्रत्यक्ष कट जाता है। शास्त्र निर्दोष होने से प्रबल है, प्रत्यक्ष, दोषमूलक होने से दुर्बल है। शास्त्र के बल पर प्रपञ्च मिथ्या माना जाता है। यह अद्वैती का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह प्रश्न रक्खा कि विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्षों से यह नानाप्रकार का भेद, प्रपञ्च सिद्ध होता है। इन सभी प्रत्यक्षों में कौनसा दोष लागू होता है। तिमिर इत्यादि दोष सभी प्रत्यक्षों में लागू नहीं होते। किस दोष के कारण ये

सभी प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैती ने कहा कि अनादिकाल से होने वाली भेदवासना ही महान् दोष है, इस दोष से प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं, अतएव वे अप्रमाण हैं। इस उत्तर को पाकर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि तब तो आपके मत के अनुसार शास्त्र के मूल में भी यह भेद-वासना दोष रहता है। शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनों के मूल में भेदवासना दोष काम कर रहा है। दोनों ही एक दोषमूलक हैं ऐसी स्थिति में इनमें बाध्यबाधकभाव हो नहीं सकता क्योंकि दोनों समान बल वाले हैं। दुर्बल और प्रबल में ही बाध्यबाधकभाव होता है। किंच, इनमें बाध्यबाधकभाव मानना भी उचित नहीं क्योंकि दोनों के विषय भिन्न २ हैं। आकाश और वायु इत्यादि पंचमहाभूत तथा इनसे बने हुये एवं शब्दस्पर्शादिगुणयुक्त मनुष्य आदि पदार्थ—जो मनुष्यत्व और मृगत्व इत्यादि सन्निवेशों में रहते हैं—प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण इन पदार्थों का ग्रहण करता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध न होने वाले निम्नलिखित पदार्थ शास्त्र के विषय हैं। वे ये हैं कि (१) सर्वान्तरात्मत्व और सत्यत्व इत्यादि अनन्त विशेषताओं से युक्त ब्रह्मस्वरूप शास्त्र का विषय है (२) उस ब्रह्म का आराधन बनने वाले ब्रह्मोपासन याग और दान इत्यादि धर्म भी शास्त्र के विषय हैं। (३) उस ब्रह्म के अनुग्रह से प्राप्त होने वाले मोक्ष अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति इत्यादि चारों पुरुषार्थ शास्त्र के विषय हैं। (४) उस ब्रह्म के प्रति अनिष्टाचरण करने से होने वाले निग्रहसंकल्प और उसके द्वारा मिलने वाले नाना प्रकार के दण्ड भी शास्त्र के विषय हैं इन अर्थों को बतलाने के लिये शास्त्र प्रवृत्त हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र और प्रत्यक्ष का विषय भिन्न २ है। इनमें कोई विरोध नहीं ऐसी स्थिति में इनमें बाध्यबाधकभाव हो नहीं सकता। किंच, अद्वैतियों को भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना पड़ेगा। जो अद्वैतवादी शास्त्र को प्रबल एवं प्रत्यक्ष को दुर्बल मानते हैं उनको भी प्रत्यक्ष से ही शास्त्रस्वरूप की सिद्धि माननी होगी। शास्त्र है इसमें क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उन्हें यही उत्तर देना होगा कि हम श्रोत्रेन्द्रिय से शास्त्र को सुनते हैं, इसलिये शास्त्र हैं। यहाँ प्रत्यक्ष से ही शास्त्र सिद्ध होता है। शास्त्र प्रमाण है इसमें क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उन्हें यही उत्तर देना होगा कि वेदादि शास्त्र अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, इनका पाठसम्प्रदाय अविच्छिन्न है, इन कारणों से वेदादिशास्त्र प्रमाण हैं। इन कारणों को प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षमूलक अनुमान से सिद्ध करना होगा। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि अद्वैतियों को भी प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना होगा। सभी प्रत्यक्ष बाध्य नहीं हो सकते। इस प्रकार विवेचना करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने शास्त्र और प्रत्यक्ष में बाध्यबाधकभाव का निराकरण कर सामरस्य की स्थापना की।

अन्त में श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतसिद्धान्तसमालोचन का उपसंहार करते हुये यह कहा कि उपनिषदों का अपार्थ करने वाले श्रीशंकराचार्य इत्यादि कुदृष्टि विद्वानों के द्वारा शास्त्रार्थ में रक्खी जाने वाली दुष्ट युक्तियों का समूह तूलों के समान हैं। जिस प्रकार तूल वायुवेग से उड़ जाते हैं, टिकते नहीं, वैसे ही यह युक्तिजाल भी वेदशास्त्रविस्तार के सामने टिकने वाला नहीं है, यह युक्तिजाल वेदशास्त्र वाक्यों

से खण्डित हो जाता है। वेदशास्त्रविस्ताररूप वायुवेग के सामने ये कुदृष्टियों द्वारा वर्णित दुष्ट युक्तिजालरूप तूल टिक नहीं सकता, उसको विस्तार से निराकरण करने की क्या आवश्यकता है। अब तक जो समालोचना की गई है, यही पर्याप्त है। इस प्रकार कहकर श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैत सिद्धान्त की समालोचना का उपसंहार किया है।

भास्कराचार्यसंमतद्वैताद्वैतवादखण्डनम्

श्रीभास्कराचार्य संमत द्वैताद्वैतवाद का निराकरण

अस्मिन्नपि मते ब्रह्मणो निर्दोषत्वस्यासिद्धिः

इस मत में जीवब्रह्मैक्य मानने से ब्रह्म की निर्दोषता की असिद्धि

द्वितीये तु पक्षे उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरानभ्युपगमाद्ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गौपाधिकाः सर्वे दोषा ब्रह्मण्येव भवेयुः। ततश्चापहतपाप्मत्वादिनिर्दोषत्वश्रुतयः सर्वा विहन्यन्ते। यथा घटाकाशादेः परिच्छिन्नतया महाकाशाद्वैलक्षण्यं परस्परभेदश्च दृश्यते, तत्रस्था गुणा वा दोषा वाऽनवच्छिन्ने महाकाशे न सम्बध्यन्ते। एवमुपाधिकृतभेदव्यवस्थितजीवगता दोषा अनुपहिते परे ब्रह्मणि न सम्बध्यन्त इति चेत्; नैतदुपपद्यते निरवयवस्याकाशस्याच्छेद्यस्य घटादिभिश्छेदासम्भवात् नैवाकाशेन घटादयः संयुक्ता इति ब्रह्मणोऽप्यच्छेद्यत्वाद्ब्रह्मैवोपाधिसंयुक्तं स्यात्। घटसंयुक्ताकाशप्रदेशोऽन्यस्मादाकाशप्रदेशात् भिद्यत इति चेत्, आकाशस्यैकस्यैव प्रदेशभेदेन घटादिसंयोगाद् घटादौ गच्छति तस्य च प्रदेशस्यानियम इति। तद्वद्ब्रह्मण्येव प्रदेशभेदानियमेनोपाधिसंसर्गादुपाधौ गच्छति संयुक्तवियुक्तब्रह्मप्रदेशभेदाच्च ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गः, क्षणे क्षणे बन्धमोक्षौ च स्यातामिति सन्तः परिहसन्ति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीभास्कराचार्य के द्वैताद्वैतसिद्धान्त का निराकरण किया है। निराकरण करते हुये उन्होंने कहा कि श्रीभास्कराचार्य के मत में उपाधि और ब्रह्म को छोड़कर तीसरी वस्तु नहीं मानी जाती है। जिस प्रकार महाकाश, घट और मठ इत्यादि उपाधियों से सम्बन्ध पाकर घटाकाश एवं मठाकाश बन जाता है उसी प्रकार ब्रह्म अन्तःकरण इत्यादि जड उपाधियों से सम्बन्ध पाकर विविध जीव बन जाता है। प्रपञ्च और संसार इत्यादि सत्य हैं। यह भास्कराचार्य का मत है। इस मत में जगत को मिथ्या मानने पर होने वाले दोष नहीं लगते जिस प्रकार श्रीशंकराचार्य के मत में लगते हैं। इस दृष्टि

से यह मत श्रीशंकराचार्य के मत से समीचीन प्रतीत होता है। किन्तु इस मत में भी जीव और ब्रह्म में स्वरूपैक्य माना जाता है। इसलिये जीव ब्रह्मैक्य मानने पर प्राप्त होने वाले दोष इस मत में भी लग जाते हैं। इनके मत के अनुसार उपाधिसम्बन्ध पाकर ब्रह्म ही जीव बन जाता है। उपाधिसम्बन्ध के कारण जीव में होने वाले दुःख इत्यादि दोषों के विषय में मानना पड़ेगा कि ये दोष ब्रह्म में होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म में अपहतपाप्मत्व और निर्दोषत्व इत्यादि विशेषताओं को बतलाने वाली सभी श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी। यह इस मत में महान् दोष है।

उपर्युक्त दोष का निराकरण करते हुये द्वैताद्वैतवादियों ने कहा कि लोक में देखा जाता है कि घटाकाश और मठाकाश इत्यादि परिच्छिन्न रहते हैं। महाकाश—जो इन उपाधियों से असम्बद्ध है—अपरिच्छिन्न रहता है। इस प्रकार घटाकाश आदि और महाकाश में भेद रहता है। किंच, घटाकाश मठाकाश से भिन्न होता है, तथा मठाकाश घटाकाश से भिन्न होता है। इस प्रकार इनमें भी भेद रहता है। इन घटाकाश आदि में होने वाले गुण दोष इनमें ही रह जाते हैं, उपाधिसम्बन्धरहित महाकाश में नहीं लगते हैं। इसी प्रकार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। अन्तःकरण इत्यादि उपाधि भिन्न २ हैं, उपाधिसम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश ही जीव हैं, वे उपाधिभेद के कारण भिन्न २ हो जाते हैं। उनमें होने वाले गुण दोष उनमें ही रह जाते हैं, उपाधिसम्बन्धरहित परब्रह्म में नहीं लगते हैं क्योंकि उपाधिसम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश—जो जीव कहलाता है—उपाधिसम्बन्ध के कारण उपाधिरहित परब्रह्म से भिन्न बन जाता है। जीव कहे जाने वाले उपाधिसम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश पाप और दुःख इत्यादि दोषों का भाजन हैं। उपाधिरहित परब्रह्म निर्दोष रहता है, उसके विषय में ही निर्दोषत्व श्रुति प्रवृत्त है। अपहतपाप्मत्व और निर्दोषत्व आदि को बतलाने वाली श्रुतियों का बाध नहीं होता है। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी उपर्युक्त दोष का समाधान करते हैं। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि द्वैताद्वैतवादियों द्वारा वर्णित समाधान सावयव पदार्थ में संगत होता है, निरवयव पदार्थ में नहीं। ब्रह्म निरवयव पदार्थ माना गया है। शरीर सावयव पदार्थ है। सभी अंग इसके अवयव हैं। वे अवयव काटे जा सकते हैं। अंगुलि में सर्पदंश होने पर वह अंगुलि काटकर फेंक दी जाती है, दोष अंगुलि में रह जाता है। अवशिष्ट शरीर उस दोष से बच जाता है। यदि इस प्रकार उपाधियुक्त प्रदेश ब्रह्म से कटकर अलग हो जाय तो यह व्यवस्था बन सकती है कि दोष उन प्रदेशों में रह जाते हैं, उपाधिरहित परब्रह्म निर्दोष रहता है। परन्तु उपाधियुक्त ब्रह्मप्रदेश कटकर ब्रह्म से अलग नहीं हो सकते क्योंकि ब्रह्म निरवयव पदार्थ है। जिस प्रकार आकाश निरवयव पदार्थ है। घट और मठ इत्यादि उपाधियों से आकाश कट २ कर टुकड़ा नहीं होता, किन्तु वे उपाधि अच्छेद्य आकाश से संयुक्त होते हैं। कटने योग्य अवयव न होने से आकाश सदा निरवयव होकर रहता है। उपाधिसम्बन्ध से होने वाले गुण दोष आकाश में माने जाते हैं। उसी प्रकार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। ब्रह्म निरवयव पदार्थ है, उसमें कटने योग्य कोई अवयव नहीं होता वह उपाधियों से कट २ कर टुकड़ा २ नहीं होता किन्तु उपाधि उस अच्छेद्य निरवयव

ब्रह्म से सम्बद्ध रहते हैं। उपाधिसम्बन्ध से होने वाले गुण दोष ब्रह्म में होते रहते हैं। इसलिये द्वैताद्वैतवादियों के मतानुसार विवेचना करने पर ब्रह्म निर्दोष नहीं रह सकता।

यहाँ पर द्वैताद्वैतवादी यह शंका करते हैं कि जिस प्रकार घटसंयुक्त आकाशप्रदेश मठसंयुक्त आकाशप्रदेश से भिन्न होते हैं, अतएव उन २ आकाशप्रदेशों में होने वाले गुण दोष वहीं २ व्यवस्थित रहते हैं, एक प्रदेश के गुणदोष दूसरे प्रदेश में नहीं माने जाते हैं उसी प्रकार एक उपाधि से सम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश दूसरे उपाधि से सम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश से भिन्न होता है। अतएव उन २ ब्रह्मप्रदेशों में होने वाले गुण दोष वहीं २ व्यवस्थित रहते हैं, एक प्रदेश के गुण दोष दूसरे प्रदेशों में नहीं पहुँचेंगे। इस प्रकार व्यवस्था बन सकती है। यह द्वैताद्वैतवादियों का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था दोनों परिस्थितियों में ही घट सकती है। यदि आकाश व्यक्ति अनेक हों, अथवा घट आदि उपाधि न चलने वाले हों, एक स्थान में ही रहने वाले हों, तभी यह व्यवस्था घट सकती है। आकाश एक ही पदार्थ है, घट आदि उपाधि भी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने वाले हैं इसलिये यह व्यवस्था पहले आकाश में ही न घटती है। भाव यह है कि यदि आकाश व्यक्ति अनेक होते घट आदि उपाधि चलते भी रहें तब भी यह कह सकते हैं कि चलने वाले घट आदि उपाधि अपने २ आकाश से ही सम्बद्ध रहते, दूसरे आकाशों से सम्बद्ध नहीं रहते, इसलिये उन २ उपाधियों के कारण होने वाले गुण दोष उन २ आकाश में ही होते रहते हैं, दूसरे आकाशों में नहीं हुआ करते। इस प्रकार गुणदोषव्यवस्था घट जाती है। यदि आकाश व्यक्ति एक ही जैसा है, घट आदि उपाधि न चलने वाले होते तो भी यह कहा जा सकता है कि घट आदि उपाधि न चलने के कारण उन २ आकाशप्रदेशों से ही सम्बद्ध रहकर उन २ आकाशप्रदेशों में ही गुण दोषों को उत्पन्न करते हैं, दूसरे आकाशप्रदेशों में नहीं। इस प्रकार गुणदोषव्यवस्था घट सकती है। वास्तविक स्थिति में तो आकाश व्यक्ति एक है, घट आदि उपाधि चलते रहते हैं। घट आदि उपाधि एक क्षण में एक आकाशप्रदेश से सम्बद्ध होते हैं, दूसरे क्षण में चलकर दूसरे आकाशप्रदेश में—जहाँ पहले दूसरा उपाधिसम्बन्ध था—सम्बद्ध होते हैं। ये उपाधि प्रथम क्षण में एक आकाशप्रदेश में गुण दोषों को उत्पन्न करते हैं, दूसरे क्षण में ये उपाधि अन्यत्र जाकर अन्य आकाशप्रदेश में—जहाँ पहले अन्य उपाधि ने गुण दोषों को उत्पन्न किया था—गुण दोषों को उत्पन्न करते हैं, अन्य उपाधि इस आकाशप्रदेश में आकर गुण दोषों को उत्पन्न करते हैं इसलिये गुणदोषव्यवस्था नहीं घटती। यह हुई दृष्टान्त की बात। दार्ष्टान्तिक में भी इस बात को समझना चाहिये। द्वैताद्वैतवादियों के द्वारा वर्णित व्यवस्था निम्नलिखित दोनों परिस्थितियों में ही घट सकती है। यदि ब्रह्म अनेक हों, अथवा अन्तःकरण आदि उपाधि न चलने वाले हों, तभी यह व्यवस्था घट सकती है। ब्रह्म एक ही वस्तु है अनेक नहीं, अन्तःकरण आदि उपाधि भी एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने वाले हैं। मान लिया जाय कि एक मनुष्य अयोध्या से श्रीरंग जाता है, वहाँ उस मनुष्य का अन्तःकरण और देह अयोध्या से श्रीरंग चले जाते हैं। वैसे ही एक मनुष्य

श्रीरंग से जब अयोध्या चला आता है, तब उसका अन्तःकरण और देह श्रीरंग से अयोध्या चले जाते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण आदि उपाधि सदा चलने वाले हुआ करते हैं इसलिये उपर्युक्त व्यवस्था ब्रह्म में नहीं घटती है। यदि ब्रह्म व्यक्ति अनेक होते, अन्तःकरण आदि उपाधि भले ही चलने वाले हों, तो भी यह कह सकते हैं कि चलने वाले अन्तःकरण आदि उपाधि अपने २ ब्रह्म में ही लगे रहते हैं क्योंकि अपना २ ब्रह्म विभु होने से सर्वत्र रहता है, उससे ही सम्बद्ध रहते हैं, दूसरे ब्रह्मों से नहीं इसलिये उन २ उपाधियों के कारण होने वाले गुणदोष उस २ ब्रह्म में ही होते हैं, दूसरे ब्रह्मों में नहीं। इस प्रकार गुणदोषव्यवस्था घट जाती है। यदि अन्तःकरण आदि उपाधि न चलने वाले होते, एकत्र ही स्थिर रहने वाले होते, तो भले ही ब्रह्म एक ही हो, तो भी यह कहा जा सकता है कि अन्तःकरण आदि उपाधि न चलने के कारण उन २ ब्रह्मप्रदेश में ही सम्बद्ध रहकर उन २ ब्रह्मप्रदेश में ही गुण दोषों को चढ़ा देते हैं, दूसरे ब्रह्मप्रदेश में नहीं। इस प्रकार गुणदोषव्यवस्था घट जाती है। वास्तविक स्थिति में तो ब्रह्म एक ही वस्तु है, वह विभु भी है। अन्तःकरण आदि उपाधि चलते रहते हैं। ब्रह्म एक वस्तु होने के कारण सभी अन्तःकरण आदि उपाधि ब्रह्म से ही सम्बद्ध रहते हैं। यह मानना पड़ता है। यह बात नहीं हो सकती है कि ब्रह्म उपाधिसम्बन्ध से रहित है। चलने वाले अन्तःकरण आदि उपाधि एक स्थान से दूसरे स्थान में जब चले जाते हैं तब मानना पड़ता है कि पूर्व स्थान के ब्रह्मप्रदेश को छोड़कर दूसरे स्थान के ब्रह्मप्रदेश से सम्बद्ध होते हैं। अन्तःकरण आदि उपाधियों से सम्बन्ध ही बन्ध है, इनसे छुटकारा पाना ही मोक्ष है। जहाँ उपाधि एक स्थान से दूसरे स्थान में चले जाते हैं वहाँ पूर्व स्थान में स्थित ब्रह्मप्रदेश को मोक्ष तथा दूसरे स्थान में स्थित ब्रह्मप्रदेश को बन्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्तःकरण आदि उपाधि चलते समय प्रतिक्षण ब्रह्मप्रदेशों को बन्ध और मोक्ष होते ही रहते हैं। एक ब्रह्मप्रदेश को बिना ज्ञान के ही मोक्ष तथा दूसरे ब्रह्मप्रदेश को बिना कर्म के ही बन्ध मानना पड़ेगा। यह बहुत अनुचित है। अतएव इस द्वैताद्वैतवाद को सुनकर सन्तों को हँसी आती है। ब्रह्म निरवयव होने से अच्छेद्य है, ब्रह्म एक है, अनेक नहीं, उपाधि चलने वाली वस्तु है, एक स्थान में स्थिर रहने वाली वस्तु नहीं, इसलिये व्यवस्था दुर्घट हो जाती है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने उत्तर देकर द्वैताद्वैतवाद का खण्डन किया है।

द्वैताद्वैतवादिभिर्वर्णितस्यश्रोत्रेन्द्रियदृष्टान्तस्य वैशेषिकमतानुसारेणनिराकरणम्

द्वैताद्वैतवादियों द्वारा वर्णित श्रोत्रेन्द्रियदृष्टान्त का वैशेषिक मत के अनुसार खण्डन

निरवयवस्यैवाकाशस्य श्रोत्रेन्द्रियत्वेऽपि इन्द्रियव्यवस्थावत् ब्रह्मण्यपि व्यवस्थोपपद्यत इति चेन्न, वायुविशेषसंस्कृतकर्णप्रदेशसंयुक्तस्यैवाकाशप्रदेशस्येन्द्रियत्वात्, तस्य च

प्रदेशान्तराद्भेदानियमेऽपि इन्द्रियव्यवस्थोपपद्यते, आकाशस्य तु सर्वेषां शरीरेषु गच्छत्सु अनियमेन सर्वप्रदेशसंयोग इति ब्रह्मण्यप्युपाधिसंयोगप्रदेशानियम एव ।

आगे द्वैताद्वैतवादी ने उपर्युक्त व्यवस्था को सिद्ध करते हुये कहा कि वैशेषिकों ने निरवयव आकाश को ही श्रोत्रेन्द्रिय माना है। उन लोगो ने प्रत्येक मनुष्य का शरीर चलते रहने पर भी उन शरीरों का विभिन्न आकाशप्रदेशों में सम्बन्ध होते रहने पर भी प्रत्येक जीव के श्रोत्रेन्द्रिय को व्यवस्थित माना है। तथा उन लोगों ने यह भी माना है कि कर्णसम्बद्ध आकाशप्रदेश श्रोत्रेन्द्रिय है कर्णसम्बन्धरहित आकाश अनिन्द्रिय है। इस प्रकार आकाश एक होने पर भी इन्द्रियत्व और अनिन्द्रियत्व की व्यवस्था होती है। उसी प्रकार ही प्रकृत में भी मानना चाहिये। ब्रह्म निरवयव एवं एक है। उसका विविधप्रदेशों में विविध उपाधियों से सम्बन्ध होता है। उपाधिसम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश जीव है, उपाधिसम्बन्धरहित ब्रह्मप्रदेश ब्रह्म है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म में व्यवस्था घट जाती है। जिस प्रकार वैशेषिकों के मत में प्रत्येक मनुष्य का शरीर चलते रहने पर भी उन शरीरों का विभिन्न आकाशप्रदेशों से सम्बन्ध होते रहने पर भी प्रत्येक जीव का श्रोत्रेन्द्रिय व्यवस्थित माना जाता है उसी प्रकार अन्तःकरणादि उपाधि चलकर विभिन्न ब्रह्मप्रदेशों से सम्बन्ध पाते रहने पर भी जीव व्यवस्थित रहते हैं। इस प्रकार जीवों में परस्पर व्यवस्था घट जाती है। यह द्वैताद्वैतवादी का कथन है।

इसका निराकरण करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि हम आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय नहीं मानते। यह अर्थ आगे विस्तारपूर्वक कहा जायेगा। वैशेषिक दार्शनिक आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मानते हैं। उनके मत के अनुसार विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि निरवयव आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मानकर इन्द्रियानिन्द्रिय व्यवस्था एवं श्रोत्रेन्द्रियों में परस्पर व्यवस्था घटाई जा सकती है, किन्तु प्रकृत जीवब्रह्म-व्यवस्था तथा जीवों में परस्पर व्यवस्था उनके मत के अनुसार भी घटाई नहीं जा सकती। जिससे शब्द का साक्षात्कार हो वह श्रोत्रेन्द्रिय कहा जाता है। विशेषणविशिष्ट आकाश शब्दसाक्षात्कार का कारण बनता है अतएव श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है। अब प्रश्न उठता है कि वह विशेषण कौन है? उत्तर यह है कि मनुष्य जब शब्द का उच्चारण करता है, तब उस उच्चारणप्रयत्न से एक वायुविशेष उत्पन्न होकर मुख से बाहर फैलता है। उस वायु का संयोग दूसरे मनुष्य के कर्ण से हो जाता है। वायुविशेष के संयोग से उसका कर्ण संस्कृत होता है। इस प्रकार वायुविशेष के संयोग से संस्कृत होने वाले कर्णप्रदेश से संयुक्त आकाश-प्रदेश श्रोत्रेन्द्रिय बनता है क्योंकि उससे ही शब्द का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार के कर्णदेश से जब कोई भी आकाशप्रदेश संयुक्त रहता है, तब वह शब्दसाक्षात्कार का कारण होने से श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है क्योंकि शरीर चलते समय वायुविशेषसंस्कृत कर्ण भी चलता रहता है, उसका विभिन्न आकाशप्रदेशों से सम्बन्ध होता है। वे विविध आकाशप्रदेश भी कर्ण से संयुक्त रहते समय श्रोत्रेन्द्रिय बन जाते हैं। जो आकाशप्रदेश उपर्युक्त विशेषणविशिष्ट कर्ण से संयुक्त होकर शब्दसाक्षात्कार का कारण होता है वह

श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है, जो आकाशप्रदेश उपर्युक्तविशेषणविशिष्ट कर्ण से संयुक्त न होने के कारण शब्द-साक्षात्कार का कारण नहीं बनता वह आकाशप्रदेश अनिन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियभिन्न कहलाता है। इस प्रकार आकाशप्रदेशों में इन्द्रियत्व और अनिन्द्रियत्व की व्यवस्था घट जाती है। श्रोत्रेन्द्रियों में परस्पर व्यवस्था भी इस प्रकार घट जाती है कि जिस पुरुष के वायुविशेषसंस्कृत कर्ण से जब जो आकाशप्रदेश संयुक्त रहता है, वह उस समय उस पुरुष को शब्दसाक्षात्कार कराकर उस पुरुष का श्रोत्रेन्द्रिय बन जाता है, दूसरे पुरुष के वैसे कर्ण से संयुक्त आकाशप्रदेश दूसरे पुरुष को शब्दसाक्षात्कार करा सकता है, प्रथम पुरुष को नहीं। इसलिये प्रथम पुरुष का श्रोत्रेन्द्रिय नहीं बनता, किन्तु दूसरे पुरुष का ही श्रोत्रेन्द्रिय बनता है। इस प्रकार प्रतिपुरुष श्रोत्रेन्द्रिय व्यवस्थित हो जाते हैं। यही श्रोत्रेन्द्रियों में परस्पर व्यवस्था है। यह इस प्रकार घट जाती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि कर्ण का आकाश के प्रदेशविशेष से सम्बन्ध नियत नहीं रहता। शरीर चलते रहते समय कर्ण का विभिन्न आकाशप्रदेशों से सम्बन्ध होता रहता है इस प्रकार प्रदेशविशेष से कर्ण का सम्बन्ध नियत न होने पर भी जब जो आकाशप्रदेश कर्णसंयुक्त होकर शब्दसाक्षात्कार कराता है, वह उस समय श्रोत्रेन्द्रिय बन जाता है। प्रकृत में वैसी व्यवस्था नहीं घटती। अन्तःकरण इत्यादि उपाधि ब्रह्म के प्रदेशविशेष से सदा सम्बद्ध नहीं रहते किन्तु चलते समय विभिन्न ब्रह्मप्रदेशों से सम्बद्ध होते जाते हैं। जो ब्रह्मप्रदेश इस समय उपाधिसंयुक्त नहीं है वह भी किसी समय इस उपाधि से सम्बद्ध रहा, या सम्बद्ध होने वाला है। ऐसा कोई ब्रह्मप्रदेश सिद्ध होता ही नहीं जो तीनों कालों में भी उपाधि से असम्बद्ध रहे। इसलिये जीवब्रह्मव्यवस्था नहीं घटती। द्वैताद्वैतवादियों ने यह कहा था कि उपाधि से सम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश जीव है, उपाधिरहित ब्रह्मप्रदेश ब्रह्म है। इस प्रकार जीवब्रह्म-व्यवस्था घट जाती है। उनका यह कथन समीचीन नहीं, क्योंकि ऐसा ब्रह्मप्रदेश होता ही नहीं जो तीनों कालों में उपाधिसम्बन्धरहित हो। यदि द्वैताद्वैतवादियों का यह अभिप्राय है कि जब जो ब्रह्मप्रदेश उपाधि से युक्त होगा, तब वह जीव होगा, जब वह ब्रह्मप्रदेश उपाधि से रहित होगा, तब वह ब्रह्म बन जायेगा। तब तो जीव की उत्पत्ति और विनाश मानना होगा क्योंकि उपाधिसंयोग होने पर उस ब्रह्मप्रदेश में जीवत्व आता है उपाधि हटने पर उस ब्रह्मप्रदेश में जीवत्व नष्ट हो जाता है। जीव की उत्पत्ति और विनाश शास्त्रविरुद्ध है क्योंकि शास्त्र जीव को अजन्मा एवं नित्य बतलाता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि द्वैताद्वैतवादियों के मत में जीवब्रह्मव्यवस्था नहीं घटती है। जीवों में परस्पर व्यवस्था भी नहीं घटती है। प्रत्येक जीव अपने २ सुख दुःख इत्यादि को समझते हैं, दूसरों के सुख दुःख इत्यादि को नहीं समझते। यही जीवों में परस्पर व्यवस्था है। यह व्यवस्था भी द्वैताद्वैतवादियों के मत में नहीं घटती है क्योंकि सभी ब्रह्मप्रदेशों से सभी उपाधियों का सम्बन्ध होता रहता है, सभी जीव ब्रह्म का प्रदेश ही हैं ब्रह्म ही जानने की क्षमता रखता है, उपाधि नहीं, क्योंकि वह जड है। जीव बनने वाले ब्रह्मप्रदेशों को अपने में लगे हुये सब तरह की उपाधियों के संसर्ग से होने वाले सुख दुःखों के विषय में जानकारी रखना चाहिये। ऐसा तो होता

नहीं। यदि कहा जाय कि दूसरा ब्रह्मप्रदेश अन्य उपाधि से होने वाले सुख दुःखों को समझने में असमर्थ है, तो, उपाधि एक प्रदेश में सुख दुःखों को उत्पन्न कराकर जब दूसरे ब्रह्मप्रदेश में पहुँचता है, तब पहले ब्रह्मप्रदेश में हुये सुख दुःखों का जो दूसरे ब्रह्मप्रदेशों में स्मरण होता है उसमें बाधा पड़ेगी, क्योंकि वह दूसरा प्रदेश है, पहले प्रदेश में हुये सुख दुःखों को समझने में वह असमर्थ ही रहेगा। यदि इस दोष को दूर करने के लिये यह माना जाय कि एक प्रदेश में हुये सुख दुःखों को दूसरा प्रदेश समझने में क्षमता रखता है, तब तो उपाधियों को इधर उधर चलते रहने पर विभिन्नब्रह्मप्रदेशरूपी जीवों पर हुये सुख दुःखों को अन्यान्य ब्रह्मप्रदेशरूपी जीवों को समझते रहना चाहिये। इसलिये जीवों में परस्पर व्यवस्था भी द्वैताद्वैतवाद में नहीं जमती है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने वैशेपिकों के मत के अनुसार आकाश को ही श्रोत्रेन्द्रिय मानकर दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में यह अन्तर दिखलाया है कि दृष्टान्त में इन्द्रियानिन्द्रिय व्यवस्था एवं श्रोत्रेन्द्रियों में परस्पर व्यवस्था घट जाती है, किन्तु दार्ष्टान्तिक में जीवब्रह्मव्यवस्था तथा जीवों में परस्पर व्यवस्था नहीं घटती है।

तस्य दृष्टान्तस्य औपनिषदमतानुसारेण निराकरणम्

उपर्युक्त दृष्टान्त का औपनिषद मत के अनुसार खण्डन

आकाशस्य स्वरूपेणैव श्रोत्रेन्द्रियत्वमभ्युपगम्यापीन्द्रियव्यवस्थोक्ता। परमार्थतस्त्वाकाशो न श्रोत्रेन्द्रियम्, "वैकारिकादहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्त" इति हि वैदिकाः। यथोक्तं भगवता पराशरेण "तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश। एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः"। इति, अयमर्थः—वैकारिकस्तैजसोभूतादिरिति त्रिविधोऽहङ्कारः, स च क्रमात्सात्त्विको राजसस्तामसश्च, तत्र तामसाद् भूतादेराकाशादीनि भूतानि जायन्त इति सृष्टिक्रममुक्त्वा तैजसाद्राजसादहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्त इति परमतमुपन्यस्य सात्त्विकाहङ्काराद्वैकारिकाणीन्द्रियाणि जायन्ते—इति स्वमतमुच्यते "देवा वैकारिकाः स्मृताः" इति, देवाः—इन्द्रियाणि, एवमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकाणां भूतैश्चाप्यायनं महाभारत उच्यते, भौतिकत्वेऽपीन्द्रियाणामाकाशादिभूतविकारत्वादेवाकाशादिभूतपरिणामविशेषा व्यवस्थिता एव शरीरवत्पुरुषाणामिन्द्रियाणि भवन्तीति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि उपर्युक्त विवेचन आकाश स्वरूप को श्रोत्रेन्द्रिय मानकर किया गया है। वास्तव में आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं हैं। वैदिकों का यह सिद्धान्त है कि सात्त्विकाहंकार

से एकादश (ग्यारह) इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। यह श्रीपराशरब्रह्मर्षि के वचन से सिद्ध होता है। वह वचन यह है कि—

तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश।
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः॥

अर्थात् दूसरे वादी कहते हैं कि इन्द्रिय तैजस अर्थात् राजसाहंकार से उत्पन्न हैं। परन्तु यह बात नहीं। किन्तु स्मृतिकारों ने यही माना है कि दस इन्द्रिय वैकारिक अर्थात् सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न हैं, तथा ग्यारहवाँ मन भी सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न है। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रिय सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न हैं। यही सिद्धान्त है। भावार्थ यह है कि अहंकार तीन प्रकार का है (१) वैकारिक (२) तैजस और (३) भूतादि। ये ही सात्त्विक राजस और तामस कहलाते हैं। उनमें तामसाहंकार अर्थात् भूतादि से आकाश इत्यादि पंचभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सृष्टिक्रम को बतलाकर उपर्युक्त श्लोक से श्रीपराशरब्रह्मर्षि ने यह कहा कि कई वादी यह कहते हैं कि तैजस अर्थात् राजसाहंकार से ग्यारह इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दूसरे वादियों के मत को कहकर महर्षि ने अपने मत को उपस्थापित करते हुये कहा कि ग्यारह इन्द्रिय वैकारिक अर्थात् सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होते हैं। इस श्लोक में देवशब्द इन्द्रियों का वाचक है। इस प्रकार सात्त्विकाहंकार से उत्पन्न होने वाले इन्द्रियों की पुष्टि पंचभूतों से हुआ करती है। यह अर्थ महाभारत से प्रमाणित है। इन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न होते हैं, पंचभूतों से पुष्ट होते हैं, इस मर्म को बिना समझे ही वैशेषिकों ने इन्द्रियों को भौतिक घोषित किया है। इन्द्रियों को भौतिक मानने पर भी प्रतिपुरुष व्यवस्था कही जा सकती है। जिस प्रकार आकाशादि पंचमहाभूत सब पुरुषों के साधारण होने पर भी उनके परिणामरूप शरीर प्रतिपुरुष व्यवस्थित रहते हैं, अतएव यह कहा जाता है कि यह शरीर इस जीव का है उस जीव का नहीं। इसी प्रकार ही पंचमहाभूतों के परिणामात्मक इन्द्रिय, विलक्षण परिणाम होने के कारण प्रतिपुरुष व्यवस्थित रहते हैं। अतएव यहाँ पर भी यह कहा जा सकता है कि ये इन्द्रिय इस जीव का है, उस जीव का नहीं। इस प्रकार इन्द्रियव्यवस्था इन्द्रियों को भौतिक मानने वालों के मत में भी घट जाती है। किन्तु द्वैताद्वैतवादियों के मत में यह व्यवस्था तभी घट सकती है जब जीव उसी प्रकार ब्रह्म का परिणाम हों जिस प्रकार इन्द्रिय भूतों का परिणाम है। जीव तो ब्रह्म का परिणाम नहीं बन सकते क्योंकि वे शास्त्र में अज अर्थात् उत्पत्तिरहित एवं नित्य कहे गये हैं।

द्वैताद्वैतमते आपादितस्य ब्रह्मसविकारत्वसदोषत्वदूषणस्य समर्थनम्

द्वैताद्वैत मत में आपादित ब्रह्मसदोषत्वदूषण का प्रकारान्तर से समर्थन

ब्रह्मण्यच्छेद्ये निरवयवे निर्विकारे त्वनियमेनानन्तहेयोपाधिसंसर्गदोषो दुष्परिहर एवेति श्रद्दधानानामेवायं पक्ष इति शास्त्रविदो न बहु मन्यन्ते। स्वरूपपरिणामाभ्युपगमादविकारत्वश्रुतिर्बाध्यते निरवद्यता च, ब्रह्मणः शक्तिपरिणाम इति चेत्, केयं शक्तिरुच्यते, किं ब्रह्मपरिणामरूपा? उत ब्रह्मणोऽनन्या काऽपीति? उभयपक्षेऽपि स्वरूपपरिणामोऽवर्जनीय एव।

द्वैताद्वैतवादियों के मत में यह दोष लग ही जाता है कि जो ब्रह्म निरवयव एवं निर्विकार होने से अच्छेद्य है उसी ब्रह्मस्वरूप में ही अनन्तदोषनिधि उपाधि लगकर उसे दूषित करते हैं, ब्रह्म निर्दोष नहीं बन सकता। इस दोष का परिहार होता ही नहीं। अतएव शास्त्रज्ञों ने यह माना है यह द्वैताद्वैतपक्ष उन लोगों की ही मान्यता को प्राप्त कर सकता है जो न्यायनिरूपण में असमर्थ हैं, तथा उपदेशमात्र से तृप्त हैं, मनन करने में असमर्थ हैं। यह पक्ष शास्त्रज्ञों के बहुमान का पात्र नहीं बन सकता।

किंच, द्वैताद्वैतवादियों ने यह भी माना है कि ब्रह्मस्वरूप ही अचेतन जडवस्तु के रूप में परिणत होता है। उनका यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में ब्रह्म निर्विकार एवं निर्दोष नहीं बन सकता। ब्रह्म के निर्विकारत्व एवं निर्दोषत्व बतलाने वाली श्रुतियों का बाध होता है। इस दोष को दूर करने के लिये यदि द्वैताद्वैतवादी यह कहें कि अचेतन के रूप में ब्रह्म परिणत नहीं होता, किन्तु ब्रह्म की शक्ति परिणत होती है, तब यह प्रश्न उठता है कि वह शक्ति क्या ब्रह्म का परिणाम रूप है, या ब्रह्म ही है? दोनों पक्षों में भी ब्रह्म का स्वरूप परिणाम मानना ही होगा क्योंकि यदि शक्ति ब्रह्म का परिणाम है, तो इस पक्ष में मानना होगा कि ब्रह्म शक्तिरूप से परिणत होता है। यदि शक्ति ब्रह्मस्वरूप है तो शक्तिपरिणाम एवं ब्रह्मपरिणाम एक ही पदार्थ है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म का परिणाम मानना होगा। ब्रह्म का स्वरूप परिणाम मानने पर ब्रह्म के निर्विकारत्व एवं निर्दोषत्व को बतलाने वाली श्रुतियाँ अवश्य बाधित होकर अप्रमाण बन जायेंगी। इस विचार से सिद्ध होता है श्रीभास्कराचार्यसंमत द्वैताद्वैतवाद समीचीन नहीं। इस प्रकार समालोचना करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने भास्कराचार्यसंमत द्वैताद्वैतवाद को अमान्य ठहराया है।

यादवप्रकाशाचार्यसंमतस्वाभाविकद्वैताद्वैतवादस्य समालोचनम्

श्रीयादवप्रकाशाचार्यसंमत स्वाभाविक द्वैताद्वैतवाद का निराकरण

यादवप्रकाशाचार्यमते ईश्वरनिर्दोषताया असिद्धिः

यादवप्रकाशाचार्य मत में ईश्वर में निर्दोषता की असिद्धि

तृतीयेऽपि पक्षे जीवब्रह्मणोर्भेदवदभेदस्य चाभ्युपगमात्, तस्य च तद्भावात् सौभरिभेदवत् स्वावतारभेदवच्च सर्वस्येश्वरभेदत्वात् सर्वे जीवगता दोषास्तस्यैव स्युः ।

ग्रन्थ के आरम्भ में श्रीयादवप्रकाशाचार्य का द्वैताद्वैतवाद तृतीय मत के रूप में वर्णित है। श्रीभास्कराचार्यसंमत द्वैताद्वैतवाद-जिस पर समालोचना की गई है-तथा श्रीयादवप्रकाशाचार्यसंमत द्वैताद्वैतवाद में यह अन्तर है कि श्रीभास्कराचार्य ने जीव और ब्रह्म में भेदाभेद को मानते हुये यह कहा कि इनमें अभेद स्वाभाविक है, तथा भेद औपाधिक है क्योंकि वह अन्तःकरण आदि उपाधियों के कारण हुआ करता है। श्रुति में मोक्षदशा में जीव और ब्रह्म का अभेद कहा गया है। सब तरह के उपाधियों से छुटकारा पाने पर मुक्ति प्राप्त होती है। उस दशा में अभेद का वर्णन है इसलिये अभेद को स्वाभाविक मानना चाहिये, तथा मिटने वाले भेद को औपाधिक मानना चाहिये। अचेतन और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों स्वाभाविक हैं क्योंकि श्रुतियों में सबको ब्रह्मात्मक कहा गया है, इसलिये अचेतन और ब्रह्म में अभेद मानना पड़ता है, वैसे ही श्रुतियों में अचेतन को दोषयुक्त एवं ब्रह्म को निर्मल कहा गया है। इसलिये इनमें भेद भी मानना पड़ता है। यह भास्कराचार्य का मत है। यादवप्रकाशाचार्य के मत में ब्रह्म और जीव में भेदाभेद माने जाते हैं दोनों ही स्वाभाविक माने जाते हैं क्योंकि श्रुतियों में मोक्ष में जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद का वर्णन पाया जाता है। इसलिये दोनों को स्वाभाविक मानना पड़ता है। अचेतन और ब्रह्म में भेदाभेद हैं, दोनों ही स्वाभाविक हैं। यही इन दोनों मतों में अन्तर है। दोनों मतों में इस बात में समता है कि दोनों में ही प्रपञ्च सत्य माना गया है। दोनों आचार्यों ने यह कहा है कि प्रपञ्च को सत्य मानने पर ही बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध होगी, तथा अपने २ सिद्धान्तों को सिद्ध करने वाले प्रमाण भी प्रमाण सिद्ध होंगे, इसलिये प्रपञ्च को सत्य मानना चाहिये। इस प्रकार इन दोनों मतों में कुछ अंश में समता और कुछ अंशों में अन्तर विद्यमान हैं, जो ध्यान देने योग्य है।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीयादवप्रकाशाचार्यसंमत द्वैताद्वैतवाद पर समालोचना करते हुये यह कहा है कि इस मत में जीव और ब्रह्म में जिस प्रकार भेद माना जाता है उसी प्रकार अभेद भी माना जाता है। वह ब्रह्म ईश्वर ही है, ईश्वर से अतिरिक्त नहीं। यद्यपि यादवप्रकाशाचार्य ने ब्रह्म को अंशी तथा चेतन अचेतन और ईश्वर को ब्रह्म का अंश माना है, परन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं, क्योंकि

ईश्वर ही ब्रह्म है, क्योंकि जगत्कारणत्व ब्रह्म का लक्षण माना गया है। श्रुतियाँ ईश्वर को ही जगत् का कारण सिद्ध करती हैं। इसलिये ईश्वर को ही ब्रह्म मानना चाहिये। किंच "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" यह श्रुति ईश्वर के विषय में यह कहती है कि ईश्वर के समान कोई नहीं, तथा ईश्वर से बढ़कर भी कोई नहीं। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। यदि यादवप्रकाशाचार्य मत के अनुसार ईश्वर ब्रह्म का अंश होता, तथा ब्रह्म ईश्वर का अंशी होता तो अवश्य ब्रह्म ईश्वर से श्रेष्ठ होगा, ऐसी स्थिति में उपर्युक्त श्रुति बाधित हो जायेगी। इसलिये ईश्वर को ही ब्रह्म मानना चाहिये। ब्रह्म और ईश्वर एक ही तत्त्व है। यादवप्रकाशाचार्य के मत में ब्रह्म और जीव में अभेद भी माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ही जीवभाव को प्राप्त हुआ है। ईश्वर सर्वज्ञ है इसलिये उनके मत के अनुसार ईश्वर सदा यह समझता रहेगा कि मैं ही अनन्त जीवभाव को प्राप्त हुआ हूँ जीवों को होने वाले दुःख आदि दोष मुझे ही हो रहे हैं। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता कि जीवों के शरीर भिन्न २ हैं, शरीरभेद के कारण दूसरे शरीरों में होने वाले सुख दुःख आदि का पता ईश्वर को नहीं, इसलिये ईश्वर में दोष नहीं लगते, क्योंकि यदि समझने वाला आत्मा एक है तो शरीरभेद समझ को रोक नहीं सकते, किसी भी शरीर में रहता हुआ वह आत्मा अन्यान्य शरीरों में होने वाले सुख दुःख आदि को समझता ही रहेगा। पुराणों में यह कथा वर्णित है कि सौभरिनामक योगी जीव ने पचास शरीरों को धारण किया, वह जीव किसी भी शरीर में होने वाले सुख दुःख आदि को उसी प्रकार समझता ही रहा जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाले सुख दुःख आदि को मनुष्य समझता रहता है। जिस प्रकार आत्मा एक होने पर अंगभेद अनुसन्धान को रोक नहीं सकता उसी प्रकार ही शरीरभेद भी अनुसन्धान को रोक नहीं सकता। किंच, ईश्वर ने समय २ पर विभिन्न अवतार लिये हैं। किसी भी अवतार में हुई घटना को वह दूसरे अवतार में भी समझता रहा। वहाँ अवतारशरीरभेद ने अनुसन्धान को रोका नहीं, क्योंकि वहाँ समझने वाले आत्मा ईश्वर एक है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जहाँ समझने वाला आत्मा एक है वहाँ शरीरभेद अनुसन्धान को रोक नहीं सकता। किसी भी शरीर में होने वाले सुख और दुःख आदि को दूसरे शरीर में रहकर भी वह आत्मा समझता ही रहेगा। इसलिये इस द्वैताद्वैत मत में जीव और ईश्वर में अभेद मानने के कारण यह दोष लग ही जाता है कि सर्वज्ञ ईश्वर को सदा यह अनुसन्धान बना रहेगा कि हम ही विविध शरीरों में विविध जीवों के रूप में रहकर विविध सुख और दुःख आदि को भोगते रहते हैं। इस प्रकार ईश्वर में जीवगत सभी दोष लग जायेंगे, ईश्वर निर्दोष न रह सकेगा। उसके निर्दोषत्व को बतलाने वाली श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी।

उपर्युक्तदोषस्य स्पष्टीकरणं स्वमते ब्रह्मणो निर्दोषतायाः प्रतिपादनं च

उपर्युक्त दोष का स्पष्टीकरण तथा स्वमत में ब्रह्मनिर्दोषता का प्रतिपादन

एतदुक्तं भवति—ईश्वरः स्वरूपेणैव सुरनरतिर्यक्स्थावरादिभेदेनावस्थित इति हि तदात्मकत्ववर्णनं क्रियते, तथा सत्येकमृत्पिण्डारब्धघटशरावादिगतान्युदकाहरणादीनि सर्वकार्याणि यथा तस्यैव भवन्ति, एवं सर्वजीवगतसुखदुःखादि सर्वमीश्वरगतमेव स्यादिति । घटकरकादिसंस्थानानुपयुक्तमृद्द्रव्यं यथा कार्यान्तरानन्वितम्, एकमेव सुरपशुमनुजादिजीवत्वानुपयुक्तेश्वरः सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पत्वादिकल्याणगुणाकर इति चेत्—सत्यम्, स एवेश्वर एकेनांशेन कल्याणगुणाकरः, स एवान्येनांशेन हेयगुणाकर इत्युक्तम्, द्वयोरंशयोरीश्वरत्वाविशेषात् । द्वावंशौ व्यवस्थिताविति चेत्—कस्तेन लाभः, एकस्यैवैकेनांशेन नित्यदुःखित्वात्, अंशान्तरेण सुखित्वमपि नेश्वरत्वाय कल्पते । यथा देवदत्तस्यैकस्मिन् हस्ते चन्दनपङ्कानुलेपः केयूरकटकांगुलीयालङ्कारः, तस्यैवान्यस्मिन् हस्ते मुद्गराभिघातः कालानलज्वालानुप्रवेशश्च, तद्वदेवेश्वरस्य स्यादिति ब्रह्माज्ञानपक्षादपि पापीयानयं भेदाभेदपक्षः, अपरिमितदुःखस्य पारमार्थिकत्वात्, संसारिणामनन्तत्वेन दुस्तरत्वाच्च । तस्माद्विलक्षणोऽयं जीवांश इति चेत्, आगतोऽसि तर्हि मदीयं पन्थानम्, ईश्वरस्य स्वरूपेण तादात्म्यवर्णने स्यादयं दोषः, आत्मशरीरभावेन तु तादात्म्यप्रतिपादने न कश्चिद्दोषः । प्रत्युत निखिलभुवननियमनादिर्महानयं गुणगणः प्रतिपादितो भवति, सामानाधिकरण्यं च मुख्यवृत्तम् ।

इस दोष का विवरण करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि श्रीयादवप्रकाशाचार्य ने "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेद श्रुतियों का भाव बतलाते हुये यह सिद्ध किया कि ईश्वर अपने स्वरूप से ही देव मनुष्य तिर्यक् और स्थावर इत्यादि विभिन्न रूपों में अवस्थित है । ईश्वर और देव मनुष्य आदि में स्वरूपैक्य है । इस प्रकार उन्होंने अभेद की व्याख्या की है । यह समीचीन नहीं क्योंकि इस प्रकार व्याख्या करने पर यह दोष आ जाता है कि जिस प्रकार मृत्पिण्ड से बने हुये घट और शराव आदि से होने वाले जलाहरण इत्यादि व्यवहार मृत्तिका का व्यवहार बनते हैं क्योंकि मृत्तिका और घटादिपदार्थ स्वरूप से एक हैं उसी प्रकार ही सर्व जीवों में होने वाले सुख दुःख इत्यादि सब ईश्वर के माने जायेंगे क्योंकि उनके मत में जीव और ईश्वर में स्वरूपैक्य है । यादवप्रकाशाचार्य उपर्युक्त दोष का निराकरण करने के लिये यह कहते हैं कि मृत्तिका का जो अंश घट और शराव आदि के रूप में परिणत हुआ है वह उदकाहरणादि कार्यों से सम्बन्ध रखता है, परन्तु जो मृत्तिका का महान् अंश घट और शराव आदि के रूप में परिणत नहीं हुआ है वह उन कार्यों से सम्बन्ध नहीं रखता है । उसी प्रकार ही ईश्वर का जो अंश देव मनुष्य और पशु

इत्यादि रूप को प्राप्त हो गया है, वह भले ही जीवगत सुख दुःख आदि को अपनाते रहें, परन्तु ईश्वर का जो महान् अंश इन जीवों के रूप में परिणत नहीं हुआ है वह सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व इत्यादि कल्याण-गुणों का आकर बनकर रहता है। यादवप्रकाशाचार्य का यह प्रतिपादन भी समीचीन नहीं क्योंकि इस प्रतिपादन के अनुसार यही फलित होता है कि ईश्वर एक अंश में कल्याणगुणों का आकर बनकर रहता है, तथा दूसरे अंश में त्याज्य दुर्गुणों का आकर बनकर रहता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर में निर्दोषता कैसे सिद्ध होगी ? इस पर श्रीयादवप्रकाशाचार्य कहते हैं कि ईश्वर के ये दोनों अंश व्यवस्थित हैं, ईश्वर के जिस अंश में सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व इत्यादि जो कल्याणगुण रहते हैं, वे उस अंश को छोड़कर दूसरे अंश में कभी नहीं पहुँचते, तथा ईश्वर के जिस अंश में—जो जीवों के रूप में परिणत हो गया है—दुःख इत्यादि दुर्गुण रहते हैं, वे दुर्गुण भी उस अंश को छोड़कर दूसरे अंश में कभी नहीं पहुँचते। इस प्रकार दोनों अंश व्यवस्थित रहते हैं। श्रीयादवप्रकाशाचार्य के इस उपपादन से भी कुछ लाभ नहीं होगा क्योंकि ईश्वर परमात्मा है, उसके किसी भी अंश में होने वाले गुणदोष आदि का अनुसन्धान उसको होता ही रहेगा। वह यही समझता रहेगा कि मैं एक अंश में अनन्त जीव बनकर अनन्त दुःखों को भोगता आ रहा हूँ, दूसरे अंश में सुखी बनकर रहता हूँ। ऐसी स्थिति में ईश्वर का ईश्वरत्व सिद्ध नहीं होगा, वह तभी सिद्ध होगा जब ईश्वर सभी अंशों में सदा अपार आनन्द रस का अनुभव करता रहेगा। यादवप्रकाश के मत के अनुसार ईश्वर को एक अंश में नित्यदुःखी बने रहने के कारण दूसरे अंश में होने वाला सुखित्व ईश्वरत्व का साधक नहीं हो सकता। उदाहरण—मान लिया जाय कि देवदत्त का एक हाथ चन्दनपङ्क से लीपा जाता है, तथा केयूर कटक और अंगुलीयक इत्यादि भूषणों से अलंकृत किया जाता है, उसी के दूसरे हाथ में मुद्गर से मारा जाता है तथा प्रलयकाल की अग्नि की ज्वाला का प्रवेश कराया जाता है। इस परिस्थिति में देवदत्त की जो दशा होती है वही दशा उस ईश्वर की होगी जिसको एक अंश में चन्दनपङ्क लेप के समान ऐहिक अल्प सुख प्राप्त होता रहेगा तथा भूषणालंकार के समान मोक्ष सुख भी प्राप्त होता रहेगा, एवं दूसरे अंश में मुद्गराभिघात के समान ऐहिक अल्प दुःख भी प्राप्त होता रहेगा तथा कालाग्नि-ज्वालाप्रवेश के समान अनन्त नरकदुःख भी प्राप्त होता रहेगा। कणमात्ररूप में उपस्थित दुःख का भी यह स्वभाव देखा गया है कि वह अधिक सुखों को भी दबाकर आत्मा को अपनी अनुभूति कराता ही रहता है। ऐसी स्थिति में यही मानना पड़ता है कि उपर्युक्त देवदत्त अपने को दुःखी ही मानता है, अपने को सुखी नहीं मानता। उसी प्रकार प्रकृत में ईश्वर अपने को दुःखी ही मानेगा सुखी नहीं। श्रीयादव-प्रकाशाचार्यसंमत यह भेदाभेदपक्ष तथा श्रीभास्कराचार्यसंमत भेदाभेदपक्ष श्रीशंकराचार्यसंमत ब्रह्माज्ञानपक्ष से भी अधिक दूषित है क्योंकि जब शंकराचार्य से यह पूछा जाता है कि आपके मत में जीव और ब्रह्म में स्वरूपैक्य माना जाता है, यह सम्पूर्ण सांसारिक दुःख ब्रह्म को ही भोगना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म निर्दोष कैसे सिद्ध होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य यह कहकर कि—ये सभी दुःख मिथ्या हैं,

वास्तव में ब्रह्म को कुछ भी भोगना नहीं पड़ता, ब्रह्म वास्तव में सदा निर्दोष बनकर ही रहता है—साफ निकल जाते हैं। यदि यही प्रश्न भास्कराचार्य और यादवप्रकाशाचार्य के समक्ष रक्खा जाय तो वे श्रीशंकराचार्य की तरह उत्तर नहीं दे सकते क्योंकि इनके मत में संसार सत्य है, अतएव यह अपार दुःख भी सत्य है। जीव अनन्त हैं। इनके मत के अनुसार ब्रह्म ही अनन्त जीव बना है। इन अनन्त संसारी जीवों के दुःख ब्रह्म को प्राप्त होते रहेंगे ब्रह्म कभी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। इस विवेचन से सिद्ध होता है श्रीशंकराचार्य के ब्रह्माज्ञानपक्ष से इन दोनों के भेदाभेदपक्ष अधिक दोषदूषित सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त दोष से बचने के लिये यदि यादवप्रकाशाचार्य यह कहें कि जीव ब्रह्म का अंश है वह ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है, तो वे विशिष्टाद्वैतमत के समीप में आ जायेंगे। अतएव श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह कहा कि आप हमारे मार्ग पर आ गये हैं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में चेतनाचेतनों से विशिष्ट ईश्वरतत्त्व ब्रह्म माना जाता है। इस विशिष्ट ब्रह्मतत्त्व में चेतन विशेषण है। विशेषण विशिष्ट का अंश है, इस दृष्टि से जीव ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है। विशेषण विशेष्य से सर्वथा भिन्न होता है, इस दृष्टि से जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है। यदि यादवप्रकाशाचार्य जीव को ईश्वर से अत्यन्त भिन्न ब्रह्मांश मानेंगे, तब उन्हें श्रीविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त को अपनाना होगा। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में जीव और ब्रह्म में स्वरूपैक्य नहीं माना जाता। यादवप्रकाशाचार्य इत्यादि के मत में जीव और ब्रह्म में स्वरूपैक्य माना जाता है इसलिये उपर्युक्त दोष लग जाते हैं। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में शरीरात्मभाव सम्बन्ध को लेकर ऐक्य कहा जाता है। इसलिये ब्रह्म में कोई भी दोष नहीं लगता, किन्तु ईश्वर में अनन्त गुण ही सिद्ध होते हैं क्योंकि चेतनाचेतन और ईश्वर में आत्मशरीरभाव सम्बन्ध मानने पर यह सिद्ध होता है कि चेतनाचेतन ईश्वर का शरीर बनकर ईश्वर के द्वारा धृत रहते हैं, ईश्वर के नियन्त्रण में रहते हैं, तथा ईश्वर के मुखोल्लासार्थ उनके शेष बनकर रहते हैं। ईश्वर उन चेतनाचेतनों का आत्मा है इनका धारक नियन्ता एवं स्वामी है। शरीरात्मभाव को मानने पर ईश्वर में इस प्रकार अनन्त कल्याणगुण सिद्ध होते हैं। यह अर्थ पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदपरक वचन मुख्यार्थ को लेकर समन्वय पाते हैं, गौणार्थ को लेने की आवश्यकता नहीं रहती। विशिष्टाद्वैतमत में यही महान् गुण है कि इस मत में सभी श्रुतियों का समन्वय होता है, तथा ब्रह्म निर्दोष एवं कल्याणगुणनिधि सिद्ध होता है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य स्वामी जी ने यादवप्रकाशसंमत द्वैताद्वैतवाद की समालोचना करके विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त की महत्ता का प्रतिपादन किया है।

सार्वत्रिकभेदाभेदवादस्य खण्डनम्

सार्वत्रिक भेदाभेदवाद का निराकरण

अपि च एकस्य वस्तुनो हि भिन्नाभिन्नत्वं विरुद्धत्वान्न सम्भवतीत्युक्तम् । घटस्य पटाद्भिन्नत्वे सति तस्मिन्नभावः, अभिन्नत्वे सति तस्य च भाव इति एकस्मिन्काले चैकस्मिन्देशे चैकस्य हि पदार्थस्य युगपत्सद्भावोऽसद्भावश्च विरुद्धः । जात्यात्मना भावो व्यक्त्यात्मना चाभाव इति चेत्, जातेर्मुण्डेन व्यक्त्या चाभेदे सति खण्डे मुण्डस्यापि सद्भावप्रसङ्गः, खण्डेन च जातेरभिन्नत्वे सद्भावः, भिन्नत्वे असद्भावः, अश्वे महिषत्वस्येवेति विरोधो दुष्परिहर एव ।

अब तक श्रीरामानुज स्वामी जी ने द्वैताद्वैतवादियों के उस सिद्धान्त—कि श्रुति जीव एवं ब्रह्म में भेदाभेद को बतलाती है—का खण्डन किया है। आगे इस वाद का खण्डन करते हैं कि जो यह कहा जाता है कि सभी पदार्थ भिन्न एवं अभिन्न होते हैं। इस भेदाभेदवाद को जैन और मीमांसकों ने भी अपनाया है। श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न एवं अभिन्न नहीं बन सकती क्योंकि भिन्नत्व एवं अभिन्नत्व परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। लोक में कहा जाता है कि घट पट से भिन्न है। यहाँ घट में पट की अपेक्षा भेद कहा जाता है। यहाँ भेद क्या वस्तु है ? यहाँ घट में ऐसा एक धर्म है जो पट में नहीं है। वह धर्म घटत्व है क्योंकि घटत्व घट में ही रहता है, पट में नहीं। घट में जो पट से भेद रहता है, वह भेद घटत्व धर्म ही है। घट पट से भिन्न है, ऐसा कहने से यह सिद्ध होता है कि पट में घटत्व धर्म नहीं है। घट पट से अभिन्न है, यदि ऐसा कहा जाय तो यही फलित होगा कि घटत्व धर्म पट में है। यदि घट को पट से भिन्नाभिन्न कहा जाय तो यही फलित होगा कि घटत्व धर्म पट में नहीं तथा है भी। यहाँ पर यह मानना होगा कि एक काल में एक वस्तु में अर्थात् पट में एक पदार्थ का अर्थात् घटत्व का सद्भाव एवं असद्भाव दोनों हैं। ये विरुद्ध हैं क्योंकि एक काल में एक वस्तु में एक पदार्थ का सद्भाव एवं असद्भाव हो नहीं सकता। या तो सद्भाव ही होगा या असद्भाव ही, दोनों एक साथ नहीं रह सकते। सब वस्तुओं को भिन्नाभिन्न मानने वालों को एक वस्तु में विरुद्ध धर्मों का समावेश मानना पड़ता है। पर वैसा समावेश सम्भव नहीं। इससे सिद्ध होता है सब पदार्थों के विषय में कहा जाने वाला यह भेदाभेदवाद अनुभवविरुद्ध है।

इस पर भेदाभेदवादी कहते हैं कि एक वस्तु में भेदाभेद अनुभवविरुद्ध नहीं है। भेदाभेदवाद का समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है। लोक में गोव्यक्ति भिन्न २ प्रकार के होते हैं। एक गोव्यक्ति विना सींग का है वह मुण्ड कहलाता है। दूसरे गोव्यक्ति का सींग थोड़ा कट गये हैं, वह व्यक्ति खण्ड कहा जाता है। वहाँ यह कहा जा सकता है कि एक गोव्यक्ति दूसरे गोव्यक्ति के साथ गोत्वजाति की दृष्टि से

अभिन्न है, तथा व्यक्ति के रूप से भिन्न है। इस प्रकार एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ भेदाभेद सिद्ध हो जाता है। यह भेदाभेदवादियों का कथन है। इसका खण्डन करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि यह कहकर—कि एक गोव्यक्ति दूसरे गोव्यक्ति के साथ जाति के रूप में अभिन्न है, तथा व्यक्ति के रूप में भिन्न है—गोव्यक्तियों में जो भेदाभेद सिद्ध किया गया है वह तभी सिद्ध होगा यदि जाति और व्यक्तियों में भेदाभेद सिद्ध किया जाय। यदि जाति और व्यक्ति भिन्न होते तो उपर्युक्त व्यवहार के अनुसार जाति में अभेद और व्यक्ति में भेद सिद्ध होगा। एक वस्तु में दोनों की सिद्धि नहीं होगी। यदि जाति और व्यक्ति में अभेद माना जाय तो खण्ड में मुण्डत्व मानना होगा क्योंकि खण्ड व्यक्ति और मुण्ड व्यक्ति का गोत्वजाति के साथ अभेद मानने पर उस जाति से अभिन्न बनने वाली इन व्यक्तियों में भी अभेद उपस्थित होगा। खण्ड व्यक्ति को मुण्ड व्यक्ति के साथ अभेद होने पर मुण्ड व्यक्ति में विद्यमान मुण्डत्व को खण्ड व्यक्ति में भी मानना होगा। यह अनुचित है क्योंकि मुण्डत्व मुण्ड व्यक्ति में ही रह सकता है, खण्ड व्यक्ति में नहीं। जाति और व्यक्ति में अभेद मानने पर उपर्युक्त दोष आता है। इसलिये जाति और व्यक्ति में अभेद नहीं मानना चाहिये। यदि जाति और व्यक्ति में भेदाभेद माने, तो भी दोष उपस्थित होता है। वह यह है कि जाति और व्यक्ति में अभेद होने के कारण उपर्युक्तरीति से खण्ड में मुण्डत्व मानना होगा। इसका विवरण अभेदपक्ष के खण्डन में दिया गया है। तथा इस भेदाभेदपक्ष में जाति का व्यक्ति के साथ भेद भी मानना होगा, मानने पर खण्ड व्यक्ति मुण्ड व्यक्ति से भिन्न हो जायेगी, तब मुण्ड व्यक्ति में स्थित मुण्डत्व खण्ड व्यक्ति में आने नहीं पावेगा, खण्ड में मुण्डत्व का अभाव सिद्ध होगा जिस प्रकार अश्व व्यक्ति और महिष व्यक्ति भिन्न होने के कारण अश्व व्यक्ति में महिषत्व का अभाव रहता है, उसी प्रकार ही जाति और व्यक्ति में भेदाभेद मानने पर जाति और व्यक्तियों में भेद मानना होगा, भेद मानने पर व्यक्ति भी परस्पर भिन्न सिद्ध होंगे। तब मुण्ड व्यक्ति में स्थित मुण्डत्व का अभाव खण्ड व्यक्ति मानना होगा, तथा जाति व्यक्तियों के इस भेदाभेदवाद में जाति और व्यक्ति में अभेद मानना होगा, तब व्यक्तियों में भी जाति की दृष्टि से अभेद होगा। तब व्यक्ति परस्पर में अभिन्न होने के कारण मुण्ड व्यक्ति में स्थित मुण्डत्व को खण्ड व्यक्ति में भी मानना होगा। इस प्रकार इस भेदाभेदपक्ष में भेद के बल पर खण्ड में मुण्डत्व का अभाव तथा अभेद के बल पर खण्ड में मुण्डत्व का सद्भाव मानना होगा। यह उचित नहीं क्योंकि एक काल में एक वस्तु में एक पदार्थ का सद्भाव एवं असद्भाव साथ नहीं रह सकते। इस विरोध का परिहार होता ही नहीं। इस प्रकार जाति और व्यक्ति में अभेद एवं भेदाभेद को मानने पर उपर्युक्त दोष आते हैं। जाति और व्यक्ति में भेद मानने पर व्यक्तियों में भेदाभेद सिद्ध होता ही नहीं। इसलिये यह निर्णय देना पड़ता है कि भेदाभेद-वाद किसी तरह से भी सिद्ध नहीं होता।

जिस प्रकार जाति और व्यक्ति में भेदाभेद को मानकर भेदाभेदवादी व्यक्तियों में भी भेदाभेद को सिद्ध करना चाहते हैं, वैसे ही यादवप्रकाशाचार्य अवस्था और द्रव्य में भेदाभेद को मानकर घट और

ाराव इत्यादि विभिन्न पदार्थों में भी भेदाभेद को इस प्रकार सिद्ध करना चाहते हैं कि घट और शराव र्तिका द्रव्य के रूप में एक हैं, तथा अवस्थाओं की दृष्टि से भिन्न हैं। यादवप्रकाशाचार्य का यह भेदाभेद-ाद भी उपर्युक्तरीति से अवस्था और द्रव्य में भेदाभेद अनुपपन्न होने के कारण खण्डित हो जाता है।

भेदाभेदवादिभिरुक्तस्य हेतुचतुष्कस्य खण्डनम्

भेदाभेदवादियों द्वारा वर्णित चार हेतुओं का निराकरण

जात्यादेर्वस्तुसंस्थानतया वस्तुनः प्रकारत्वात् प्रकारप्रकारिणोश्च पदार्थान्तरत्वम्, प्रकारस्य पृथक्सिद्ध्यनर्हत्वं पृथगनुपलम्भश्च, तस्य च संस्थानस्य चानेकवस्तुषु प्रकार-तयाऽवस्थितिश्चेत्यादि पूर्वमेवोक्तम् ।

जाति और व्यक्ति में भेदाभेद को मानने वाले वादी चार हेतुओं से भेदाभेद को सिद्ध करते हैं। वे प्रथम हेतु को उपस्थापित करते हुये कहते हैं, जाति और व्यक्ति में भेद को सभी मानते ही हैं, अभेद को भी मानना होगा क्योंकि सर्वप्रथम किसी गोव्यक्ति को देखते समय गोत्वजाति और गोव्यक्ति अभिन्नरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिये भेदाभेद को मानना चाहिये। यह उनका प्रथम हेतु है। यह समीचीन नहीं है क्योंकि सर्वप्रथम किसी भी गोव्यक्ति को देखते समय "यह गौ है" ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रतीति में गोव्यक्ति विशेष्यरूप में तथा गोत्वजाति प्रकाररूप में झलकती है। विशेष्य और प्रकार भिन्न २ ही होते हैं, उनमें ऐक्य असंभव है। यह प्रतीति ही जब उनको भिन्नरूप में दीखती है, तब उनमें अभेद कैसे माना जा सकता है। इस प्रकार उनका प्रथम हेतु हेत्वाभास ठहरता है।

उनका द्वितीय हेतु सहोपलम्भ नियम है। वे इस हेतु को रखकर यह बतलाते हैं कि जाति और व्यक्ति साथ २ जाने जाते हैं इसलिये इनमें अभेद मानना चाहिये। इनका यह द्वितीय हेतु भी हेत्वाभास है। यहाँ प्रकाररूप में प्रतीत होने वाली जाति सदा व्यक्ति के साथ ही रहती है, कभी भी व्यक्ति को छोड़कर रह नहीं सकती है अतएव उसकी व्यक्ति के साथ ही प्रतीति होती है, व्यक्ति को छोड़कर प्रतीति नहीं होती। इसमें कारण यह नहीं कि उनमें अभेद है, किन्तु कारण यही है कि ये दोनों साथ ही रहने वाले तथा साथ ही प्रतीत होने वाले हैं। यह उनका स्वभाव है। इससे उनमें अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार उनका यह द्वितीय हेतु भी हेत्वाभास सिद्ध हो जाता है।

वे तृतीय हेतु को उपस्थित करते हुये यह कहते हैं कि जहाँ दोनों विभिन्न पदार्थों में एक विशेषण और दूसरा विशेष्य बनकर रहता है, वहाँ संस्कृत में मत्त्वर्थीय प्रत्यय तथा भाषा में "वाला" ऐसा शब्द प्रयुक्त होता है। उदाहरण—दण्ड और पुरुष भिन्न २ पदार्थ हैं, वहाँ जब दण्ड विशेषण बनकर तथा पुरुष विशेष्य

बनकर रहता है, वहाँ "दण्डवाला पुरुष" ऐसा कहा जाता है। प्रकृत में "यह गौ है" ऐसा कहा जाता है, "यह गोवाला है" ऐसा नहीं कहा जाना इससे प्रतीत होता है कि गोत्वजाति और गोव्यक्ति में अभेद है। उनका यह हेतु भी हेत्वाभास है क्योंकि जहाँ विशेषण और विशेष्य अलग २ रहने योग्य पदार्थ हों, वहाँ उनमें सम्बन्ध होने पर "वाला" इत्यादि मत्त्वर्थीयप्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। दण्ड पुरुष को छोड़कर रह सकता है तथा पुरुष भी दण्ड को छोड़कर रह सकता है, उनमें सम्बन्ध होने पर "वाला" ऐसे मत्त्वर्थीयप्रत्ययों को लगाकर "दण्डवाला पुरुष" ऐसा कहा जाता है। प्रकृत में जाति व्यक्ति को छोड़कर नहीं रहती तथा व्यक्ति भी जाति को छोड़कर नहीं रहता। ऐसा होने के कारण ही जातिवाचक गो आदि शब्द मत्त्वर्थीयप्रत्यय का सहारा लिये विना ही व्यक्ति तक को बतलाने में क्षमता रखते हैं अतएव "यह गौ है" ऐसा कहा जाता है। इससे जाति और व्यक्ति में अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार उनका तृतीय हेतु भी हेत्वाभास सिद्ध हो जाता है।

उन लोगों ने चतुर्थ हेतु को उपस्थापित करते हुये यह कहा कि लोक में कहा जाता है कि यह एक गौ है। यहाँ "एक" ऐसा कहने से गोत्वजाति और गोव्यक्ति में ऐक्य सिद्ध होता है। उनका यह हेतु भी हेत्वाभास ही है क्योंकि "यह गौ एक है" इस कथन से गोत्वजाति और गोव्यक्ति में एकत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु इस कथन से गोव्यक्ति में अनेकत्व का निषेध ही व्यक्त होता है। इस कथन का यही तात्पर्य है कि यहाँ अनेक गौ नहीं हैं, एक ही गौ है। इससे गोत्वजाति और गोव्यक्ति में एकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार यह चतुर्थ हेतु भी हेत्वाभास सिद्ध हो जाता है। इन चार हेत्वाभासों से जाति और व्यक्ति में भेदाभेद की सिद्धि नहीं हो सकती।

आकारविशेषस्य जातित्वसमर्थनम्

आकृति ही जाति है

सोयऽमिति बुद्धिः प्रकारैक्यात् "अयमपि दण्डी" ति बुद्धिवत्।

अब प्रश्न उठता है कि गोत्वादि जाति कौन वस्तु है। शिरिष्टाद्वैती यह उत्तर देते हैं कि जो धर्म सभी गोव्यक्तियों में एकसा रहता हो, गोव्यक्तियों को छोड़कर अन्य व्यक्तियों में नहीं रहता हो, वही गोत्वजाति है। सभी गोव्यक्तियों में सास्ना इत्यादि अवयवों का विलक्षण सन्निवेश एकसा रहता है, यह सन्निवेश गोव्यक्तियों को छोड़कर अन्यत्र नहीं पाया जाता। सास्ना आदि असाधारण धर्म ही गोत्वजाति है। इसी प्रकार ही अन्यान्य जातियों के विषय में समझना चाहिये। उपर्युक्त असाधारण धर्मरूप गोत्वजाति गोव्यक्तियों के प्रति विशेषणरूप में बनी रहती है। ये सब अर्थ पहले निर्विशेषवाद के खण्डन करते समय

एकबार कहे गये हैं। अस्तु। प्रत्येक गोव्यक्ति में रहने वाले सास्नादि पदार्थ भिन्न २ हैं, तथापि एक से हैं, परस्पर सदृश हैं। इसलिये दूसरे व्यक्ति को देखते समय यह कहा जाता है कि यह भी वैसे ही गौ है। यह कथन उस कथन के समान है जो एक दण्ड वाले पुरुष को देखने के बाद दूसरे दण्ड वाले पुरुष को देखते ही मुख से यह निकलता है कि यह भी दण्डवाला पुरुष है। यहाँ पुरुष भी भिन्न है, तथा दण्ड भी भिन्न है, तथापि उनमें समता होने के कारण जिस प्रकार यह कहा जाता है कि यह भी दण्डवाला पुरुष है, उसी प्रकार ही गोव्यक्ति और सास्नादि धर्मों में भेद रहने पर भी इनमें समता होने के कारण यहाँ "यह भी गौ है" ऐसा कहना भी युक्त ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि सास्नादि पदार्थ प्रतिव्यक्ति भिन्न होने पर भी आपस में अत्यन्त सदृश होने के कारण एकरूप व्यवहार के निर्वाहक होते हैं।

गोत्वादिरूपस्यासाधारणधर्मस्य भेदत्वसमर्थनम्

असाधारण धर्म ही भेद है

अयमेव च जात्यादिः प्रकारो वस्तुनो भेद इत्युच्यते तद्योग एव वस्तु भिन्नमिति व्यवहारहेतुरित्यर्थः। स च वस्तुनो भेदव्यवहारहेतुः स्वस्य च, संवेदनवत् यथा संवेदनं वस्तुनो व्यवहारहेतुः स्वस्य व्यवहारहेतुश्च भवति। अतएव च सन्मात्रग्राहि प्रत्यक्षं न भेदग्राहीत्यादिवादा निरस्ताः, जात्यादिसंस्थानसंस्थितस्यैव वस्तुनः प्रत्यक्षेण गृहीतत्वात्, तस्यैव संस्थानरूपजात्यादेः प्रतियोग्यपेक्षया भेदव्यवहारहेतुत्वाच्च स्वरूपपरिणामदोषश्च पूर्वमेवोक्तः।

वस्तु के प्रति विशेषणरूप में प्रतीत होने वाले ये जात्यादि धर्म ही भेद कहलाते हैं। अश्व से गौ में भेद है, यह भेद गोत्व ही है, यह गोत्व अश्व में नहीं रहता, गोव्यक्ति में ही रहता है। इसलिये गौ को अश्व से भिन्न करा देता है। गौ में रहने वाला अश्वभेद गोत्व है, एवं अश्व में रहने वाला गोभेद अश्वत्व है। इसी प्रकार सर्वत्र उन २ असाधारण धर्मों को भेद समझना चाहिये। गौ में रहने वाला अश्वभेद गोत्वरूप है। इसी प्रकार ही गोत्व में भी अश्वभेद है क्योंकि गोत्व अश्व नहीं है। 'गोत्व में रहने वाला अश्वभेद कौन पदार्थ है' यह प्रश्न यहाँ पर उठता है। उसका उत्तर यह है कि गोत्व में रहने वाला अश्वभेद गोत्वरूप ही है। कारण यह है कि जो गोत्व गौ को अश्व से भिन्न सिद्ध करता है वह अपने को अश्व से भिन्न सिद्ध करने में क्षमता रखता है। इसमें उदाहरण ज्ञान है। ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है साथ ही अपने को भी स्वयं प्रकाशित करता है। जो दूसरों का निर्वाहक होगा वह अपना निर्वाह आप ही कर सकता है। इसे ही स्वपरनिर्वाहक न्याय कहते हैं। इसी प्रकार ही गोव्यक्ति को अश्व से भिन्न

सिद्ध करने वाला गोत्व अपने को भी अश्व से भिन्न सिद्ध कर देता है। इसलिये मानना पड़ता है कि गोत्व में रहने वाला अश्वभेद गोत्व ही है। यह गोत्व स्वरूप की दृष्टि से जब कहा जाता है तब गोत्व कहा जाता है। यही गोत्व जब अश्व आदि प्रतियोगियों की दृष्टि से कहा जाता है, तब अश्वभेद कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष भेदरूप गोत्वादि धर्मों से युक्त व्यक्ति का ग्रहण करता है। भेद भी प्रत्यक्ष से ही गृहीत हो जाता है। ऐसी स्थिति में अद्वैतियों का यह कथन—कि प्रत्यक्ष सन्मात्र ब्रह्म का ही ग्रहण करता है, भेद का ग्रहण नहीं करता है— असंगत सिद्ध होता है। इन सब उपपादनों से यादवप्रकाशाचार्य का भेदाभेदमत असमीचीन प्रमाणित हो गया है। जीव और ब्रह्म में अभेद मानने पर ब्रह्म निर्दोष नहीं रहेगा। तथा यादवप्रकाशाचार्य भास्कराचार्य के समान ब्रह्म का स्वरूप परिणाम मानते हैं। यदि ब्रह्म जडवस्तुओं के रूप में परिणत होता है तो वह निर्विकार न ही रह सकता। भास्कराचार्य के मत में कथित उपर्युक्त दोष यादव-प्रकाशाचार्य के मत में भी लग जाता है। इन सब विवेचनों से सिद्ध होता है कि श्रीयादवप्रकाशाचार्य का मत श्रुति और तर्कों से विरुद्ध होने से अनादरणीय है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद श्रीभास्कराचार्य के भेदाभेदवाद तथा श्रीयादवप्रकाशाचार्य के भेदाभेदवाद का खण्डन करके द्वितीय मंगलाचरण श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है।

——

घटकश्रुतिभेदश्रुत्यविरोधेन अभेदश्रुतीनां अर्थवर्णनम्

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन—इस सिद्धान्त में भेदाभेद घटकश्रुतियों का अर्थों का समन्वय

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेदे" त्यादि। "योऽक्षर-मन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद" "यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इत्यादि। "सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" "अनेन जीवे नात्मने" त्यादि। "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति" "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्

एको बहूनां यो विदधाति कामान्" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" इत्यादिश्रुतिशतैः तदुपबृंहणैः "जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्य्यं ते वसुधातलं" "यत्किंचित्सृज्यते येन सत्त्वजातेन वं द्विज। तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" "अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः। सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" इत्यादिवेदविदग्रेसरवाल्मीकि–पराशर–द्वैपायनवचोभिश्च परस्य ब्रह्मणः सर्वस्याऽऽत्मत्वावगमाच्चिदचिदात्मकस्य वस्तुनस्तच्छरीरत्वावगमाच्च, शरीरस्य च शरीरिणं प्रति प्रकारतयैव पदार्थत्वात्, शरीरशरीरिणोश्च धर्मभेदेऽपि तयोरसङ्करात्सर्वशरीरं ब्रह्मेति ब्रह्मणो वैभवं प्रतिपादयद्भिः सामानाधिकरण्यादिभिर्मुख्यवृत्तैः सर्वचेतनाचेतनप्रकारं ब्रह्मैवाभिधीयते। सामानाधिकरण्यं हि द्वयोः पदयोः प्रकारद्वयमुखेनैकार्थनिष्ठत्वम्, तस्य चैतस्मिन्पक्षे मुख्यता। तथा हि–तत्त्व" मिति सामानाधिकरण्ये तदित्यनेन जगत्कारणं सर्वकल्याणगुणाकरं निरवद्यं ब्रह्मोच्यते, त्वमिति च चेतनसमानाधिकरणवृत्तेन जीवान्तर्यामिरूपि तच्छरीरं तदात्मतयाऽवस्थितं तत्प्रकारं ब्रह्मोच्यते।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने मंगलाचरण में अवस्थित द्वितीय श्लोक—जो परमत निरास में तात्पर्य रखता है—की विस्तार से व्याख्या की है। आगे मंगलाचरण में अवस्थित प्रथम श्लोक—जो स्वमत समर्थन में तात्पर्य रखता है, तथा ग्रन्थारम्भ में जिसकी व्याख्या संक्षेप से की गई है—की विस्तार से व्याख्या करते हुये प्रथमतः यह कहते हैं कि घटकश्रुति और भेदश्रुति के अविरुद्ध रूप में अभेदश्रुति का अर्थ करना चाहिये। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तत् त्वमसि" इत्यादि श्रुतियाँ अभेदश्रुतियाँ हैं। ये श्रुतियाँ जगत् और ब्रह्म में तथा जीव और ब्रह्म में अभेद को बतलाती हैं। एवं जगत् और ब्रह्म में तथा जीव और ब्रह्म में भेद को बतलाने वाली श्रुतियाँ भी हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा। ये दो प्रकार की श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध अर्थ बतलाती हैं, ऐसा प्रतीत होता है। इनमें विरोध को शान्त करना चाहिये। अन्यथा दोनों श्रुतियाँ अप्रमाण हो जायेंगी। इनमें विरोध को शान्त कर सामरस्य लाने के लिये कई श्रुतियाँ प्रवृत्त हैं। ये श्रुतियाँ घटकश्रुतियाँ कही जाती हैं। क्योंकि ये श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध भेदाभेद श्रुतियों को संघटित कर देती हैं। इन श्रुतियों का प्रतिपाद्य अर्थ ही ऐसा है जिसको हृदयंगम कर लेने पर उन विरुद्ध श्रुतियों के अर्थों में समन्वय किया जा सकता है। घटकश्रुतियों का प्रतिपाद्य अर्थ यही है कि ब्रह्म अन्तरात्मा है तथा यह चेतनाचेतन प्रपञ्च उसका शरीर है। इससे प्रपञ्च एवं ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध फलित होता है। इससे भेदाभेद श्रुतियों का समन्वय हो जाता है। अब शरीरात्मभाव को बतलाने वाली घटकश्रुतियों का उल्लेख किया जाता है।

(१) काण्वशाखा में यह वचन है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः" अर्थात् जो परमात्मा पृथिवी में रहता है, पृथिवी के अन्दर है,

जिसे पृथिवी नहीं जानती है, पृथिवी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथिवी का नियमन करता है, यही अन्तर्यामी तेरा भी निर्दोष अन्तरात्मा है।

(२) माध्यन्दिन शाखा में यह वचन है कि "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृत:" अर्थात् जो जीवात्मा में रहता है, जो जीवात्मा के अन्दर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता है, जीवात्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वह तेरा निर्दोष अन्तर्यामी आत्मा है। इस प्रकार के अनेक वचन दोनों शाखाओं में उपलब्ध हैं जिनसे सभी पदार्थ ईश्वर का शरीर तथा ईश्वर सबका आत्मा कहा गया है। उदाहृत इन वचनों से चेतनाचेतन प्रपञ्च और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(३) सुबालोपनिषद् में ये वचन उपलब्ध हैं कि "य: पृथिवीमन्तरे संचरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद" इत्यादि। "योऽक्षरमन्तरे सचरन् यस्याक्षर शरीर यमक्षर न वेद" "यो मृत्युमन्तरे संचरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्न वेद, एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" अर्थात् जो पृथिवी के अन्दर संचार करता है अर्थात् कण २ में अवस्थित है, पृथिवी जिसका शरीर है, पृथिवी जिसे नहीं जानती है। इस प्रकार सब जडतत्त्वों का नाम ले लेकर आगे श्रुति "योऽक्षरम्" इत्यादि का वर्णन करती है। उनका यह अर्थ है कि जो अक्षर अविनाशी जीवात्मा के अन्दर रहता है, जीवात्मा जिसका शरीर है, जीवात्मा जिसे नहीं जानता, जो मृत्यु अर्थात् प्रकृति के अन्दर अवस्थित है, प्रकृति जिसका शरीर है, प्रकृति जिसे जानती है। यह सर्वभूतों के अन्तरात्मा पापरहित अद्वितीय दिव्य देव नारायण हैं। इन श्रुतियों से चेतनाचेतन प्रपञ्च एवं ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि वह अन्तर्यामी नारायण देव ही हैं, दूसरा नहीं। उपर्युक्त श्रुतियों में "अमृत" शब्द से अन्तर्यामी का जो निर्दोषत्व कहा गया है, वह इस श्रुति में "अपहतपाप्मा" शब्द से पापरहित कहकर स्पष्ट कर दिया गया है।

(४) मुण्डकोपनिषद् में यह वचन उपलब्ध है कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात् समान गुण वाले एवं मित्र बने हुये दो पक्षी एक वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं, उनमें एक परिपक्व फल को खाता है, दूसरा विना खाये प्रकाशता रहता है। यहाँ दो पक्षियों के रूप में जीवात्मा और परमात्मा कहे गये हैं। वे समान गुण वाले हैं तथा साथ रहने वाले मित्र हैं। ये वृक्ष के समान नष्ट होने वाले एक शरीर का आश्रय ले कर रहते हैं, इनमें एक पक्षी जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता रहता है, दूसरा पक्षी परमात्मा कर्मफल न भोगते हुये सदा चमकता रहता है। यह श्रुति का भावार्थ है। इस श्रुति से एक शरीर में जीवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति, और उनमें अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

(५) यह एक श्रुतिवचन है कि "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" अर्थात् अन्दर प्रविष्ट होकर परमात्मा जनों पर शासन करने वाले होते हैं, अतएव वे सर्वात्मा हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर अन्तःप्रविष्ट होकर सब पर शासन करने से सर्वात्मा है, सबके साथ स्वरूपैक्य के कारण नहीं होते उसका सबके साथ स्वरूपैक्य है ही नहीं।

(६) तैत्तिरीय उपनिषद् में यह वचन उपलब्ध है कि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्चात्यच्चाभवत्" "सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्"। अर्थात् वह परमात्मा इस जगन् में अन्तर्गत सब पदार्थों की सृष्टि करके उसमें अनुप्रविष्ट हो गया, उसमें अनुप्रवेश करके निर्विकार चेतन एवं विकारशील जडपदार्थ के रूप को धारण कर लिया। निर्विकार चेतन एवं विकारयुक्त जडपदार्थ के रूप को धारण करके भी वह निर्विकार ही रहा। इस वचन से सिद्ध होता है कि जडचेतन पदार्थों में अनुप्रविष्ट होकर परब्रह्म उनमें होने वाले नाम और रूपों को प्राप्त होता है, उनसे स्वरूपैक्य पाकर नहीं। अतएव वह निर्विकार बनकर रहता है, यदि उसका जड और चेतनों से स्वरूपैक्य होता तो वह निर्विकार बनकर नहीं रह सकता।

(७) छान्दोग्य उपनिषद् में यह वचन है कि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"। अर्थात् परमात्मा ने संकल्प किया कि हम पृथिवी जल और तेज इत्यादि जडपदार्थों में जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नामरूपों की सृष्टि करें। इस वचन से स्पष्ट होता है कि परमात्मा प्रथमतः जीव में अनुप्रवेश करके उसके स्वरूप में सर्वत्र व्याप्त होकर उस जीवात्मा के द्वारा जडपदार्थों में अनुप्रवेश करके नामरूपों की सृष्टि करता है। 'सब जडपदार्थ जीवों पर आधारित रहें, जीवों के नियन्त्रण में रहें, वे जीव मुझ पर अर्थात् परमात्मा पर आधारित रहें, मेरे नियन्त्रण में रहें, इन जडपदार्थों का वाचक नाम शब्द इन जडपदार्थों को बतलाकर उनमें आत्मा के रूप में अवस्थित जीवों को बतलाते हुये उन जीवों में अन्तरात्मा के रूप में विद्यमान हमको भी अर्थात् परमात्मा को भी बतलावे' इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिये ही परमात्मा को इस प्रकार संकल्प करके नामरूपों की सृष्टि करनी पड़ती है। ये सब शरीरात्मभाव की प्रतिपादक होने से घटकश्रुतियाँ मानी जाती हैं।

आगे भेदश्रुतियों का उल्लेख किया जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वचन है कि (१) "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति"। अर्थात् जीवात्मा और प्रेरक ईश्वर को भिन्न २ पदार्थ समझकर साधक ईश्वर की प्रीति का विषय हो जाता है, बाद वह साधक उस भेदज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। इस वचन से जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध होता है, तथा मोक्ष साधक होने से भेदज्ञान तत्त्वज्ञान सिद्ध होता है।

(२) श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वचन है कि "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्"। अर्थात् भोक्ता जीव भोग्य जडपदार्थ तथा प्रेरक ईश्वर को जानकर हमने तुमको सम्पूर्ण त्रिविध ब्रह्म को बतला दिया है। ब्रह्म की त्रिविधता यही है कि ब्रह्म जीव का अन्तर्यामी होकर रहता है, जडपदार्थ

का अन्तर्यामी होकर रहता है, तथा स्वस्वरूप से भी रहता है। यही त्रिविध ब्रह्म है। इस वचन से सिद्ध होता है जड जीव और ईश्वर में स्वरूपभेद है, तथा ईश्वर में तीन प्रकार होते हैं, जीव का अन्तर्यामी बनकर रहना एक प्रकार है, जड का अन्तर्यामी बनकर रहना दूसरा प्रकार है, स्वस्वरूप में रहना तीसरा प्रकार है।

(३) कठोपनिषद् का यह वचन है कि "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" अर्थात् एक नित्य चेतन ईश्वर अनेक नित्य चेतन जीवों के मनोरथों को पूर्ण करता है। इससे ईश्वर में नित्यत्व एकत्व और चेतनत्व, तथा जीवों में अनेकत्व नित्यत्व और चेनतत्व सिद्ध होते हैं। इससे जीव और ईश्वर में भेद स्पष्ट हो जाता है।

(४) श्वेताश्वतर उपनिषद् का यह वचन है कि "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" अर्थात् ईश्वर प्रकृति और जीव का स्वामी है, तथा षाड्गुण्यपूर्ण है। इस वचन से प्रकृति जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध होता है।

(५) श्वेताश्वर उपनिषद् का यह वचन है कि "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" अर्थात् नहीं जन्मने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर है, दूसरा उससे भिन्न जीव है। ईश्वर सर्वज्ञ है, जीव अज्ञ है। इस प्रकार इन वचनों से जीव प्रकृति और ईश्वर में भेद प्रमाणित होता है।

केवल श्रुतियों से ही प्रकृति जीव और ईश्वर में भेद और शरीरात्मभाव सम्बन्ध प्रमाणित होता है, ऐसी बात नहीं। किन्तु उपर्युक्त अर्थ इन श्रुत्यर्थों को खोलने वाले इतिहास और पुराणों से भी प्रमाणित होते हैं। आगे इन अर्थों के विषय में इतिहासपुराणवचन प्रमाण रूप में उपस्थित किये जाते हैं।

(१) श्रीवाल्मीकि रामायण में यह वचन मिलता है कि "जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्" अर्थात् सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है, तथा पृथिवी में विद्यमान स्थिरता आपके आधीन है। इस वचन से जगत् और ईश्वर में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(२) श्रीविष्णुपुराण का यह वचन है कि—

यत् किंचित् सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज।
तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत् सर्वं वै हरेस्तनुः॥

अर्थात् हे द्विज ? जिन २ पदार्थों से जो २ पदार्थ सृष्ट किये जाते हैं, उन सृज्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण बनने वाले वे सभी पदार्थ श्रीहरिभगवान् का शरीर हैं। इस वचन से प्रपञ्च एवं ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(३) श्रीगीता में श्रीव्यास जी ने श्रीभगवान् के वचन के रूप में इस वचन का उल्लेख किया है कि "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" अर्थात् हे अर्जुन ? सर्वप्राणियों के हृदय में मैं आत्मा के रूप में अवस्थित हूँ। इस वचन से भी शरीरात्मभाव सम्बन्ध स्पष्ट प्रकाश में आता है।

(४) यह वचन भी श्रीगीता में उपलब्ध है कि "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" अर्थात् हम सबके हृदय में अवस्थित हैं, हमसे ही स्मृति ज्ञान एवं विस्मरण जीवों को होते रहते हैं। इससे भी शरीरात्मभाव सम्बन्ध प्रमाणित होता है।

इन उदाहृत श्रुतिवचनों से तथा वेदज्ञों में अग्रेसर श्रीवाल्मीकि जी श्रीपराशर जी तथा श्रीवेदव्यास जी के वचनों से यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म सबका आत्मा है, तथा यह चेतनाचेतन पदार्थ उनका शरीर है। आत्मा के प्रति सदा प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर रहना शरीर का स्वभाव होता है। इनमें ऐसा गाढ सम्बन्ध है जिससे शरीर आत्मा को छोड़कर जीवित रह ही नहीं सकता। यहाँ पर यह शंका होती है कि शरीर और आत्मा में स्वरूपभेद एवं धर्मभेद रहने पर भी इनमें सुदृढ़ सम्बन्ध होने के कारण संभव है कि शरीर का गुणधर्म आत्मा में पहुँच जाय, तथा आत्मा का गुणधर्म शरीर में पहुँच जाय। लोक में देखा जाता है कि गाढ सम्बन्ध होने पर एक का गुणधर्म दूसरे में चला जाता है। उदाहरण—महापातकियों के साथ संसर्ग करने से संसर्ग करने वाले में महापातकित्व दोष आ जाता है। जहाँ पर लवण उत्पन्न होता है, उस स्थान में पड़ा हुआ काष्ठ लवण संसर्ग से लवण बन जाता है। उसी प्रकार प्रकृत में गाढ संसर्ग के कारण आत्मा में शरीरगत गुणधर्म तथा शरीर में आत्मगत गुणधर्म पहुँच सकते हैं, उससे इनमें धर्मसंकर हो सकता है। इस शंका का समाधान यह है कि गाढ सम्बन्ध होने पर भी इनमें धर्मसंकर नहीं होता। आत्मसंसर्ग से न शरीर चेतन बन सकता है, न शरीर सम्बन्ध से आत्मा जड बनता है। गाढ सम्बन्ध होने पर भी असंकीर्ण धर्मों को लेकर रहना इनका स्वभाव है। ब्रह्म सम्पूर्ण चेतनाचेतनरूपी शरीरों में अन्तरात्मा के रूप में गाढ सम्बन्ध रखने पर भी इनके दोषों से अस्पृष्ट होकर ही रहता है। किसी भी पदार्थ को देखें, तत्तच्छरीरक ब्रह्म ही दर्शन देता है यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय। साधारणरीति से बुद्धि स्थूल चेतनाचेतन पदार्थों का ही ग्रहण करके रह जाती है, यदि बुद्धि सूक्ष्म बनकर ग्रहण करे तो सर्वत्र तत्तच्छरीरक ब्रह्म का ग्रहण करती है, उस बुद्धि में सभी पदार्थ विशेषण रूप में तथा ब्रह्म विशेष्य रूप में उसी प्रकार भासते हैं जिस प्रकार द्रव्य को देखते समय जाति गुण और क्रिया विशेषण रूप में, द्रव्य विशेष्य रूप में बुद्ध्यारूढ होते हैं। जिस प्रकार जाति गुण और क्रिया द्रव्य के साथ २ ही एक बुद्धि में भासते हैं उसी प्रकार चेतनाचेतन प्रपञ्च ब्रह्म के साथ २ ही एक बुद्धि में भासने लगता है। उस समय बुद्धि चेतनाचेतनप्रपञ्चशरीरक ब्रह्म का ही सर्वत्र दर्शन करती है ब्रह्म ही उन २ पदार्थों के रूपों को धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार श्रुति ब्रह्म को सर्वशरीरक कहकर ब्रह्म के वैभव को इस प्रकार प्रतिपादन करती है कि इन सब पदार्थों को शरीर के रूप में ब्रह्म ही धारण करता है, नियमन करता है, इनसे उत्कर्ष पाता है, ये सब ब्रह्म के अत्यन्त परतन्त्र हैं, उसको नाना प्रकार से मुखोल्लास करने के लिये ही बने हुये हैं। इस प्रकार वैभव को बतलाने के लिये ही "तत्त्वमसि" और "सर्व खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि अभेद श्रुतियाँ प्रवृत्त हैं। ये श्रुतियाँ विभिन्न विशेषणों को लेकर बताये गये दोनों पदार्थों में ऐक्य का वर्णन करती हैं। इसलिये समानाधिकरण

निर्देश कही जाती हैं। इन समानाधिकरण निर्देशों से शब्द शक्ति के द्वारा—न कि लक्षणा के द्वारा—सर्वचेतनाचेतनविशिष्ट रूप में ब्रह्म ही अभिहित होता है। उस प्रयोग को समानाधिकरण शब्दों का प्रयोग कहते हैं जिसमें विद्यमान दोनों पद विभिन्न विशेषणों को बतलाते हुये एक विशेष्य में पर्यवसान पाते हैं। यह समानाधिकरण निर्देश विशिष्टाद्वैतपक्ष में मुख्यवृत्ति अर्थात् शब्दशक्ति के अनुसार ही लग जाता है, लक्षणा को अपनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथाहि—"तत्त्वमसि" इस अभेद निर्देश में तच्छब्द से वह ब्रह्म अभिहित होता है जो जगत् का कारण सर्वकल्याणगुणनिधि एवं निर्दोष है। उपर्युक्त आकारों से युक्त ब्रह्म तच्छब्द का अर्थ है। तच्छब्द एवं त्वं शब्द में एक विभक्ति प्रथमा लगी हुई है, इसलिये इन दोनों शब्दों के अर्थ अभेद सम्बन्ध से अन्वय रखते हैं। इसलिये यहाँ "त्व" शब्द से समस्त अवस्थित जीव का अन्तर्यामी बना हुआ परब्रह्म अभिहित होता है। वह परब्रह्म जीव को शरीर बनाकर उसमें अन्तरात्मा के रूप में सदा अवस्थित है। इसलिये वह सदा जीवविशिष्ट होकर रहता है। समानविभक्ति को लेकर प्रवृत्त ये दोनों पद जगत्कारण ब्रह्म एवं जीवविशिष्ट ब्रह्म में अभेद को बतलाते हैं। भाव यह है कि वह जगत्कारण ब्रह्म ही समस्त अवस्थित जीव का अन्तर्यामी बनकर उस जीव से विशिष्ट होकर रहता है। "तत्त्वमसि" वाक्य का यही अर्थ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है। यह अर्थ निर्दुष्ट है।

इतरमतस्थवर्णिताभेदश्रुत्यर्थस्य दुष्टत्वम्

इतरमतवादियों द्वारा वर्णित अभेदश्रुत्यर्थ में संभावित दोषों का वर्णन

इतरेषु पक्षेषु सामानाधिकरण्यहानिर्ब्रह्मणः सदोषता च स्यात्।

इतरपक्षों में सामाधिकरण्य लक्षण की हानि, एवं ब्रह्म में सदोषत्व ऐसे दोष लग जाते हैं। विशेषण रूप में विभिन्न धर्मों को बतलाते हुये दो शब्द एक विशेष्य में पर्यवसान पावें यही सामानाधिकरण्य का लक्षण है। श्रीशंकराचार्य के मत में तच्छब्द सर्वज्ञत्व इत्यादि विशेषणों को छोड़कर तथा त्वं शब्द अल्पज्ञत्व इत्यादि विशेषणों को छोड़कर चैतन्य भर को उपस्थापित करते हैं। इस मत में विशेषणों को त्यागने के कारण सामानाधिकरण्य लक्षण नहीं लगता है तथा ब्रह्म में अविद्या दोष मानना पड़ता है। श्रीभास्कराचार्य के मत में जीव और ब्रह्म में अभेद मानने के कारण ब्रह्म में तच्छब्दप्रतिपाद्य कल्याणगुणों के विरुद्ध अज्ञत्व और दुःखित्वादि दोष लग जायेंगे। यदि त्वं शब्द जीवत्व को छोड़कर वस्तु मात्र को कहे तो त्वं शब्द के मुख्यार्थ को त्यागना होगा, और सामानाधिकरण्य लक्षण की हानि भी होगी। श्रीयादवप्रकाश के मत में जीव और ईश्वर ब्रह्म का अंश माने जाते हैं जिस प्रकार मृत्तिका के अंश बने हुये घट और शराव में अभेद नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्म के अंश ईश्वर और जीव में अभेद नहीं हो सकता। अभेद होने

पर ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि गुणों के विरुद्ध अल्पज्ञत्व और दुःखित्व इत्यादि दोष आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों पक्षों में प्रतिपादित अर्थ दोषदूषित है अतएव त्याज्य है। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में वर्णित अर्थ निर्दुष्ट है, अतएव संग्राह्य है।

प्रलये सृष्टौ च ब्रह्मणश्चेतनाचेतनवैशिष्ट्यस्य समर्थनम्

प्रलय एवं सृष्टि के काल में ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्ट होकर ही रहता है

एतदुक्तं भवति ब्रह्मैवैवमवस्थितमित्यत्रैवंशब्दार्थभूतप्रकारतयैव विचित्रचेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च सद्भावः। तथा च "बहुस्यां प्रजायेय" इत्ययमर्थः सम्पन्नो भवति तस्यैवेश्वरस्य कार्यतया कारणतया च नानासंस्थानसंस्थितस्य संस्थानतया चिदचिद्वस्तुजातमवस्थितमिति।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि उपनिषदों से विदित होता है कि सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म ही था, इससे मानना पड़ता है कि प्रलयकाल में चेतन और अचेतन नहीं थे। उस समय चेतनाचेतनों के साथ ब्रह्म का शरीरात्मभावसम्बन्ध कैसे माना जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि उपनिषदों से यह भी विदित होता है कि वह ब्रह्म जगत् का उपादान कारण एवं निमित्त कारण है, साथ ही वह ब्रह्म निर्विकार एवं निर्दोष भी है। निमित्त कारण होने से ब्रह्म में सर्वज्ञत्व एवं सत्यसंकल्पत्व इत्यादि गुण सिद्ध होते हैं। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता हुआ निर्विकार है, इसमें विरोध उपस्थित होता है क्योंकि जो कारण कार्यरूप में परिणत होता है वही उपादान कारण है। उपादान कारण विकार वाला होता है। यदि ब्रह्म उपादान कारण है तो वह सविकार होगा, यदि ब्रह्म निर्विकार है तो वह उपादान कारण नहीं बन सकता। ब्रह्म में निर्विकारत्व एवं उपादानत्व साथ नहीं रह सकते, इनमें परस्पर विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिये यह मानना पड़ता है कि प्रलयकाल में अत्यन्त सूक्ष्मरूप में चेतनाचेतनतत्त्व ब्रह्म में संबद्ध रहते हैं। अतएव प्रकृति एवं जीव, शास्त्रों में अज एवं नित्य कहे गये हैं। यदि जीवों को अनित्य मानें तो उनकी उत्पत्ति एवं विनाश मानना होगा। ऐसी स्थिति में दो दोष लग जायेंगे (१) जीव अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल विना भोगे ही विनष्ट हो जाते हैं। (२) उत्पन्न होने वाले नये जीवों को कर्म किये विना ही फल भोगना पड़ता है। ये दोनों दोष कर्म सिद्धान्त के अनुसार महान् दोष हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये जीवों को नित्य मानना पड़ता है। प्रलयकाल में ब्रह्म सूक्ष्म चेतनाचेतनों से विशिष्ट होकर रहता है। वह स्वयं निर्विकार रहता हुआ सूक्ष्म चेतनाचेतनों के द्वारा जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिये जगत् का उपादान कारण कहलाता है। ब्रह्म के निर्विकारत्व के साथ उपादान कारणत्व को बनाये रखने के लिये प्रलयकाल में भी सूक्ष्मरूप से चेतनाचेतनों का सद्भाव मानना

होगा। प्रलयकाल में वे चेतनाचेतन ब्रह्म का परतन्त्र विशेषण बनकर रहते हैं। शरीर बनकर रहते हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट होकर उस समय ब्रह्म रहता है। प्रलयकाल में ब्रह्म कैसा रहता है ? इस प्रश्न का उत्तर ब्रह्म को निमित्तकारण एवं उपादान कारण मानने वाले वैदिकों को इस प्रकार देना होगा कि प्रलयकाल में ब्रह्म सर्वज्ञत्व और सत्यसंकल्पत्व और शक्ति इत्यादि कल्याणगुणों से युक्त होकर रहता है, तथा सूक्ष्म चेतनाचेतनरूपी शरीर से (परतन्त्र विशेषण से) विशिष्ट होकर रहता है। वही ब्रह्म सृष्टिकाल में स्थूल चेतनाचेतनों से विशिष्ट होकर रहता है। प्रलयकाल में चेतनाचेतन नामरूपविभागहीन होकर रहते हैं यही उनकी सूक्ष्मावस्था एवं एकत्वावस्था कही जाती है। सृष्टिकाल में चेतनाचेतन नामरूपविभाग को प्राप्त करते हैं, यही उनकी स्थूलावस्था एवं बहुत्वावस्था कहलाती है। ब्रह्म शरीर बनकर परतन्त्र विशेषण के रूप में अवस्थित चेतनाचेतनों के द्वारा प्रलयकाल में एकत्वावस्था को तथा सृष्टिकाल में बहुत्वावस्था को प्राप्त होता है। अतएव उपनिषद् वर्णन करती है कि "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" अर्थात् उस परब्रह्म ने संकल्प किया कि (चेतनाचेतनों के द्वारा) एकत्वावस्था को प्राप्त हुआ मैं (उन चेतनाचेतनों के द्वारा) बहु बन जाऊँ, तदर्थ उत्पन्न होऊँ। सृष्टिकाल एवं प्रलयकाल में सदा चेतनाचेतनप्रपञ्च ब्रह्म का परतन्त्र विशेषण बनकर रहता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। ब्रह्म सदा इससे विशिष्ट होकर रहता है। ब्रह्म को समझ में लेते समय चेतनाचेतन तत्त्वों से विशिष्ट रूप में ही समझ में लाना चाहिये। जिस प्रकार देवदत्त को सुनते समय शरीरविशिष्ट देवदत्त समझ में आता है, उसी प्रकार ब्रह्म को समझते समय चेतनाचेतन-शरीरधारी ब्रह्म समझ में आ जाता है। चेतनाचेतन तत्त्व विशेषण रूप में समझ में आ जाते हैं, उनको पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं। ब्रह्म जब कारण बनता है, तब सूक्ष्म चेतनाचेतन शरीरधारी होकर रहता है। ब्रह्म जब कार्य बन जाता है तब स्थूल चेतनाचेतन शरीरधारी होकर रहता है। दोनों ही परिस्थितियों में चेतनाचेतन तत्त्व शरीर के रूप में ब्रह्म का परतन्त्र विशेषण बनकर रहते हैं, स्वतन्त्र होकर नहीं। इसलिये ब्रह्म का चेतनाचेतनों के साथ सदा शरीरात्मभावसम्बन्ध बना रहता है।

द्रव्यस्य विशेषणत्वसमर्थनम्

द्रव्य के विशेषणत्व का समर्थन

ननु च संस्थानरूपेण प्रकारतयैवंशब्दार्थत्वं जातिगुणयोरेव दृष्टं न द्रव्यस्य, स्वतन्त्रसिद्धियोग्यस्य पदार्थस्यैवंशब्दार्थतयेश्वरस्य प्रकारमात्रत्वमयुक्तमिति चेत्, उच्यते—द्रव्यस्यापि दण्डकुण्डलादेर्द्रव्यान्तरप्रकारत्वं दृष्टमेव।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जाति और गुण द्रव्य के साथ गाढ सम्बन्ध रखते हैं, वे रहते समय कभी भी द्रव्य को छोड़कर अलग नहीं होते। अतएव उन जाति और गुणों के वाचक शब्द

उनको बतलाकर विरत नहीं होते, किन्तु उनका आश्रय बनने वाले द्रव्य तक को बतलाते हैं। उन शब्दों के द्वारा बतलाया जाने वाला द्रव्य जातिविशिष्ट एवं गुणविशिष्ट रूप में बुद्धयारूढ होता है। जाति और गुण उस द्रव्य के विशेषणरूप में उसी बुद्धि में भासते हैं। "यह गौ है" इस प्रयोग में "यह" शब्द सामने उपस्थित द्रव्यविशेष का वाचक है। "गो" शब्द गोत्वजाति को बतलाता हुआ उसको आश्रय देने वाले द्रव्य तक को बतलाता है। अतएव वहाँ दोनों शब्दों के अर्थों का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है वे शब्द समानाधिकरण अर्थात् एकार्थवाचक माने जाते हैं। "यह घट नील है" इस प्रयोग में नीलशब्द नीलरूप को बतलाता हुआ उसको आश्रय देने वाले द्रव्य तक को बतलाता है, अतएव वहाँ उन दोनों शब्दों के अर्थों में अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। वे दोनों शब्द समानाधिकरण अर्थात् एकार्थवाचक माने जाते हैं। ये जातिवाचक शब्द तथा गुणवाचक शब्द जाति और गुण को प्रकाररूप में अर्थात् विशेषणरूप में बतलाते हुये उनके आश्रय द्रव्य तक के जो वाचक होते हैं उसका कारण यही है कि जाति और गुण द्रव्य के साथ गाढ संबद्ध हैं, द्रव्य को छोड़कर अलग नहीं होते। जाति और गुण द्रव्य परतन्त्र हैं। यह बात द्रव्य में देखने में नहीं आती क्योंकि द्रव्य स्वतन्त्र सत्ता रखता है। वह दूसरे किसी द्रव्य से गाढ सम्बन्ध नहीं रखता। वह स्वतन्त्र प्रतीत होने वाला पदार्थ है। उसको किसी दूसरे द्रव्य का विशेषण बनकर भासित होने की आवश्यकता नहीं। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में चेतन और अचेतन द्रव्य माने जाते हैं। अतएव वे स्वतन्त्र रहने एवं प्रतीत होने योग्य हैं, इनको ईश्वर (जो दूसरा द्रव्य है) के प्रति प्रकार बनकर भासने की आवश्यकता नहीं। इनके वाचक शब्द इन्हीं को बतलाकर विरत हो सकते हैं। वे शब्द ईश्वर तक को नहीं बतला सकते। ये चेतनाचेतन द्रव्य ईश्वर का प्रकार बनकर क्यों रहेंगे, इनके वाचक शब्द भी ईश्वर तक को क्यों बतलायेंगे, यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि द्रव्य भी दूसरे द्रव्य का प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर रह सकता है। लोक में कहा जाता है कि "यह पुरुष दण्डवाला है" वह पुरुष कुण्डलवाला है। यहाँ दण्ड और कुण्डल द्रव्य होते हुये पुरुष—जो द्रव्य है—के प्रति विशेषण बनकर प्रतीत होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का विशेषण बन सकता है। ऐसी स्थिति में चेतनाचेतन द्रव्यों को ईश्वरद्रव्य के प्रति विशेषण बनकर भासने में किसी को भी आपत्ति नहीं करनी चाहिये।

शरीरात्मकद्रव्यवाचकशब्दानामात्मपर्यन्तबोधकत्वस्य समर्थनम्

शरीरात्मकद्रव्य के वाचक शब्दों में आत्मपर्यन्त की बोधकता का समर्थन

ननु च दण्डादेः स्वतन्त्रस्य द्रव्यान्तरप्रकारत्वे मत्वर्थीयप्रत्ययो दृष्टः, यथा दण्डी कुण्डलीति, अतो गोत्वादितुल्यतया चेतनाचेतनस्य द्रव्यभूतस्य वस्तुन ईश्वरप्रकारतया

सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनं न युज्यते। अत्रोच्यते—गौरश्वो मनुष्यो देव इति भूतसङ्घात-रूपाणां द्रव्याणामेव देवदत्तो मनुष्यो जातः पुण्यविशेषेण, यज्ञदत्तो गौर्जातः पापेन कर्म्मणा, अन्यश्चेतनः पुण्यातिरेकेण देवो जात इत्यादि देवादिशरीराणां चेतनप्रकारतया लोकवेदयोस्सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनं दृष्टम्।

इस पर यह शंका होती है कि दण्ड आदि द्रव्य स्वतन्त्र होते हुये कभी २ दूसरे द्रव्य के विशेषण बन जाते हैं। वहाँ केवल दण्ड शब्द से दण्डवाले पुरुष का बोध नहीं होता। वहाँ दण्ड शब्द के साथ "वाला" इत्यादि शब्दों—जो संस्कृत भाषा के मत्वर्थीयप्रत्यय के समानार्थक हैं—को जोड़कर "दण्डवाला" ऐसा कहने पर ही दण्डवाले पुरुष का बोध होता है। जातिवाचक गोशब्द गुणवाचक नील आदि शब्द, बिना "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये ही गोत्वजाति वाले पदार्थ का तथा नीलरूप वाले पदार्थ का बोध कराते हैं, द्रव्यवाचक दण्ड आदि शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लेकर ही "दण्डवाले" इत्यादि अर्थों को बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अनुसार चेतन और अचेतन द्रव्य हैं। यदि वे ईश्वर का विशेषण होकर भासेंगे तो चेतनाचेतनवाचक शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लेकर ही ईश्वर तक का बोध करा सकते हैं। चेतनाचेतनवाचक शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये बिना ईश्वर तक का बोध नहीं करा सकते हैं "वाला" इत्यादि शब्द साथ न जुड़ने पर चेतनाचेतनवाचक उसी प्रकार चेतनाचेतन पदार्थों को बतलाकर विरत हो जायेंगे, जिस प्रकार केवल दण्डशब्द दण्डमात्र को बतलाकर विरत हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में चेतनाचेतनद्रव्यवाचक शब्दों को गुणवाचक एवं जातिवाचक शब्दों के समान मानकर यह कहना—कि जिस प्रकार जातिवाचक शब्द और गुणवाचक शब्द जाति और गुणों को बतलाते हुये उनका आश्रय बनने वाले द्रव्य तक का बोध कराते हैं वैसे ही चेतनाचेतनद्रव्यवाचक शब्द भी उन द्रव्यों को बतलाते हुये उनका आत्मा बने हुये ईश्वर तक का बोध कराते हैं—कैसे संगत हो सकता है? जाति और गुण द्रव्य परतन्त्र पदार्थ हैं, इसलिये उनके वाचक शब्द द्रव्य तक का बोध करा सकते हैं चेतनाचेतनद्रव्य दण्ड आदि की तरह स्वतन्त्र पदार्थ हैं, इनके वाचक शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये बिना ही कैसे ईश्वर तक का बोध करा सकते हैं। चेतना-चेतन द्रव्यों को जाति और गुण के समान कैसे मान सकते हैं? यह शंका है। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार जाति व्यक्ति के और गुण द्रव्य के परतन्त्र होकर रहते हैं, उनका सम्बन्ध छोड़कर रह नहीं सकते, वैसे ही शरीर द्रव्य होने पर भी आत्मा का परतन्त्र होकर रहता है, आत्मा का सम्बन्ध छूटने पर उसी रूप में एक क्षण भी रह नहीं सकता, आत्मसम्बन्ध छूटते ही मिटने लगता है। भले ही दण्ड आदि द्रव्य स्वतन्त्र होकर रह सकें, किन्तु शरीर द्रव्य आत्मा को छोड़कर स्वतन्त्र होकर रह नहीं सकता। अन्यान्य द्रव्य और शरीर द्रव्य में यह महान् अन्तर है। इस अन्तर को हृदयंगम करने पर यह बात समझ में आ जायेगी कि स्वतन्त्र दण्ड आदि द्रव्यों के वाचक शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लेकर ही दण्ड

वाले पुरुष को बता सकते हैं, किन्तु सदा आत्मा के प्रति परतन्त्र होकर रहने वाले शरीर द्रव्य के वाचक शब्द विना "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये ही इन शरीरों के आत्मा तक का बोध करा सकते हैं। यह निर्णय लौकिक प्रयोगों पर ध्यान देने पर हृदयंगम हो जाता है। लोक में गौ अश्व मनुष्य और देव इत्यादि शब्द विभिन्न शरीरों के वाचक माने जाते हैं, ये शरीर पञ्चमहाभूतों के मिश्रण से बने हुये द्रव्य हैं। इन शरीरों के वाचक शब्द आत्मा तक का बोध कराते देखे गये हैं। लोक में यह कहा जाता है कि देवदत्त पुण्यविशेष से मनुष्य पैदा हो गया है, यज्ञदत्त पापकर्म के कारण बैल बन गया है, दूसरा चेतन अधिक पुण्य के कारण देव हो गया है इत्यादि। पुण्य और पाप आत्मा में रहते हैं। देव मनुष्य गौ इत्यादि शब्द शरीरवाचक हैं, शरीर और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं। "पुण्य से देवदत्त मनुष्य बन गया" इस प्रयोग का यह अर्थ नहीं हो सकता कि देवदत्त आत्मा मनुष्य शरीर बन गया है, किन्तु यही अर्थ है कि देवदत्त आत्मा मनुष्य शरीर वाला बन गया है। ऐसे ही दूसरे प्रयोगों का भी अर्थ समझना चाहिये। यहाँ शरीरवाचक मनुष्य आदि शब्द, विना "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये ही मनुष्य शरीर वाले आत्मा तक का बोध कराते हैं। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार जाति का व्यक्ति के प्रति परतन्त्र विशेषण बनकर रहना स्वभाव है, जिस प्रकार गुण का द्रव्य के प्रति परतन्त्र विशेषण बनकर रहना स्वभाव है उसी प्रकार ही शरीर द्रव्य का भी आत्मा के प्रति परतन्त्र विशेषण बनकर रहना स्वभाव है। अतएव शरीरद्रव्य वाचक शब्द "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लिये विना ही आत्मा तक का बोध कराने में समर्थ होते हैं। चेतनाचेतन द्रव्य ईश्वर का शरीर है, ईश्वर इनका आत्मा है। इसलिये चेतनाचेतनवाचक शब्द भी शरीर-वाचक होने के कारण चेतनाचेतनों को बतलाते हुये इनमें अन्तरात्मा के रूप में अवस्थित ईश्वर तक का बोध करा सकते हैं।

प्रकारतैकस्वभावपदार्थवाचकशब्दानां विशेष्यपर्यन्तबोधकत्वस्य समर्थनम्

अपृथक् सिद्ध विशेषणवाचक पदों की विशेष्यपर्यन्तबोधकता का समर्थन

अयमर्थः—जातिर्वा गुणो वा द्रव्यं वा न तत्रादरः। कञ्चन द्रव्यविशेषं प्रति विशेषणतयैव यस्य सद्भावस्तस्य तदपृथक्सिद्धेस्तत्प्रकारतया तत्सामानाधिकरण्येन प्रतिपादनं युक्तम्। यस्य पुनर्द्रव्यस्य पृथक्सिद्धस्यैव कदाचित्क्वचिद् द्रव्यान्तरप्रकारत्व-मिष्यते, तत्र मत्वर्थीयप्रत्यय इति विशेषः।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जहाँ पर जो पदार्थ स्वयं अद्रव्य होता हुआ द्रव्य के प्रति विशेषण होकर रहता है वहीं उस पदार्थ को बतलाने वाला शब्द उसका आश्रय बनने वाले द्रव्य तक को बता सकता है। वैसे पदार्थ जाति और गुण ही हैं। इनका वाचक शब्द द्रव्य तक को बता सकता है। यदि कहीं

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का विशेषण बनकर रहता है तो वहाँ विशेषण द्रव्य का वाचक शब्द, विशेष्य द्रव्य को लक्षणा से ही बता सकता है। आत्मा के प्रति विशेषण बनने वाले शरीर द्रव्य का वाचक मनुष्यादि शब्द लक्षणा से ही आत्मा को बता सकता है, शक्ति से नहीं। ऐसी स्थिति में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में यह कैसे माना जाता है कि शरीरवाचक शब्द आत्मा को शब्दशक्ति से बताते हैं? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीरामानुज स्वामी जी ने इस प्रकार दिया कि कौनसा शब्द आश्रय द्रव्य तक का वाचक है? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होने पर कोई यह उत्तर देते हैं कि जातिवाचक शब्द जाति का आश्रय बनने वाले पदार्थ तक का वाचक होता है। उनका यह उत्तर समीचीन नहीं क्योंकि इनके कथन के अनुसार गुणवाचक शब्द गुण वाले द्रव्य तक के वाचक नहीं बनेंगे। लोक में वे द्रव्य तक के वाचक माने जाते हैं। उस प्रश्न का यदि कोई यह उत्तर दे कि गुणवाचक शब्द गुणों का आश्रय बनने वाले द्रव्य तक के वाचक होते हैं, तो उनका यह उत्तर भी समीचीन नहीं क्योंकि उनके कथन के अनुसार जातिवाचक शब्द जात्याश्रय व्यक्ति के वाचक नहीं बनने पायेंगे। लोक में जातिवाचक शब्द जात्याश्रय व्यक्ति के वाचक माने गये हैं। इसी प्रकार यदि कोई उपर्युक्त प्रश्न का यह उत्तर दे कि विशेषण बने हुये शरीर द्रव्य का वाचक आश्रय आत्म-द्रव्य तक का वाचक होता है—तो उनका यह उत्तर भी अन्यान्य स्थल में निर्वाह न होने के कारण असमीचीन ही है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त प्रश्न का समीचीन उत्तर क्या है? उत्तर यह है कि किसी द्रव्य के प्रति विशेषण बनकर रहना ही जिस पदार्थ का स्वभाव है, वह पदार्थ उस द्रव्य से गाढ सम्बन्ध रखता है, उस द्रव्य को छोड़कर रह ही नहीं सकता अतएव वह पदार्थ उस द्रव्य का प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर ही प्रतीत होता है, उस पदार्थ का वाचक शब्द आश्रय देने वाले द्रव्य तक का वाचक होता है। वैसे पदार्थ जाति गुण और शरीर ये तीन ही हैं। इनमें जाति, व्यक्ति को छोड़कर न रह सकने के कारण व्यक्ति का विशेषण बनकर रहती है, यह इसका स्वभाव है, अतएव जातिवाचक गो इत्यादि शब्द व्यक्ति का वाचक हो जाता है। गुण, द्रव्य को छोड़कर न रह सकने के कारण द्रव्य का विशेषण बनकर रहता है, यह इसका स्वभाव है। अतएव गुणवाचक नील आदि शब्द गुण वाले द्रव्य तक के वाचक होते हैं। शरीर आत्मा को छोड़कर नहीं रह सकने के कारण आत्मा का विशेषण बनकर रहता है, यह शरीर का स्वभाव है, इसलिये शरीरवाचक मनुष्य आदि शब्द आत्मा तक का वाचक हो जाता है। इस प्रकार व्यवस्था देनी चाहिये। जहाँ स्वतन्त्र रहने वाला द्रव्य कहीं किसी समय किसी द्रव्य का विशेषण बनता है, वहाँ "वाला" इत्यादि मत्वर्थीयप्रत्यय की आवश्यकता होती है। "वाला" इत्यादि शब्दों का सहारा लेकर ही वह शब्द—जो विशेषण द्रव्य का वाचक है—विशेष्य द्रव्य को बता सकता है। दण्ड स्वतन्त्र रहने वाला पदार्थ है, यदि वह कहीं पुरुष का विशेषण बनता है तो दण्डवाचक शब्द "वाला" शब्द का सहारा लेकर ही दण्ड वाले पुरुष को बताता है। "दण्डवाला" कहने पर ही दण्ड वाले पुरुष का बोध होता है, केवल दण्ड कहने पर नहीं।

सर्वेषां शब्दानामीश्वरवाचकत्वस्य प्रतिपादनम्

सभी शब्दों की ईश्वरवाचकता का प्रतिपादन

एवमेव स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य वस्तुन ईश्वरशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव स्वरूप-सद्भाव इति तत्प्रकारो ईश्वर एव तत्तच्छब्देनाभिधीयत इति तत्सामानाधिकरण्येन प्रति-पादनं युक्तम्, तदेतत्सर्वं पूर्वमेव नामरूपव्याकरणश्रुतिविवरणे प्रपञ्चितम् ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शरीरवाचक मनुष्यादिशब्द भले ही जीवात्मा तक के वाचक हों, जगत् में विद्यमान सभी पदार्थों के वाचक शब्द ईश्वर तक के वाचक क्योंकर हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है कि जगत् में अन्तर्गत स्थावर जंगमात्मक सभी पदार्थ ईश्वर का शरीर हैं, ईश्वर के प्रति विशेषण बनकर रहना यही इनका स्वभाव है। इसलिये स्थावर जंगम इत्यादि पदार्थों के वाचक शब्द इन पदार्थों का अन्तरात्मा बनने वाले ईश्वर तक के वाचक होते हैं। यह युक्त ही है। तत्तत्पदार्थों के वाचक शब्द परमात्मा के वाचक होते हैं। यह अर्थ इसके पूर्व ही नामरूपव्याकरण श्रुति का अर्थ करते समय विस्तार से कहा गया है। इन सब विवेचनों से यह सिद्ध होता है "तत्त्वमसि" इस वाक्य में जीववाचक त्वंशब्द जीवान्तर्यामी ब्रह्म को बतलाता है, तच्छब्द जगत्कारण ब्रह्म को बतलाता है। दोनों ब्रह्म वास्तव में एक हैं। इसलिये वहाँ अभेदनिर्देश सगत हो जाता है। यह अभेदनिर्देश जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव के कारण प्रवृत्त हुआ है, उनमें स्वरूपैक्य के कारण नहीं। जीव और ब्रह्म में स्वरूपैक्य नहीं होता, किन्तु शरीरात्मभावसम्बन्ध ही है।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया उपपन्नत्वम्

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा का समन्वय

अतः प्रकृतिपुरुषमहदहङ्कार–तन्मात्र–भूतेन्द्रिय–तदारब्धचतुर्दशभुवनात्मकब्रह्माण्ड-तदन्तर्वर्तिदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिसर्वप्रकारसंस्थानसंस्थितं कार्यमपि सर्वं ब्रह्मैवेति कारणभूतब्रह्मविज्ञानादेव सर्वं विज्ञातं भवतीत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नतरम् ।

सद्विद्या के आरम्भ में यह जो प्रतिज्ञा कही गई है कि एक को जानने से सब कुछ जाना जाता है। यह प्रतिज्ञा भी विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में अच्छी तरह से लग जाती है। सृष्टि समय में मूल प्रकृति महान् अहंकार पंच तन्मात्रा एकादश इन्द्रिय और पंचमहाभूत इस प्रकार २३ तत्त्वों के रूप में परिणत होती है। इन तत्त्वों से अनन्त ब्रह्माण्ड बनते हैं जिनमें प्रत्येक के अन्दर १४ भुवन रहते हैं। इन भुवनों में देव

मनुष्य तिर्यक् और स्थावर आदि के रूप में विविध कार्य पदार्थ रहते हैं। इनमें अवान्तर भेद अनन्त हैं, प्रत्येक की रचना भिन्न २ है। इस प्रकार विविध प्रकार के संनिवेशों को लेकर रहने वाले सभी कार्य पदार्थ ब्रह्म ही हैं क्योंकि ब्रह्म इनके अन्दर अन्तरात्मा के रूप में विराजमान होकर इन रूपों को अपनाये हुयें हैं। इस प्रकार विविध कार्य भी ब्रह्म हैं कारण भी ब्रह्म है। कार्य ब्रह्म को समझने से सभी कार्य पदार्थ समझे जा सकते हैं। इस प्रकार उस प्रतिज्ञा का समन्वय विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में सुष्ठु प्रकार से हो जाता है।

शरीरात्मभावेनैव जगतो ब्रह्मात्मकत्वम्

जगत् के ब्रह्मात्मकत्व में शरीरात्मभाव सम्बन्ध का हेतुत्व प्रतिपादन

तदेवं कार्यकारणभावादिमुखेन कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः परब्रह्मप्रकारतया तदात्मकत्वमुक्तम् ।

यह सम्पूर्ण चेतनाचेतनप्रपञ्च ब्रह्मात्मक है, क्योंकि ब्रह्म इस प्रपञ्च में अन्तरात्मा के रूप में अवस्थित है, यह प्रपञ्च ब्रह्म का शरीर बनकर रहता है अतएव ब्रह्म का विशेषण हो जाता है। इस बात को कार्यकारणभाव आदि के द्वारा "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस वाक्य ने सिद्ध किया है। इसका अर्थ है-ये सभी उत्पन्न होने वाले पदार्थ सत् ब्रह्म से उत्पन्न हुये हैं सत् ब्रह्म के द्वारा धृत रहते हैं, अन्त में सत् ब्रह्म में लीन होने वाले हैं इसलिये ये सब ब्रह्मात्मक हैं। इस प्रकार कार्यकारणभाव और धार्यधारकभावसम्बन्ध का वर्णन करके इस श्रुतिवाक्य ने शरीरात्मभाव के आधार पर इस प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक सिद्ध किया है, स्वरूपैक्य को लेकर नहीं।

ईश्वरगत निर्विकारत्वोपादानत्वयोरविरोधेन समर्थनम्

ईश्वर के निर्विकारत्व एवं उपादान कारणत्व का समर्थन

ननु च परस्य ब्रह्मणः स्वरूपेण परिणामास्पदत्वं निर्विकारत्वनिरवद्यत्वश्रुतिव्याकोपप्रसङ्गेन निवारितम्, "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधा" दित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं मृत्तत्कार्यदृष्टान्ताभ्यां परमपुरुषस्य जगदुपादानकारणत्वं च प्रतिपादितम्, उपादानकारणत्वं च परिणामास्पदत्वमेव, कथमिदमुपपद्यते । अत्रोच्यते–सजीवस्य प्रपञ्चस्याविशेषेण कारणत्वमुक्तम्, तत्रेश्वरस्य जीवरूपपरिणामाभ्युपगमे "नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इति विरुध्यते, वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारश्च जीवानामनादित्वाभ्युपगमेन

तत्तत्कर्मनिमित्ततया प्रतिपादितः "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्" "न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते चे" ति अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गश्च अनित्यत्वेऽभिहितः। तथा प्रकृतेरप्यनादिता श्रुतिभिः प्रतिपादिता—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्"। "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति प्रकृतिपुरुषयोरजत्वं दर्शितम्। "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिँश्चान्यो मायया संनिरुद्धः", "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वर" मिति, प्रकृतिरेव स्वरूपेण विकारास्पदमिति च दर्शयति "गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" इति च। स्मृतिश्च भवति—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च"। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! "ययेदं धार्यते जगत्" "प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः" "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"। इत्यादिका। एवं च प्रकृतेरपीश्वरशरीरत्वात्प्रकृतिशब्दोऽपि तदात्मभूतस्येश्वरस्य तत्प्रकारसंस्थितस्य वाचकः पुरुषशब्दोऽपि तदात्मभूतस्येश्वरस्य पुरुषप्रकारसंस्थितस्य वाचकः। अतस्तद्विकाराणामपि तथैवेश्वर आत्मा। तदाह "व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च" "स एव क्षोभको ब्रह्मन्! । क्षोभ्यश्च परमेश्वरः" इति। अतः प्रकृतिप्रकारसंस्थिते परमात्मनि प्रकारभूतप्रकृत्यंशे विकारः प्रकार्यंशे चाविकारः, एवमेव जीवप्रकारसंस्थिते परमात्मनि च प्रकारभूतजीवांशे सर्वे चापुरुषार्थाः, प्रकार्यंशो नियन्ता निरवद्यः सर्वकल्याणगुणाकरः सत्यसङ्कल्प एव। तथा च सति कारणावस्थ ईश्वर एवेति तदुपादानकजगत्कार्यावस्थोऽपि स एवेति कार्यकारणयोरनन्यत्वं सर्वश्रुत्यविरोधश्च भवति।

यहाँ पर पूर्वपक्षी इस पूर्वपक्ष को रखते हैं कि परब्रह्म जगत् का उपादानकारण कहा जाता है। उपादानकारण वही होता है जो कार्यरूप में परिणत होता है। यदि ब्रह्म का स्वरूप ही इस जगत् के रूप में परिणत होता है तो वह निर्विकार एवं निर्दोष रह नहीं सकता। श्रुतियाँ ब्रह्म को निर्विकार एवं निर्दोष बताती हैं इसलिये मानना पड़ता है कि ब्रह्म स्वरूप से जगत् के रूप में परिणत नहीं होता। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इस ब्रह्मसूत्र से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण सिद्ध किया गया है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है क्योंकि उपनिषदों में यह प्रतिज्ञा वर्णित है कि एक को जानने से सब कुछ जाना जा सकता है। इस प्रतिज्ञा का समर्थन करने के लिये मृत्तिका और उसका कार्य दृष्टान्त रूप में कहे गये हैं। मृत्तिका ही घट आदि कार्य पदार्थों के रूप में परिणत होती है इसलिये मृत्तिका और घटादि पदार्थ एक ही वस्तु हैं। मृत्तिका को जानने से घटादि कार्य पदार्थ जाने जाते हैं।

मृत्तिका घटादि का उपादानकारण है। उसी प्रकार प्रकृत में यह समझना चाहिये कि ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत हो जाता है, ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है, ब्रह्म को जानने से जगत् जाना जाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का उपादानकारण सिद्ध होता है। यह उपर्युक्त ब्रह्मसूत्र बतलाता है। यहाँ पर यह विरोध उपस्थित होता है कि ब्रह्म यदि जगत् का उपादानकारण अर्थात् जगत् के रूप में परिणत होने वाला कारण माना जाता है तो वह निर्विकार एवं निर्दोष रह नहीं सकता, यदि ब्रह्म को निर्विकार एवं निर्दोष माना जाय तो वह उपादानकारण नहीं बन सकता। उपादानत्व एवं निर्विकारत्व परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। इनका एक ब्रह्म में कैसे समावेश हो सकता है? यह पूर्वपक्ष है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि ब्रह्म साक्षात् जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु प्रकृति पुरुषों के द्वारा जगत् का उपादानकारण है। ब्रह्म स्वयं निर्विकार होता हुआ प्रकृति और पुरुष के द्वारा जगत् का उपादानकारण बन जाता है। इसलिये निर्विकारत्व और उपादानत्व ये दोनों बातें ब्रह्म में संगत हो जाती हैं। यह समाधान इस बात पर अवलम्बित है कि प्रकृति और पुरुषों का प्रलयकाल में भी सद्भाव है। यदि वे प्रलयकाल में नहीं रहते तो उनके द्वारा ब्रह्म के परिणाम की बात नहीं घट सकती। यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाय तो प्रलयकाल में भी प्रकृति पुरुषों का सद्भाव सिद्ध होता है अब वह विचार प्रस्तुत किया जाता है। ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण कहने वाले वाक्यों से यह सिद्ध होता है ब्रह्म समान रूप से चेतनपदार्थों और अचेतनपदार्थों का उपादानकारण है। इससे यदि यह माना जाय कि ईश्वर जीवरूप में परिणत होता है तब तो "नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इस ब्रह्मसूत्र से विरोध उपस्थित होगा। ब्रह्मसूत्र का यह अर्थ है कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता क्योंकि श्रुति में जीवात्मा नहीं जन्मने वाला कहा गया है, तथा श्रुतियों से जीवात्मा नित्य सिद्ध होता है। इससे मानना पड़ता है कि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता। यह उदाहृत ब्रह्मसूत्र का अर्थ है। इससे जीव नित्य एवं अजन्मा सिद्ध होता है। किंच, ब्रह्मसूत्रकार ने एक शंका का परिहार किया है, उससे भी जीव नित्य सिद्ध होता है। वह शंका यह है कि ब्रह्म सृष्टि करते समय कई जीवों को अच्छे शरीर देता है, तथा कई जीवों को निकृष्ट शरीर देता है। इसी प्रकार कइयों को सुख देता है, कइयों को दुःख देता है। इससे ब्रह्म में वैषम्य दोष आ जाता है। किंच ब्रह्म जिनको निकृष्ट शरीर एवं दुःख देता है, उनके प्रति वह निर्दय हो जाता है। उसमें निर्दयत्व दोष आ जाता है। इन दोषों का परिहार कैसे किया जाय? यह शंका है, इस शंका का समाधान करते हुये ब्रह्मसूत्रकार ने कहा कि ब्रह्म में वैषम्य एवं निर्दयत्व दोष नहीं आता क्योंकि ब्रह्म जीवों के कर्मों की ओर ध्यान देकर उन कर्मों के अनुसार इष्ट एवं अनिष्ट फलों का प्रदान करता है। पुण्य कर्म करने वालों को उत्कृष्ट शरीर एवं सुख देता है। पापकर्म करने वालों को निकृष्ट शरीर एवं दुःख देता है। यदि ब्रह्म कर्मों की ओर ध्यान दिये विना मनमाना ऐसे ही फल देता हो तो उसमें वैषम्य एवं निर्दयत्व दोष अवश्य लगता। किन्तु ब्रह्म जीवों के कर्मानुसार फल देता है अतएव उसमें ये दोष नहीं लगते। उपर्युक्त

शंकासमाधान "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्" इस ब्रह्मसूत्र में कहा गया है। आगे के "न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च" इस ब्रह्मसूत्र में एक शंका का परिहार वर्णित है। उससे भी जीव का नित्यत्व सिद्ध होता है। वह शंका यह है कि सृष्टि के पूर्व जीव रहते ही नहीं, उस समय विना किसी विभाग के केवल ब्रह्म ही रहता है, उस समय जीव न हों तो उनके कर्म कैसे रह सकते हैं। मानना पड़ेगा कि प्रलयकाल में जीवों के कर्म भी नहीं रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि जीवों के कर्मानुसार सृष्टि में वैषम्य होता है, यह शंका है। इसका परिहार इस प्रकार किया गया है कि जीव और उनका कर्मप्रवाह अनादि हैं। अनादि होने पर भी यह कहा जा सकता है कि उस समय निर्विभाग ब्रह्म रहता है क्योंकि प्रलयकाल में जीव नामरूप विभाग को छोड़कर ब्रह्म में घुल मिल कर लीन रहते हैं, उस समय वे ब्रह्म के शरीर के रूप में भी कहने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्मरूप में प्रलयकाल में भी जीवों का सद्भाव मानना चाहिये। अन्यथा बहुत से दोष उपस्थित होंगे जिनका परिहार कठिन है। वे दोष ये हैं कि जीव यदि प्रलय में पूर्णरीति से नष्ट हो जायेंगे तो सृष्टिकाल में नये जीवों की सृष्टि माननी होगी। इन नये जीवों ने तो इसके पूर्व कुछ कर्म किया ही नहीं, इनको क्यों विविध फल भोगना पड़ता है ? न किये गये कर्मों का फल यदि भोगना पड़े, यह महान् अन्याय है। तथा यह भी मानना होगा कि पूर्व-कल्प के जीव अपने द्वारा किये गये बहुत से कर्मों का फल विना भोगे ही नष्ट हो गये, उनके कर्म भी उनके साथ नष्ट हो गये। फलभोग के विना कर्मों का नाश मानना भी महान् दोष है। इन दोषों को ही "अकृताभ्यागम" और "कृतविप्रणाश" कहते हैं। इन दोषों का परिहार करने के लिये यह मानना होगा कि पूर्वकल्प में अवस्थित जीव पुनः सृष्टि में कर्मानुसार जन्म लेते हैं और फल भोगते हैं। इससे प्रलयकाल में भी जीव और उनके कर्मप्रवाहों का सद्भाव फलित होता है। अतएव ये अनादि माने जाते हैं। जीव अनादि हैं यह अर्थ शास्त्रों में वर्णित है। जीव और उनके कर्म अनादि होने के कारण यह सिद्धान्त पक्का हो जाता है कि ब्रह्म जीवों के कर्मानुसार विविध शरीर एवं कर्मफल का प्रदान करता है। ब्रह्म में कोई दोष नहीं लगता। ब्रह्मसूत्रकार के इस निर्णय के अनुसार जीव अजन्मा एवं नित्य सिद्ध होते हैं, ये ब्रह्म का परिणाम नहीं हो सकते। श्रुतियों से सिद्ध होता है कि प्रकृति भी अनादि है। वे श्रुतिवचन ये हैं कि—

(१) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

अर्थात् तेज जल और पृथिवी के रूप में परिणत होने के कारण उनके रक्त श्वेत और कृष्ण रूप को अपनाने वाली, अपने समान रूप वाली बहुत प्रजा को उत्पन्न करने वाली, एवं जननरहित प्रकृति का प्रीति से सेवन करता हुआ एक जननरहित बद्धजीव उसमें पड़ा रहता है दूसरा विद्वान् जीव विरक्त होकर इस प्रकृति को–जिसका भोग भोगा गया है–छोड़ देता है। इस वचन से प्रकृति और पुरुष जननरहित कहे गये हैं, तथा प्रकृति जगद्रूप में परिणत होने वाली कही गई है।

(२) अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥

अर्थात् मायाप्रेरक परमात्मा इस माया से इस विश्व की सृष्टि करते हैं। दूसरा जीव ईश्वराश्रित माया से मोहित रहता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति को विचित्र और आश्चर्यमय सृष्टि का कारण होने से माया समझे, मायाप्रेरक को महेश्वर समझे। इस वचन से सिद्ध होता है कि ईश्वर प्रकृति के द्वारा जगत् की सृष्टि करते हैं।

(३) "गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" अर्थात् ईश्वर को लीलारस देने के कारण गौ के समान बनने वाली प्रकृति आद्यन्तशून्य है अर्थात् उत्पत्तिविनाशरहित है, यह समष्टि एवं व्यष्टि सृष्टि करने वाली है। इस वचन से सिद्ध होता है कि प्रकृति स्वरूप से ही समष्टि एवं व्यष्टि सृष्टि के रूप में परिणत होती है।

उपर्युक्त सभी अर्थ स्मृतिग्रन्थ से भी प्रमाणित होते हैं। गीता में श्रीभगवान् कहते हैं कि—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ॥१३।१९॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ७।५ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥ ९।८ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥ ९।१० ॥

अर्थात् परस्पर संबद्ध प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि समझो। इस जगत् का कारण बनने वाली प्रकृति पृथिवी जल तेज वायु और आकाश आदि के रूप से मन इत्यादि इन्द्रियों के रूप से महत् और अहंकार के रूप से आठ प्रकार से विभक्त होकर रहती है। यह प्रकृति मेरी है। यह मेरी निम्न-कोटि की प्रकृति है। चेतनों को भोग्य बनने वाली इस अचेतन प्रकृति से भिन्न भी एक प्रकृति है, वह जीव है, जीव श्रेष्ठ प्रकृति है, इससे यह अचेतन जगत् धृत रहता है। इस जीव प्रकृति को भी मेरी ही समझो। अपनी प्रकृति को आठ रूपों में परिणत कराकर मैं बारम्बार सृष्टि करता हूँ। मुझ अध्यक्ष से प्रेरित होकर यह प्रकृति चराचरयुक्त जगत् को उत्पन्न करती है।

इन सब वचनों से विदित होता है कि प्रकृति और पुरुष ईश्वर की धार्य परतन्त्र एवं शेषभूत वस्तु है। अतएव उसका शरीर है। प्रकृतिशब्द प्रकृति शरीर का धारण करने वाले तथा प्रकृति का आत्मा बने हुये ईश्वर का वाचक है, तथा पुरुषशब्द भी उस ईश्वर का वाचक है जो जीवों का अन्तरात्मा बना हुआ है,

तथा जीवविशिष्ट है। इन प्रकृतिपुरुषों के द्वारा बनने वाले कार्यों का भी अन्तरात्मा ईश्वर ही है। यह अर्थ विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होता है। वह श्लोक यह है कि—

व्यक्तं विष्णुस्तथाऽव्यक्तं पुरुषः काल एव च ।
स एव क्षोभको ब्रह्मन् क्षोभ्यश्च परमेश्वरः ॥

अर्थात् व्यक्त प्रपञ्च अव्यक्त प्रकृति पुरुष और काल ये सब ईश्वर ही हैं (क्योंकि वही इन शरीरों का धारण किये हुये है। हे ब्रह्मन्, सृष्टि के आरम्भ में क्षोभ को उत्पन्न कराने वाला ईश्वर ही है, तथा क्षोभ को प्राप्त होने योग्य पदार्थ अर्थात् प्रकृति और पुरुष भी परमेश्वर ही है। क्योंकि वही प्रकृति और पुरुष को शरीर के रूप में धारण करता है। परमात्मा सर्वेश्वर प्रलयकाल में सूक्ष्मप्रकृति एवं सूक्ष्म जीवों से विशिष्ट अर्थात् युक्त होकर रहता है। प्रकृतिविशिष्ट परमात्मा में विशेषणांश के रूप में रहने वाली प्रकृति में सब तरह के विकार होते रहते हैं। विशेष्यांश के रूप में अवस्थित परमात्मा में कोई भी विकार नहीं लगता है, वह निर्विकार होकर रहता है। ऐसे ही जीवविशिष्ट परमात्मा में विशेषणांश बने हुये जीवात्मा में सब तरह के दुःख इत्यादि दोष होते हैं। उस विशिष्ट में विशेष्य बने हुये परमात्मा में नियामक निर्दोष सर्वकल्याणगुणनिधि एवं सत्य संकल्प वाले हैं। विशिष्ट में दो अंश होते हैं (१) विशेषणांश और (२) विशेष्यांश। प्रकृतिविशिष्ट ईश्वर में प्रकृति विशेषणांश है, ईश्वर विशेष्यांश है, वैसे ही जीवविशिष्ट ईश्वर में जीवविशेषणांश और ईश्वर विशेष्यांश है। विशेषणांश प्रकृति और जीव में सभी विकार और दोष रहते हैं विशेष्यांश ईश्वर निर्विकार एवं निर्दोष होकर रहता है। ईश्वर विशिष्ट रूप से उपादानकारण है, विशेष्य रूप से निर्विकार एवं निर्दोष बनकर रहता है। इस प्रकार ईश्वर को उपादानकारण कहने वाली श्रुति एवं ईश्वर को निर्विकार एवं निर्दोष कहने वाली श्रुतियों में सामरस्य हो जाता है। ईश्वर को उपादानकारण कहने वाली श्रुतियों का चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर को उपादानकारण कहने में तात्पर्य है। ईश्वर को निर्विकार एवं निर्दोष कहने वाली श्रुतियों का विशिष्ट में अन्तर्गत विशेष्यांश ईश्वर को वैसा बतलाने में तात्पर्य है। अतएव इन श्रुतियों में विरोध नहीं होता। चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर कारण है, कार्य भी चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर ही है। इसलिये कारण और कार्य एक वस्तु माने जाते हैं। उपनिषदों का इस प्रकार भाव लेने पर सर्व श्रुतियों में समन्वय हो जाता है, कहीं किसी से भी विरोध नहीं होता।

ईश्वरगतकारणत्वकार्यत्वयोर्मुख्यत्वेन समर्थनम्

ईश्वर के मुख्य रीति से कारणत्व एवं कार्यत्व का समर्थन

तदेवं नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृतिपुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्, जगतस्तदापत्तिरेव च प्रलयः, नामरूपविभागविभक्तस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्या-

वस्थम्, ब्रह्मणस्तथाविधस्थूलभावो जगतः सृष्टिरित्युच्यते । यथोक्तं भगवता पराशरेण "प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयो" रिति । तस्मादीश्वरप्रकारभूतसर्वावस्थप्रकृति-पुरुषवाचिनः शब्दास्तत्प्रकारविशिष्टतयाऽवस्थिते परमात्मनि मुख्यतया वर्तन्ते जीवात्म-वाचिदेवमनुष्यादिशब्दवत्, यथा देवमनुष्यादिशब्दा देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषाणां जीवात्मप्रकारतयैव पदार्थत्वात् प्रकारिणि जीवात्मनि मुख्यतया वर्तन्ते, तस्मात् सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः परमात्मशरीरतया तत्प्रकारत्वात् परमात्मनि मुख्यतया वर्तन्ते सर्वे तद्वाचकाः शब्दाः ।

ईश्वर सदा चेतनाचेतनों से विशिष्ट होकर रहते हैं। प्रलयकाल में चेतनाचेतन नामरूपविभागों को छोड़कर सूक्ष्मदशा में पहुँच जाते हैं। सृष्टिकाल में नामरूपविभागों को प्राप्त कर स्थूलदशा में आ जाते हैं। नामरूपविभागरहित सूक्ष्मदशा में पहुँचे हुये प्रकृति पुरुषरूपी शरीरों में अन्तरात्मा के रूप में अवस्थित ब्रह्म कारण माना जाता है। जगत् जब इस कारणावस्था में पहुँच जाता है, तब प्रलय कहा जाता है। नामरूपविभाग को प्राप्त कर स्थूलदशा में पहुँचे हुये चेतनाचेतनपदार्थों का अन्तरात्मा बने हुये परमात्मा कार्य माने जाते हैं। ब्रह्म को चेतनाचेतनों के द्वारा उपर्युक्त स्थूलावस्था को प्राप्त होना ही जगत् की सृष्टि कहा जाता है। यद्यपि चेतनाचेतन द्रव्य और ब्रह्म द्रव्य नित्य हैं तथापि उनमें विविध अवस्थायें होती रहती हैं। नामरूपविभागशून्य हो जाना यही सूक्ष्मदशा है। यह अवस्था चेतनाचेतनों में साक्षात् सम्बन्ध से रहती है, चेतनाचेतनों के द्वारा परमात्मा में रहती है। इस अवस्था को लेकर कारण माना जाता है। यह अवस्था प्रलयकाल में होती है। नामरूपविभाग को प्राप्त करना यही स्थूलावस्था है, यह अवस्था चेतना-चेतनों में साक्षात् सम्बन्ध से रहती है, चेतनाचेतनों के द्वारा ब्रह्म में रहती है। इस अवस्था को लेकर ब्रह्म कार्य माना जाता है यह अवस्था सृष्टिकाल में होती है। द्रव्य नित्य होने पर भी उनमें होने वाली सूक्ष्मावस्था और स्थूलावस्था को लेकर वह द्रव्य कारण एवं कार्य माना जाता है। द्रव्य नित्य होने पर भी विभिन्न अवस्थाओं को लेकर सृष्टि और प्रलय माने जाते हैं। द्रव्य नित्य होने पर भी अवस्था भेद से वह द्रव्य कारण एवं कार्य बन जाता है। यह अर्थ निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है। भगवान् पराशर-ब्रह्मर्षि ने कहा है कि—

"प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः" अर्थात् कार्य बनने वाले जननरहित प्रकृतिपुरुषों का कारण ईश्वर है। इस श्लोक में प्रकृतिपुरुषों को जननरहित कहा गया है, इससे कारणावस्था में इनकी स्थिति फलित होती है। इनको कार्य कहा गया है, यहाँ यह प्रश्न उठता है कि नित्य प्रकृति और पुरुष कार्य कैसे होंगे ? उत्तर यह है कि नित्य रहने वाले ये दोनों तत्त्व जब नूतन अवस्था को प्राप्त करते हैं तब ये कार्य कहलाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्य नित्य होने पर भी वह पूर्वावस्था को लेकर कारण एवं उत्तरा-वस्था को लेकर कार्य कहा जाता है।

प्रश्न—यदि प्रकृति और पुरुष कारण एवं कार्य बनते हैं तो परमात्मा को गौणरूप से ही कारण एवं कार्य मानना होगा। उनमें कारणत्व और कार्यत्व कैसे मुख्य हो सकता है? उत्तर—प्रकृति और पुरुष चाहे कारणावस्था में रहें, चाहे कार्यावस्था में किसी भी अवस्था में रहते समय वे दोनों इसी प्रकार परमात्मा का प्रकार अर्थात् विशेषण बनकर रहते हैं जिस प्रकार जाति, व्यक्ति के प्रति और गुण, द्रव्य के प्रति जिस प्रकार जाति और गुण, व्यक्ति एवं द्रव्य के प्रति सदा प्रकार बनकर रहते हैं उसी प्रकार प्रकृतिपुरुष सदा परमात्मा का प्रकार बनकर रहते हैं। अतएव इन्हें नियतप्रकार कहा जाता है। वही वस्तु नियतप्रकार मानी जाती है जो दूसरे का आश्रय लेकर ही रहती है तथा दूसरे के अर्थ ही रहती है। जाति व्यक्ति का आश्रय लेकर ही रहती है तथा व्यक्ति के लिये ही रहती है, जाति से होने वाला फल व्यक्ति को ही मिलता है, गुण द्रव्य का आश्रय लेकर ही रहता है तथा द्रव्य के लिये ही रहता है, गुण से होने वाला उत्कर्ष इत्यादि विशेषतायें द्रव्य को ही मिलती हैं। शरीर आत्मा का आश्रय लेकर ही रहता है। शरीर आत्मा को लाभ पहुँचाने के लिये ही रहता है, शरीर से होने वाले सुख और दुःख इत्यादि फल आत्मा को मिलते हैं। इस प्रकार जाति गुण और शरीर ये तीनों दूसरे का आश्रय लेकर ही रहते हैं तथा दूसरे के लिये ही रहते हैं इसलिये ये नियतप्रकार माने जाते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के प्रति नियतप्रकार बनने वाली जाति का वाचकशब्द व्यक्ति तक को बतलाता है, जिस प्रकार द्रव्य के प्रति नियतप्रकार बनने वाले गुण का वाचक नील आदि शब्द द्रव्य तक को बतलाता है उसी प्रकार परमात्मा के प्रति नियतप्रकार बनने वाले प्रकृतिपुरुषों के वाचकशब्द परमात्मा तक को बतलाते हैं। इसमें देव मनुष्य आदि शब्द दृष्टान्त हैं। जिस प्रकार प्रकृति के परिणाम से बने हुये देव मनुष्य इत्यादि शरीरों को जीवात्मा के प्रति सदा प्रकार बनकर रहने के कारण उन शरीरों को बतलाने वाले देव और मनुष्य इत्यादि शब्द विशेष्य बनने वाले जीवात्मा को शब्दशक्ति से ही–लक्षणा से नहीं-बतलाते हैं, उसी प्रकार ही सम्पूर्ण चेतनाचेतनपदार्थों के ईश्वर का शरीर बनकर ईश्वर के प्रति प्रकार बने रहने के कारण इन चेतनाचेतनों के वाचक सभी शब्द विशेष्य बनने वाले परमात्मा को शब्दशक्ति से ही–लक्षणा से नहीं–बतलाते हैं। प्रकृति और पुरुष में कहे जाने वाले कारणत्व और कार्यत्व परमात्मा में मुख्य रूप से–गौणरूप से नहीं–रहते हैं इसलिये परमात्मा को कारण एवं कार्य मानना उचित ही है।

शरीरात्मनोर्लक्षणवर्णनम्

शरीर एवं आत्मा के लक्षण का वर्णन

अयमेव चात्मशरीरभावः पृथक्सिद्ध्यनर्हाधाराधेयभावः, नियन्तृनियाम्यभावः, शेषशेषिभावश्च, सर्वात्मनाऽऽधारतया नियन्तृतया शेषितया च आप्नोतीत्यात्मा सर्वात्म-

नाऽऽधेयतया नियाम्यतया शेषतया च अपृथक्सिद्धं प्रकारभूतमित्याकारः शरीरमिति चोच्यते। एवमेव हि जीवात्मनः स्वशरीरसम्बन्धः, एवमेव परमात्मनः सर्वशरीरत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वम्।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसे आत्मा कहा जाय ? किसे शरीर कहा जाय ? आत्मा और शरीर का क्या लक्षण है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जिन दो पदार्थों में एक दूसरे का आश्रय लेकर ही रहता है, दूसरा आधार बनकर उसकी स्थिति बनाये रखता है, उनमें आधेय बनने वाला पदार्थ आधार को छोड़कर नहीं रह सकता। उन दोनों पदार्थों में आधार एवं धारक बनने वाला चेतन आत्मा कहा जाता है, उसके द्वारा सदाधृत रहने वाला पदार्थ—चाहे वह चेतन हो या जड़-शरीर कहा जाता है। इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध माना जाता है। शरीरात्मभाव का प्रथम लक्षण पृथक्सिद्ध्यनर्हाधाराधेयभाव है जिसकी व्याख्या अब तक की गई है। शरीरात्मभाव का दूसरा लक्षण पृथक्सिद्ध्यनर्ह नियन्तृनियाम्यभाव है। इसकी व्याख्या यह है कि जिन दोनों पदार्थों में एक पदार्थ दूसरे को अपने नियन्त्रण में रखता है, दूसरा उनके नियन्त्रण में है, उससे छूट नहीं सकता, उनमें नियन्त्रण करने वाला नियामक एवं नियन्त्रण में रहने वाला नियाम्य कहा जाता है। उनमें नियामक पदार्थ आत्मा और नियाम्यवस्तु शरीर कहलाता है। यह पृथक्सिद्ध्यनर्ह नियन्तृनियाम्यभाव शरीरात्मभाव का दूसरा लक्षण है। शरीरात्मभाव का तीसरा लक्षण भी है, वह पृथक्सिद्ध्यनर्ह शेषशेषिभाव है। इसकी व्याख्या यह है कि जिन दो पदार्थों में एक दूसरे से किसी न किसी प्रकार से उत्कर्ष इत्यादि विशेषताओं को प्राप्त करता है, दूसरा उसको किसी न किसी प्रकार से उत्कर्ष इत्यादि विशेषताओं को पहुँचाने के लिये ही रहता है, इन विशेषताओं को अतिशय कहते हैं। वह इन अतिशयों को पहुँचाये बिना नहीं रह सकता, अतिशय पहुँचाने से छुटकारा नहीं पा सकता। इनमें अतिशय प्राप्त करने वाला पदार्थ शेषी तथा अतिशय पहुँचाने वाला पदार्थ शेष कहा जाता है। अतिशय प्राप्त करने वाला चेतन आत्मा एवं अतिशय पहुँचाने के लिये बना हुआ पदार्थ शरीर कहा जाता है। यह पृथक्सिद्ध्यनर्ह शेषशेषिभाव शरीरात्मभाव का तीसरा लक्षण है। आत्मशब्द की यह व्युत्पत्ति है कि "आप्नोतीति आत्मा" व्यापने वाला आत्मा है। जबतक बने रहें तबतक आधेय नियाम्य एवं शेष बनकर रहने वाले द्रव्यों को जो आधार नियामक एवं शेषी बनकर अपनाता रहता है, उनमें व्यापक होकर रहता है, वह आत्मा कहा जाता है। जो जबतक बना रहे तबतक आधेय नियाम्य एवं शेष बनकर दूसरे को छोड़ने में असमर्थ होकर दूसरे का आश्रय लेकर रहता है वह द्रव्य शरीर कहा जाता है। जाति और गुण, व्यक्ति और द्रव्य को न छोड़ते हुये उनके विशेषण बने हैं इसलिये वे प्रकार कहे जाते हैं। शरीर आत्मा को न छोड़ता हुआ आत्मा का विशेषण बनकर रहता है इसलिये शरीर प्रकार कहा जाता है। अन्तर इतना ही है जाति और गुण अद्रव्य हैं, शरीर द्रव्य है। दूसरे को न छोड़कर दूसरे का विशेषण बनकर रहने में कोई अन्तर है। शरीर का उपर्युक्त लक्षण ही समीचीन है। नैयायिकों के द्वारा वर्णित

लक्षण अनेक दोषों से दूषित है अतएव त्याज्य है। जीवात्मा का अपने शरीर से जो सम्बन्ध है वह इसी प्रकार का ही है। शरीर जबतक रहता है, तबतक वह जीवात्मा के आधार पर रहता है, जीवात्मा के नियन्त्रण में है, जीवात्मा को सुख इत्यादि लाभ पहुँचाता रहता है। परमात्मा का सब पदार्थों के साथ इसी प्रकार का ही सम्बन्ध है। चेतनाचेतन पदार्थ परमात्मा पर आधारित हैं, परमात्मा के नियन्त्रण में हैं, परमात्मा को लीलारस और भोगरस पहुँचाते हैं। इसलिये चेतनाचेतनपदार्थ शरीर एवं परमात्मा इनका अन्तरात्मा कहा जाता है। परमात्मा सर्वशरीरक है अतएव सर्व शब्दों से अभिहित होता है। चिदचिद्विशिष्ट रूप से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण है, विशेष्य रूप से निर्विकार है। जिस प्रकार बालशरीरविशिष्ट रूप से जीवात्मा युवशरीरविशिष्ट का उपादान होता हुआ विशेष्य रूप से निर्विकार रहता है, उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। ब्रह्म के उपादानत्व एवं निर्विकारत्व में विरोध नहीं। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने उनका समन्वय किया है।

ब्रह्मणः सर्वशब्दवाच्यत्वस्य प्रमाण वचनैः समर्थनम्

ब्रह्म के सर्वशब्दवाच्यत्व में प्रमाण वचन का समर्थन

तदाऽऽह श्रुतिगणः—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ती" ति तस्यैकस्य वाच्यत्वादेकार्थवाचिनो भवन्तीत्यर्थः। "एको देवो बहुधा निविष्टः" "सहैव सन्तं न विजानन्ति देवा" इत्यादि। देवाः—इन्द्रियाणि, देवमनुष्यादीनामन्तर्यामितयाऽऽत्मत्वेन निविश्य सहैव सन्तं तेषामिन्द्रियाणि मनः पर्यन्तानि न विजानन्तीत्यर्थः। तथा च पौराणिकानि वचांसि "नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" "वाच्ये हि वचसः प्रतिष्ठा" "कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यमुत्तमम्" "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादीनि। सर्वाणि हि वचांसि सशरीरात्मविशिष्टमन्तर्यामिणमेवाचक्षते "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी" ति हि श्रुतिः। तथा च मानव वचः—"प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम्"। "रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्" अन्तः प्रविश्य—अन्तर्यामितया, सर्वेषां प्रशासितारं—नियन्तारम्। अणीयांस आत्मानः, कृत्स्नस्याचेतनस्य व्यापकतया सूक्ष्मभूतास्ते, तेषामपि व्यापकत्वात्तेभ्योऽपि सूक्ष्मतरमित्यर्थः। रुक्माभम्—आदित्यवर्णम्, स्वप्नधीगम्यं—स्वप्नकल्पबुद्धिप्राप्यम्, विशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानैकलभ्यमित्यर्थः। "एनमेके वदन्त्यग्निं मरुतोऽन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वत" मिति। एके—वेदा इत्यर्थः। उक्तरीत्या परस्यैव ब्रह्मणः सर्वस्य प्रशासितृत्वेन सर्वान्तरात्मतयाप्रविश्यावस्थितत्वात्, अग्न्यादयोऽपि

शब्दा शाश्वतब्रह्मशब्दवत् तस्यैव वाचका भवन्तीत्यर्थः। तथा च स्मृत्यन्तरं—"ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणान् सहुताशनान्। सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति" ते॥ इति। पितृदेवब्राह्मणहुताशनादिशब्दास्तन्मुखेन तदन्तरात्मभूतस्य विष्णोरेव वाचका इत्युक्तं भवति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने ब्रह्म के सर्वशब्दवाच्यत्व को प्रमाणवचनों से सिद्ध करते हुये यह कहा है कि श्रुतिसमूह से यह विदित होता है कि ब्रह्म सभी शब्दों का वाच्य है। वे वचन ये हैं कि—

(१) "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" अर्थात् सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं।

(२) सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति" अर्थात् सभी वेद जिस ब्रह्म में एक होते हैं सभी वेद प्रधानरूप से ब्रह्म का प्रतिपादक होने के कारण उस ब्रह्म के विषय में एक वाक्यता को प्राप्त होते हैं।

(३) "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" अर्थात् एक देव परमात्मा बहुरूप से विराजमान रहते हैं। सर्वशरीरक होकर सबको प्रकार रूप में अपनाये हुये हैं, इसलिये सर्वशब्दों से अभिहित होते हैं। इस प्रकार इस वाक्य से सर्वशब्दों से अभिहित होने में सर्वान्तरात्मत्व हेतु बतलाया गया है।

(४) "सहैव सन्त न विजानन्ति देवाः" अर्थात् देव और मनुष्य आदि का अन्तर्यामी बनकर साथ ही विराजने वाले परमात्मा को मन पर्यन्त सभी इन्द्रिय जान नहीं पाते हैं। वे शब्द से ही विदित हो सकते हैं। इस वाक्य से श्रीभगवान् को अन्तर्यामी कहा गया है।

पुराणों में भी कई वचन हैं जिनसे श्रीभगवान् सर्वशब्दवाच्य सिद्ध होते हैं—

(१) "नताः स्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" अर्थात् इस परतत्त्व को नमस्कार है जिसमें सर्वशब्दों की शाश्वत प्रतिष्ठा होती है। शब्द वाच्यार्थ में प्रतिष्ठित होते हैं। परमात्मा सदा से सर्वशब्दों का वाच्यार्थ है। इसलिये उनमें सर्वशब्दों की शाश्वत प्रतिष्ठा कही गई है।

(२) "कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यमुत्तमम्" अर्थात् परमात्मा कार्यों का प्रथम कारण है अतएव वे शब्दों का उत्तम वाच्यार्थ हैं।

(३) "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" अर्थात् वेदों के द्वारा हम ही वेद्य हैं अर्थात् जानने योग्य हैं। इस प्रकार श्रीगीता में भगवान् ने कहा है। उदाहृत श्रुति एवं पुराणों के वचनों से सिद्ध होता है कि सभी शब्द सशरीर जीवात्मा से विशिष्ट रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा का वाचक होते हैं। अतएव उपनिषद् ने इस प्रकार ईश्वर के संकल्प का वर्णन किया है कि "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" अर्थात् हम परमात्मा इस जीवात्मा को साथ लेकर पृथिवी जल और अग्नि इन तीनों तत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूप व्याकरण करेंगे। जल पृथिवी और तेज इत्यादि जडपदार्थों से निर्मित

कार्यवर्ग तभी टिक सकेंगे, यदि जीव उनको धारण करें जीव धारण करने में तभी समर्थ हो सकता है, यदि परमात्मा के द्वारा स्वयं धृत रहें। अतएव परमात्मा ने जीव का अन्तर्यामी बनकर जीव को साथ लेकर उन तत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूप व्याकरण करने का संकल्प किया है। जडपदार्थों का वाचक शब्द उन जडपदार्थों को धारण करने वाले जीव को बतलाते हुये जीवान्तर्यामी परमात्मा का वाचक बनें, तदर्थ भी परमात्मा ने जीव को लेकर उन जडतत्त्वों में प्रविष्ट होकर नामरूप व्याकरण करने का संकल्प किया। इस उपनिषद्वचन से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वशब्दों से अभिहित होते हैं।

मनुस्मृति में दो श्लोक हैं उनमें प्रथम श्लोक से उस हेतु का वर्णन किया गया है, जिससे श्रीभगवान् सर्वशब्दों से अभिहित होते हैं, द्वितीय श्लोक में कहा गया है कि भगवान् किन २ शब्दों से अभिहित होते हैं। वे श्लोक ये हैं कि—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणीयसाम् ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम् ॥
एनमेके वदन्त्यग्निं मरुतोऽन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥

अर्थात् परमात्मा सबके अन्दर प्रवेश करके अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित होकर सब पर शासन करने वाले हैं। जीवात्मा सूक्ष्म होते हैं, वे सभी अचेतनों के अन्दर प्रविष्ट होकर रहते हैं, अतएव अचेतनों से वे सूक्ष्म होते हैं, उन जीवों में भी व्यापक होकर रहने वाले परमात्मा उनसे भी सूक्ष्म हैं, परमात्मा से बढ़कर कोई सूक्ष्मपदार्थ नहीं हैं। वे परमसूक्ष्म हैं। परमात्मा दिव्यमंगलविग्रह से युक्त हैं। वे परमभोग्य हैं, अतएव भक्तों को स्वर्णवर्ण वाले दिखाई देते हैं। वे प्रतापसम्पन्न हैं, अतएव शत्रुओं को मध्याह्न सूर्य के समान दिखाई देते हैं। वे परमात्मा स्वप्नतुल्य बुद्धि से प्राप्य होते हैं। स्वप्न में ज्ञान प्रत्यक्ष के समान अत्यन्त विशद रहता है, उस स्वप्न ज्ञान के समान जो ध्यान अत्यन्त विशद होकर प्रत्यक्ष समान आकार रखता है। वैसे ध्यान से ही परमात्मा प्राप्त हो सकते हैं। उपर्युक्त विशेषण विशिष्ट परमपुरुष को जानना चाहिये। यह प्रथम श्लोक का अर्थ है। इसमें कहा गया है कि परमात्मा सब पदार्थों के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित हैं। अतएव परमात्मा सर्वशब्दों से अभिहित होते हैं। सर्वपदार्थों में अन्तर्यामी होकर रहना ही परमात्मा को सर्वशब्दों द्वारा अभिहित होने में कारण है। यह कारण प्रथम श्लोक में कहा गया है। द्वितीय श्लोक का अर्थ यह है कि इस परमात्मा को कई वेदवाक्य अग्नि कहते हैं, अन्य वेदवाक्य मरुत् कहते हैं, इतर वेदवाक्य प्रजापति कहते हैं, दूसरे वेदवाक्य इन्द्र कहते हैं, इतर वेदवाक्य प्राण कहते हैं, उपनिषद्वाक्य शाश्वत ब्रह्म कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि परब्रह्म परमात्मा, अग्नि, मरुत्, प्रजापति, इन्द्र और प्राण इत्यादि में अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित हैं, क्योंकि वे सबके शासक हैं, अतएव वे सब में प्रविष्ट होकर अन्तरात्मा के रूप में सर्वत्र रहते हैं, अतएव उन अग्न्यादि पदार्थों के

वाचक अग्नि आदि शब्द उसी प्रकार परमात्मा को बतलाते हैं जिस प्रकार शाश्वत ब्रह्म शब्द परमात्मा का वाचक होता है। इस प्रकार मनुस्मृति में परमात्मा सर्वशब्दवाच्य कहे गये हैं। दूसरे स्मृतिवचन से भी यह अर्थ सिद्ध होता है। वह वचन यह है कि—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणान् सहुताशनान्।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते॥

अर्थात् जो पितृगण देव और अग्नि समेत ब्राह्मणों का यजन करते हैं, वे सर्वजीवों का अन्तरात्मा श्रीविष्णु भगवान का ही यजन करते हैं क्योंकि श्रीविष्णु भगवान् सर्वजीवों को अन्तरात्मा होने के कारण उन पितृगण, देवगण और अग्नि समेत ब्राह्मणों का भी अन्तरात्मा हैं। यजन करते समय पितृगण आदियों के वाचक जो २ शब्द बोले जाते हैं, वे पितृगण आदियों को बतलाते हुये उनका अन्तरात्मा श्रीभगवान् को बतलाकर उनमें पर्यवसान पाते हैं। इसलिये पितृयजन आदि श्रीविष्णुयजन हो जाते हैं। इस श्लोक में हेतु निर्देश पूर्वक श्रीविष्णु भगवान को पित्रादि शब्दों का वाच्य कहा गया है। इन प्रमाणों को उपस्थित करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीभगवान् को सर्वशब्दवाच्य सिद्ध किया है।

जीवस्यसंसरणेहेतुः संसारस्यस्वरूपं मोक्षहेतुश्च

जीव के संसार का कारण, संसार का स्वरूप, एवं संसार से छूटने का साधन

अत्रेदं सर्वशास्त्रहृदयम्—जीवात्मानः स्वयमसंकुचितापरिच्छिन्ननिर्मलज्ञानस्वरूपाः सन्तः कर्मरूपाविद्यावेष्टितास्तत्तत्कर्मानुरूपज्ञानसङ्कोचमापन्नाः ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तविविधविचित्रदेहेषु प्रविष्टास्तत्तद्देहोचितलब्धज्ञानप्रसरास्तत्तद्देहात्माभिमानिनस्तदुचितकर्माणि कुर्वाणास्तदनुगुणसुखदुःखोपभोगरूपसंसारप्रवाहं प्रतिपद्यन्ते। एतेषां संसारमोचनं भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते इति।

अब श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने सिद्ध वस्तु को बतलाने में तात्पर्य रखने वाली भेदश्रुति अभेदश्रुति और घटकश्रुतियों का समन्वय करके उनसे प्रतिपादित होने वाले तत्त्वार्थों पर प्रकाश डाला है। आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी कहते हैं कि उपाय क्या है, उपाय से निवर्त्य क्या है। इस विषय में उपनिषद् को प्रमाण मानकर निर्णय करने वाले विद्वानों में मतभेद है। अद्वैतसिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म और जीवात्मा में ऐक्य समझना यह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है, उससे यह संसार निवृत्त होता है। ज्ञान से निवृत्त होने वाला यह संसार मिथ्या है। रज्जु ज्ञान से निवृत्त होने वाला सर्प मिथ्या होता है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि सम्पूर्ण शास्त्रों के सभी वचनों का समन्वय करके समझने का यदि प्रयत्न किया

जाय तो उपाय और निवर्त्य के विषय में विशिष्टाद्वैतियों के द्वारा किया गया निर्णय सही प्रतीत होगा। प्रथमतः निवर्त्य स्वरूप का वर्णन किया जाता है। सभी जीवात्मा ज्ञानस्वरूप हैं। प्रत्येक जीव का एक २ ज्ञान है, वह जीवात्मा का धर्म है, इसलिये वह धर्मभूतज्ञान कहलाता है। जीवात्मा उस धर्मभूतज्ञान का आश्रय है। इसलिये वह धर्मी कहलाता है। जीवात्मा का धर्मिस्वरूप ज्ञान है, तथा उसका धर्म भी ज्ञान है। ज्ञान दो हैं, उनमें एक धर्मी बनकर रहता है, वही जीवात्मा कहलाता है, दूसरा ज्ञान उसका धर्म बनकर रहता है। दोनों भी ज्ञान ही हैं, उनमें धर्मधर्मिभाव के कारण भेद हो जाता है। यहाँ दीप और उसकी प्रभा दृष्टान्त है। दीप और प्रभा दोनों तेजोद्रव्य हैं क्योंकि दोनों अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं। दीप वह है जो बत्ती पर जलता रहता है। प्रभा वह है जो तेजोद्रव्य चारों तरफ फैला रहता है। इनमें प्रभा धर्म है, दीप धर्मी है, क्योंकि प्रभा दीप का आश्रय लेकर रहती है। दीप जहाँ जाता है, वहाँ साथ जाती है, दीप बुझने पर बुझ जाती है। दीप प्रभा के द्वारा ही इतर विषयों को प्रकाशित करता है। दीप और प्रभा दोनों स्वयं प्रकाश हैं। दीप अपने भर को स्वयं प्रकाशित करता है, प्रभा अपने को स्वयं प्रकाशित करती हुई इतर विषयों को भी प्रकाशित करती है। दीप छोटा है, प्रभा बड़ी है, अतएव बहुत दूर तक फैलती है। प्रभा में संकोच और विकास होता है, दीप में नहीं। दीप और प्रभा की तरह प्रकृत में समझना चाहिये। आत्मा और धर्मभूतज्ञान दोनों ज्ञानद्रव्य हैं क्योंकि दोनों भी स्वयं प्रकाश वस्तु हैं। "मैं मैं" ऐसा समझ में आने वाला पदार्थ आत्मा है। "जानता हूँ देखता हूँ" इत्यादि रूप में क्रिया के रूप में प्रतीत होने वाला पदार्थ धर्मभूतज्ञान है। ज्ञान द्रव्य होने पर भी उसमें संकोच और विकास क्रिया होती रहती है, विकास विशिष्ट ज्ञान क्रिया के रूप में भासित होता है। इनमें आत्मा धर्मी है, धर्मभूतज्ञान उसका धर्म है क्योंकि वह अहमर्थ आत्मा का आश्रय लेकर रहता है। तथा आत्मा जहाँ जाता है, वहाँ साथ जाता है। आत्मा और उसका धर्मभूतज्ञान स्वयं प्रकाश ज्ञान द्रव्य होने पर भी उनमें यह अन्तर है कि आत्मा सदा एक रूप रहता है उसमें संकोच और विकास नहीं होते, धर्मभूतज्ञान विकार वाला पदार्थ है उसमें संकोच और विकास होते रहते हैं। गाढ निद्रा के समय धर्मभूतज्ञान एकदम संकुचित हो जाता है, जागरण दशा में विकास को प्राप्त होता है। आत्मा अणुपरिमाण वाला है, धर्मभूतज्ञान वहाँ तक फैल सकता है जहाँ तक प्रतिबन्धक न हो। धर्मभूतज्ञान को विश्व भर में फैलने की क्षमता है। अतएव वह विभु कहलाता है, विभु होने पर भी संसार में कर्म से संकुचित हो जाता है। स्वयं प्रकाश आत्मा अपने भर को प्रकाशित करता है, विषयों को स्वयं प्रकाशित नहीं कर सकता, किन्तु धर्मभूतज्ञान के द्वारा ही आत्मा विषयों को प्रकाशित कर सकता है। स्वयं प्रकाश धर्मभूतज्ञान स्वयं अपने को प्रकाशित करता हुआ बाहरी विषयों को भी प्रकाशित करता है। बाहरी विषयों को प्रकाशित करना यह धर्मभूतज्ञान का वैशिष्ट्य है, इसे ही विषयित्व कहते हैं। आत्मा में भी एक वैशिष्ट्य है, वह यह है कि स्वयं प्रकाश आत्मा अपने लिये प्रकाशता है। अपने लिये प्रकाशना यही आत्मा का वैशिष्ट्य है, इसे प्रत्यक्त्व कहते हैं, धर्मभूतज्ञान और विषय आत्मा के लिये प्रकाशित होते हैं,

अपने लिये नहीं। इस प्रकार आत्मा और धर्मभूतज्ञान में कुछ अंशों में समता है, कुछ अंशों में वैशिष्ट्य है। आत्मा के धर्मभूतज्ञान का यह स्वभाव है कि वह असंकुचित होकर सर्वत्र फैले। प्रभा में संकोच न होने पर भी वह कुछ दूर तक ही फैलती है। परन्तु धर्मभूतज्ञान में यह बात नहीं है। उसमें सर्वत्र फैलने की क्षमता है क्योंकि अपरिच्छिन्न होकर रहना यह धर्मभूतज्ञान का स्वभाव है, प्रभा का नहीं। प्रभा परिच्छिन्न पदार्थ है। धर्मभूतज्ञान अपरिच्छिन्न पदार्थ है। उसका यह स्वभाव मोक्षदशा में अभिव्यक्त होता है। उस समय मुक्तात्मा का धर्मभूतज्ञान अपरिच्छिन्न एवं असंकुचित होकर सर्वत्र फैल जाता है। अतएव मुक्त सर्वत्र माने जाते हैं। निर्मलता धर्मभूतज्ञान का स्वभाव है। रागद्वेष रूप का धारण करना यही धर्मभूतज्ञान की मलिनता है। यह निर्मलता रूपी स्वभाव मोक्ष में प्रकट होता है। उस समय सभी पदार्थ भगवदात्मक प्रतीत होते हैं रागद्वेष की संभावना ही नहीं है। सबको भगवदात्मक न समझने पर ही अयथार्थज्ञान से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं असंकुचित अपरिच्छिन्न एवं निर्मल धर्मभूतज्ञान जीवों का स्वभाव सिद्ध है। इस प्रकार के धर्मभूतज्ञान से युक्त होते हुये जीवात्मा कर्मरूपी अविद्या से आक्रान्त हो जाते हैं। कर्म ही अविद्या है। "अविद्या कर्मसंज्ञान्या" इस वचन से उपर्युक्त अर्थ प्रमाणित होता है। उन २ कर्मों के अनुसार जीवों का ज्ञान संकुचित हो जाता है। ये जीव ब्रह्मा जी के शरीर से लेकर स्तम्ब (क्षुद्रतृणविशेष) पर्यन्त विविध एवं विचित्र देहों में प्रविष्ट हो जाते हैं। ये देह देव मनुष्य तिर्यक् और स्थावर ऐसे नाना प्रकार के होते हैं। इनमें प्रत्येक वर्ग में भी अवान्तर भेद असंख्य हैं, प्रत्येक वर्ग में विचित्र प्रकार के अनेक देह हैं। ऐसे विविध विचित्र देहों में जीव प्रविष्ट हो जाते हैं। उन २ देहों में जितना हो सकता है उतने ज्ञान विकास को जीव प्राप्त करते हैं। अतएव कहा गया है कि "अप्राणिमत्सु स्वल्पा सा स्थावरेषु ततोऽधिका" अर्थात् जिनमें प्राणसंचार बहुत कम है, नहीं के बराबर है, उन शिला और काष्ठ इत्यादि में ज्ञानविकास बहुत कम है। उससे स्थावरों में अधिक ज्ञानविकास होता है। इससे प्रमाणित होता है कि देह तारतम्य के अनुसार ज्ञान के संकोच और विकास में तारतम्य होता है। कर्म के अनुसार होने वाला ज्ञानतारतम्य—जो पहले कहा गया है—देहविशेष के द्वारा सम्पन्न होता है क्योंकि कर्म देह देकर उस देह के द्वारा ज्ञान में संकोचविकास को उत्पन्न करते हैं। उन देहों में प्रविष्ट होने के बाद जीव उन देहों में अभिमान करने लगते हैं, उन देहों में अहं भावना करना, उन देहों को अपना समझ कर उनमें ममत्वबुद्धि करना और उन में आसक्त होना ये सब उस अभिमान का विलास है। इस अभिमान के अनुसार जीव सुख और दुःख को मानते हैं, जो इस आत्माभिमान का अनुकूल हो उसे सुख मानते हैं जो इस आत्माभिमान का प्रतिकूल हो उसे दुःख मानते हैं। इस प्रकार इनका एक दृष्टिकोण बन जाता है। उपर्युक्त देहात्माभिमान के अनुसार जीव विविध कर्म—जो पुण्य एवं पाप हैं—करते रहते हैं। यह कर्म बीजाङ्कुर न्याय से अनादि हैं। उन कर्मों के अनुसार जीव सुख एवं दुःख भोगते रहते हैं। सुख दुःखों को भोगना यही संसार है। इस संसार प्रवाह में अनादिकाल से बद्ध जीव बहते रहते हैं, इसका कारण कर्म है। यह कर्म ही निवर्त्य है, इसे नष्ट करना

चाहिये। यदि कर्म नष्ट हो जायँ तो जीव संसार से छूट जायगा। संसार से मुक्त होना ही परमपुरुषार्थ है। श्रीभगवान् की शरण में जाने पर ही जीव संसार से छूट सकता है, अन्यथा नहीं। शरणागति को प्रपत्ति कहते हैं। प्रपत्ति दो प्रकार की है (१) अंगप्रपत्ति और (२) स्वतन्त्रप्रपत्ति। जो साधक भक्तियोग के द्वारा श्रीभगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं उनको अंगप्रपत्ति करनी पड़ती है। जो साधक भक्तियोग के विना ही श्रीभगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें स्वतन्त्रप्रपत्ति करनी चाहिये। यह प्रपत्ति अत्यावश्यक है, इसके विना जीव संसार से छूट नहीं सकता।

यथाशास्त्रं पूर्वोक्तार्थानां विशदीकरणम्

शास्त्रानुसार उपर्युक्त अर्थों का स्पष्टीकरण

तदर्थं प्रथममेषां देवादिभेदरहितज्ञानैकाकारतया सर्वेषां साम्यं प्रतिपाद्य तस्यापि स्वरूपस्य भगवच्छेषतैकस्वरूपैकरसतया भगवदात्मकतामपि प्रतिपाद्य भगवत्स्वरूपं च हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया सकलेतरविसजातीयमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणालयं स्वसङ्कल्पप्रवृत्तसमस्तचिदचिद्वस्तुजाततया सर्वस्यात्मभूतं प्रतिपाद्य तदुपासनं साङ्गं तत्प्रापकं प्रतिपादयन्ति शास्त्राणीति।

जीव संसार से मुक्त हों, तदर्थ शास्त्र सर्वप्रथम देहातिरिक्त आत्मस्वरूप का उपदेश देते हैं। यदि जीव देह को ही आत्मा मानता रहे तो उसको ऐहलौकिक फलों को प्राप्त करने की इच्छा होगी, पारलौकिक फलों को प्राप्त करने के लिये इच्छा नहीं होगी क्योंकि देहात्माभिमानी जीव यही समझता रहता है कि देह ही मैं हूँ, देह उत्पन्न होते मैं उत्पन्न हुआ, देह मिटते मैं मिटने वाला हूँ। देह नष्ट होने के बाद मैं रहही नहीं सकता। इस प्रकार जो देहात्माभिमानी जीव देह नष्ट होने पर अपने अस्तित्व मानने के लिये तैयार नहीं होता वह देह मिटने पर मिलने वाले पारलौकिक फलों पर क्यों विश्वास करे, उनको प्राप्त करने के लिये क्योंकर उत्कंठित हो, तथा उनके साधनों में क्यों हाथ बटाये। मोक्ष भी पारलौकिक फल है क्योंकि वह मरने के बाद ही प्राप्त होगा। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिये तथा उसके साधनों को करने के लिये उन साधकों को ही इच्छा हो सकती है जो कम से कम देहातिरिक्त आत्मस्वरूप को जानते हों। तदर्थ शास्त्र सर्वप्रथम देहातिरिक्त आत्मस्वरूप का उपदेश देते हुये बतलाते हैं कि जीवात्मा, देह इन्द्रिय मन प्राण और बुद्धि से भिन्न है, प्रकृति से परे है। देव और मनुष्य इत्यादि भेद देह में हुआ करते हैं, आत्मा में नहीं। आत्मा इन भेदों से सर्वथा रहित है। जीवात्मा ज्ञानैकाकार है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है, जीवात्मा किसी देह में भी रहे, देहगत धर्मों से रहित होकर ज्ञानस्वरूप बनकर रहता है। सभी देहों में विद्यमान जीवात्मा परस्पर समान हैं, सब ज्ञानाकार हैं तथा शरीरगत भेदों से रहित हैं। इस प्रकार शास्त्र देहातिरिक्त

आत्मस्वरूप का उपदेश देते हुये उनमें समता का वर्णन करते हैं। इस उपदेश को हृदयंगम करके साधक पारलौकिक फलों को प्राप्त करने के लिये तथा उनके साधनों में प्रवृत्त होने के लिये सन्नद्ध हो जाते हैं। आगे शास्त्र यह उपदेश देते हैं कि यह देहातिरिक्त आत्मा श्रीभगवान् का शेष है, अर्थात् श्रीभगवान् के लिये है, श्रीभगवान को प्रसन्न करने के लिये तथा श्रीभगवन्मुखोल्लासार्थ कार्य करने के लिये ही जीवात्मा को यह स्वरूप प्राप्त हुआ है। किसी न किसी प्रकार से श्रीभगवान के काम में आना जीवात्मा का स्वरूप है। श्रीभगवान् के मुखोल्लासार्थ कार्य करने से ही जीवात्मा का स्वरूप उज्ज्वल होता है। शेषत्व ही जीवात्मा का सारतम धर्म है। जीवात्मा श्रीभगवान् पर आधारित है, श्रीभगवान् का नियाम्य एवं शेष है, श्रीभगवान् इसके अन्दर अन्तर्यामी के रूप में विराजमान हैं, इसलिये यह जीवात्मा—जो ज्ञानैकाकार एवं भगवच्छेष है—भगवदात्मक बन जाता है। इस प्रकार जो साधक अपने को भगवच्छेष एवं भगवदात्मक समझता है, उसको श्रीभगवान् को प्राप्त करने श्रीभगवान् का अनुभव लेने एवं श्रीभगवान् के मुखोल्लासार्थ विविध कैङ्कर्य करने के लिये बलवती उत्कण्ठा होने लगती है। इस प्रकार श्रीभगवत्प्राप्ति में उत्कण्ठा रखने वाले साधकों के कल्याणार्थ शास्त्र भगवत्स्वरूप को बतलाकर श्रीभगवत्प्राप्ति के साधन का भी वर्णन करते हैं। श्रीभगवत्स्वरूप का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि श्रीभगवान् का स्वरूप नित्य निर्दोष है, कोई भी दोष उसको छू नहीं सकता, श्रीभगवान का स्वरूप सब दोषों का नष्ट करने वाला है, साथ ही मंगलमय भी है। इसलिये श्रीभगवान् का स्वरूप इतर सब पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण सिद्ध होता है। श्रीभगवान में ऐसे अनन्तकल्याणगुण विद्यमान हैं जो उत्कर्ष की चरमसीमा में पहुँचे हुये हैं। श्रीभगवान् का स्वरूप सम्पूर्ण चेतनाचेतन पदार्थों को अपने संकल्पानुसार विविध कर्मों में प्रवृत्त कराता रहता है। वह सम्पूर्ण चेतना-चेतनों का धारक नियामक एवं शेषी है अतएव सबका अन्तरात्मा है। उस भगवत्स्वरूप को प्राप्त करना ही परमपुरुषार्थ है। उसको प्राप्त करने के लिये उनका उपासन ही साधन है, शास्त्रोक्त अंगों के साथ उस उपासन को करना चाहिये। तैल का धारा की तरह अविच्छिन्नप्रेमयुक्त प्रत्यन्त समानाकार निरन्तर स्मरणधारा ही उपासन है, वर्णाश्रमधर्म और शमदमादि उसके अंग हैं। इस प्रकार शास्त्र उस भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के साधन का वर्णन करते हैं। सम्पूर्ण शास्त्रवचनों का समन्वय करके समझने पर उपर्युक्त निर्णय प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने सम्पूर्ण शास्त्रों के तात्पर्यार्थ का वर्णन किया है।

जीवानां ज्ञानानन्द-स्वरूपत्वे प्रमाणवचनानि

जीवों के ज्ञानानन्द स्वरूप के विषय में प्रमाण वचन

यथोक्तम्—"निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः। दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः" प्रकृतिसंसर्गकृतकर्ममूलत्वान्नात्मस्वरूपप्रयुक्ता धर्मा इत्यर्थः। प्राप्ताप्राप्तविवेकेन प्रकृतेरेव धर्मा इत्युक्तम्।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपर्युक्त निर्णय कराने वाले निम्नलिखित शास्त्रवचनों का उद्धरण दिया है। वे वचन ये हैं कि—

निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ।
दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः ॥

अर्थात् आत्मा आनन्दमय ज्ञानमय एवं निर्मल है, दुःख अज्ञान और मल प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। ये दुःख इत्यादि धर्म आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं। यदि ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म होते तो आत्मा इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। कोई भी पदार्थ रहते समय अपने स्वाभाविक धर्म से छूट नहीं सकता। ये प्रकृतिसम्बन्ध के कारण उत्पन्न हुये कर्मों से उत्पन्न होते हैं अतएव इनकी उत्पत्ति में प्रकृतिसम्बन्ध ही प्रधान कारण ठहरता है। प्रकृतिसम्बन्धरूप उपाधि के कारण आत्मा में ये धर्म आ गये हैं, प्रकृतिसम्बन्ध नष्ट होते ही ये धर्म नष्ट हो जायेंगे। जिस प्रकार अग्निसम्बन्ध से जल में उष्णता आती है, उष्णता जल का स्वाभाविक धर्म नहीं है उसी प्रकार प्रकृतिसम्बन्ध के कारण आत्मा में दुःख इत्यादि होते रहते हैं, ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं। जिस प्रकार अग्निसम्बन्ध से जल में उष्णता आते ही जल का स्वाभाविक धर्म शीतता दब जाती है, उष्णता दूर होते अपने आप शीतता प्रकट होती है, उसी प्रकार प्रकृतिसम्बन्ध से दुःखादि आते ही आत्मा के आनन्द इत्यादि स्वाभाविक धर्म दब जाते हैं, दुःखादि दूर होते ही आत्मा के आनन्द इत्यादि स्वाभाविक धर्म आविर्भूत होते हैं। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि दुःख इत्यादि को प्रकृतिसम्बन्धप्रयुक्त होने के कारण प्राकृत धर्म मानना चाहिये, ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं। आत्मा के स्वाभाविक धर्म, ज्ञान आनन्द एवं निर्मलता हैं। इस प्रकार इस श्लोक से आत्मा को ज्ञानानन्दस्वरूप कहा गया है।

जीवानां परस्परसाम्ये प्रमाणवचनानि

जीवों की परस्पर समता में प्रमाण वचन

"विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" इति देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावररूपप्रकृतिसंसृष्टस्यात्मनः स्वरूपविवेचनी बुद्धिर्येषां ते पण्डिताः, तत्तत्प्रकृतिविशेषवियुक्तात्मयाथात्म्यज्ञानवन्तस्तत्र तत्रात्यन्तविषमाकारे वर्तमानमात्मानं समानाकारं पश्यन्तीति समदर्शिन इत्युक्तम्, तदिदमाह—"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः" इति। निर्दोषं—देवादिप्रकृतिविशेषसंसर्गरूपदोषरहितम्, स्वरूपेणावस्थितं सर्वम् आत्मवस्तु निर्वाणरूपज्ञानैकाकारतया सममित्यर्थः।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

अर्थात् प्रकृति, देव तिर्यक् मनुष्य और स्थावर ऐसे ४ शरीरों के रूप में परिणत होती है, ये शरीर प्रकृतिपरिणामरूप हैं। इन शरीरों से आत्मा उसी प्रकार सम्बद्ध रहता है जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के काष्ठों से अग्नि सम्बद्ध रहता है। संसर्ग के कारण शरीरगत देवत्व और मनुष्यत्व आदि आत्मा में उसी प्रकार भासते हैं जिस प्रकार जपापुष्पगत लालिमा स्फटिकमणि में झलकती है, जिस प्रकार काष्ठगत सीधापन और टेढ़ापन अग्नि में भासता है। वास्तव में ये देवत्व आदि धर्म आत्मा में नहीं रहते, आत्मा का उन शरीरों से उसी प्रकार सम्बन्धमात्र है जिस प्रकार वक्रत्व और ऋजुत्व अग्नि का धर्म नहीं है, अग्नि का उन काष्ठों से सम्बन्धमात्र है। आत्मा में शरीरसम्बन्ध के कारण होने वाले सुख और दुःख इत्यादि औपाधिक धर्म हैं, स्वाभाविक धर्म नहीं। आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप ज्ञानानन्दमय है। सब तरह के शरीरों में अवस्थित जीवात्माओं का स्वरूप ऐसा ही है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की विवेचना करने में जिनकी बुद्धि समता रखती है वे ही पण्डित कहलाने योग्य हैं। ये पण्डित विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करने वाले जीवात्माओं पर जब दृष्टिपात करते हैं तब वे विवेकपूर्वक यह समझते हैं कि ये भेद शरीरगत हैं, आत्मगत नहीं, सब शरीरों में विद्यमान जीवात्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, उनमें पूर्ण समता है, उनमें व्यक्तिभेद भी है अतएव स्वरूपैक्य नहीं कहा जा सकता। पूर्ण साम्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है। देखने में कोई ब्राह्मण विद्याविनयसम्पन्न दिखाई देता है, कोई जातिमात्र से ब्राह्मण है। गुणों की दृष्टि से देखने पर इनमें वैषम्य दिखाई देता है। कोई गौ है, कोई हाथी है, इनमें आकार वैषम्य है। कोई कुत्ता है, कोई कुत्ते को पकाकर खाने वाला श्वपच है, इनकी वृत्ति अर्थात् आजीविका में वैषम्य है। इस प्रकार अनेक वैषम्य जहाँ तहाँ दिखाई देते हैं, ये सभी वैषम्य शरीरों में रहते हैं, आत्मा में नहीं। उन विविध-वैषम्ययुक्त शरीरों में अवस्थित आत्मा एकसा है, सब जीवात्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, सभी परस्पर अत्यन्त सम हैं यह बात आत्मस्वरूप के तात्त्विक रूप को समझने वाले पण्डित ही समझते हैं। प्रकृतिसम्बन्धरहित जीवात्माओं का स्वरूप सम है यह अर्थ उपर्युक्त श्लोक में वर्णित है।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

अर्थात् यह समदर्शन कालान्तर में फल देता है इतना ही नहीं, किन्तु इस संसार में साधनानुष्ठान करते समय भी साधक को मोक्षसमान दशा में पहुँचा देता है। मोक्ष में सभी क्लेश निवृत्त होते हैं, समदर्शी को संसार में रहते समय ही बहुत से क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। इस संसार में रहते समय में ही वे संसार को जीत जाते हैं जिनका मन जीवात्माओं की समता में दृढ़ प्रतिष्ठित रहता है। इस बात को सभी मानते हैं कि ब्रह्मज्ञान से संसार जय होता है। प्रकृतिसंसर्गरूप दोष से रहित अतएव परस्पर में सम

रहने वाली जीवात्मवस्तु ब्रह्म है। आत्माओं की समता में अवस्थित साधकों को ब्रह्म में अवस्थित मानना चाहिये। वे संसार को जीत जाते हैं इसमें सन्देह नहीं। इस श्लोक के "निर्दोष हि समं ब्रह्म" इस पाद पर ध्यान देना चाहिये। इसका यही भावार्थ है कि देव और मनुष्य इत्यादि शरीरों से–जो प्रकृति के परिणाम हैं–सम्बन्ध रखना एक दोष है, इस दोष से रहित होकर स्वस्वरूप में अवस्थित सभी जीवात्मा परस्पर समान हैं, उन सबका स्वरूप ज्ञानानन्दमय है। इस प्रकार यह वचन उपाधिरहित स्वरूप की समता का वर्णन करता है। इन सब प्रमाणवचनों से यह प्रमाणित हो गया है कि जीवात्मा देह आदि से विलक्षण है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, सभी जीवों में पूर्ण समता है।

जीवात्मनो भगवच्छेषत्वादेः समर्थनम्

जीवात्मा का भगवच्छेषत्व समर्थन

तस्यैवंभूतस्यात्मनो भगवच्छेषतैकरसता तन्नियाम्यता तदेकाधारता च तच्छरीर-तत्तनुप्रभृतिभिः शब्दैस्तत्सामानाधिकरण्येन च श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तम्।

यह अर्थ पहले ही विस्तार से वर्णित हो चुका है कि श्रुति स्मृति इतिहास और पुराणों में जीवात्मा को श्रीभगवान् का शरीर एवं तनु (शरीर) इत्यादि शब्दों से वर्णन करके तथा अभेदनिर्देश का उल्लेख करके यह बतलाया गया है कि जीवात्मा श्रीभगवान् का शेष एवं नियाम्य है, तथा श्रीभगवान् पर आधारित है क्योंकि शरीर इस प्रकार का ही होता है। शरीर जीवात्मा का शेष है क्योंकि जीवात्मा के लिये ही बना है। शरीर जीवात्मा का नियाम्य है क्योंकि वह जीवात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। शरीर जीवात्मा पर आधारित है क्योंकि जीवात्मसम्बन्ध मिटते ही शरीर नष्ट हो जाता है। जीवात्मा को परमात्मा का शरीर कहने से जीवात्मा में ये सभी स्वभाव फलित होते हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि जीवात्मा श्रीभगवान् का शेष है। शेषत्व ही जीवात्मा का सारभूत धर्म है। शेषत्व के ज्ञान से ही जीवात्मा का कल्याण है।

मोक्षोपायविषये प्रमाणवचनानि

मोक्षोपाय के विषय में प्रमाणवचन

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति। तस्यैतस्यात्मनः कर्मकृतविचित्रगुणमयप्रकृतिसंसर्गरूपात्संसारान्मोक्षो

भगवत्प्रपत्तिमन्तरेण नोपपद्यत इत्युक्तं भवति, "नान्यः पन्था अयनाय विद्यत" इत्यादि-श्रुतिभिश्च ।

श्रीभगवच्छरणागति के बिना जीव को मोक्ष नहीं मिल सकता है, यह अर्थ निम्नलिखित गीता-वचन से प्रमाणित होता है। वह वचन यह है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

अर्थात् श्रीभगवान देव हैं क्योंकि वे लीला में प्रवृत्त हैं। श्रीभगवान् ने इस माया को फैलाया है इसलिये यह माया दैवी कहलाती है। श्रीभगवान कहते हैं कि यह दैवी माया गुणमयी है, सत्त्व, रज और तमोगुण से पूर्ण है, यह प्रकृति है, यह विचित्र कार्य करने वाली है, इसलिये माया कहलाती है। इस माया का अतिक्रमण करना और इसके पंजे से छूटना बहुत कठिन है। सभी बद्ध जीवों को इसमें फँसे रहना पड़ता है। यह माया श्रीभगवान् के स्वरूप को छिपा देती है तथा अपने विषय में भोग्यता बुद्धि को उत्पन्न करती है इसलिये सभी जीव श्रीभगवान को भूलकर इस प्रकृतिरूपी माया को परमभोग्य मानकर इसमें फँसे रहते हैं इससे छूटने की इच्छा किसी को भी नहीं होती। इस माया से छूटने का क्या उपाय है? श्रीभगवान उत्तरार्ध में कहते हैं कि मेरे शरण में जो आते हैं वे इस माया को पार करते हैं। जिन श्रीभगवान की आज्ञा के कारण यह भयंकर मायाबन्धन कष्ट दे रहा है उनके द्वारा ही यह माया हटाई जा सकती है, दूसरे किसी के द्वारा नहीं। श्रीभगवान् सत्यसंकल्प हैं, उनका बन्धहेतु संकल्प ही सत्य नहीं होता किन्तु मोक्षहेतु संकल्प भी सत्य होता है। उनके शरण में जाने पर वे मुक्त करने के लिये संकल्प करेंगे, वह भी अवश्य फलित होगा। अतः उनके शरण में जाने से कल्याण ही कल्याण है। यह शंका किसी को भी नहीं करनी चाहिये कि शक्त होने पर भी यदि श्रीभगवान् निर्दय होंगे तो उनके शरण में जाने से क्या लाभ होगा? श्रीभगवान निर्दय नहीं हैं वे परमदयालु हैं। यह शंका भी न करनी चाहिये कि श्रीभगवान दयालु होने पर भी लौकिक दयालु पुरुषों की तरह यदि इस व्याख्या को—कि शरण में आये हुये गुणसम्पन्न जीवों को ही अपनाया जाय, दुष्ट जीवों को न अपनाया जाय—पसन्द करते होंगे तो हम सरीखे अपराधी दुष्ट जीवों को कल्याण कैसा होगा? यह शंका भी बेकार है क्योंकि श्रीभगवान गुणदोषरूपी विशेषों पर ध्यान न देकर सभी शरणागतों को अपनाने वाले हैं, उन्होंने काक वानर विभीषण और द्रौपदी इत्यादि सभी शरणागतों को अपनाया है। उन्होंने श्रीसुग्रीव महाराज से श्रीरामावतार में यहाँ तक कहा कि "विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्" अर्थात् हे श्रीसुग्रीव जी! शरणागत व्यक्ति चाहे विभीषण हो, अथवा स्वयं रावण ही हो, उसको अवश्य मेरे पास लाओ। रावण तक को अपनाने के लिये जब श्रीभगवान् उत्कण्ठित हो रहे हैं, तब यह शंका—कि हमको अपनायेंगे या नहीं—कैसे उठ सकती है वे अवश्य अपनाने वाले हैं, उनके शरण में जाना चाहिये। इस वचन से सिद्ध होता

है श्रीभगवान् के शरण में जाने पर ही जीवों को मोक्ष प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। उपनिषद् कहती है कि "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। यहाँ ब्रह्मज्ञान शब्द से उपासन और शरणागति दोनों विवक्षित हैं। उपासकों को भी अंगरूप से श्रीभगवच्छरणागति आवश्यक है। इस वचन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवच्छरणागति के विना मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

भगवतो विचित्रैश्वर्यविषये प्रमाणवचनानि

श्रीभगवान् के विचित्र ऐश्वर्य के विषय में प्रमाणवचन

"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वर" मिति सर्वशक्तियोगात्स्वैश्वर्यवैचित्र्यमुक्तम्। तदाह—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति। अनन्तविचित्रमहाश्चर्यरूपं जगन्ममायुतायुतांशांशेनात्मतया प्रविश्य सर्वं मत्सङ्कल्पेन विष्टभ्यानेन रूपेणानन्तमहाविभूतिरपरिमितोदारगुणसागरो निरतिशयाश्चर्यभूतः स्थितोऽहमित्यर्थः।

परमात्मा सर्वशक्तिसम्पन्न है, उसका नियमनसामर्थ्य अत्यन्त विचित्र है, यह अर्थ निम्नलिखित गीताश्लोकों से प्रमाणित होता है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

अर्थात् श्रीभगवान् ने कहा कि यह चेतनाचेतनमय सम्पूर्ण जगत् मुझसे व्याप्त है मैं अपने स्वरूप को प्रकाशित न करता हुआ अन्तर्यामी बनकर इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करता हूँ। इस जगत् का धारण एवं नियमन करने के लिये तथा उसे अपने अभिमत उपयोग में लेने के लिये मुझे अन्तर्यामी बनकर उसके अन्दर बाहर व्याप्त होकर रहना पड़ता है। तभी उसका स्वरूप स्थिति और नियमन हो सकता है। इसलिये यह कहना पड़ता है कि सभी चेतनाचेतन पदार्थ मेरा आश्रय लेकर ही सत्ता पा रहे हैं, टिके हुये हैं। जिस प्रकार शरीर आत्मा का आश्रय लेकर जीवित रहता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरा आश्रय प्राप्त करके टिका हुआ है। यदि इसको मेरा आश्रय नहीं मिले तो इसका स्वरूप इस रूप में रह नहीं पावेगा, इसे नष्ट होना पड़ेगा, ऐसी स्थिति में इसकी स्थिति और प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? मैं इसकी स्वरूप स्थिति और प्रवृत्तियों को सम्हालने के लिये इसमें व्याप्त होकर रहता हूँ। मुझसे इसका उपकार होता है। मेरे

प्रभाव से ही ये सत्ता पा रहे हैं। इसलिये यह कहना उचित ही है कि यह प्रपञ्च मेरे द्वारा धृत है। जैसे मुझसे यह प्रपञ्च उपकार प्राप्त कर रहा है वैसे उसमें मैं कुछ भी उपकार प्राप्त नहीं प्राप्त करता। मेरी स्थिति इस प्रपञ्च के अधीन नहीं। प्रपञ्च की स्थिति मेरे अधीन है। मेरी स्थिति के विषय में यह प्रपञ्च कुछ भी उपकार नहीं करता। यह प्रपञ्च मेरा आश्रय लेकर स्थिति प्राप्त करता है, इसलिये यह कहना उचित है कि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मुझ पर स्थित है। मैं अपनी स्थिति के विषय में प्रपञ्च से कुछ भी उपकार प्राप्त नहीं करता, मैं अपने बल पर टिका हुआ हूँ। इसलिये यह भी कहना उचित है कि मैं उस पर स्थित नहीं। मैं इस प्रपञ्च का आधार हूँ, परन्तु जिस प्रकार घट जल का आधार बनता है, वैसा नहीं, मैं विलक्षणरीति से जगत् का आधार हूँ। घट जल से संयुक्त होकर जल को गिरने से रोकता है, वैसा मैं इस प्रपञ्च को अपने सिर पर रखकर धारण नहीं करता किन्तु संकल्पमात्र से धारण करता हूँ। लोक-दृष्ट रीति के अनुसार देखने पर यह कह सकते हैं यह प्रपञ्च मुझ पर वैसा अवस्थित नहीं है जिस प्रकार घट में जल स्थित है। मेरे संकल्परूपी योग को देखो। एवंविध संकल्प अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जा सकता। यह संकल्प मेरा असाधारण धर्म है। मैं इस चेतनाचेतन प्रपञ्च का धारण करता हूँ. यह प्रपञ्च मुझको बने रहने में कुछ भी उपकार नहीं करता। मेरा संकल्प ही इस विश्व का उत्पादन धारण एवं नियमन करता रहता है। इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् ने यह घोषित किया कि मैं सर्वशक्तिसम्पन्न हूँ, मेरा ऐश्वर्य अर्थात् नियमनसामर्थ्य अत्यन्त विचित्र है। संकल्पमात्र से इस जगत् का धारण और नियमन कहकर श्रीभगवान् ने यह सिद्ध किया कि यह प्रपञ्च श्रीभगवान् का शरीर है, श्रीभगवान् इसके अन्तरात्मा हैं क्योंकि शरीर का धारण और नियमन आत्मा के संकल्पमात्र से होता है यह लोक में देखा गया है। इस विवेचन से इस चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च का भगवदात्मकत्व फलित होता है इस बात को दुहराते हुये श्रीभगवान ने दशमाध्याय के उपसंहार में कहा है कि "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" अर्थात् यह चेतनाचेतन प्रपञ्च कारणावस्था में सूक्ष्म एवं कार्यावस्था में स्थूल बनकर विचित्ररूप में रहता है। इसको देखने पर सबको आश्चर्य लगता है। मैं इस प्रपञ्च में अत्यन्त सूक्ष्मरूप में अन्तरात्मा होकर अवस्थित रहता हूँ। मेरा स्वरूप अत्यन्त विशाल है। कल्पना करके उसमें दस हजार अंश बना लें, उनमें एक अंश को दस हजार अंश बना लिया जाय। उनमें एक अंश को भी कई अंशों में बाँटा जाय, उसमें एक अंश जो निकलेगा, वह परमसूक्ष्म होगा। उस सूक्ष्म अंश से मैं इस प्रपञ्च में अन्तर्यामी के रूप में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण विश्व को संकल्प के द्वारा धारण करता रहता हूँ। मेरे अधीन रहने वाली अनन्त महाविभूतियों से सम्पन्न एवं अपरिमित उदार कल्याणगुणों का निधि मैं इस विश्वरूप का धारण कर अत्याश्चर्य रूप में अवस्थित रहता हूँ, कहीं भी दृष्टिपात किया जाय, वहाँ मैं ही चेतनाचेतन कञ्चुकों का धारण करके विराजमान रहता हूँ। इस प्रकार कहकर श्रीभगवान् ने अपने ऐश्वर्य की विचित्रता का वर्णन किया है।

"एकत्वे सति नानात्वम्" इत्यस्य श्लोकस्य व्याख्या

"एकत्वे सति नानात्वम्" इस श्लोक की व्याख्या

तदिदमाह "एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता । अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति" इति ॥ प्रशासितृत्वेनैक एव सन् विचित्रचिदचिद्वस्तुष्वन्तरात्मतया प्रविश्य तत्तद्रूपेण विचित्रप्रकारो विचित्रकर्म कारयन्नानारूपतां भजते । एवं स्वल्पाल्पांशेन तु सर्वाश्चर्यमयं नानारूपं जगत्तदन्तरात्मतया प्रविश्य विष्टभ्य नानात्वेनावस्थितोऽपि सन् अनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणः सर्वेश्वरेश्वरः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो नारायणो निरतिशयाश्चर्यभूतो नीलतोयदसंकाशः पुण्डरीकदलामलायतेक्षणः सहस्रांशुः सहस्रकिरणः परमे व्योम्नि "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" "तदक्षरे परमे व्योम" न्नित्यादिश्रुतिसिद्ध एक एवावतिष्ठते । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि वस्तुन एकस्वभावस्यैककार्यशक्तियुक्तस्यैकरूपस्य रूपान्तरयोगः, स्वभावान्तरयोगः शक्त्यन्तरयोगश्च न घटते । तस्यैतस्य परब्रह्मणस्सर्ववस्तुविसजातीयतया सर्वस्वभावत्वं सर्वशक्तियोगश्चेत्येकस्यैव विचित्रानन्तनानारूपता च पुनरप्यनन्तापरिमिताश्चर्ययोगेनैकरूपता च न विरुद्धेति वस्तुमात्रसाम्याद्विरोधचिन्ता न युक्तेत्यर्थः । यथोक्तम्—"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥ भवन्ति तपतां श्रेष्ठ ! पावकस्य यथोष्णता" । एतदुक्तं भवति—सर्वेषामग्निजलादीनां भावानामेकस्मिन्नपि भावे दृष्टैव शक्तिस्तद्विसजातीयभावान्तरेऽपीति न चिन्तयितुं युक्ता, जलादावदृष्टाऽपि तद्विसजातीयपावके भास्वरत्वोष्णतादिशक्तिर्यथा दृश्यते, एवमेव सर्ववस्तुविसजातीये ब्रह्मणि सर्वसाम्यं नानुमातुं युक्तमिति । अतो विचित्रानन्तशक्तियुक्तं ब्रह्मैवेत्यर्थः । तदाऽऽह—"जगदेतन्महाश्चर्यं रूपं यस्य महात्मनः । तेनाश्चर्यवरेणाहं भवता कृष्ण सङ्गत" इति ।

उपर्युक्त अर्थ का ही निम्नलिखित श्लोक–जिसे भेदाभेदवादियों ने अपने पक्ष के अनुकूल माना है–प्रतिपादन करता है । वह श्लोक यह है कि—

एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता ।
अचिन्त्य ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति ॥

भेदाभेदवादियों ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि ब्रह्म एक होता हुआ अनेक है, तथा अनेक होता हुआ एक है । इस प्रकार ब्रह्म जगत् से भिन्नाभिन्न है । ब्रह्म का यह रूप अचिन्त्य है । उसे

कौन जान सकता है। यह अर्थ समीचीन नहीं क्योंकि भेदाभेदवादियों के मत में भेदाभेद घट और पट आदि में भी माना जाता है। ऐसी स्थिति में यह भेदाभेद अचिन्त्य कैसे हो सकता है ? यहाँ तो अचिन्त्य रूप का वर्णन हो रहा है। इसलिये कहना पड़ता है कि भेदाभेदवादियों द्वारा उपर्युक्त श्लोक का जो अर्थ किया गया है, वह समीचीन नहीं। अतएव श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपर्युक्त श्लोक का दूसरा अर्थ किया है, वह इस प्रकार है कि—

"एकत्वे सति नानात्वम्" यह श्लोक श्रीभगवान् की आश्चर्यरूपता का वर्णन करता है। श्रीभगवान एक ही हैं, वे विचित्र चेतनाचेतनपदार्थों में अन्तरात्मा के रूप में अन्तःप्रविष्ट होकर उन चेतनाचेतनपदार्थों को शरीर के रूप में धारण करते हैं। अतएव एक परमात्मा विविध विचित्र शरीर वाले बनकर बहुरूपिये की तरह विचित्र रूप से दिखाई देते हैं, उन २ शरीर बने हुये चेतनाचेतनों से विचित्र कर्म कराते हुये अनेक रूप वाले बन जाते हैं। यह है एक रूप में अवस्थित परमात्मा की नानारूपता। यह बात उपर्युक्त श्लोक के प्रथमपाद में वर्णित है।

"नानात्वे सति चैकता" इस प्रकार अपने अतिस्वल्प अंश से इस सर्वाश्चर्यमय विविधरूप वाले प्रपञ्च में अन्तरात्मा के रूप में प्रविष्ट होकर इस विश्वरूप को धारण करते हुये जो परमात्मा विविधरूप से दिखाई देते हैं वे एक हैं अद्वितीय हैं, उनके समान कोई पदार्थ नहीं है, उनसे बढ़कर तो हो ही कौन सकता है। किसी भी दृष्टि से देखा-जाय, वे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। वे उत्कर्ष की चरमसीमा में पहुँचे हुये असंख्य कल्याणगुणों के निधि हैं। लोक में सबके ईश्वर बनने वाले ब्रह्मा आदि देवों के भी ईश्वर हैं, वे ईश्वर होते हुये जगत् के आदि कारण परब्रह्म हैं, पुरुषोत्तम और नारायण भी वे ही हैं, पुरुषसूक्त और नारायणानुवाक उनकी महिमा का गान करते हैं। वे एक ही इस प्रकार की महिमा से युक्त हैं अतएव वे अपार आश्चर्यमय प्रतीत होते हैं, उनका आकलन करते ही ज्ञानियों को अपार आश्चर्य होता है, वे नीलमेघ के समान सुन्दर दिव्यमंगलविग्रह का धारण करते हैं। इससे उनकी विस्मयजनकता बढ़ जाती है। कमलदल के समान विशाल नेत्र वाले हैं, पंक में उत्पन्न होना इत्यादि दोष कमल में हैं, इन नेत्रों में एक भी दोष नहीं है। उनके दिव्यमंगलविग्रह से अपार तेज प्रकट होता है। एवंविधवैलक्षण्यविशिष्ट श्रीभगवान् जिस प्रकार इस लीलाविभूति एवं इसमें रहने वाले ब्रह्मा आदि जीवों के स्वाभाविक स्वामी हैं उसी प्रकार इससे तीन गुनी बढ़ी हुई भोगविभूति और उसमें विराजमान असंख्य मुक्तपुरुष और नित्यसूरियों के भी नित्यसिद्ध स्वामी हैं। श्रुति ने "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" "तदक्षरे परमे व्योमन्" इत्यादि वचनों से यह कहकर-कि जो साधक हृदयगुहा में विराजमान परब्रह्म को प्रत्यक्ष समानाकार ज्ञान से चिन्तन करता रहता है वह परमपद में पहुँचकर उस परब्रह्म के साथ सर्वकल्याणगुणों का अनुभव लेता रहता है, अविनाशी परमाकाश परमपद में परब्रह्म विराजमान है-परमपद का उल्लेख किया है। इस प्रकार के सर्वोत्तम दिव्य लोक परमपद का स्वामी बनने का सौभाग्य श्रीभगवान् को ही प्राप्त है, दूसरे किसी को नहीं। श्रीभगवान् की महिमा

अपार हैं। उनके समान वे ही हैं। वे अद्वितीय हैं, उनके समान दूसरा कोई है नहीं। विश्वरूप को लेकर नानारूप से रहते हुये भी परमात्मा एक है अद्वितीय है।

"अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूप कस्तद्वेदितुमर्हति" ब्रह्म का स्वरूप अचिन्त्य है। उनमें जैसी विलक्षण योग्यता है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। लोक में देखा जाता है कि एक स्वभाव वाला पदार्थ दूसरे स्वभाव को नहीं अपनाता, अग्नि औष्ण्य स्वभाव वाला है, वह शैत्य स्वभाव वाला बन नहीं सकता। एक कार्य करने की शक्ति रखने वाला पदार्थ उससे विरुद्ध कार्य करने की शक्ति नहीं रखता। जलाने में शक्ति रखने वाला अग्नि भिगा नहीं सकता, शीत नहीं पहुँचा सकता। एक रूप को अपनाने वाला कोई पदार्थ दूसरे रूप को नहीं अपना सकता। ऊर्ध्वज्वलित होना अग्नि का स्वरूप है, वह तिर्यक् ज्वलित नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थों में स्वभाव शक्ति और रूप व्यवस्थित रहते हैं, वे दूसरे स्वभाव दूसरी शक्ति एवं दूसरे रूप को नहीं अपना सकते। ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थों में यह बात दीखने में आती है। ब्रह्म ही एक पदार्थ ऐसा है जिसमें सब तरह के स्वभाव शक्ति और रूप विद्यमान रहते हैं। ब्रह्म सब पदार्थों से अत्यन्त विजातीय है इसलिये उसमें सभी स्वभाव और सभी शक्तियाँ निहित रहती हैं। अतएव परब्रह्म समस्त चेतनाचेतनों का अन्तर्यामी होकर विचित्र अनन्त नाना रूपों को अपनाता हुआ भी गुण विभूति लीला और धाम को लेकर विचारने पर एक अद्वितीय तत्त्व सिद्ध होता है। इनमें एक २ बात भी अनन्त अपरिमित आश्चर्यरूप है। इस प्रकार नानात्व और एकत्व परब्रह्म में बिना किसी विरोध के समन्वित रहते हैं। परब्रह्म को दूसरी वस्तु के समान मानकर शंका नहीं करनी चाहिये। लोक में जिस मनुष्य ने अग्नि का स्पर्श न किया होगा, वह कह सकता है कि लोक में अग्नि को उष्ण कहा जाता है, किन्तु वह मिथ्या है, क्योंकि कोई भी पदार्थ उष्ण नहीं हो सकता, जगत् में जितने पदार्थ देखने में आते हैं, वे सब अनुष्ण हैं, अर्थात् औष्ण्यरहित हैं, अग्नि भी एक पदार्थ है, वह भी अनुष्ण ही है, उष्णत्व और पदार्थत्व विरुद्ध धर्म हैं। इस प्रकार वह मनुष्य विरोध शंका तबतक करता रहेगा जबतक उसका अग्नि से स्पर्श न हो। अग्नि का स्पर्श होते ही उसकी सारी शंका लुप्त हो जाती है। अग्निस्वभाव को जताने वाले त्वगिन्द्रियरूपी प्रमाण के लगते ही उसकी विरोधशंका शान्त हो जाती है। उसी प्रकार ब्रह्म में भी विभिन्न-स्वभाव और विभिन्न शक्तियों का समावेश मानने में उठने वाली विरोधशंका—जो ब्रह्म को दूसरे पदार्थों के समान मानकर उठती है—ब्रह्मतत्त्व को बतलाने वाले उपनिषद् प्रमाण के सामने नहीं टिकती। उपनिषदों के अनुसार परब्रह्म को विभिन्न स्वभाव एवं विचित्र शक्तियों से युक्त मानना पड़ता है। यह अर्थ निम्नलिखित विष्णुपुराणश्लोक से प्रमाणित होता है।

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतोब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥

अर्थात् हे तपस्वियों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ? सब पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य हैं, उन्हें अचिन्त्य ही समझना चाहिये, वे तर्क से कट नहीं सकतीं। इसलिये यह मानना पड़ता है कि जिस प्रकार अग्नि में वह उष्णता मानी जाती है जो अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई है वैसे ही अन्यत्र कहीं न दिखाई देने पर भी उन शक्तियों को ब्रह्म में मानना होगा जो सृष्टि आदि कार्यों में उपयुक्त होती हैं। अग्नि और जल इत्यादि बहुत से पदार्थ जगत् में विद्यमान हैं। एक पदार्थ में एक शक्ति देखने में आती है, विजातीय दूसरे पदार्थ में भी उस शक्ति को मानने के लिये आग्रह करना उचित नहीं। उज्ज्वलरूप और उष्णताशक्ति जल आदि में देखने में नहीं आती तथापि जल आदि से विजातीय पदार्थ अग्नि में उज्ज्वल रूप और उष्णता शक्ति देखने में आती है इसलिये अग्नि में उन्हें मानना पड़ता है। इसी प्रकार ही ब्रह्म के विषय में भी समझना चाहिये। परब्रह्म सभी पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण है, उसको इतर पदार्थों के समान मानकर मनमाना अनुमान करके परब्रह्म के स्वभाव शक्ति और रूपों का खण्डन करना नितान्त मूर्खता है। परब्रह्म अनुमान से जाना नहीं जा सकता वह केवल शास्त्रप्रमाण से विदित होता है। शास्त्रों में उसका स्वरूप स्वभाव शक्ति और रूप जैसे २ कहे गये हैं वैसे उनको मानना ही बुद्धिमत्ता है। शास्त्रों से ब्रह्म विचित्र अनन्त शक्तियों से युक्त सिद्ध होता है, शास्त्रावगत अर्थ को कुतर्कों से काटना अग्नि में प्रत्यक्षावगत उष्णता को कुतर्क से काटने के समान है। विचित्रशक्तियुक्त होने से परब्रह्म परमविस्मयजनक माना जाता है। अतएव श्री अक्रूर जी ने श्रीकृष्ण भगवान् से मिलते समय यह कहा कि—

जगदेतन्महाश्चर्यं रूपं यस्य महात्मनः।
तेनाश्चर्यवरेणाहं भवता कृष्ण सङ्गतः॥

अर्थात् यह आश्चर्यमय जगत् जिस महात्मा का रूप है वह आप आश्चर्यों में श्रेष्ठ हैं, हे श्रीकृष्ण भगवन्, आपसे मिलकर मैं धन्य हो गया। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह सिद्ध किया कि "एकत्वे सति नानात्वम्" इत्यादि श्लोक अत्याश्चर्यमय रूप वाले सर्वशरीरक सर्वान्तर्यामी श्रीभगवान् का सर्वशक्तिसम्पन्नता और अद्वितीयता का वर्णन करता है।

विविधश्रुतिवाक्येषु समन्वयस्य प्रतिपादनम्

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में विविध श्रुतिवाक्यों का समन्वय

तदेतन्नानाविधानन्तश्रुतिनिकरशिष्टपरिगृहीततद्व्याख्यानपरिश्रमादवधारितम्। तथा हि प्रमाणान्तरापरिदृष्टापरिमितपरिणामानेकतत्त्वनियतक्रमविशिष्टौ सृष्टिप्रलयौ ब्रह्मणोऽनेकविधाः श्रुतयो वदन्ति। "निरवद्यं निरञ्जनम्, विज्ञानमानन्दम्, निर्विकारम्;

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं, निर्गुण'' मित्यादिकाः, ''निर्गुणं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्मे'' ति काश्चन श्रुतयोऽभिदधति। ''नेह नानाऽस्ति किञ्चन मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'' ''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् तत्केन कं विजानीया'' दित्यादिका नानात्वनिषेधवादिन्यस्सन्ति काश्चन श्रुतयः। ''यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः, सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते'' ''सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि'' ''अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासस्सत्यकामस्सत्यसङ्कल्प'' इति सर्वस्मिन् जगति हेयतयाऽवगतं सर्वगुणं प्रतिषिध्य निरतिशयकल्याणगुणानन्त्यं सर्वज्ञतां सर्वनामरूपव्याकरणं सर्वस्याधारतां च काश्चन श्रुतयो ब्रुवन्ति। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति'' ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' ''एकः सन् बहुधा विचारः'' इत्यादिका ब्रह्मसृष्टं जगन्नानाकारं प्रतिपाद्य तदैक्यं च प्रतिपादयन्ति काश्चन श्रुतयः। ''पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'' ''प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति'' ''पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्'' ''तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'' ''सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः'' इत्यादिका ब्रह्मणस्सर्वस्मादन्यत्वं सर्वस्येशितव्यत्वमीश्वरत्वं च ब्रह्मणः सर्वस्य शेषतां पतित्वं चेश्वरस्य काश्चन। ''अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'' ''एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'' ''यस्य पृथिवी शरीरम् यस्यापः शरीरम्, यस्य तेजः शरीर'' मित्यादि ''यस्याव्यक्तं शरीरम्, यस्याक्षरं शरीरम्, यस्य मृत्युः शरीरम्, यस्यात्मा शरीर'' मिति ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य वस्तुनो ब्रह्मणश्च शरीरात्मभावं दर्शयन्ति काश्चनेति। नानारूपाणां वाक्यानामविरोधो मुख्यार्थापरित्यागश्च यथा सम्भवति तथैव वर्णनीयम्। वर्णितं च—अविकारश्रुतयः स्वरूपपरिणामपरिहारादेव मुख्यार्थाः, निर्गुणवादाश्च प्राकृतहेयगुणनिषेधपरतया व्यवस्थिताः। नानात्वनिषेधवादाश्च एकस्य ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारभूतं सर्वं चेतनाचेतनं वस्त्विति सर्वस्यात्मतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमिति सुरक्षिताः। सर्वविलक्षणत्वपतित्वेश्वरत्वकल्याणगुणाकरत्वसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिवाक्यं तदभ्युपगमादेव सुरक्षितम्। ज्ञानानन्दमात्रवादि च सर्वस्मादन्यस्य सर्वकल्याणगुणाश्रयस्य सर्वेश्वरस्य सर्वशेषिणः सर्वाधारस्य सर्वोत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुभूतस्य निरवद्यस्य निर्विकारस्य सर्वात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपकधर्मो मलप्रत्यनीकानन्दरूपज्ञानमेवेति स्वप्रकाशतया स्वरूपमपि ज्ञानमेवेति च प्रतिपादनादनुपालितम्। ऐक्यवादाश्च शरीरात्मभावेन सामानाधिकरण्यमुख्यार्थतोपपादनादेव सुस्थिताः।

आगे श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने इस ग्रन्थ की श्रद्धेयता एवं उपादेयता को सिद्ध करते हुये यह कहा कि अब तक मतान्तरनिरासपूर्वक स्वमत का निरूपण करते समय जितने अर्थ कहे गये हैं वे सब नानाप्रकार की श्रुतियों के समूह तथा शिष्टों के द्वारा स्वीकृत उनके विविध व्याख्याग्रन्थों में अधिक परिश्रम करके सर्वसमन्वयपूर्वक निर्धारित किये गये हैं। अध्ययन में आने वाली श्रुतियाँ नाना प्रकार की हैं, उनमें प्रतिपादित अर्थ भी नानाविध हैं, ऐसी भी अनेक श्रुतियाँ हैं जो अध्ययन पथ से दूर हो गई हैं ऐसी अनेक शाखायें हैं जिनका आजकल अध्ययन नहीं हो रहा है। उन सब श्रुतियों में प्रतिपादित अर्थों को इतिहास और पुराणों के द्वारा ही जान सकते हैं। इन श्रुतियों की व्याख्यायें भी अनेक हैं, उन सब में निरन्तर परिश्रम करके सब वचनों का समन्वय करने में ध्यान रखकर मनन करने पर उपर्युक्त अर्थों को सैद्धान्तिक मानना पड़ता है। वे नानाविध श्रुतियाँ कौन २ हैं? उनसे उपर्युक्त अर्थ कैसे सिद्ध होते हैं? अब इन अर्थों पर प्रकाश डाला जाता है।

अनेक श्रुतिवाक्य सृष्टि और प्रलय का वर्णन करते हैं। सृष्टि में अनेक तत्त्वों की सृष्टि होती है, वह भी नियत क्रम के अनुसार ही, प्रलय में अनेक तत्त्वों का प्रलय होता है, वह भी नियत क्रम को लेकर ही। इनमें प्रत्येक तत्त्व का परिमाण अपरिमित है। अपरिमित परिमाण वाले अनेक तत्त्वों की सृष्टि और प्रलय, शास्त्र को छोड़कर दूसरे किसी प्रमाण से विदित नहीं हो सकते। ये शास्त्रों के द्वारा ही विदित हो सकते हैं। शास्त्र अनेक प्रकार से सृष्टि और प्रलय का वर्णन करते हैं। कहीं पर तेज जल और पृथिवी भर की सृष्टि कही गई है, कहीं पर पाँच महाभूतों भर की सृष्टि कही गई है। कहीं महत्तत्त्व से लेकर विस्तार से सृष्टि कही गई है ऐसे ही प्रलय भी नाना प्रकार से वर्णित है। इन सब वाक्यों पर ध्यान रखकर सृष्टि और प्रलय के क्रम का निष्कर्ष करना चाहिये। भेद का निषेध करने वाली कई श्रुतियाँ हैं, वे ये हैं कि—

(१) "नेह नानास्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" अर्थात् यहाँ अनेक पदार्थ बिलकुल नहीं है, जो अनेक पदार्थों को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।

(२) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं विजानीयात्" अर्थात् जब इस साधक को सब कुछ आत्मा ही हो गया, तब यह किससे किसको देखे, एवं किससे किसको समझे। इस प्रकार के अनेक श्रुतिवचन हैं जो भेद का निषेध करते हैं। कई श्रुतिवचन परब्रह्म को सगुण बतलाते हैं, वे ये हैं कि—

(१) "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" अर्थात् जो परमात्मा स्वरूप से सबको जानते हैं, तथा प्रकारों को लेकर सबको जानते हैं, जिनका ज्ञानमय तप है।

(२) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" अर्थात् धीर परमात्मा सब रूपों की सृष्टि करके उनके भिन्न २ नाम रखकर व्यवहार करते रहते हैं।

(३) "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" अर्थात् विद्युत् के समान वर्ण वाले पुरुष से सभी निमेष उत्पन्न हुये हैं।

(४) "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः"। अर्थात् परमात्मा पाप जरा मृत्यु शोक बुभुक्षा एवं पिपासा से वर्जित हैं, स्थायी अनेक भोग्यपदार्थ वाले हैं तथा सत्यसंकल्प वाले हैं। उपर्युक्त श्रुतिवचन उन सभी दुर्गुणों का—जो सम्पूर्ण जगत् में त्याज्य माने गये हैं—निषेध करके परमात्मा को अत्युत्कृष्ट अनन्तकल्याणगुणों का निधि बतलाते हैं, तथा सर्वज्ञ नामरूप व्याकरण के कर्ता एवं सबका आधार बतलाते हैं।

कई श्रुतिवचन ब्रह्म के द्वारा सृष्ट किये गये जगत् को अनेक आकार वाला कहकर उसमें एकता का भी प्रतिपादन करते हैं। वे ये हैं कि—

(१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न एवं रक्षित है तथा ब्रह्म में ही लीन होने वाला है।

(२) "एकः सन् बहुधा विचारः"। अर्थात् एक होते हुये परमात्मा अनेक रूपों को लेकर विचर रहे हैं, अथवा समझे जाते हैं। इस प्रकार के अनेक श्रुतिवचन यह बतलाते हैं कि यह जगत् ब्रह्म से निर्मित है, अनेक आकार प्रकार वाला होने पर भी ब्रह्मात्मक होने से ऐक्य भी है।

कई श्रुतिवचन यह बतलाते हैं कि ब्रह्म सबसे भिन्न सबका शासक एवं सबका स्वामी है, सब ब्रह्म के द्वारा शासनीय हैं, तथा ब्रह्म की निजी वस्तु हैं। वे वचन ये हैं कि—

(१) "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" अर्थात् साधक जीवात्मा को एवं प्रेरक परमात्मा को भिन्न २ वस्तु जानकर मोक्ष को प्राप्त होता है।

(२) "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" अर्थात् भोक्ता जीव, भोग्य जडपदार्थ एवं प्रेरक ईश्वर इन तीनों तत्त्वों को जाने।

(३) "प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति" अर्थात् प्रजाओं के स्वामी ईश्वर ने यह कामना की कि हम प्रजाओं की सृष्टि करें।

(४) "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम्" अर्थात् परमात्मा विश्व के स्वामी हैं, अपने लिये आप ही ईश्वर हैं वे शाश्वत मंगलकारी हैं वे अच्युत हैं, अपने स्वरूपस्वभावों से कभी च्युत होने वाले नहीं।

(५) "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्" अर्थात् परमात्मा ईश्वरों के भी परम महेश्वर हैं, देवताओं के भी परम देवता हैं।

(६) "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" अर्थात् परमात्मा सबको अपने वश में रखने वाले हैं, सब पर शासन करने वाले ईश्वर हैं। इस प्रकार के अनेक श्रुतिवचन यह बतलाते हैं कि परब्रह्म सबसे भिन्न सब पर

शासन करने वाला ईश्वर एवं सबका स्वामी है, यह चेतनाचेतनप्रपञ्च उसके शासन में रहने वाला एवं उसकी निजी सम्पत्ति है। अन्य कई श्रुतिवचन ब्रह्मव्यतिरिक्त सभी पदार्थ एवं ब्रह्म में शरीरात्मभावसम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। वे ये हैं कि—

"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यस्यापः शरीरम्" "यस्य तेजः शरीरम्" "यस्याव्यक्तं शरीरम्" "यस्याक्षरं शरीरम्" "यस्य मृत्युः शरीरम्" "यस्यात्मा शरीरम्"। अर्थात् परमात्मा जीवों के अन्दर प्रविष्ट होकर शासन करते हैं, इसलिये सबके आत्मा हैं। यही निर्दोष अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है, जिन परमात्मा का पृथिवी जल तेज अव्यक्त अक्षर प्रकृति और जीवात्मा शरीर है। उपर्युक्त वचन इस बात को सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म को छोड़कर जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं, वे सब ब्रह्म का शरीर हैं, ब्रह्म उनका आत्मा है इनमें शरीरात्मभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार श्रुति-वाक्य नाना प्रकार के होते हैं। उन सब वाक्यों में आपस में जैसे विरोध न हो जैसे उनसे सरल रूप में प्रतीत होने वाले मुख्यार्थों का भी त्याग न हो, वैसा उनका अर्थ करना चाहिये। यही उत्तम मार्ग है। उनमें विरोध खड़ा करके कई वचनों को बाध्य मानना, तथा उनके मुख्यार्थ को छोड़कर लक्षणा से दूसरा अर्थ करना इत्यादि विद्वानों को शोभा नहीं देता। वैसा करना सर्वथा अन्याय है। श्रीशंकराचार्य के मत में निर्गुण श्रुति और अभेद श्रुतियों को अबाध्य मानकर सगुण श्रुति और भेदश्रुतियों को बाध्य माना जाता है। इन श्रुतियों में विरोध को खड़ा करके कई श्रुतियों को बाध्य मानना अनुचित है। "तत्त्वमसि" इस श्रुति का अर्थ करते समय श्रीशंकराचार्य के मत में "तत् त्वम्" पदों के मुख्यार्थ को त्याग करके लक्षणा से दूसरा अर्थ किया जाता है। यह भी उचित नहीं। भेदाभेदवादियों के मतों में भी उन श्रुतियों से विरोध उपस्थित होता है जो ब्रह्म को निर्दोष एवं निर्विकार सिद्ध करती है तथा "तत् त्वम्" इत्यादि पदों में तत्पद-बोध्य निर्दोषत्व एवं त्वंपदबोध्य सदोषत्व में विरोध होने के कारण किसी पद का लक्षणा से दूसरा अर्थ करना पड़ता है। यह सब अनुचित है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि इन नानाप्रकार के श्रुतिवचनों में विरोध उपस्थित न हो, मुख्यार्थ का त्याग न हो, वैसा अर्थ कैसे किया जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि पूर्वाचार्यों ने गुरुपरम्परा से इन श्रुतिवचनों के समीचीन अर्थों को अवगत करके ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, हम लोगों को अपनी बुद्धि से सोचकर वैसे अर्थों को निकालने की आवश्यकता नहीं। उन ग्रन्थों में वर्णित अर्थों का यहाँ उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। उनका उल्लेख किया जाता है।

(१) जो श्रुतियाँ ब्रह्म को निर्विकार बतलाती हैं उनका यह तात्पर्य है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में तीन पदार्थ निहित हैं (१) चित् (२) अचित् और (३) ब्रह्म। इनमें चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं, ब्रह्म इनका विशेष्य है। विशेषण बनने वाले चेतनाचेतनों में विकार होते हैं, अचेतन में स्वरूपपरिणामरूपी विकार एवं चेतन में स्वभावपरिणामरूपी विकार होता है। किन्तु विशेष्य बनने वाले ब्रह्म में कोई भी

विकार नहीं होते। इसलिये ब्रह्म को निर्विकार कहना युक्त ही है। इसलिये निर्विकार श्रुति मुख्यार्थ को लेकर ब्रह्म में समन्वित होती है, उनका लक्षणा से दूसरा अर्थ करना नहीं पड़ता है। जो अर्थ शब्दशक्ति के अनुसार पहले अवगत होता है, वह मुख्यार्थ है। उसके अनुसार यहाँ अर्थ लग जाता है।

(२) कई श्रुतिवचन जो ब्रह्म को निर्गुण बतलाते हैं उनका तात्पर्य प्राकृत दुर्गुणों का निषेध करने में ही है कल्याणगुणों का निषेध करने में उनका तात्पर्य है ही नहीं। इस प्रकार निर्गुण श्रुतियाँ मुख्यार्थ को लेकर ब्रह्म में समन्वित होती हैं।

(३) नानात्व का अर्थात् भेद का निषेध करने वाले श्रुतिवचनों का यह तात्पर्य है कि सभी चेतना-चेतन पदार्थ ब्रह्म का शरीर हैं, विशेषण हैं, एक ही ब्रह्म इन सबका आत्मा होकर इन शरीरों को लेकर अवस्थित है, चेतनाचेतन पदार्थों के अन्दर आत्मा के रूप में विराजमान ब्रह्म तक दृष्टि पहुँचाई जाय तो एक ही ब्रह्म बहुरूपिये की तरह विश्वरूप को लेकर सामने उपस्थित है, यह बात मालूम हो जायेगी। यहाँ एक ब्रह्म ही विश्वरूप को लेकर दिखाई दे रहा है, पामर व्यक्तियों को स्वतन्त्र अब्रह्मात्मक अनेक पदार्थ जो दिखाई देते हैं, वैसे अनेक पदार्थ यहाँ हैं ही नहीं, सभी पदार्थ परतन्त्र एवं ब्रह्मात्मक। एक ही ब्रह्म विविधरूपों को लेकर विराजमान रहता है, यहाँ अब्रह्मात्मक अनेक पदार्थ हैं ही नहीं। यही नानात्वनिषेध का तात्पर्य है। इस अर्थ को बतलाकर नानात्वनिषेधक श्रुतियाँ सुरक्षा प्राप्त करती हैं, उनका किसी प्रमाण-वचन से विरोध नहीं होता। वे सदा के लिये सुरक्षित हो जाती हैं।

(४) जो श्रुतिवचन ब्रह्म को चेतनाचेतनों से विलक्षण बतलाते हैं तथा सर्वविलक्षणत्व पतित्व कल्याणगुणाकरत्व सत्यकामत्व और सत्यसंकल्प इत्यादि कल्याणगुणों का निधि बतलाते हैं उन वचनों की भी सुरक्षा हो जाती है क्योंकि ब्रह्म ऐसा है ही।

(५) कई वचन ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप बतलाते हैं। इन वचनों को लेकर अद्वैत-वादी कहते हैं कि ब्रह्म केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है वह ज्ञानादि गुणों का आश्रय नहीं। अद्वैतियों की यह व्याख्या समीचीन नहीं, क्योंकि श्रुतिवचनों से ब्रह्म में अनेक ज्ञानादिगुण सिद्ध होते हैं। उनका खण्डन करना श्रुति को अभिमत नहीं हो सकता। श्रुति कहती है कि ब्रह्म चेतनाचेतन सब पदार्थों से भिन्न है सर्वकल्याणगुणों का आश्रय है, सबका ईश्वर है, सबका स्वामी है, सबका आधार है सबकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है, निर्दोष है, निर्विकार है, सबका आत्मा है। इन वचनों के अनुसार ब्रह्म में सर्व-विलक्षणत्व सर्वकल्याणगुणाश्रयत्व सर्वेश्वरत्व सर्वस्वामित्व सर्वाधारत्व जगत्कारणत्व निर्दोषत्व निर्विकारत्व और सर्वात्मत्व इत्यादि गुणों को मानना चाहिये। ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप बतलाने वाली श्रुति का अवलम्ब लेकर उपर्युक्त गुणों का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस श्रुति का यह बतलाने में तात्पर्य है कि ब्रह्म का स्वरूपनिरूपक धर्म ज्ञान है, जिस प्रकार गौ का गोत्व स्वरूपनिरूपक धर्म है, गोत्व को समझने पर ही गौ समझी जा सकती है, उसी प्रकार ज्ञान को समझ करके ही ब्रह्म को समझना पड़ता

है। इसलिये ज्ञान ब्रह्म का स्वरूपनिरूपक धर्म कहा जाता है। शब्दों में यह स्वभाव देखा गया है कि स्वरूपनिरूपक धर्मों को बतलाने वाला शब्द उन धर्मों को बतलाता हुआ उन धर्मों का आश्रय बनने वाले धर्मी तक को बतलाता है। उदाहरण—गोत्व को बतलाने वाला गोशब्द गोत्व को बतलाता हुआ उस गोत्व के आश्रय गोव्यक्ति तक को बतलाता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। ब्रह्म के विषय में प्रयुक्त ये ज्ञानशब्द और आनन्द शब्द, ज्ञान और आनन्द को बतलाते हुये उनका आश्रय बनने वाले ब्रह्म तक का प्रतिपादन करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म ज्ञानगुणवाला एवं आनन्दगुणवाला है। यह एक अर्थ है। इस श्रुति का दूसरा अर्थ भी है। वह यह है कि ब्रह्म का स्वरूप स्वयंप्रकाश एवं अनुकूल है, इसलिये ज्ञान एवं आनन्द कहा जाता है। इससे श्रुतिसिद्ध अन्यान्यगुणों का खण्डन नहीं होता।

(६) "तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों—जो अभेद का प्रतिपादन करती हैं—का यह तात्पर्य है कि चेतनाचेतनपदार्थों का अन्तर्यामी और जगत्कारण ब्रह्म एक है क्योंकि जगत् और जीवों को बतलाने वाले शब्द उनके अन्तर्यामी तक को बतलाते हैं। इस प्रकार ये अभेदनिर्देश दोनों पदों के मुख्यार्थों में अभेद को बतलाते हुये अन्यान्य श्रुतिवचनों—जो चेतनाचेतन प्रपञ्च एवं ब्रह्म में भेद बतलाते हैं—से समरस हो जाते हैं।

विलक्षणरूपेण अद्वैतादीनां वेदवेद्यत्वम्

अद्वैत आदियों का रूपान्तर से वेदवेद्यत्व

एवं च सत्यभेदो वा भेदो वा द्वयात्मकता वा वेदान्तवेद्यः कोऽयमर्थः समर्थितो भवति ? सर्वस्य वेदवेद्यत्वात् सर्वं समर्थितम्, सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थित-मित्यभेदस्समर्थितः। एकमेव ब्रह्म नानाभूतचिदचिद्वस्तुप्रकारं नानात्वेनावस्थितमिति भेदाभेदौ। अचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्चेश्वरस्य च भेदः समर्थितः।

यहाँ पर पूर्वपक्षी यह पूर्वपक्ष करते हैं कि सर्वश्रुतियों का समन्वय करने पर अद्वैत द्वैत और द्वैताद्वैत में कौन श्रुतिसंमत होता है। आप किसका समर्थन करते हैं ? इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि इतरसिद्धान्तियों के द्वारा वर्णित अद्वैत और द्वैताद्वैत भेदश्रुतियों से विरोध रखते हैं, अतएव अमान्य हैं। भेदश्रुतियों से विरोध न रखने वाले अभेद एवं भेदाभेद मान्य हैं। श्रुतियों से भेद अभेद और भेदाभेद प्रतिपादित होते हैं उनमें विरोध न डालकर समन्वय करने पर उनका जो स्वरूप सिद्ध होता है, वही वेदवेद्य है। इसलिये परस्पराविरुद्ध रूपों में वेदों के द्वारा वर्णित अभेद, भेद और भेदाभेद का हम समर्थन करते हैं। अब प्रश्न होता है कि क्या इनको अविरुद्ध रूप दिया जा सकता है ? उत्तर यह है कि अवश्य दिया जा सकता है। वह रूप यह है कि एक ही ब्रह्म सभी चेतनाचेतन पदार्थों

को शरीर बनाकर उनसे विशिष्ट होकर अन्तर्यामी के रूप में सर्वत्र विद्यमान है, वैसा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है इस प्रकार अद्वैत का समर्थन हो जाता है। वह परब्रह्म एक होता हुआ अनेक चिदचिद्वस्तुरूपी विशेषणों से युक्त होकर विभिन्न रूपों में अवस्थित है इस प्रकार भेदाभेदों का समर्थन हो जाता है। अचेतन पदार्थ चेतनपदार्थ और ईश्वर में भेद है। यह स्वरूपभेद शाश्वत है। इस प्रकार भेद का समर्थन हो जाता है। परवादियों के द्वारा वर्णित अभेद और भेदाभेद, भेदश्रुतियों से विरुद्ध होने के कारण अमान्य हैं। इस प्रकार समन्वय करके अद्वैतद्वैत और द्वैताद्वैत को वैदिक रूप दिया जा सकता है। किसी एक से पक्षपात करना उचित नहीं।

ऐक्यज्ञानस्य भेदज्ञानस्य च मोक्षोपायत्ववादिनीनां श्रुतीनां विषयव्यवस्था

ऐक्यज्ञान एवं भेदज्ञान को मोक्षोपाय बतलाने वाले वचनों की विषयव्यवस्था

ननु च "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "तस्य तावदेव चिर" मिति ऐक्यज्ञानमेव परम-पुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमिति गम्यते, नैतदेवम् "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्ट-स्ततस्तेनामृतत्वमेति" इति आत्मानं प्रेरितारं चान्तर्यामिणं पृथग् मत्वा ततः पृथक्त्व-ज्ञानाद्धेतोस्तेन परमात्मना जुष्टोऽमृतत्वमेति इति साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनमात्मनो नियन्तुश्च पृथग्भावज्ञानमेवेत्यवगम्यते। ऐक्यवाक्यविरोधादेतदपरमार्थं सगुणब्रह्मप्राप्ति-विषयमित्यभ्युपगन्तव्यमिति चेत् पृथक्त्वज्ञानस्यैव साक्षादमृतत्वप्राप्तिसाधनत्वश्रवणात् विपरीतं कस्मान्न भवति। एतदुक्तं भवति—द्वयोस्तुल्ययोर्विरोधे सत्यविरोधेन तयोर्विषयो विवेचनीय इति, कथमविरोध इति चेत्, अन्तर्यामिरूपेणावस्थितस्य परस्य ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाज्जीवात्मनस्तत्प्रकारं ब्रह्मैव त्वमितिशब्देनाभिधीयते, तथैव ज्ञातव्य-मिति तस्य वाक्यस्य विषयः, एवंभूताज्जीवात्तदात्मतयाऽवस्थितस्य परमात्मनो निखिल-दोषरहिततया सत्यसङ्कल्पत्वाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणाकरत्वेन च यः पृथग्-भावः सोऽनुसन्धेय इत्यस्य वाक्यस्य विषय इत्ययमर्थः पूर्वमेवासकृदुक्तः।

श्रीरामानुज स्वामी जी के द्वारा यह कहे जाने पर—कि अद्वैत द्वैत और द्वैताद्वैत ये तीनों परस्पर अविरुद्ध रूप में उपनिषदों में वर्णित हैं इसलिये हम उन्हीं रूपों में उनका समर्थन करते हैं—अद्वैतवादी कहते हैं कि सद्विद्या में "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" "तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्ये अथ सपत्स्ये" ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि हे "श्वेतकेतो ? तुम वह ब्रह्म हो" "साधक का तब तक विलम्ब होता है" जब तक इस शरीर से नहीं छूटता है, छूटते ही ब्रह्म बन जायगा। इस वाक्य से यह विदित होता है कि जीव और ब्रह्म में अभेद समझने वाला मुक्त हो जाता है, ऐक्यज्ञान ही परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधन है। निर्गुण

ब्रह्म बन जाना ही परमपुरुषार्थ है, यही मोक्ष का उत्तम रूप है। उपासन इत्यादि सगुण ब्रह्मरूपी निम्नकोटि के मोक्ष का साधन है ऐक्यज्ञान ही परमपुरुषार्थ मोक्ष का साधन है। ऐक्यज्ञान मोक्ष का उपाय होने के कारण श्रुतियों का अद्वैत में ही तात्पर्य होना चाहिये, द्वैत में तात्पर्य हो नहीं सकता। यह अद्वैतियों का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि सद्विद्या में "तत्त्वमसि" कहकर जीव और ब्रह्म में ऐक्य का वर्णन है, यह मोक्षसाधन कहने वाला स्पष्ट वचन है नहीं। किन्तु उसकी कल्पना करनी पड़ती है, क्योंकि आगे मोक्षफल का वर्णन होने के कारण उसे मोक्षसाधन कहना होगा। किन्तु स्पष्ट रूप से भेदज्ञान को मोक्षसाधन सिद्ध करने वाला वचन उपनिषद् में मिलता है, उसके अनुसार भेदज्ञान को मोक्षसाधन मानना अनिवार्य है। वह वचन यह है कि "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति"। अर्थात् जीवात्मा और प्रेरक अन्तर्यामी को भिन्न २ समझकर उस भेदज्ञान के कारण परमात्मा की प्रीति अर्थात् अनुग्रह का विषय बनकर साधक मोक्ष को प्राप्त करता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा और उसके नियामक परमात्मा में भेद को समझना यह भेदज्ञान ही साक्षात् मोक्ष का साधन है। ऐक्यज्ञान का मोक्षोपायत्व कल्पनीय है, भेदज्ञान का मोक्षोपायत्व कण्ठोक्त है। यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि किसी न किसी प्रकार—कल्पना के द्वारा ही क्यों न हो—ऐक्यज्ञान को मोक्षोपाय मानना ही होगा। भेदज्ञान को मोक्षोपाय कहने वाला वाक्य उस वाक्य से—जो ऐक्यज्ञान को मोक्षोपाय सिद्ध करता है—विरुद्ध है। इसलिये भेदज्ञान को मोक्षोपाय कहने वाले वाक्य का यही भाव लेना चाहिये कि यह वाक्य मिथ्याभूत भेद का वर्णन करता है उस भेदज्ञान का फल सगुणब्रह्मप्राप्ति है जो निम्नकोटि की मुक्ति मानी जाती है परममुक्ति तो ऐक्यज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। यह अद्वैतियों का कथन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि यह पहले ही कहा गया है कि ऐक्यज्ञान के मोक्षोपायत्व की कल्पना करनी पड़ती है। भेदज्ञान का मोक्षोपायत्व स्पष्ट कहा गया है। इनमें यह अन्तर है जो ध्यान देने योग्य है। ऐसी स्थिति में इनमें किसी का भी बाध न करके इनमें समन्वय करके सिद्धान्त निकालना उत्तम मार्ग है, यही हमें अभिमत है। यदि इनमें किसी वाक्य को प्रबल मानकर दूसरे वाक्य का गौण अर्थ करना अनिवार्य माना जाता तब ऐसा ही क्यों न माना जाय कि भेदज्ञान का मोक्षोपायत्व स्पष्ट कहा गया है, अतः भेदज्ञान ही परममोक्ष का साधन है। भेदज्ञान को मोक्षोपाय बतलाने वाले वाक्य से वह वाक्य—जो ऐक्यज्ञान को मोक्षोपाय सिद्ध करता है—विरोध रखता है इसलिये यह वाक्य मिथ्याभूत ऐक्य को लेकर प्रवृत्त है इस ऐक्यज्ञान का फल गौणमोक्ष होगा। इस प्रकार विपरीत व्यवस्था ही क्यों न दी जाय। हमारा अभिमत तो यही है कि यहाँ किसी भी वाक्य का गौण अर्थ न किया जाय। ऐक्यज्ञान को मोक्षोपाय सिद्ध करने वाला वचन, तथा भेदज्ञान को मोक्षोपाय बतलाने वाला वाक्य ये दोनों श्रुतिवचन हैं, समान कोटि के हैं। इनमें विरोध उपस्थित होने पर उस विरोध को शान्त करना चाहिये, एक से दूसरे का बाध नहीं होने देना चाहिये क्योंकि दोनों ही समान बल वाले होने के कारण दोनों कटकर अप्रमाण बन जायेंगे। इनके विरोध

को शान्त करने का उपाय यही है कि इनके प्रतिपाद्य विषयों का ऐसा विभाग किया जाय जिससे उनमें विरोध न हो। यहाँ अविरुद्ध विषयव्यवस्था बन सकती है। वह इस प्रकार है कि "तत्त्वमसि" इत्यादि अभेदपरक वाक्यों का यह अर्थ बतलाने में तात्पर्य है कि जीवात्मा अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म का शरीर होने के कारण जीवात्मविशिष्ट ब्रह्म ही त्वं शब्द से अभिहित होता है। इस प्रकार जीवविशिष्ट ब्रह्म एवं जगत्कारण ब्रह्म में अभेद समझना चाहिये। यह "तत्त्वमसि" का प्रतिपाद्य विषय है। "पृथगात्मानम्" इत्यादि वाक्यों का यह प्रतिपाद्य विषय है कि परब्रह्म का शरीर बनकर रहने वाले जीव से उसका भी अन्तरात्मा बनकर रहने वाले परमात्मा अत्यन्त विलक्षण हैं क्योंकि वे नित्यनिर्दोष हैं, तथा उत्कर्ष की चरमसीमा में पहुँचे हुये सत्यसंकल्पत्व इत्यादि असंख्य कल्याणगुणों के निधि हैं, जीवात्मा ऐसा नहीं है। इस प्रकार शरीर बने हुये जीवात्मा एवं अन्तरात्मा बने हुये परमात्मा में भेद समझना चाहिये। यह "पृथगात्मानम्" इत्यादि श्रुतिवचन का प्रतिपाद्य विषय है। यह अर्थ पहले कई बार कहा गया है। इस प्रकार तात्पर्य मानने पर इन श्रुतिवचनों के प्रतिपाद्य अर्थ परस्पर विरोध न रखने के कारण समन्वित हो जाते हैं। इस प्रकार अविरुद्ध अर्थ करके श्रुतिवचनों में विरोध को शान्त करना चाहिये। यही बुद्धिमानों द्वारा आदृत पद्धति है। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने अद्वैतियों के इस वाद का—कि श्रुतिवचनों का अभेद में ही तात्पर्य है, भेद में नहीं—खण्डन कर दोनों में ही तात्पर्य को सिद्ध किया है।

भोक्ताभोग्यमित्यादिश्रुतेरर्थः

"भोक्ता भोग्यम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य का अर्थ

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वे" ति भोग्यरूपस्य वस्तुनोऽचेतनत्वं परमार्थत्वं सततविकारास्पदत्वमित्यादयः स्वभावाः। भोक्तुर्जीवात्मनश्चामलापरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभावस्यैवानादिकर्मरूपाविद्याकृतनानाविधज्ञानसङ्कोचविकासौ, भोग्यभूताचिद्वस्तुसंसर्गश्च परमात्मोपासनान्मोक्षश्चेत्यादयः स्वभावाः। एवंभूतभोक्तृभोग्ययोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्, स्वरूपेण चापरिमितगुणौघाश्रयत्वेनावस्थानमिति परस्य ब्रह्मणस्त्रिविधावस्थानं ज्ञातव्यमित्यर्थः।

आगे द्वैताद्वैतवादियों ने यह कहना चाहा कि "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" इस श्रुति से ब्रह्म-भोक्ता जीव, भोग्य जडपदार्थ और प्रेरक ईश्वर के रूप में-त्रिविध सिद्ध होता है उससे भेदाभेद फलित होता है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि इस श्रुति से ब्रह्म की तीन रूप से स्थिति बतलाई गई है। वे तीन रूप ये हैं कि (१) भोग्य जडपदार्थ का अन्तर्यामी बनकर रहना (२) भोक्ता जीव का अन्तर्यामी होकर रहना तथा (३) अपने स्वरूप से रहना। ब्रह्म का शरीर बने हुये भोग्य

जडपदार्थ का ये स्वभाव है कि वह अचेतन होकर ही रहता है, वह सत्य है तथा दूसरों के लिये अर्थात् जीव एवं ईश्वर के लिये बना रहता है। सदा विकारों को प्राप्त करता रहता है। यह अचेतन भोग्य जडपदार्थ का स्वभाव है। भोक्ता जीवात्मा का ये स्वभाव है कि वह निर्मल अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप होता हुआ भी कर्मरूप अविद्या के कारण ज्ञान में नानाविध संकोच और विकास को प्राप्त करता रहता है। जीवात्मा भोग्य जडपदार्थ से संबद्ध रहता है। परमात्मा के उपासन से वह मोक्ष को प्राप्त करता है। ये सब जीवात्मा का स्वभाव है। परमात्मा तीन रूप से अवस्थित है। (१) भोग्य जडपदार्थ का अन्तर्यामी बनकर रहता है, (२) भोक्ता जीव का अन्तर्यामी होकर रहता है (३) स्वरूप से अपरिमित कल्याणगुणगणों का आश्रय बनकर रहता है। इस प्रकार परब्रह्म का जो त्रिविध अवस्थान है वह ज्ञातव्य है। यह उदाहृत श्रुति का भावार्थ है। यह श्रुति भेदाभेद को नहीं बतलाती है। परन्तु ब्रह्म की त्रिविध स्थिति का वर्णन करती है। इस प्रकार विवेचना करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने भेदाभेद वादियों के इस कथन का—कि भेदाभेदज्ञान मोक्षोपाय होने के कारण उसमें श्रुति का तात्पर्य होना चाहिये—खण्डन किया है।

सद्विद्यायाः सगुणविद्यात्वस्य ब्रह्मविद्यासु विकल्पस्य च वर्णनम्

सद्विद्या के सगुणविद्यात्व एवं सभी ब्रह्मविद्याओं में विकल्प का प्रतिपादन

तत्त्वमसीति सद्विद्यायामुपास्यं ब्रह्म सगुणं सगुणब्रह्मप्राप्तिश्च फलमित्यभियुक्तैः पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातम्, यथोक्तं वाक्यकारेण "युक्तं तद्गुणकोपासना" दिति, व्याख्यातं च द्रमिडाचार्येण विद्याविकल्पं वदता "यद्यपि सच्चित्तो न निर्भुग्नदैवतं गुणगणं मनसाऽनुधावेत तथाऽप्यन्तर्गुणामेव देवतां भजत इति तत्रापि सगुणैव देवता प्राप्यते" इति सच्चित्तः—सद्विद्यानिष्ठः, न निर्भुग्नदैवतं गुणगणं मनसाऽनुधावेत्, अपहतपाप्मत्वादि-कल्याणगुणगणं दैवताद्विभक्तं यद्यपि दहरविद्यानिष्ठ इव सच्चित्तो न स्मरेत्। तथाऽप्यन्त-र्गुणामेव देवतां भजते, देवतास्वरूपानुबन्धित्वात्सकलकल्याणगुणगणस्य केनचित्परदेवता-ऽसाधारणेन निखिलजगत्कारणत्वादिना गुणेनोपास्यमानाऽपि देवता वस्तुतः स्वरूपानु-बन्धिसर्वकल्याणगुणविशिष्टैवोपास्यते, अतस्सगुणमेव ब्रह्म तत्रापि प्राप्यमिति सद्विद्या-दहरविद्ययोर्विकल्प इत्यर्थः।

अद्वैतियों ने इससे पूर्व यह कहा था कि ऐक्यज्ञान निर्गुणब्रह्मरूपी परममोक्ष का साधन है, भेदज्ञान सगुणब्रह्मप्राप्तिरूपी अर्वाचीन (निम्नकोटि के) मोक्ष का साधन है। सद्विद्या निर्गुणब्रह्मविद्या है क्योंकि उसमें "तत्त्वमसि" कहकर जीव और ब्रह्म में ऐक्य का वर्णन है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि

निर्गुणब्रह्मविद्या और निर्गुणब्रह्मभावरूपी मोक्ष ये दोनों अर्थ अप्रमाणिक हैं, केवल कल्पनाप्रसूत हैं। "तत्त्वमसि" वाक्यघटित जिस सद्विद्या को अद्वैतियों ने निर्गुणब्रह्मविद्या कहा है उस सद्विद्या में उपास्य ब्रह्म सगुण है, तथा इस विद्या का सगुणब्रह्मप्राप्ति फल है। इस प्रकार व्याख्या विद्वान् पूर्वाचार्यों ने की है। वाक्यकार ने "युक्तं तद्गुणकोपासनात्" कहकर इस अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस वाक्य का यह अर्थ है कि सभी मोक्षसाधन ब्रह्मविद्याओं द्वारा प्राप्यवस्तु गुणयुक्त ब्रह्म ही है क्योंकि गुणयुक्त ब्रह्म का उपासन ही सभी ब्रह्मविद्याओं में होता है। वाक्यकार के इस वाक्य से सिद्ध होता है कि मोक्षफल देने वाली सभी ब्रह्मविद्यायें सगुण ब्रह्म की उपासना हैं, इनका फल भी सगुणब्रह्म की प्राप्ति है। इससे फलित होता है कि निर्गुणब्रह्मविद्या एवं निर्गुणब्रह्मभावरूप मोक्ष अप्रामाणिक हैं। इस वाक्यकारवचन से सभी ब्रह्मविद्याओं में विकल्प फलित होता है। जब सभी ब्रह्मविद्याओं के द्वारा मिलने वाला फल एक ही है, क्योंकि उनसे सगुणब्रह्मप्राप्ति ही होती है, तब इन विद्याओं में किसी एक को अपनाना ही पर्याप्त होगा, चाहे सद्विद्या को अपनावे, चाहे दूसरी किसी विद्या को अपनावे फल में कोई अन्तर नहीं होगा। इसी बात को विकल्प कहते हैं। द्रमिडाचार्य ने विद्याओं में विकल्प को सिद्ध करते हुये उपर्युक्तवाक्यकारवचन की इस प्रकार व्याख्या की है कि सभी ब्रह्मविद्याओं में ब्रह्मस्वरूप का अनुसन्धान करना चाहिये। अनुसन्धान करते समय ब्रह्म को सत्य ज्ञान अनन्त आनन्द और निर्मल समझ कर उपासना करनी चाहिये। सत्यत्व ज्ञानत्व अनन्तत्व आनन्दत्व एवं अमलत्व ये ब्रह्मधर्म सभी ब्रह्मविद्याओं में अनुसन्धान करने योग्य हैं। इनके अनुसन्धान के बिना ब्रह्म का आकलन करना ही कठिन है। अतएव ये ब्रह्म के स्वरूपनिरूपक धर्म माने जाते हैं। इनमें अनन्तत्व धर्म का यह तात्पर्य है कि ब्रह्म दो प्रकार से अनन्त है, (१) स्वरूप से और (२) गुणों से। ब्रह्म देशकाल और वस्तुओं के द्वारा होने वाले परिच्छेदों से रहित है, यही स्वरूपकृत अनन्तत्व है। ब्रह्म अनन्तकल्याणगुणों से युक्त है, यही गुणकृत अनन्तत्व है। ब्रह्म को अपरिच्छिन्न एवं अनन्तकल्याणसम्पन्न समझना यही अनन्तत्व का अनुसन्धान है। अनन्तत्व के अनुसन्धान में सामान्य रूप से सर्वकल्याणगुणों का अनुसन्धान हो जाता है। इनसे अतिरिक्त प्रत्येक ब्रह्मविद्या में विशेषरूप से कई गुणों का अनुसन्धान होता है। उदाहरण—प्रकृत सद्विद्या में जगत्कारणत्व इत्यादि गुणों का अनुसन्धान होता है। इसी प्रकार ही प्रत्येक ब्रह्मविद्या में विभिन्न गुण अनुसन्धेय होते हैं। ये प्रत्येक ब्रह्मविद्या में अनुसन्धेय असाधारणगुण हैं। सत्यत्व और ज्ञानत्व इत्यादि सभी ब्रह्मविद्याओं में अनुसन्धेय साधारणगुण हैं। इस प्रकार सभी ब्रह्मविद्याओं में किसी न किसी गुण से युक्त ब्रह्म ही अनुसन्धेय होता है। सभी ब्रह्मविद्याओं का फल सगुणब्रह्मप्राप्ति है क्योंकि जिसकी उपासना होती है वही प्राप्य होता है। सभी ब्रह्मविद्याओं में सगुण ब्रह्म की उपासना होने के कारण सभी ब्रह्मविद्याओं का फल भी सगुणब्रह्मप्राप्ति ही होती है। इस प्रकार एक फल में पर्यवसान होने के कारण सभी ब्रह्मविद्याओं में विकल्प माना जाता है, और कहा जाता है कि साधक किसी एक ब्रह्मविद्या का अवलम्ब लेकर उस फल को प्राप्त कर सकता है,

साधक को अन्य ब्रह्मविद्याओं को अपनाने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार विद्याओं में विकल्प को सिद्ध करके द्रमिडाचार्य ने सद्विद्या और दहरविद्या में थोड़ा अन्तर बतलाकर उनमें भी विकल्प को सिद्ध किया है। अन्तर यह है कि सद्विद्या में जगत्कारणत्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुसन्धान होता है, जगत्कारणत्वादि गुणों का अलग अनुसन्धान नहीं होता। दहरविद्या में अपहतपाप्मत्वादि कल्याणगुणों का अलग भी अनुसन्धान होता है। यही इनमें अन्तर है। इतना अन्तर होने पर भी सभी ब्रह्मविद्याओं में अनुसन्धेय अनन्तत्वगुण का अनुसन्धान करते अनन्तकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुसन्धान सम्पन्न हो जाता है, अतः अनन्तकल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। सद्विद्या में अनन्तत्व गुण का अनुसन्धान होते समय अनन्तगुणविशिष्ट ब्रह्म का अनुसन्धान सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सामान्य रूप से अनुसन्धान होने के कारण अनन्तगुणविशिष्टब्रह्मप्राप्ति में अन्तर नहीं होता। इसलिये सद्विद्या और दहरविद्या में विकल्प सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार व्याख्या करके द्रमिडाचार्य ने यह सिद्ध किया कि सभी ब्रह्मविद्याओं में यहाँ तक कि सद्विद्या में भी सगुण ब्रह्म ही उपास्य एवं प्राप्य है। इन पूर्वाचार्यों के वचनों की अवहेलना करके यह कैसे माना जा सकता है कि सद्विद्या निर्गुण ब्रह्मविद्या है, उसमें जीवब्रह्मैक्य का वर्णन है, उसका फल निर्गुण ब्रह्मभाव है इत्यादि। ये सभी बातें पूर्वाचार्य ग्रन्थ विरुद्ध होने से अप्रामाणिक एवं अग्राह्य प्रतीत होती हैं।

ईश्वरस्य प्रेरकत्वमवलम्ब्य प्रवृत्तायाः शङ्कायाः समाधानम्

ईश्वर के प्रेरकत्व को लेकर उठने वाली शंका का समाधान

ननु च सर्वस्य जन्तोः परमात्माऽन्तर्यामी, तन्नियाम्यं च सर्वमेवेत्युक्तम्। एवं च सति विधिनिषेधशास्त्राणामधिकारी न दृश्यते। यः स्वबुद्ध्यैव प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तस्स एवं कुर्यान्न कुर्यादिति विधिनिषेधयोग्यः। न चैष दृश्यते। सर्वस्मिन्प्रवृत्तिजाते सर्वस्य प्रेरकः परमात्मा कारयितेति तस्य सर्वनियमनं प्रतिपादितम्। श्रूयते च "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" इति, साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वान्नैर्घृण्यं च। अत्रोच्यते सर्वेषामेव चेतनानां चिच्छक्तियोगः प्रवृत्तिशक्तियोगः इत्यादि सर्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिपरिकरं सामान्येन संविधाय तन्निर्वहणाय तदाधारो भूत्वाऽन्तः प्रविश्याऽनुमन्तृतया च नियमनं कुर्वन् शेषित्वेनावस्थितः परमात्मा, एतदाहितशक्तिस्सन् प्रवृत्तिनिवृत्त्यादि स्वयमेव कुरुते। एवं कुर्वाणमीक्षमाणः परमात्मोदासीन आस्ते, अतः सर्वमुपपन्नम्। साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वं तु व्यवस्थितविषयं न सर्वसाधारणम्, यस्तु पूर्वं स्वयमेवातिमात्रमानुकूल्ये प्रवृत्तः तं प्रति

प्रीतः स्वयमेव भगवान् कल्याणबुद्धियोगदानं कुर्वन् कल्याणे प्रवर्तयति, यः पुनरतिमात्रं प्रातिकूल्ये प्रवृत्तस्तस्य क्रूरां बुद्धिं ददत् स्वयमेव क्रूरेष्वेव कर्मसु प्रेरयति भगवान्। यथोक्तं भगवता—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" इति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने सैद्धान्तिक अर्थों को लेकर उठने वाली एक शंका का समाधान किया है। शंका यह है कि सिद्धान्त में कहा जाता है कि परमात्मा सभी जीवों का अन्तर्यामी हैं। जीव उनका नियाम्य हैं अर्थात् उनकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करने वाले हैं। इस सिद्धान्त को मानने पर यह दोष उपस्थित होता है कि विधि शास्त्र एवं निषेध शास्त्रों के लिये अधिकारी प्राप्त न होंगे। जो मनुष्य अपनी बुद्धि से प्रवृत्त हो सकता हो, उसके प्रति "तुम ऐसा करो" इस प्रकार का विधान लागू हो सकता है, जो मनुष्य अपनी बुद्धि से किसी काम से निवृत्त होने की क्षमता रखता हो उसके प्रति "तुम ऐसा मत करो" इस प्रकार का निषेध लागू हो सकता है। यहाँ इस प्रकार का कोई मनुष्य है ही नहीं, क्योंकि सभी जीव परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार कार्य करने वाले हैं। जिस प्रकार जलप्रवाह में बहने वाले मनुष्य के प्रति "बह जाओ" इस प्रकार का विधान व्यर्थ हो जाता है क्योंकि बहने वाले के प्रति इस प्रकार के विधान की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार किसी सत्कर्म में प्रवृत्त हुये मनुष्य के प्रति "सत्कर्म करो" इस प्रकार का विधान व्यर्थ ही होगा क्योंकि वह ईश्वर प्रेरणा से उस सत्कर्म को करता रहता है, वहाँ आज्ञा की क्या आवश्यकता है। जिस प्रकार जल के वेग से बहने वाले मनुष्य के प्रति "मत बहो" इस प्रकार का निषेध व्यर्थ हो जाता है क्योंकि जलवेग का परतन्त्र बना हुआ वह मनुष्य इस निषेधाज्ञा का पालन करने में सर्वथा असमर्थ है। उसी प्रकार परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार किसी दुष्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य के प्रति "दुष्कर्म मत करो" इस प्रकार का निषेध भी व्यर्थ हो जाता है क्योंकि बलवान् ईश्वर की प्रेरणा का परतन्त्र बना हुआ जीव इस निषेधाज्ञा का पालन करने में सर्वथा असमर्थ है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि राजा का परतन्त्र होने पर भी प्रजा राजा के विधि और निषेधों के पालने में अधिकारी मानी जाती है, वैसा प्रकृत में क्यों न माना जाय? उत्तर यह है कि राजा की प्रजा और ईश्वर की प्रजा में महान् अन्तर है, वह यह है कि राजा की प्रजा स्वयं प्रवृत्त होने की क्षमता रखती है, स्वेच्छा से अपराध करती है, उसका फलस्वरूप दण्ड भोगने में उसे राजा का परतन्त्र बनना पड़ता है। प्रकृत में तो सभी प्रवृत्तियों में ईश्वर प्रेरक है, उनकी प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता है। ईश्वर ही जीव से सब कार्य कराता है सभी प्रवृत्तियों में ईश्वर प्रेरक माने जाते हैं। ईश्वर पुण्य पाप कर्म कराने वाले हैं यह अर्थ श्रुतियों से प्रमाणित है। वे श्रुतिवचन ये हैं कि—

एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति ।
एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति ॥

अर्थात् ये ईश्वर ही उस जीव से सत्कर्म कराते हैं जिसे इन लोकों से उन्नत लोक में ले जाना चाहते हैं। ये ईश्वर ही उस जीव से पापकर्म कराते हैं जिसे अधोगति में ले जाना चाहते हैं। इन वचनों से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही जीवों से पुण्य पाप कराते हैं। ऐसी स्थिति में यह दोष होगा ही कि स्वेच्छा से प्रवृत्त होने वाले तथा निवृत्त होने वाले अधिकारी न मिलने के कारण विधि निषेध शास्त्र व्यर्थ होंगे। साथ ईश्वर में वैषम्य दोष और निर्दयत्व दोष भी होगा क्योंकि ईश्वर किसी जीव से पुण्यकर्म और किसी जीव से पापकर्म कराते हैं। इनसे उनमें वैषम्य दोष होगा। तथा जिससे पापकर्म कराकर अधोगति में पहुँचाते हैं, उस जीव के प्रति निर्दय सिद्ध होंगे। इन दोषों को कैसे दूर किया जाय ? यह शंका है। इस शंका का समाधान करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि—ईश्वर सब जीवों को जानने, इच्छा करने और प्रयत्न करने की शक्ति को सदा से दे रक्खे हैं। जीवों को ज्ञान इच्छा और प्रयत्न करने की क्षमता सदा बनी रहे। ऐसी ईश्वर की नित्य इच्छा है। इसलिये जीवात्मा में यह शक्ति सदा बनी रहती है। किंच, ईश्वर जीवों को प्रवृत्ति करने एवं निवृत्ति करने के लिये भी शक्ति सदा से दे रक्खे हैं। साथ ही ईश्वर जीवों को देह और इन्द्रिय आदि साधनों को भी दे रक्खे हैं। ये सभी साधन प्रवृत्ति और निवृत्ति का साधारण कारण है। इनके बल से जीव किसी कर्म में प्रवृत्त हो सकता है, किसी कर्म से निवृत्त हो सकता है। इन सब साधनों को देकर ईश्वर यही चाहते हैं कि जीव जो चाहे सो करे। जीव स्वेच्छा से सब कार्य करे, आवश्यकता होने पर सहायता भी की जाय। अतएव ईश्वर जीव को दिये गये साधनों को सफल बनाने के लिये जीव का आधार बनकर जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर जीव को अनुमति देते हुये जीव के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। इस प्रकार परमात्मा कुछ हद तक नियमन करते हुये जीव का आधार एवं स्वामी होकर रहते हैं। जीव इन साधनों को प्राप्त कर स्वेच्छा से पुण्य अथवा पाप में प्रथमतः प्रवृत्त होता है, उस प्रथम प्रवृत्ति के समय परमात्मा उदासीन अर्थात् उपेक्षक होकर रहते हैं, प्रथम प्रवृत्ति के फलस्वरूप द्वितीय प्रवृत्ति में ईश्वर अनुमति देकर प्रवृत्ति में शिथिलता को दूर करके उसे फल तक पहुँचा देते हैं, यही ईश्वर का अनुमन्तृत्व है। सामान्य रूप से ईश्वर शास्त्रों के द्वारा अहित से निवृत्त होने के लिये उपदेश दे रक्खे हैं। मानना न मानना जीवों की इच्छा पर निर्भर है। जो जीव शास्त्रों से निषेधाज्ञा को समझ कर पाप से निवृत्त होते हैं, उनके विषय में निषेध शास्त्र सफल हो जाते हैं। जो जीव शास्त्रों के द्वारा सत्कर्म करने की आज्ञा को जानकर सत्कर्म में प्रवृत्त होते हैं, उनके विषय में विधि शास्त्र सफल हो जाते हैं। भले उल्लङ्घन करने वाले जीवों के विषय में विधि निषेध शास्त्र विफल हों, किन्तु मानने वालों के विषय में सफल होते हैं। यदि किसी भी जीव के विषय में सफल न हों, तभी उनमें वैयर्थ्य दोष लग सकता है। उपनिषदों में यह जो कहा गया है कि परमात्मा जीवों से पुण्य पाप कर्म कराते हैं। यह बात सब जीवों के विषय में न

कही गई है, किन्तु विशिष्ट व्यक्तियों के विषय में कही गई है। भाव यह है कि जो व्यक्ति श्रीभगवान् के अत्यन्त अनुकूल होकर रहता है, सदा अनुकूल आचरण ही करता रहता है, उसके अनुकूल आचरण से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् तत्फल स्वरूप उसको आत्मकल्याण के मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये सुबुद्धि का प्रदान कर उसे कल्याण कार्य में प्रेरित करते हैं। श्रीभगवान् के सत्कर्म कराने की जो बात उपनिषद् में कही गई है, वह इन व्यक्तियों के विषय में कही गई है, सर्वसाधारण के विषय में नहीं। जो व्यक्ति श्रीभगवान् के प्रति अत्यन्त प्रतिकूल होकर रहता है, सदा प्रतिकूल आचरण ही करता रहता है, श्रीभगवान् उसके प्रतिकूल व्यवहार से अप्रसन्न होकर उसके फलस्वरूप उसको क्रूर बुद्धि का प्रदान कर उसे क्रूर कर्मों में प्रवृत्त करा देते हैं। इन व्यक्तियों के विषय में ही श्रीभगवान् के द्वारा असत्कर्म कराने की बात उपनिषद् में कही गई है। यह अर्थ श्रीगीता से प्रमाणित है। श्रीगीता में श्रीभगवान् अर्जुन से यह कहे हैं कि—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

अर्थात् हमसे सदा मिलकर रहने की इच्छा रखने वाले एवं मेरे भजन में रत महानुभावों को हम परिपाक दशा में पहुँचे हुये उस बुद्धियोग का प्रदान करते हैं, जिससे वे हमें प्राप्त करते हैं। हम उनके ऊपर अनुग्रह करने के लिये उनकी चित्तवृत्ति में अवस्थित होकर अपने कल्याणगुणों का परिचय कराते हुये मेरे विषय में होने वाले ज्ञानरूपी देदीप्यमान दीप से ज्ञानविरोधी प्राचीन कर्मरूपी अज्ञान से होने वाले विषयासक्ति रूप अन्धकार को नष्ट कर देते हैं। हमसे द्वेष रखने वाले अशुभ क्रूर नराधमों को संसार में आसुर योनियों में हम डाल देते हैं, हम क्रूर बुद्धि देकर क्रूर कार्य कराकर आसुर योनियों में पहुँचा देते हैं। यहाँ आद्य दो श्लोकों में अनुकूलों के प्रति श्रीभगवान् के द्वारा किये जाने वाले अनुकूल व्यवहार का तृतीय श्लोक में प्रतिकूलों के प्रति श्रीभगवान् के द्वारा किये जाने वाले प्रतिकूल व्यवहार का वर्णन है। इससे श्रीभगवान् की न्यायकारिता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् न्यायकारी होते हुये परमदयालु भी हैं, क्योंकि प्राचीन अनेक जन्मों में लगातार पाप करने वाले अपराधी जीव यदि उन पापाचरणों से निवृत्त होकर क्षमा याचना करते तो श्रीभगवान् उनके अनन्त अपराधों को ख्याल न करके उनका कल्याण करने के लिये कृपया सोत्साह प्रवृत्त होते हैं। अस्तु। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीव श्रीभगवान् का परतन्त्र होता हुआ भी किस प्रकार विधि निषेध शास्त्रों का अधिकारी बनता है।

———

मोक्षोपायसामग्र्या विशदीकरणम्

मोक्षोपाय सामग्री का विशद वर्णन

सोऽयं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो निरतिशयपुण्यसंचयक्षीणाशेषजन्मोपचितपापराशेः परमपुरुषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य सदाचार्योपदेशोपबृंहितशास्त्राधिगततत्त्वयाथात्म्यावबोधपूर्वकाहरहरुपचीयमानशमदमतपः शौचक्षमार्जवभयाभयस्थानविवेकदयाऽहिंसाद्यात्मगुणोपेतस्य वर्णाश्रमोचितपरमपुरुषाराधनवेषनित्यनैमित्तिककर्मोपसंहृतिनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य परमपुरुषचरणारविन्दयुगलन्यस्तात्मात्मीयस्य तद्भक्तिकारितानवरतस्तुतिस्मृतिनमस्कृतिवन्दनयतनकीर्त्तनगुणश्रवणवचनध्यानार्चनप्रणामादिप्रीतपरमकारुणिकपुरुषोत्तमप्रसादविध्वस्तस्वान्तध्वान्तस्यानन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्येकलभ्यः ।

"अतेद सर्वसाक्षहृदयम्" इत्यादि पंक्तियों में श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपाय स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया है। अब आगे विस्तार से वर्णन करते हुये यह कहते हैं कि निम्नलिखित प्रकार का अधिकारी भक्ति से परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। उसको ही परमात्मा मिल सकता है। वह अधिकारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि जो साधक निष्कामभाव से अपार सुकृतों को करता रहता है उनसे उसके अनेक जन्मों में किये गये पापों की राशि नष्ट हो जाती है। उस साधक को संसार से विरक्ति एवं श्रीभगवान को प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठा होती है। वह मोक्षसाधन निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिये सर्वप्रथम श्रीभगवान् के चरणारविन्दों की शरण में चला जाता है। शरण में जाते ही वह साधक श्रीभगवान् का अभिमुख हो जाता है। उसको श्रीभगवत्प्राप्ति ही जीवन का ध्येय बन जाती है। वह सदाचार्य के शरण में जाकर उनका उपदेश सुनता है। सदाचार्य के उपदेश से अधीत एवं अनधीत सब तरह के शास्त्रों का अर्थ यथार्थरीति से हृदय में उतर जाते हैं। उसके मन में किसी प्रकार का सन्देह अथवा भ्रम नहीं रहता। भ्रम दो प्रकार का होता है। (१) धर्म को विपरीत समझना एक भ्रम है। उदाहरण—कामलरोगवाला पुरुष शंख को पीला समझता है। वह धर्मी शंख को शंख ही समझता है, परन्तु धर्म को विपरीत समझता है, श्वेत को पीत समझता है। यह भ्रम रजोगुण से होता है। (२) धर्मी को विपरीत समझना दूसरा भ्रम है। उदाहरण—कोई रज्जु को सर्प एवं शुक्ति को रजत समझता है। यहाँ धर्मी रज्जु और शुक्ति विपरीत समझी जाती है। यह भ्रम तमोगुण के कारण होता है। ऐसे भ्रम और सन्देह उनके मन में स्थान नहीं पाते जो सदाचार्य के उपदेश से शास्त्रों के सूक्ष्मार्थ को यथार्थरीति से समझकर हृदयंगम कर लेते हैं। इस प्रकार साधक जब सदाचार्य के उपदेश से स्वस्वरूप और परस्वरूप इत्यादि अर्थों को हृदयंगम कर लेता है तब उसको प्रतिदिन आत्मगुण अधिकाधिक विकसित होने लगते हैं। वे आत्मगुण ये हैं (१) "शम"—वह अन्तःकरण को

सदा वश में रखता है। (२) "दम"–वह ५ ज्ञानेन्द्रिय और ५ कर्मेन्द्रियों को जीत लेता है। (३) "तप" वह कृच्छ्र और चान्द्रायण इत्यादि धर्मशास्त्रविहित तपस्या करता है। (४) "शौच"–वह मन वाणी और शरीर को शुद्ध रखता है। (५) "क्षमा"–वह दुःख सहने की शक्ति रखता है। (६) "आर्जव"–वह सदा सीधा रहता है, कभी कुटिलता नहीं करता है। (७) "भयस्थानविवेक"–वह यह समझता है कि किससे डरना चाहिये। श्रीभगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन करना और भगवदपचार इत्यादि भयस्थान हैं, इनसे डरते रहना चाहिये। इस बात को वह खूब जानता है। (८) "अभयस्थानविवेक"–श्रीभगवान रक्षक हैं इस अध्यवसाय से अभय प्राप्त होता है। जो श्रीभगवान् के अनुग्रह का पात्र बन जाता है वह अभय को प्राप्त करता है इस बात को वह अच्छी तरह से समझता है। (९) "दया"–वह दूसरों के दुःख को देखकर न सहता हुआ निःस्वार्थ भाव से दुःख को दूर करने के लिये उद्यत हो जाता है। (१०) "अहिंसा"–वह दूसरों के दुःख का कारण नहीं बनता। ऐसे २ बहुत से आत्मगुण उस साधक को उत्पन्न होते हैं जो सदाचार्य के उपदेश से सभी शास्त्रार्थों को विश्वासपूर्वक हृदयंगम कर लेता है। वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मों को त्याग देता है। वर्ण और आश्रम के अनुसार नित्य और नैमित्तिक कर्मों को श्रीभगवान् का आराधन समझकर करता रहता है, इनमें उसकी निष्ठा बढ़ती रहती है। वह श्रीभगवान् के चरणारविन्दों में आत्मीय पदार्थों को समर्पित करता हुआ श्रीभगवान् से यह निवेदन करता है कि मैं और मेरे कहे जाने वाले पदार्थ वास्तव में मेरे नहीं हैं, ये सब आपके हैं, मैं भी आपका हूँ, रक्षा से होने वाले फल के प्रधान भोक्ता आप ही हैं, मैं नहीं। इस साधक को शास्त्रों से श्रीभगवत्तत्व आदि को समझते समय से लेकर श्रीभगवान् के चरणारविन्दों में भक्ति बनी रहती है। साधनानुष्ठान बढ़ते २ वह भक्ति भी बढ़ती जाती है। बढ़ने वाली श्रीभगवद्भक्ति से प्रेरित होकर वह साधक श्रीभगवान् की स्तुति करता ही रहता है, श्रीभगवान् का गुणानुवाद उसका स्वभाव बन जाता है, वह श्रीभगवान का स्मरण नमस्कार वन्दन करता ही रहता है। श्रीभगवान् के लिये पुष्पोद्यान इत्यादि के निर्माणार्थ उद्योग करने में उसको आनन्द मिलता है। श्रीभगवन्नाम का कीर्तन, श्रीभगवान् के कल्याणगुणों का श्रवण एवं प्रवचन श्रीभगवान् का निरन्तर ध्यान, अर्चन और प्रणाम आदि करने में वह अपने को कृतकृत्य एवं कृतार्थ समझता रहता है। इस प्रकार भक्ति से प्रेरित होकर साधनानुष्ठान करने वाले के प्रति परमकारुणिक पुरुषोत्तम श्रीभगवान प्रसन्न हो जाते हैं। उनके अनुग्रह के प्रभाव से इस साधक के मन में अनादिकाल से रहने वाले रजस्तमोगुणरूपी अन्धकार सदा के लिये नष्ट हो जाता है। मन की मलिनता दूर होने पर उसका मन प्रेमप्रकाश से इस प्रकार भर जाता है जिस प्रकार राहु से मुक्त चन्द्रमा प्रकाशान्वित होता है। वह साधक निर्मल मन से श्रीभगवान के दिव्यात्मस्वरूप का निरन्तर अनुसन्धान करने लगता है यह अनुसन्धान ही समाधि है, यह ध्यान तक के योगांगों से सिद्ध होता है। दिव्यात्मस्वरूप की अनुसन्धानरूपिणी स्मरणधारा शुष्कस्मरणधारा नहीं है, किन्तु प्रेमरस से आप्लुत है। यह स्मरणधारा साधक को अत्यन्त प्रिय लगती है, साधक इसे छोड़ना नहीं चाहता। श्रीभगवान का आनन्दमय

दिव्यात्मस्वरूप अत्यन्त प्रिय लगता है, अतएव उसकी स्मरणधारा भी अत्यन्त प्रिय लगती है। यह स्मरणधारा बढ़ते २ इतना विशद बन जाती है कि प्रत्यक्ष के समानरूप को धारण कर लेती है। ध्यान के बाद होने वाले इस प्रेममिश्रित प्रत्यक्षसमानाकार वाली विशदतम समाधिरूपिणी पराभक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् प्राप्त होते हैं। समाधि प्राप्त करने तक किये जाने वाले भगवदर्चन इत्यादि अंग माने जाते हैं, समाधिनिष्ठ पुरुष के द्वारा समाधि से उठने के बाद किये जाने वाले अर्चन आदि भगवत्कर्म अंगिकोटि में आ जाते हैं। प्रेमी साधक अत्यन्त प्रिय लगने के कारण इस समाधि को उपाय न समझकर स्वयं प्रयोजनबुद्धि से करता रहता है। उपर्युक्त साधना ही श्रीभगवत्प्राप्ति का उपाय है।

पूर्वोक्तार्थस्य प्रमाणवचनैः समर्थनम्

उपर्युक्त अर्थों का प्रमाणवचनों द्वारा समर्थन

तदुक्तं परमगुरुभिर्भगवद्यामुनाचार्यपादैः "उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्य" इति, ज्ञानयोगकर्मयोगसंस्कृतान्तःकरणस्येत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति। अत्राविद्याशब्देन विद्येतरत् वर्णाश्रमाचारादि पूर्वोक्तं कर्मोच्यते। विद्याशब्देन च भक्तिरूपापन्नं ध्यानमुच्यते। यथोक्तम्—"इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्त्तुं मृत्युमविद्यया" इति, "तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" "य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती" त्यादि वेदनशब्देन ध्यानमेवाभिहितम्, निदिध्यासितव्य इत्यादिनैकार्थ्यात्। तदेव ध्यानं पुनरपि विशिनष्टि—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति भक्तिरूपापन्नानुध्यानेनैव लभ्यते, न केवलं वेदनमात्रेण न मेधयेति केवलस्य निषिद्धत्वात्। एतदुक्तं भवति—योऽयं मुमुक्षुर्वेदान्तविहितवेदनरूपध्यानादिविनिष्ठः यदा तस्य तस्मिन्नेवानुध्याने निरवधिकातिशया प्रीतिर्जायते तदैव तेन लभ्यते परः पुरुष इति। यथोक्तं भगवता—"पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया"। भक्त्या त्वनन्यया शक्यः अहमेवंविधोऽर्जुन !। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ?॥ "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥" इति। तदनन्तरं मां तत एव भक्तेः विशते इत्यर्थः।

भक्तिरपि निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनस्वेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेष एवेति, तद्युक्त एव तेन परेणात्मना वरणीयो भवतीति तेन लभ्यत इति श्रुत्यर्थः। एवंविधपरभक्तिरूपज्ञानविशेषस्योत्पादकः पूर्वोक्ताहरहरुपचीयमानज्ञानपूर्वककर्मानुगृहीतभक्तियोग एव। यथोक्तं भगवता पराशरेण—"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः" ॥ इति। निखिलजगदुद्धारणायावनितलेऽवतीर्णः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः स्वयमेवैतदुक्तवान् "स्वकर्मनिरतः सिद्धिः यथा विन्दति तच्छृणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" ॥ इति यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव।

इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपायस्वरूप का वर्णन करके इसके विषय में प्रमाणवचनों को उपस्थापित करते हुये कहा है कि परमगुरु श्रीभगवद्यामुनाचार्यपाद ने सिद्धित्रय ग्रन्थ में उपर्युक्त अर्थ का समर्थन इस प्रकार किया है कि—

"उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः" अर्थात् कर्मयोग एवं ज्ञानयोग करने से साधक का मन शुद्ध हो जाता है। शुद्धमनस्सम्पन्न साधक को भक्तियोग करने का अधिकार मिलता है, वह साधक इस प्रकार के भक्तियोग में प्रवृत्त होता है जो ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक है। ऐकान्तिक भक्तियोग वही है जो श्रीभगवान के विषय में ही किया जाता है, दूसरे किसी के विषय में नहीं आत्यन्तिक भक्तियोग वही है जो फल प्राप्त होने पर भी नहीं मिटता है, किन्तु फलानुभव के समय में भी बना रहता है। इस प्रकार के भक्तियोग से श्रीभगवान् प्राप्त होते हैं। यह श्रीयामुनाचार्य जी की श्रीसूक्ति का भाव है।

साधना में कर्म की आवश्यकता है, यह अर्थ इस उपनिषद्वचन से सिद्ध होता है कि—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थात् सदाचार्य से उपदेश प्राप्त करके जो साधक ब्रह्मोपासनरूपी अंगी विद्या को तथा उसका अंग कर्मरूपी अविद्या को—परस्पर विरोध को दूर करके—दोनों को अंग और अंगी के रूप में अनुष्ठान करने योग्य समझता है, वह विद्या का अंग बने हुये निष्काम कर्म से विद्योत्पत्ति के विरोधी प्राचीन कर्मरूपी मृत्यु को पार कर प्राप्त हुई विद्या अर्थात् ब्रह्मोपासन से अमृत ब्रह्म को प्राप्त होता है। इस मन्त्र में अविद्याशब्द से वर्णाश्रमधर्मादिकर्म विवक्षित हैं, क्योंकि वे विद्या से भिन्न हैं। विद्याशब्द से भक्तिरूप को प्राप्त हुआ ध्यान विवक्षित है। यही ब्रह्मोपासन कहलाता है। अविद्याशब्द कर्मवाचक है, इसमें निम्नलिखित वचन प्रमाण है।

इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः ।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया ॥

अर्थात् शास्त्रजन्यज्ञान को प्राप्त हुआ वह जनक ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने का उद्देश्य करके उसके विरोधी प्राचीन अनन्त कर्मों को अविद्या से अर्थात् विद्या का अंग बने हुये निष्कामकर्म से नष्ट करने के लिये बहुत से यज्ञों को करता रहा । इन वचनों से सिद्ध होता है कि कर्म ब्रह्मविद्या का अंग होने से संग्राह्य है ।

उपनिषदों में जहाँ तहाँ ब्रह्मज्ञान मोक्ष का साधन कहा गया है वे वचन ये हैं कि—

(१) "तमेव विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" अर्थात् उस परमात्मा को जानने वाला विद्वान् इस संसार में मुक्त हो जाता है, मोक्ष के लिये ब्रह्मज्ञान के सिवाय दूसरा कोई साधन है नहीं ।

(२) "य एतं विदुरमृतास्ते भवन्ति" अर्थात् जो इस परमात्मा को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं ।

(३) "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है ।

(४) "स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद" अर्थात् जो इस परब्रह्म को जानता है ।

(५) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् परमसाम्य को प्राप्त होता है । ऊपर उद्धृत वचनों से ज्ञान मोक्षसाधन प्रतीत होता है । परन्तु उस ज्ञान को ध्यानरूप समझना चाहिये क्योंकि "निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वचन ध्यान को मोक्षसाधन बतला रहे हैं । ज्ञान सामान्य है, ध्यान ज्ञानविशेष है, सामान्य को विशेष में पर्यवसान करना चाहिये । इन वचनों में सामरस्य लाना चाहिये न कि विरोध । निम्नलिखित श्रुतिवचन उस ध्यान में एक विशेषाकार को बतलाता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

अर्थात् यह परमात्मा उस मनन से भी लभ्य न होंगे जो प्रवचन का कारण एवं कार्य है, परमात्मा मेधा अर्थात् ध्यान से तथा बहुत श्रवण करने से भी प्राप्त न होंगे, परमात्मा जिसे चाहते हैं उसे मिलते हैं, उसको परमात्मा अपना स्वरूप प्रकाशित करते हैं । यद्यपि इस वचन में अन्यान्यश्रुतिविहित श्रवण मनन और निदिध्यासन का खण्डन सा प्रतीत होता है । वास्तव में वैसी बात नहीं है । यह श्रुति प्रेममिश्रित ध्यान को मोक्षोपाय बताती है । प्रेममिश्रित ध्यान ही भक्ति है । जिन श्रवण मनन और निदिध्यासन का खण्डन प्रतीत होता है, वे सब प्रेमरहित श्रवण मनन और निदिध्यासन हैं । यह भाव इस श्रुति के उत्तरार्ध से खुल जाता है । उत्तरार्ध में कहा गया है कि जिसे परमात्मा चाहते हैं, उसको परमात्मा मिलते हैं । यहाँ यह विचार उपस्थित होता है कि परमात्मा किसे चाहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर लोकानुभव के अनुसार देना

होगा। लोक में देखा जाता है कि एक प्रेमी दूसरे प्रेमी को चाहता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा उसको चाहते हैं, जिस पर प्रेम करते हैं, परमात्मा उस पर प्रेम करते हैं जो परमात्मा पर प्रेम करता हो। इससे फलित होता है कि परमात्मप्राप्ति को चाहने वालों को परमात्मा पर प्रेम करना चाहिये। प्रेमपूर्वक किये जाने वाले श्रवण मनन और ध्यान से परमात्मा प्राप्त हो सकते हैं, विना प्रेम के किये जाने वाले श्रवण मनन और ध्यान से परमात्मा को प्राप्त करना असंभव है। इस मन्त्र में श्रवण मनन और ध्यान का जो खण्डन किया गया है, वह प्रेमरहित श्रवण मनन और ध्यान के विषय में है। शास्त्र में जो श्रवण मनन और ध्यान का विधान है वह प्रेममिश्रित श्रवण मनन और ध्यान का है। इस प्रकार भाव को समझने पर दोनों श्रुतियों में सामञ्जस्य हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेममिश्र ध्यान करना चाहिये। प्रेममिश्र ध्यान ही भक्तियोग है। भाव यह है कि जो मुमुक्षु साधक वेदान्तविहित ज्ञानरूपी ध्यान आदि करता रहता है, यदि उसको इस ध्यान आदि में अपार प्रेम होता हो तो उस ध्यान आदि से भगवान् मिल सकते हैं। श्रीभगवान ने श्रीगीता में इस अर्थ को कई बार कहा है। ये उनकी सूक्तियाँ हैं कि—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

अर्थात् हे पार्थ ? वह परमपुरुष परमात्मा अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। हे अर्जुन ? अनन्यभक्ति के द्वारा ही इस प्रकार के हम शास्त्रों से जाने जा सकते हैं, अच्छी तरह से यथार्थरूप से मेरा साक्षात्कार भी अनन्यभक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यथार्थरीति से मुझमें प्रवेश अर्थात् मेरी प्राप्ति भी अनन्यभक्ति के द्वारा ही सधती है। पराभक्ति से साधक को मेरा साक्षात्कार प्राप्त होता है, उस साक्षात्कार में सब कुछ विदित हो जाता है। स्वरूप और स्वभाव को लेकर हम जो कुछ हैं, गुण और विभूति को लेकर हम जितने हैं, यह अर्थ उसको इस साक्षात्कार में स्पष्ट विदित हो जाता है। इस साक्षात्कार को परज्ञान कहते हैं। परज्ञान प्राप्त होने के बाद साधक की भक्ति इतनी बढ़ जाती है कि श्रीभगवान् को प्राप्त किये विना रहा न जाय। इस भक्ति को परमभक्ति कहते हैं। इस परमभक्ति से साधक मुझमें प्रवेश अर्थात् मेरी प्राप्ति को हथिया लेता है। यह भक्ति वह ज्ञानविशेष है जो अत्यन्त प्रिय लगता है, जिसे छोड़कर दूसरा प्रयोजन सूझता नहीं, जो स्वयं प्रयोजनभाव से होता रहता है तथा जो अपने इतर समस्त पदार्थों में वैराग्य को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार का भक्तिरूपापन्न साधन जिस साधक के यहाँ होगा, वही परमात्मा का वरणीय होता है तथा वही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। यह उद्धृत श्रुतिवचन का अर्थ है। पराभक्ति से पूर्णरूप से परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यह साक्षात्कार परज्ञान कहलाता है। परज्ञान से परमभक्ति

उत्पन्न होती है, परमभक्ति में पहुँचने पर परब्रह्म को प्राप्त किये विना साधक से रहा नहीं जाता। इस परमभक्ति रूप ज्ञानविशेष का मूलकारण वह भक्तियोग है जो प्रतिदिन करते २ बढ़ता जाता है, तथा ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले कर्मों से सम्पन्न होता है। ज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कर्म निष्काम कर्म है। भगवान् श्रीपराशरब्रह्मर्षि ने इस अर्थ को कहा है कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोपकारकः॥

अर्थात् वर्णाश्रमधर्म का आचरण करने वाले पुरुष के द्वारा वह परमपुरुष श्रीविष्णु भगवान् आराधित होते हैं। वर्णाश्रमधर्म को छोड़कर दूसरा कोई मार्ग ऐसा नहीं है जिससे श्रीभगवान् सन्तुष्ट हों। सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करने के लिये भूलोक में श्रीभगवान् के रूप में अवतीर्ण परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान भी स्वयं यह कहते हैं कि—

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अर्थात् स्वकर्मनिरत मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है, उस बात को सुनो। जिस भगवान् से इन चेतनाचेतनपदार्थों की उत्पत्ति इत्यादि व्यापार होते हैं, तथा जिस भगवान् से यह जगत् व्याप्त रहता है, इन्द्र आदि देवताओं के अन्तरात्मा उस भगवान् की स्वकर्म से आराधना करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। इन सब विवेचनों से सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् उपर्युक्त क्रम से सम्पन्न होने वाली भक्ति से ही प्राप्य होते हैं। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने उपायस्वरूप का निष्कर्ष किया है।

बाह्यकुदृष्टिमतानां राजसतामसपुराणानां च अनादरणीयता

बाह्यकुदृष्टिमत एवं राजसतामस पुराणों के विरुद्धार्थों की अनादरणीयता

भगवद्बोधायनटङ्कद्रमिडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीतपुरातनवेदवेदान्तव्याख्यानसुव्यक्तार्थ—श्रुतिनिकरदर्शितोऽयं पन्थाः। अनेन चार्वाक—शाक्यौलूक्याक्षपाद—क्षपणक—कपिल—पतञ्जलिमतानुसारिणो वेदबाह्याः वेदावलम्बिकुदृष्टिभिस्सह निरस्ताः। वेदावलम्बिनामपि यथाऽवस्थितवस्तुविपर्यस्तदृशां बाह्यसाम्यं मनुनैवोक्तम्, "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" इति। रजस्तमोभ्यामस्पृष्टमुत्तमं सत्त्वमेव येषां स्वाभाविको

गुणास्तेषामेव वैदिकी रुचिः, वेदार्थयाथात्म्यावबोधश्चेत्यर्थः—यथोक्तं मात्स्ये "सङ्कीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा" इति। केचिद्ब्रह्मकल्पाः सङ्कीर्णाः, केचित् सत्त्वप्रायाः केचिद्रजःप्रायाः केचित्तमःप्राया इति कल्पविभागमुक्त्वा सत्त्वरजस्तमोमयानां तत्त्वानां माहात्म्यवर्णनं च तत्तत्कल्पोक्तपुराणेषु सत्त्वादिगुणमयेन ब्रह्मणा क्रियत इति चोक्तम् "यस्मिन् कल्पे तु यत्प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा। तस्य तस्य तु माहात्म्यं तत्स्वरूपेण वर्ण्यते" इति, विशेषतश्चोक्तम् "अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते। राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः"॥ "सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः। तेष्वेव योगसंसिद्धाः गमिष्यन्ति परां गतिम्॥ सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितृणाम्" इत्यादि। एतदुक्तं भवति—आदिक्षेत्रज्ञत्वात् ब्रह्मणस्तस्यापि केषुचिदहस्सु सत्त्वमुद्रिक्तम्, केषुचिद्रजः, केषुचित्तमः। यथोक्तं भगवता—"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः"॥ इति। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मा" इति श्रुतेः, ब्रह्मणोऽपि सृज्यत्वेन शास्त्रवश्यत्वेन च क्षेत्रज्ञत्वं गम्यते। सत्त्वप्रायेष्वहस्सु तदितरेषु च यानि पुराणानि ब्रह्मणा प्रोक्तानि तेषां परस्परविरोधे सति सात्त्विकाहःप्रोक्तमेव पुराणं यथार्थम्, तद्विरोध्यन्यदयथार्थमिति पुराणनिर्णयायैवेदं सत्त्वनिष्ठेन ब्रह्मणाऽभिहितमिति विज्ञायत इति। सत्त्वादीनां कार्यं च भगवतैवोक्तम् "सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च"॥ "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी"॥ "यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी"॥ "अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ? तामसी"॥ इति। सर्वान् पुराणार्थान् ब्रह्मणः सकाशादधिगम्यैव सर्वाणि पुराणानि पुराणकाराश्चक्रुः। यथोक्तम्—"कथयामि यथा पूर्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः। पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः"॥ इति। अपौरुषेयेषु परस्परविरुद्धेषु कथमिति चेत्, तात्पर्यनिश्चयादविरोधः पूर्वमेवोक्तः।

इसके पूर्व श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह कहा है कि शिष्टों के द्वारा आदृत व्याख्याग्रन्थों के अनुसार प्राप्य स्वरूप का निष्कर्ष किया गया है। अब उपायस्वरूप का निष्कर्ष करने के बाद कहते हैं कि यह निष्कर्ष भी शिष्ट पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के अनुसार किया गया है। भगवान् बोधायनमहर्षि श्रीव्यासमहर्षि के शिष्य हैं, इन्होंने श्रीव्यास जी के ब्रह्मसूत्रों पर वृत्तिनामक व्याख्या का निर्माण किया है, भगवान् बोधायन टङ्कनामक ब्रह्मनन्दी स्वामी द्रमिडाचार्य गुहदेव कपर्दि भारुचि इत्यादि श्रद्धेय शिष्ट पूर्वाचार्यों ने

जिन वेदवेदान्तव्याख्यानों का निर्माण किया है, तथा अपनाया है उन व्याख्याग्रन्थों से श्रुतिसमूह का अर्थ सुव्यक्त होता है। इस प्रकार उन व्याख्याग्रन्थों के अनुसार सुव्यक्त अर्थों को बतलाने वाले श्रुतिवाक्यों के समूह से उपर्युक्त उपायस्वरूप का स्पष्ट निष्कर्ष प्राप्त होता है। श्रुतिवाक्य इस प्रकार के उपायस्वरूप को ही प्रदर्शित करते हैं। अबतक प्राप्यस्वरूप एवं उपायस्वरूप के विषय में जो निष्कर्ष किया गया है, इसके विरुद्ध उपायस्वरूप एवं प्राप्यस्वरूप का वर्णन करने वाले वादी निरस्त हो जाते हैं क्योंकि उनका वाद तर्क एवं श्रुति से विरुद्ध हैं। वे वादी दो प्रकार के हैं (१) वेदबाह्य है, इनमें कई वेदों पर सर्वथा श्रद्धा नहीं रखते हैं, अथवा अत्यल्प श्रद्धा रखते है। इनमें चार्वाक बौद्ध काणाद आक्षपाद जैन कपिल एवं पतञ्जलि के मत के अनुयायी अन्तर्भूत होते हैं। (२) दूसरे वादी कुदृष्टि हैं, ये वेदों पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुये भी वेदों का मनमाना अर्थ करते हैं क्योंकि इनका दृष्टिकोण दूषित हो गया है। इनमें श्रीशंकराचार्य श्रीभास्कराचार्य और श्रीयादवप्रकाशाचार्य तथा इनके अनुयायियों का समावेश है। यद्यपि वेदबाह्यों से कुदृष्टि विद्वान् श्रेष्ठ हैं क्योंकि ये वेदों पर अधिक श्रद्धा रखते हैं, तथापि वेदों का स्वकपोल कल्पित अर्थ करने के कारण परमफल से वञ्चित हो जाते हैं। अतएव मनुमहाराज ने इनकी वेदबाह्यों के साथ गणना करके उनके समान बतलाया है, ऐसा बतलाने का कारण यही है कि वेदावलम्बी होने पर भी इनकी बुद्धि तत्त्वहित और पुरुषार्थ के विषय में भ्रान्त हो गई है। मनु का यह वचन प्रसिद्ध है कि—

या वेद बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥

अर्थात् वेद को प्रमाण न मानने वालों के जो वेदबाह्य स्मृतिग्रन्थ है, तथा वेद को प्रमाण मानने वालों के जो कुत्सित दर्शन है, ये सब मरणोपरान्त कुछ भी फल न देंगे, क्योंकि ये तमोगुण एवं रजोगुण के बल पर अवस्थित हैं। रज और तमोगुण से नहीं छुआ गया उत्तम सत्त्वगुण जिन महानुभावों का स्वाभाविक गुण बन जाता है, उनको वेदों में रुचि तथा यथार्थरूप से वेदार्थ का परिज्ञान होता है। यह अर्थ मात्स्यपुराण के निम्नलिखित वचनों से भी सिद्ध होता है।

संकीर्णाः सात्त्विकाश्चैव राजसास्तामसास्तथा।
यस्मिन् कल्पे तु यत् प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा।
तस्य तस्य तु माहात्म्यं तत्स्वरूपेण वर्ण्यते॥
अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्त्यते।
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः॥
सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः।
तेष्वेव योगसंसिद्धा गमिष्यन्ति परां गतिम्।
संकीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणां च निगद्यते॥

अर्थात् ब्रह्माजी का प्रत्येक दिन एक २ कल्प कहलाता है। ये ब्रह्मकल्प नाना प्रकार के होते हैं। कई ब्रह्मकल्प संकीर्ण हैं जिनमें सत्त्व इत्यादि तीनों गुणों का संकर है। कई ब्रह्मकल्प सात्त्विक हैं, इनमें सत्त्वगुण का आधिक्य है। कई ब्रह्मकल्प राजस हैं, इनमें रजोगुण का प्राधान्य है। कई ब्रह्मकल्प तामस हैं इनमें तमोगुण का आधिक्य है। सात्त्विक राजस एवं तामस कल्पों में ब्रह्मा में सत्त्व इत्यादि गुण अधिक मात्रा में रहते हैं। उन २ कल्पों में सात्त्विक आदि रूपों को धारण करने वाले ब्रह्मा के मुख से जो २ पुराण निकलते हैं, वे भी उन २ कल्पों के अनुसार सात्त्विक राजस और तामस बन जाते हैं। सात्त्विक कल्प में सात्त्विक ब्रह्मा के मुख से निर्गत सात्त्विक पुराण में सात्त्विक देवता की महिमा का वर्णन है। ऐसे ही राजस एवं तामस कल्पों में राजस एवं तामस बने हुये ब्रह्मा के मुख से निकले हुये पुराणों में राजस एवं तामस देवता की महिमा का वर्णन है। उसका विवरण इस प्रकार है कि तामस कल्पों में निर्मित तामस पुराणों में अग्नि और शिवजी की महिमा का वर्णन है। राजस कल्पों में निर्गत राजस पुराणों में ब्रह्माजी के अधिक माहात्म्य का वर्णन है। सात्त्विक कल्पों में आविर्भूत सात्त्विक पुराणों में श्रीहरि भगवान् के अधिक माहात्म्य का वर्णन है इन कल्पों में ही योगसिद्ध पुरुष परागति को प्राप्त करेंगे। संकीर्ण कल्पों में ब्रह्माजी के मुख से निर्गत संकीर्ण पुराणों में सरस्वती एवं पितरों की महिमा का वर्णन है। ये सभी बातें मात्स्य पुराण में वर्णित है। मात्स्य पुराण वर्णित अर्थों का समर्थन इस प्रकार किया जा सकता है। ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले जीव ब्रह्माजी हैं, अतएव वे आदि क्षेत्रज्ञ कहलाते हैं। उनके कई दिनों में सत्त्वगुण कई दिनों में रजोगुण एवं कई दिनों में तमोगुण बढ़ जाता है, क्योंकि श्रीगीता में भगवान् ने कहा है कि—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥

अर्थात् भूलोक में मनुष्य आदि में तथा द्युलोक में देवों में यहाँ तक ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीवों में कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से होने इन सत्त्व रज और तमोगुण से रहित हो। भाव यह है कि ब्रह्माण्ड में सभी जीव तीनों गुणों से युक्त ही रहते हैं। ब्रह्माजी भी इसका अपवाद नहीं। उपनिषद् में यह वर्णन है कि "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" अर्थात् परमात्मा सर्वप्रथम ब्रह्माजी की सृष्टि करते हैं, तथा उनको वेदों का उपदेश देते हैं। इस वचन से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभगवान् के द्वारा ब्रह्माजी की सृष्टि हुई है, तथा ब्रह्माजी वेद शास्त्र के वश में रहने वाले हैं, अतएव उनको वेद का उपदेश दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्माजी भी एक जीव ही हैं। ब्रह्माजी ने सात्त्विक दिनों में कई पुराणों का प्रवचन किया है, तथा राजस एवं तामस दिनों में कई पुराणों का प्रवचन किया है इन पुराणों में परस्पर विरोध उपस्थित होने पर यही निर्णय करना चाहिये कि सात्त्विक पुराण ही यथार्थ हैं जो सात्त्विक दिनों में कहे गये हैं, इनसे विरोध रखने वाले अन्य पुराण अयथार्थ हैं। ऐसे

निर्णय दिलाने के लिये सात्त्विक ब्रह्माजी ने मत्स्य पुराण में उपर्युक्त अर्थों का वर्णन किया है। इन पुराण वचनों से यही निष्कर्ष निकलता है। सत्त्व आदि गुण क्या २ कार्य करते हैं इस बात को श्रीभगवान् ने श्रीगीता में निम्नलिखित श्लोकों में कहा है कि—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृत्ता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

अर्थात् सत्त्वगुण से यथार्थज्ञान होता है। रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है। तमोगुण से अनवधान विपरीतज्ञान एवं ज्ञान का अभाव उत्पन्न होता है। जो बुद्धि अभ्युदयसाधन प्रवृत्तिधर्म को एवं मोक्षसाधन निवृत्तिधर्म को अच्छी तरह से जानती है। उन २ देशकाल और अवस्थाविशेष में क्या करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, इस बात का निर्णय जिस बुद्धि से होता है, शास्त्र का उल्लङ्घन करना भय का स्थान है, शास्त्र का अनुसरण करना अभय का हेतु है, इस बात को जो बुद्धि जानती है, तथा संसार के वास्तविक स्वरूप को एवं मोक्ष के वास्तविक रूप को जो बुद्धि अच्छी तरह से जानती है, वही सात्त्विक बुद्धि है। जिस बुद्धि से मनुष्य उपर्युक्त प्रवृत्तिधर्म एवं निवृत्तिधर्म को इनके विरुद्ध अधर्म को अच्छी तरह से नही जानता, धार्मिक मनुष्यों को देशविशेष कालविशेष एवं अवस्था विशेष में क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये, इस मर्म को जो बुद्धि अच्छी तरह से नहीं जानती, इन अर्थों को समझने में थोड़ी गलती करती है, वह बुद्धि राजस बुद्धि है। जो बुद्धि तमोगुण से आवृत्त होकर अधर्म को धर्म एवं सर्वार्थों को विपरीत समझती है, वह तामस बुद्धि है। इन वचनों से यह फलित होता है कि सत्त्वगुण की अभिवृद्धि के दिन में ब्रह्माजी के द्वारा प्रवचन किये गये पुराण यथार्थ हैं रजोगुण की अभिवृद्धि के दिन में वर्णित पुराण यथार्थ नहीं हैं, तमोगुण की अभिवृद्धि के दिन में ब्रह्माजी के द्वारा वर्णित पुराण सर्वथा अयथार्थ हैं। श्री ब्रह्माजी के यहाँ से सब पुराणार्थों को प्राप्त करके पुराणकर्ता महर्षियों ने पुराणों का निर्माण किया है। विष्णुपुराण के आरम्भ में वर्णित प्रसंग से इस अर्थ की पुष्टि होती है वहाँ कहा गया है कि—

कथयामि यथापूर्वं दक्षाद्यैर्मुनिसत्तमैः।
पृष्टः प्रोवाच भगवानब्जयोनिः पितामहः॥

अर्थात् पूर्वकाल में दक्ष इत्यादि महर्षियों से पूछे जाने पर श्रीभगवान् के नाभिकमल में उत्पन्न ब्रह्माजी ने जैसा कहा है, वैसा ही मैं कहूँगा। इस वचन से सिद्ध होता है कि ब्रह्माजी से पुराणार्थों को सुनकर ही महर्षियों ने पुराणों का निर्माण किया है। इन पुराणों में परस्पर विरोध उपस्थित होने पर सात्त्विक पुराण ही मान्य हो सकते हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पुराण पुरुष निर्मित ग्रन्थ हैं, इनमें विरोध उपस्थित होने पर सात्त्विक पुराण को यथार्थ और राजस तामस पुराणों को अयथार्थ मानकर विरोध को शान्त कर सकते हैं, किन्तु परस्पर विरुद्ध अपौरुषेय वेदवाक्यों के विषय में कैसे विरोध को शान्त करना चाहिये, वहाँ किसी वेदवाक्य को अयथार्थ तो नहीं कह सकते क्योंकि सभी वेदवाक्य अपौरुषेय होने से वक्ता के दोषों से रहित है, उनमें परस्पर विरोध उपस्थित होने पर कैसी व्यवस्था देनी चाहिये ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि परस्पर विरुद्ध के समान प्रतीत होने वाले वेदवाक्यों का तात्पर्य परस्पर विरुद्ध अर्थों के विषय में नहीं माना जायगा, किन्तु परस्पर में विरोध न रखने वाले अर्थों में ही उन वचनों का तात्पर्य माना जायगा। परस्पर अविरुद्ध अर्थों में तात्पर्य होने के कारण वे वेदवाक्य अविरुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने वेदवाक्यों के विषय में निर्णय दिया है कि जो वेदवाक्य परस्पर में विरोध नहीं रखते हैं, उनके विषय में कुछ कहना नहीं, वे पूरा प्रमाण हो जायेंगे। जो वेदवाक्य परस्पर विरुद्ध हैं यदि वे कर्मों का वर्णन करते हों तो उनके द्वारा प्रतिपादित विरुद्ध दोनों अर्थों में विकल्प माना जायगा, चाहे ऐसा करो, चाहे वैसा करो इस प्रकार स्वेच्छा से उन विरुद्ध दोनों कर्मों में किसी एक को अपनाने के लिये शास्त्र बतलाते हैं। अतः उनमें विरोध नहीं रहता। यदि विरुद्ध अर्थों को बतलाने वाले वेदवाक्य कर्मों को न बतलाकर वस्तु तत्त्व को बतलाते हों तो वह विकल्प मानना कठिन होगा क्योंकि वस्तु एक प्रकार की ही होगी, वस्तु मनुष्य की इच्छा के अनुसार विरुद्ध दो धर्मों को अपना नहीं सकती। ऐसी स्थिति में जो वेदवाक्य विरुद्ध वस्तुओं को बतलाने वाले प्रतीत हों उनके विषय में यही व्यवस्था देनी चाहिये कि इन वेदवाक्यों को विरुद्ध अर्थों को बतलाने में तात्पर्य नहीं, किन्तु अविरुद्ध अर्थों को बतलाने में ही तात्पर्य है, ऐसा कहकर उन वेदवाक्यों का अविरुद्ध अर्थ करना चाहिये। इस प्रकार तत्त्व परक वेदवाक्यों का अविरुद्ध अर्थ में तात्पर्य लगाकर प्रामाण्य की रक्षा करनी चाहिये।

अथर्वशिखोपनिषच्छ्वेताश्वतरोपनिषदवलम्बनेन शिवपारम्यशङ्का

अथर्व शिखा एवं श्वेताश्वतर उपनिषत् को लेकर श्री शिवजी के परत्व की शंका

यदपि चेदं विरुद्धवद् दृश्यते—"प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायीतैवं सर्वमिदम्—ब्रह्मविष्णु रुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते न कारणम्······कारणं तु ध्येयः—सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये ध्येयः"

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् । वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् । ततो तदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् । य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति । अथेतरे दुःखमेवापियन्ति । सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः । सर्वव्यापी च भगवाँस्तस्मात्सर्वगतः शिवः" "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः । तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी" इत्यादि । "नारायणः परं ब्रह्मे" ति च पूर्वमेव प्रतिपादितम् । तेनास्य कथमविरोधः ?

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि वैदिक सिद्धान्त में श्रीमन्नारायण भगवान् ही परब्रह्म परमात्मा और सर्वेश्वर माने जाते हैं ये ही मुमुक्षुओं के ध्येय हैं तथा मोक्ष दाता एवं मुक्तों का अनुभाव्य हैं, ब्रह्मादि देवगण अनीश्वर माने जाते हैं। यह है वैदिक सिद्धान्त जो सभी वेदवचनों का समन्वय करने पर फलित होता है। वेदों में ही कहीं २ पर ऐसे वचन भी पाये जाते हैं जो शिवजी को सर्वेश्वर एवं मुमुक्षुओं का ध्येय बतलाते हैं। वहाँ पर यह सन्देह उपस्थित होता है कि श्रीमन्नारायण भगवान् को परदेवता सर्वेश्वर परब्रह्म और परमात्मा माना जाय, या शिवजी को माना जाय। इनमें किसी एक को ही वैसा मानना चाहिये दोनों को नहीं मान सकते, क्योंकि जगत् में दो ईश्वर नहीं हो सकते, यह जगत् एक ईश्वर से शासित है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। ईश्वर सिद्धवस्तु है, उसके विषय में विकल्प नहीं हो सकता। जिस प्रकार सिद्धवस्तु गौ के विषय में यह विकल्प—कि चाहें यह गौ है, चाहे यह अश्व है—नहीं होता, उसी प्रकार सिद्धवस्तु ईश्वर के विषय में भी विकल्प नहीं हो सकता। विकल्प कर्तव्य क्रियाओं में ही होता है, क्रिया प्रयत्नसाध्य है। उनके विषय में यह विकल्प—कि चाहे इस काम को करो, चाहे उस काम को करो—संगत होता है। ईश्वर इत्यादि सिद्धवस्तु प्रयत्नसाध्य पदार्थ नहीं, वे पुरुष की इच्छा के अनुसार विरुद्ध रूपों को अपना नहीं सकते। ईश्वर नारायण ही होंगे, अथवा शिवजी ही होंगे। इनमें विकल्प नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में श्रीमन्नारायण भगवान् के सर्वस्मात् परत्व का प्रतिपादन करने वाले वचन तथा शिवजी को सबसे श्रेष्ठ सिद्ध करने वाले वचन परस्पर विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादक सिद्ध होते हैं, इन उभयविध वचनों के प्रामाण्य की कैसे रक्षा करनी चाहिये। यह प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न को उपस्थित करते हुये पूर्वपक्षी कहते हैं कि निम्नलिखित वेदवचन शिवजी को परब्रह्म सिद्ध करते हैं। वे वचन ये है। अथर्वशिखोपनिषद् में कहा गया है कि—

(१) प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि संप्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम् । सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैः । न कारणं कारणानां धाता ध्याता । कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये । अर्थात् मन में लीन हुये इन्द्रियों के साथ जीवात्मा को प्रणव की अर्धमात्रा के अवसान में परमात्मा में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित करके ईशान का ध्यान करना चाहिये। ईशान ही यहाँ ध्येयवस्तु है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मा विष्णु रुद्र और इन्द्र वे सभी उत्पन्न होते हैं तथा

पञ्चमहाभूतों के साथ इन्द्रिय भी उत्पन्न होते हैं। धाता ब्रह्मा वैसे ही ध्यान करने वाला भी कारणों का कारण नहीं है, सबका कारण बनने वाले सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वेश्वर शम्भु हृदयाकाश मध्य में ध्यान करने योग्य हैं। यह उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ है। इस वाक्य में ईशान का ध्यान करने के लिये कहा गया है। ईशान शब्द शिवजी का वाचक है एवं शम्भु का ध्यान करने के लिये कहा गया है। शम्भु शब्द भी शिवजी का ही वाचक है। इस उपनिषद् में आगे कहा गया है कि यह ध्यान मोक्ष देने वाला है। ब्रह्मध्यान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है यह सर्वश्रुतिसंमत सिद्धान्त है। इससे फलित होता है कि इस श्रुतिवाक्य में ईशान और शम्भु शब्द से जिस शिवजी को ध्येय तत्त्व बताया गया है, वे परब्रह्म हैं। इस प्रकार इस वचन से शिवजी परब्रह्म सिद्ध होते हैं।

(२) श्वेताश्वतरोपनिषद् का निम्नलिखित वचन किसी एक तत्त्व को पुरुष अर्थात् नारायण से श्रेष्ठ सिद्ध करता है। इसलिये नारायण सर्वश्रेष्ठ तत्त्व नहीं है।

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवाँस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥

अर्थात् जिस पुरुष अर्थात् नारायण को छोड़कर दूसरा कोई पदार्थ श्रेष्ठ नहीं होता, जिस पुरुष से बढ़कर अत्यन्त सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है, जिस पुरुष की अपेक्षा अधिक वृद्धि को प्राप्त हुआ कोई पदार्थ नहीं, जो पुरुष द्युलोक में अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोक में वृक्ष के समान किसी के सामने न झुकते हुये विराजमान रहता है। उस पुरुष अर्थात् नारायण से सम्पूर्ण विश्व भरा है। इस प्रकार इस मन्त्र में पुरुष अर्थात् नारायण की महिमा वर्णित है। अगले मन्त्र का यह अर्थ है–कि–उस पुरुष अर्थात् नारायण से जो अत्यन्त श्रेष्ठतत्त्व है, वह रूपरहित एवं दोषरहित है, इस तत्त्व को जो जानते हैं वे मुक्त होते हैं, दूसरे लोग दुःख को प्राप्त होते हैं। इस मन्त्र में नारायण से भी श्रेष्ठ बनने वाले एक तत्त्व का वर्णन है। वह तत्त्व कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये अगला मन्त्र प्रवृत्त है। उसका अर्थ यह है कि–वह शिवजी सब तरह के मुख शिर और कण्ठों से संबद्ध हैं, सर्वप्राणियों की हृदयगुहा में विराजमान हैं, वे सर्वव्यापक एवं पूर्णषाड्गुण्य वाले हैं, इसलिये सर्वव्यापक शिवजी हैं। यह मन्त्र नारायण से श्रेष्ठ बनने वाले तत्त्व को शिवजी कहता है। इससे सिद्ध होता है कि शिवजी ही परब्रह्म एवं परतत्त्व हैं, नारायण नहीं।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह वचन उपलब्ध है कि—

(३) यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥

अर्थात् जब केवल अन्धकार अर्थात् मूलप्रकृति ही थी, दिन और रात्रि नहीं थे, सत् अर्थात् मूर्तप्रपञ्च और असत् अर्थात् अमूर्तप्रपञ्च भी न था उस समय केवल शिवजी ही थे। यह शिवजी नाशरहित हैं, सूर्यमण्डल में रहने वाले रमणीय एवं भजनीय वस्तु ये ही हैं, इनसे ही सृष्टिकाल में जीवों का ज्ञानसरण सदा से होता आ रहा है। यह वचन अन्य पदार्थों का प्रलयकाल में नाश बतलाकर उस समय केवल शिवजी का ही सद्भाव बताता है। प्रलयकाल में ब्रह्म एक ही रहता है, यह सर्वसंमत सिद्धान्त है। प्रलयकाल में सबका नाश होने पर भी विराजने वाले शिवजी परब्रह्म सिद्ध होते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त वचन शिवजी को परब्रह्म सिद्ध करते हैं। सिद्धान्त में नारायण परब्रह्म सिद्ध किये जाते हैं श्रुतिवचनों के बल पर, ये उभयविध श्रुतिवचन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, इनमें विरोध को दूर कर किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया जाय? यह पूर्वपक्षी का प्रश्न है।

जगत्कारणप्रतिपादकवचनानां नारायणपरत्वम्

जगत्कारणप्रतिपादक सभी वचनों का समन्वय करने पर नारायण ही परतत्त्व सिद्ध होते हैं

अत्यल्पमेतत् "वेदवित्प्रवरप्रोक्तवाक्यन्यायोपबृंहिताः। वेदाः साङ्गा हरिं प्राहुर्जगज्जन्मादिकारणम्"। "जन्माद्यस्य यतः" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मे"ति जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेत्यवगम्यते। तच्च जगत्सृष्टिप्रलयप्रकरणेष्वेवावगन्तव्यम्, "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयमिति" जगदुपादानता–जगन्निमित्तता–जगदन्तर्यामितादिमुखेन, परमकारणं सच्छब्देनाभिहितं ब्रह्मेत्यवगतम्। अयमेवार्थः "ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीदिति" शाखान्तरे ब्रह्मशब्देन प्रतिपादितः, अनेन सच्छब्देनाभिहितं ब्रह्मेत्यवगतम्। अयमेवार्थः– शाखान्तरे "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिष" दिति तथा सद्ब्रह्मशब्दाभ्यामात्मैवाभिहितं इत्यवगम्यते। तथा च शाखान्तरे "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि" त्यादिना सद्ब्रह्मात्मादिपरमकारणवादिभिः शब्दैर्नारायण एवाभिहित इति निश्चीयते।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि यह प्रश्न मामूली है, इसका उत्तर देने में कोई कठिनाई नहीं है। हमारा सिद्धान्त यह है कि—

वेदवित्प्रवरप्रोक्तवाक्यन्यायोपबृंहिताः ।
वेदाः साङ्गा हरिं प्राहुर्जगज्जन्मादिकारणम् ॥

अर्थात् वेदज्ञ प्रवर महर्षियों के द्वारा निर्मित स्मृति इतिहास और पुराणरूपी वाक्य एवं मीमांसा न्यायों से उपबृंहित होने वाले अर्थात् सुव्यक्त अर्थ को बतलाने वाले साङ्गवेद श्रीहरिभगवान् को ही जगत् के जन्म आदि का कारण बतलाते हैं। केवल वेदवाक्यों से अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। वेदार्थ को सुव्यक्त करने के लिये स्मृति इतिहास पुराण एवं मीमांसा न्यायों का अवलम्ब लेना चाहिये। उनका अवलम्ब लेकर वेदों के तात्पर्यार्थ को समझने के लिये चेष्टा करने पर स्पष्ट विदित होता है कि वेद श्रीहरि-भगवान् को ही परब्रह्म—जो जगत् के जन्म आदि का कारण है—बतलाते हैं। परब्रह्म कौन पदार्थ है, उसका लक्षण क्या है? इस विचार में उतरने पर ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्वाक्यों से इस विषय में निर्णय प्राप्त होता है। "जन्माद्यस्य यतः" यह ब्रह्मसूत्र ब्रह्म के लक्षण को प्रस्तुत करता हुआ निर्णय देता है कि इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। इससे जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का लक्षण सिद्ध होता है। इस सूत्र का यह विषय वाक्य है कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति"। अर्थात् प्राणी इत्यादि ये सभी कार्यपदार्थ जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीवित हैं, प्रलय को प्राप्त होते हुये जिसमें लीन होते हैं, उसे समझो, वही ब्रह्म है। इस श्रुतिवचन से भी जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का लक्षण सिद्ध होता है। इस प्रकार लक्षण के द्वारा ब्रह्म समझ में आने पर यह जिज्ञासा होती है कि वह ब्रह्म कौन है? इस प्रश्न का उत्तर उन प्रकरणों से ही प्राप्त हो सकता है जो जगत् की सृष्टि एवं प्रलय का वर्णन करते हैं। उन प्रकरणों में ही यह विदित हो सकता है कि इस जगत् के जन्म आदि का कारण कौन है। "शम्भुराकाशमध्ये ध्येयः" (हृदयाकाश के मध्य में शम्भु का ध्यान करना चाहिये) इत्यादि ध्यानविधिपरक वचनों से यह विदित नहीं हो सकता कि वह ब्रह्म कौन वस्तु है, क्योंकि ये वाक्य कारणवस्तु का ध्यान करने के लिये कहते हैं। पहले कारणवस्तु निश्चित होना चाहिये, बाद उसका ध्यान करने के लिये कहा जा सकता है। अन्य वचनों से "जगत्कारण ब्रह्म अमुक पदार्थ है" ऐसा विदित होने पर उपर्युक्त उपासनापरक वाक्य उस कारणवस्तु के ध्यान का विधान करते हैं। इस विवेचन से यह फलित होता है कि उपासनाविधायक वाक्यों से "ब्रह्म कौन है" यह प्रश्न हल नहीं हो सकता है किन्तु यह प्रश्न सृष्टि और प्रलय का प्रतिपादन करने वाले वचनों से ही हल हो सकता है। पूर्वपक्षी की यह कामना—कि उपासनापरक वाक्यों से शिवजी को ब्रह्म सिद्ध किया जाय—कभी सफल नहीं हो सकती। सृष्टिप्रलयपरक वाक्यों में ढूंढने पर ही विदित होगा कि वह ब्रह्म कौन है। किंच, ब्रह्म के लक्षण को बतलाने वाले "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इस श्रुतिवचन के द्वारा यह बतलाये जाने पर—कि जिससे इस जगत की सृष्टि आदि होते हैं वह ब्रह्म है—यह प्रश्न उठता है कि किससे इस जगत् की सृष्टि आदि होते हैं जिसे ब्रह्म माना जाय। इस प्रश्न का उत्तर सृष्टि और प्रलय को बतलाने वाले वाक्यों

से ही प्राप्त हो सकता है। तदर्थ सृष्टिप्रलयप्रतिपादक वाक्यों पर ध्यान देना चाहिये। वे वाक्य नानाप्रकार के हैं। एक वाक्य सत् को जगत्कारण बतलाता है, दूसरा ब्रह्म को जगत्कारण सिद्ध करता है। तीसरावाक्य आत्मा को जगत्कारण सिद्ध कर रहा है। वे वाक्य ये हैं कि-सद्विद्या में यह वाक्य है कि—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् हे सोमपानार्ह शिष्य, यह जगत्-जो विविधनामरूपों को प्राप्त हुआ है-सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयकाल में एकता अर्थात् नामरूपविभागहीनता को प्राप्त होकर अद्वितीय सत् बनकर रहा। इस वाक्य में जगत् का मूलकारण सत् शब्द से कहा गया है। वह परमकारण सत् "एकम्" शब्द से जगत् का उपादान कारण "अद्वितीयम्" शब्द से जगत् का निमित्त कारण एवं "जगत् सत् था" इस प्रकार कहने से जगत् का अन्तर्यामी कहा गया है। सत् शब्द का अर्थ विद्यमान या प्रामाणिक होता है। इस सच्छब्द से परमकारण का वास्तविक रूप स्पष्ट नहीं होता क्योंकि इस सच्छब्द से जडतत्त्व जीवतत्त्व और परमात्मा भी बतलाये जा सकते हैं, ये तीनों विद्यमान एवं प्रामाणिक हैं। इसलिये इस सच्छब्द से परमकारण का असाधारण रूप नहीं खुलता। सब वेदान्तियों ने इस बात को माना है कि उपनिषदों में विभिन्न कारणवाक्यों से वर्णित जगत्कारणतत्त्व एक ही है भिन्न २ नहीं है। इसे गतिसामान्य न्याय कहते हैं। इससे यह आशा होती है कि शायद दूसरे कारणवाक्य से जगत्कारणतत्त्व का विशेषरूप खुल जाय। इस आशा से दूसरे कारणवाक्यों के विचार में उतरने पर यह वाक्य दृष्टिगोचर होता है कि "ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्" अर्थात् यह जगत् प्रलयकाल में एक ब्रह्म के रूप में था। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो जगत्कारण पहले सत् कहा गया है, वह ब्रह्म है। जो सबसे बड़ा हो तथा सबको बढ़ाने वाला हो, वह ब्रह्म कहलाता है। इससे सिद्ध होता है कि वह जगत्कारण सद्वस्तु स्वय सबसे बड़ी है तथा सबको बढ़ाने वाली है। इससे यह निर्णय हो जाता है कि वह जगत्कारणवस्तु परमाणु नहीं है क्योंकि परमाणु सबसे छोटा है, वह किसी से बड़ा नहीं है। इतना निर्णय होने पर भी यह सन्देह बना ही रहता है कि वह जगत्कारणवस्तु चेतन है या अचेतन है क्योंकि दोनों भी ब्रह्म कहे जा सकते हैं। यही जगत्कारणवस्तु-जो सत् एवं ब्रह्म कहा गया है-दूसरी शाखा में "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत्" अर्थात् यह जगत् प्रलयकाल में एक आत्मा के रूप में था, उस आत्मा को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु उस समय नहीं थी-कहकर आत्मा के रूप में वर्णित है। चेतन ही आत्मा कहा जाता है। इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि वह जगत्कारण-जो सत् एवं ब्रह्म कहा गया है-आत्मा अर्थात् चेतन है। जगत्कारण का इतना विशेषरूप खुलने पर भी यह सन्देह बना ही रहता है कि वह जगत्कारण चेतनतत्त्व जीव है या ईश्वर। यह सन्देह महोपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य से दूर हो जाता है। वह वाक्य यह है कि—

"एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि" अर्थात् प्रलयकाल में एक नारायण ही थे, उस समय ब्रह्माजी नहीं थे, शिवजी नहीं थे, यह द्युलोक एवं पृथिवीलोक नहीं थे, नक्षत्र

नहीं थे। इस वाक्य से स्पष्ट विदित होता है कि उपर्युक्त जगत्कारण नारायण ही हैं क्योंकि जो प्रलयकाल में रहते हैं वे ही जगत् का कारण बन सकते हैं। यह नारायणशब्द विशेषवाचक है क्योंकि "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" इस पाणिनिसूत्र के अनुसार संज्ञाशब्द होने के कारण व्यक्ति विशेष का वाचक है। यह नारायणशब्द जिस अर्थ में संज्ञा के रूप में प्रयुक्त है, वही इसका मुख्यार्थ है। वह अर्थ श्रीमन्नारायण भगवान् ही हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रीमन्नारायण भगवान् ही जगत्कारण ब्रह्म हैं। ये ही नारायण सत् ब्रह्म, आत्मा इत्यादि शब्दों से विभिन्न उपनिषदों में जगत्कारण कहे गये हैं। यहाँ पूर्वमीमांसा वर्णित छागपशुन्याय के अनुसार निर्णय करना चाहिये। छागपशुन्याय का विवरण इस प्रकार है कि वेद में "पशुना यजेत" कहकर पशु से याग करने के लिये कहा गया है। चार पैर वाले प्राणी पशु कहलाते हैं। वे पशु नाना प्रकार के हैं, कुत्ता बिल्ली इत्यादि सभी चार पैर वाले होने के कारण पशु ही हैं। यह पशुशब्द चार पैर वाले सभी प्राणियों का वाचक होने से सामान्यशब्द है। "छागस्य वपाया" इत्यादि मन्त्र में—जो याग में विनियुक्त है—छाग अर्थात् बकरे का वर्णन है। छागशब्द पशुविशेष बकरे का वाचक होने से विशेषशब्द है। किस पशु से याग करें, इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होने पर यह उत्तर देना उपयुक्त होगा कि बकरे से याग करें, क्योंकि सामान्यवाचक पशु शब्द को छागशब्दोक्त पशुविशेष बकरे में पर्यवसान करना चाहिये। इस प्रकार सामान्य शब्दों को विशेषशब्दोक्त विशेष में पर्यवसान करके दोनों शब्दों के द्वारा उस विशेष को वाच्य मानना यही छागपशुन्याय कहलाता है। इस न्याय के अनुसार सामान्यवाचक "सत्" "ब्रह्म" और "आत्मा" इत्यादि शब्दों का नारायण शब्दोक्त विशेष में पर्यवसान कराकर श्रीमन्नारायण को जगत्कारण मूलतत्त्व मानना चाहिये।

नारायणस्य परतत्त्वे तैत्तिरीय नारायणोपनिषदः प्रामाण्यम्

नारायण परतत्त्व होने में तैत्तरीय नारायणोपनिषत् भी प्रमाण हैं

"यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति" इत्यादि,—"नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः। न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति" इति सर्वस्मात् परत्वमस्य प्रतिपाद्य "न तस्येशे कश्चन" इति तस्मात्परं किमपि न विद्यत इति च प्रतिषिध्य "अद्भ्यः सम्भूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" इति तेनैकवाक्यतां गमयति। तच्च महापुरुषप्रकरणम् "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" इति नारायण एवेति द्योतयति।

किंच, तैत्तरीयारण्यक में षष्ठ प्रश्न के रूप में पठित नारायणोपनिषत् से भी नारायण ही परब्रह्म सिद्ध होते हैं। उस उपनिषद् में यह वर्णन मिलता है कि—

"यमन्तः समुद्रे कवयोऽवयन्ति" अर्थात् सूक्ष्मतत्त्व को देखने वाले विद्वान् जगत्कारणतत्त्व को समुद्र के अन्दर शयन करने वाला जानते हैं। श्रीमन्नारायण भगवान् ही समुद्र में शयन करते रहते हैं। यह बात शास्त्रज्ञों से छिपी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि नारायण ही उस प्रकरण में वर्णित हैं। आगे यह वर्णन मिलता है कि "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि"। अर्थात् सब निमेष अर्थात् काल का अवान्तर विभाग विद्युत के समान चमकने वाले पुरुष से उत्पन्न हुये हैं। ये विद्युद्वर्ण वाले पुरुष नारायण ही हैं। उनके वर्ण के विषय में ही नाना प्रकार से वर्णन अन्यत्र पाया जाता है। "आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे" कहकर श्रीमन्नारायण भगवान् ही सूर्य के समान वर्ण वाले एवं प्रकृति से परे रहने वाले कहे गये हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि यह प्रकरण श्रीमन्नारायण भगवान् का वर्णन करता है। आगे इस उपनिषद् में ये मन्त्र आते हैं कि—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः॥
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

"अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" अर्थात् इस परमात्मा को ऊर्ध्वप्रदेश में किसी ने भी नहीं जाना तिर्यक्प्रदेश में किसी ने भी नहीं जाना तथा मध्यप्रदेश में किसी ने भी नहीं जाना क्योंकि सर्वव्यापक होने के कारण परमात्मा का ऊर्ध्वदेश इत्यादि देशविशेष नहीं होता। अथवा-वृक्षादिरूपी ऊर्ध्वगामी पदार्थों के रूप में पश्वादिरूपी तिर्यग्रूप में तथा मध्य में मनुष्यादि के रूप में विद्यमान अर्थात् स्थावर और जंगम के रूप में अवस्थित उस परमात्मा को किसी ने भी नहीं जाना है। उस परमात्मा के ऊपर शासन करने वाला कोई नहीं है। उनकी कीर्ति अपार है। उनका रूप दीखने में आने वाला नहीं है, नेत्र से कोई उन्हें देख नहीं सकता। यह परमात्मा भक्ति धृति और विशुद्ध मन से समझे जा सकते हैं, जो इस परमात्मा को जानते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में जगत्कारण परमपुरुष सबके ईश्वर एवं मोक्ष देने वाले कहे गये हैं। इससे उस परमपुरुष का सबसे श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार सर्व श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके "न तस्येशे कश्चन" कहकर यह बतलाया गया है कि उनके ऊपर शासन करने वाला कोई नहीं है। इससे परमपुरुष से श्रेष्ठ बनने वाले तत्त्व का निषेध किया गया है। इसके बाद उस प्रकरण में "अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ" कहकर यह बतलाया गया है कि इस प्रकरण के साथ "अद्भ्यः संभूतः" इस अनुवाक को तथा "हिरण्यगर्भः" इत्यादि आठ ऋचाओं को मिलाकर पढ़ना चाहिये। इस प्रकार इस प्रकरण के साथ जिस 'अद्भ्यः संभूतः" इस अनुवाक को मिलाने के लिये कहा गया है, वह अनुवाक परमपुरुष श्रीमन्नारायण भगवान् का वर्णन करता है। उस अनुवाक में यह वर्णन मिलता है कि "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"। अर्थात् हे भगवन्? ह्रीनामवाली भूदेवी और श्रीमहालक्ष्मी जी ये दोनों आपकी पत्नी हैं। इससे

सिद्ध होता है कि इस प्रकरण में प्रतिपाद्य परतत्त्व श्रीमन्नारायण भगवान् ही हैं क्योंकि वे ही लक्ष्मीपति के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि श्रीमन्नारायण भगवान् ही परतत्त्व एवं परब्रह्म हैं।

नारायणानुवाकेन नारायणपरत्वस्य देवतान्तराणां तद्विभूतित्वस्य च सिद्धिः

नारायणानुवाक से नारायण का परत्व अन्यान्य देवताओं का विभूतित्व सिद्ध होता है

अयमर्थो नारायणानुवाके प्रपञ्चितः। "सहस्रशीर्षं देव" मित्यारभ्य "स ब्रह्मा स शिवस्सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति सर्वशाखासु परतत्त्वप्रतिपादनपरानक्षरशिव-शम्भुपरब्रह्मपरज्योतिः परतत्त्वपरायणपरमात्मादिसर्वशब्दान् तत्तद्गुणयोगेन नारायण एव प्रयुज्य तद्व्यतिरिक्तस्य समस्तस्य तदायत्ततां तद्व्याप्यतां तदाधारतां तन्नियाम्यतां तच्छेषतां तदात्मकतां च प्रतिपाद्य ब्रह्मशिवयोरपीन्द्रादिसमानाकारतया तद्विभूतित्वं च प्रतिपादितम्। इदं च वाक्यं केवलपरतत्त्वप्रतिपादनैकपरम्, अन्यत् किञ्चिदप्यत्र न विधीयते। अस्मिन्वाक्ये प्रतिपादितस्य सर्वस्मात् परत्वेनावस्थितस्य ब्रह्मणो वाक्यान्तरेषु "ब्रह्मविदाप्नोति पर" मित्यादिषूपासनादि विधीयते।

किंच, नारायणानुवाक में उपर्युक्त अर्थ विस्तार से कहा गया है। "सहस्रशीर्ष देवम्" से नारायणानुवाक का प्रारम्भ होता है। वेदशाखाओं में परतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये "अक्षर" "शिव" "शम्भु" "परब्रह्म" "परज्योतिः" "परतत्त्व" "परायण" "परमात्मा" इत्यादि शब्द प्रयुक्त हुये हैं। इस नारायणानुवाक में उन सभी शब्दों को नारायण के विषय में प्रयुक्त करके यह दिखाया गया है कि विभिन्न वेदशाखाओं में इन शब्दों से नारायण ही अभिहित होते हैं क्योंकि इन शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने वाले प्रत्येक गुण नारायण में ही पूर्णमात्रा में रहते हैं। किंच, विभिन्न उपनिषदों में उपर्युक्त शब्दों से उपास्यतत्त्व का निर्देश किया गया है। इस नारायणानुवाक में उन शब्दों से नारायण का निर्देश करके यह दिखाया गया है कि सभी परब्रह्म विद्याओं में उपास्य परतत्त्व नारायण ही है। नारायण ही उन विद्याओं में विभिन्न शब्दों से वर्णित है। इस अर्थ का प्रतिपादन करके नारायणानुवाक आगे यह सिद्ध करता है कि श्री नारायण को छोड़कर इस जगत् में जितने चेतनाचेतन पदार्थ हैं, वे सब नारायण के आधीन हैं, नारायण इनमें अन्दर बाहर व्याप्त होकर रहते हैं, ये नारायण के द्वारा व्याप्य हैं, नारायण इनका आधार हैं, ये नारायण पर आधारित हैं, नारायण इनके नियामक हैं ये नारायण के नियाम्य हैं, नारायण इनके स्वामी हैं ये नारायण के शेष हैं, ये नारायणात्मक हैं क्योंकि नारायण इनके आत्मा हैं ये नारायण के शरीर हैं इन विशेषताओं का वर्णन करके आगे नारायणानुवाक "स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" कहकर यह सिद्ध करता है कि ब्रह्मा शिव और इन्द्र इत्यादि शब्दों से ब्रह्मादियों का अन्तर्यामी नारायण ही

अभिहित होते हैं। ब्रह्मा और शिव भी इन्द्र की तरह नारायण की विभूति हैं, नारायण के आधीन रहने वाले हैं। यह अनुवाक इस प्रकार वर्णन करके नारायण को सर्व श्रेष्ठ परतत्त्व सिद्ध करता है। परतत्त्व का निर्धारण करने के लिये ही यह अनुवाक प्रवृत्त है। परतत्त्व निर्धारण के सिवाय दूसरे किसी अपूर्व अर्थ का इस अनुवाक में वर्णन नहीं है। किंच उपनिषदों में परब्रह्म सबका अन्तरात्मा कहा गया है। सुबालोपनिषद् में "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" कहकर एक नारायण देव ही सर्वप्राणियों का अन्तरात्मा एवं निर्दोष कहे गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि सर्व जीवों का अन्तरात्मा बनने वाले नारायण ही परब्रह्म हैं। सारांश यह है कि नारायण ही परतत्त्व एवं परब्रह्म हैं। जगत्कारणतत्त्व को बतलाने वाले सत् ब्रह्म आत्मा इत्यादि शब्दों का छागपशुन्याय से नारायण शब्दोक्त विशेष में पर्यवसान होता है, इससे यही सिद्ध होता है कि नारायण ही विभिन्न उपनिषदों में विभिन्न शब्दों से जगत्कारण कहे गये हैं। जगत्कारण बनने वाले नारायण ही परब्रह्म हैं, क्योंकि जगत्कारणत्व ही ब्रह्म का लक्षण है। किंच, पुरुष सूक्त–जो सभी वेदों में पठित है–पुरुषशब्दवाच्य नारायण को ही जगत् का कारण बतला रहा है। किंच, "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" कहकर जगत्कारणतत्त्व को लक्ष्मीपति कहा गया है नारायण ही लक्ष्मीपति हैं। वे ही जगत्कारण परब्रह्म सिद्ध होते हैं। किंच, विभिन्न उपनिषदों में परब्रह्म विद्या के प्रकरण एवं जगत्कारण-तत्त्व के वर्णन के प्रकरणों में उपास्य परतत्त्व का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त विविध शब्दों को नारायणानु-वाक ने श्रीमन्नारायण के विषय में प्रयुक्त करके सिद्ध कर दिया है कि नारायण ही विभिन्न उपनिषदों में विभिन्न शब्दों से जगत्कारण एवं उपास्य कहे गये हैं। इन सब प्रमाणों से नारायण ही जगत्कारण परब्रह्म सिद्ध होते हैं, देवतान्तर वाचक शब्दों का भी नारायण में प्रयोग करके नारायणानुवाक ने यह सिद्ध कर दिया है कि कहीं भी देवतान्तर वाचक शब्दों को देखकर यह न समझना चाहिये कि यह प्रकरण देवतान्तर का वर्णन करता है, किन्तु उन शब्दों को नारायणवाचक मानकर उन प्रकरणों को नारायण प्रतिपादक मानना चाहिये। कारणवाक्य, पुरुषसूक्त और नारायणानुवाक से नारायण सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व परब्रह्म सिद्ध होते हैं, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि उपनिषद् वाक्य उपर्युक्त परब्रह्म नारायण का उपासन करने के लिये विधान करते हैं। परब्रह्म अमुक देवताविशेष है, अर्थात् श्रीमन्नारायण है, इस प्रकार तत्त्व परक वाक्यों से सिद्ध होने के बाद ही उपासना विधायक वाक्य प्रवृत्त होते हैं, पूर्व नहीं। बाद में उपासना विधायक वाक्य आकर उस देवताविशेष के अर्थात् नारायण के उपासन का विधान करते हैं, जिस देवता को परब्रह्म के रूप में पहले ही निर्णय किया गया है। ऐसी स्थिति में मोक्षार्थ उपासना का विधान करने वाले वचनों में दूसरे देवता का उल्लेख नहीं हो सकता है, यदि कहीं पर हो तो उस शब्द को नारायणवाचक मानकर नारायण की उपासना का ही वहाँ विधान मानना चाहिये। यह निर्णय नारायणानुवाक से प्रमाणित है। पूर्वपक्षी के द्वारा "प्राणं मनसि सह करणैः" इत्यादि जो वाक्य इस भाव से प्रस्तुत किये गये हैं कि ये वाक्य मोक्षार्थ शिव के ध्यान का विधान करते हैं, इसलिये शिवजी को परतत्त्व एवं परब्रह्म मानना चाहिये, वे वाक्य भी

नारायण की उपासना का ही विधान करते हैं, वहाँ "शम्भु" इत्यादि शब्दों से नारायण ही अभिहित होते हैं। इस प्रकार का निर्णय नारायणानुवाक से प्रमाणित होने के कारण आदरणीय है। आगे पूर्वपक्षी के द्वारा उदाहृत प्रत्येक वाक्य का नारायण में समन्वय किया जाता है।

अथर्वशिखोपनिषदो नारायणपरत्वे तात्पर्यम्

नारायणपरत्व में ही अथर्व शिखोपनिषत् का तात्पर्य

अतः "प्राणं मनसि सह करणै" रित्यादिवाक्यं सर्वकारणे परमात्मनि करण-प्राणादि सर्वं विकारजातमुपसंहृत्य तमेव परमात्मानं "सर्वस्येशानं ध्यायीते" ति परब्रह्म-भूतनारायणस्यैव ध्यानं विदधाति। "पतिं विश्वस्ये" ति "न तस्येशे कश्चन" इति च तस्यैव सर्वस्येशानता प्रतिपादिता। अत एव "सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये ध्येयः" इति नारायणस्यैव परमकारणस्य शम्भुशब्दवाच्यस्य ध्यानं विधीयते "कश्च ध्येय" "इत्यारभ्य कारणं तु ध्येय" इति कार्यस्याध्येयतापूर्वककारणैकध्येयतापरत्वाद्-वाक्यस्य, तस्यैव नारायणस्य परमकारणता शम्भुशब्दवाच्यता च परमकारणप्रतिपाद-नैकपरे नारायणानुवाक एव प्रतिपन्नेति तद्विरोध्यर्थान्तरपरिकल्पनं कारणस्यैव ध्येयत्वेन विधिवाक्ये न युज्यते।

अथर्वशिखोपनिषद् में अन्तर्गत कतिपय वाक्यों का उल्लेख पूर्वपक्ष में किया गया है। उन वाक्यों के वास्तविक अर्थ पर प्रकाश डाला जाता है। वे वाक्य ये हैं कि "प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि संप्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम्" अर्थात् मन में लीन हुये इन्द्रियों के साथ प्राण को मुख्य प्राण को अथवा जीवात्मा को परमात्मा में प्रतिष्ठित करे। परमात्मा में प्रतिष्ठित करना दो प्रकार का है। (१) करण और प्राण इत्यादि विकारों का परमात्मा में लय होता है इस अर्थ का अनुसन्धान करना एक प्रकार है। (२) इन सब पदार्थों को परमात्मा का शेष समझना दूसरा प्रकार है। इस प्रकार इन सबको नादान्त में अर्थात् अर्धमात्रा के अवसान में परमात्मा में प्रतिष्ठित करके ध्येयतत्त्व ईशान का ध्यान करें। यह ध्येय-तत्त्व ईशान उपर्युक्त परमात्मा ही है। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" कहकर उपनिषद् ने परमात्मा को सबका ईशान अर्थात् ईश्वर कहा है। वह परमात्मा नारायण है, क्योंकि "आत्मा नारायणः परः" कहकर नारायणा-नुवाक ने नारायण को ही परमात्मा कहा है। किंच, उपनिषद् ने "पतिं विश्वस्य" "न तस्येशे कश्चन" कहकर नारायण को विश्व का स्वामी कहा तथा यह भी कहा कि नारायण पर शासन करने वाला कोई नहीं है। इससे नारायण सबके ईशान अर्थात् शासक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इस वाक्य में सर्वेश्वर श्रीमन्नारायण का ध्यान करने के लिये कहा गया है तथा यह भी सिद्ध किया गया है कि श्रीमन्नारायण ही ध्येयवस्तु हैं।

नारायण ही अच्छी तरह से ध्यान करने योग्य हैं। इस अर्थ को सिद्ध करने के लिये आगे उपनिषद् ने एक युक्ति को इस वाक्य से प्रस्तुत किया कि "सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे संप्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैः" अर्थात् यह सम्पूर्ण चेतनाचेतनप्रपञ्च प्रसिद्ध ब्रह्मा विष्णु रुद्र और इन्द्र एवं पञ्चमहाभूतों के साथ सभी इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। ये सब उत्पन्न होने वाले हैं अतएव ये ध्येय नहीं हो सकते। किन्तु सर्वकारण परतत्त्व नारायण ही ध्येय है।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्मा और रुद्र सबके कारण हैं, उनका ध्यान क्यों न किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है कि—

"न कारणं कारणानां धाता ध्याता" अर्थात् कारण बनने वाले ब्रह्मा एवं पहले "ध्याता रुद्रः" कहकर ध्यान करने वाले के रूप में कहे जाने वाले रुद्र कुछ पदार्थों के कारण होते हुये भी कारणों के कारण नहीं। जो कारणों का कारण है वही ध्येय है। इस वाक्य का दूसरा अर्थ भी होता है, वह यह है कि "ध्याता" जगत् की सृष्टि के लिये संकल्प करने वाले "धाता" जगत् की सृष्टि करने वाले "कारणानां कारणम्" एवं कारणों का कारण बनने वाले परब्रह्म नारायण "न" उत्पन्न नहीं होते हैं। अतएव वे ध्येय हैं।

आगे ध्येयतत्त्व का निष्कर्ष करती हुई श्रुति कहती है कि—

"कारणं तु ध्येयस्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये" अर्थात् "कारणं" चेतनाचेतनप्रपञ्च का कारण बनने वाले "सर्वेश्वरः" सब पर नियमन करके वाले "सर्वैश्वर्यसंपन्नः" सर्वविध ऐश्वर्य से सम्पन्न "शम्भुः" एवं मोक्ष देने वाले भगवान् "आकाशमध्ये ध्येयः" हृदयाकाश के मध्य में ध्येय हैं। यहाँ शम्भु शब्द श्रीमन्नारायण भगवान् का वाचक है। "शं भवति अस्मादिति शम्भुः" ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। श्रीभगवान् मोक्षसुख देने वाले हैं। अतएव शम्भु कहलाते हैं। यह शम्भु शब्द कई बार श्रीभगवान् के विषय में प्रयुक्त है। नारायणानुवाक में "विश्वशम्भुवम्" ऐसा भगवान् के विषय में प्रयुक्त है। किंच पुराण में श्रीभगवान् के विषय में शम्भु शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरण—

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् जगतां पतिः।
संदिश्य विबुधान् सर्वान् अजायत यदोः कुले ॥

अर्थात् इस प्रकार जगत् के स्वामी शम्भु अर्थात मोक्षसुख देने वाले श्रीमन्नारायण भगवान् ने सब देवताओं को सन्देश देकर यदु के कुल में अवतार लिया। इस श्लोक में शम्भु शब्द से श्रीभगवान् का निर्देश किया गया है। वैसे ही प्रकृत में भी शम्भु शब्द से नारायण का निर्देश करके उनका ध्यान करने के लिये कहा गया है। यहाँ पर ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र के साथ श्रीविष्णु भगवान् का जो जन्म कहा गया है, वहाँ पर यह समझना चाहिये कि ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र का जन्म जन्म ही है, श्रीविष्णु भगवान का जन्म अवतार है, वह इतर जीवों के समान जन्म नहीं है। यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। वेद में "अजायमानो

बहुधा विजायते" इत्यादि वचनों से यह कहा गया है कि श्रीभगवान् जीवों के समान जन्म न लेते हुये अनेक जन्म अर्थात् अवतार लेते हैं। श्रीविष्णु भगवान् जगत्कारण श्रीमन्नारायण भगवान् के प्रथम अवतार हैं। यह अर्थ निम्नलिखित ब्रह्मा जी के वचन से स्फुट हो जाता है। वह वचन यह है कि—

ततस्त्वमपि दुर्धर्षस्तस्माद्भावात् सनातनात् ।
रक्षार्थं सर्वभूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥

अर्थात् श्री ब्रह्माजी श्रीभगवान् से कहते हैं कि हमको उत्पन्न करने के बाद दुर्धर्ष आप भी सर्व प्राणियों की रक्षा करने के लिये उस सनातन नारायण स्वरूप से श्रीविष्णुत्व को प्राप्त हुये हो। इससे सिद्ध होता है कि श्रीविष्णु भगवान् श्रीमन्नारायण का अवतार हैं। इस प्रकार ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र को श्रीभगवान् का अवतार सिद्ध करने वाला वचन शास्त्रों में है नहीं। इसलिये उनका जन्म ही मानना पड़ता है। अस्तु।

यह अथर्वशिखोपनिषत् शिवजी को ध्येय नहीं बतलाती, किन्तु नारायण को ही ध्येय बतलाती है। इसमें प्रधान हेतु यह है कि इस उपनिषद् के आरम्भ में "कश्च ध्येयः" कहकर यह प्रश्न रक्खा गया है कि किसका ध्यान करना चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा गया है कि "कारणं तु ध्येयः" अर्थात् कारण तत्त्व का ध्यान करना चाहिये। इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि कार्यपदार्थों का ध्यान न करना चाहिये, उससे कल्याण नहीं होगा। किन्तु उस कारणतत्त्व का ध्यान करना चाहिये जो शास्त्रों में जगत्कारण के रूप में प्रसिद्ध है। यह वाक्य यह बतलाने के लिये नहीं आया है कि अमुक पदार्थ जगत्कारण है किन्तु यह बतलाने के लिये आया है कि जो वस्तु जगत्कारण के रूप में प्रसिद्ध है उसका ध्यान करना चाहिये। परमकारण का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त नारायणानुवाक में यह स्पष्ट कहा गया है कि नारायण ही जगत् के मूलकारण हैं, तथा वे शम्भु शब्द में वाच्य हैं। इस प्रकार जो नारायण नारायणानुवाक इत्यादि में जगत् के परमकारण एवं शम्भुशब्दवाच्य प्रसिद्ध हुये हैं, उनका ध्यान करने के लिये अथर्वशिखोपनिषत् बतला रही है। यह उपनिषद् शिवजी को जगत् का कारण सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त नहीं हुई है न शिवजी के ध्यान का विधान करने के लिये प्रवृत्त है किन्तु शास्त्रों में जो जगत्कारण प्रसिद्ध है उसके ध्यान का विधान करने के लिये यह उपनिषत् प्रवृत्त है। कारण वाक्यों का समन्वय करने पर नारायण ही जगत् के कारण सिद्ध होते हैं। यह अर्थ पहले ही वर्णित हो गया है। शम्भु शब्द वाच्य उस नारायण के ध्यान का विधान करने के लिये यह उपनिषत् प्रवृत्त है। इस उपनिषत् से यह भाव निकालना—कि शिवजी जगत् का मूलकारण हैं, उनका ध्यान करना चाहिये, इस बात को बतलाने के लिये यह उपनिषत् प्रवृत्त है—सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार विवेचना करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने पूर्वपक्ष का निराकरण करके अथर्वशिखोपनिषत् से यह सिद्ध किया कि नारायण ही जगत् के मूलकारण हैं, उनका ध्यान करना चाहिये। किंच, नारायण शब्द संज्ञा शब्द होने से लोक शास्त्र प्रसिद्धि के अनुसार श्रीमन्नारायण रूपी व्यक्ति विशेष का

वाचक है। "शम्भु" आदि शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार "सुखदायक" इत्यादि अर्थों के वाचक होने से सामान्य वाचक हैं। सामान्य वाचक का विशेष में पर्यवसान न्यायानुमोदित है इसलिये उपर्युक्त शम्भु शब्द को नारायणवाचक मानना चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषदो नारायणपारम्ये तात्पर्यम्

नारायणपरत्व में ही श्वेताश्वतर उपनिषत का तात्पर्य

यदपि "ततो यदुत्तरतर" मित्यत्र पुरुषादन्यस्य परतरत्वं प्रतीयत इत्यभ्यधायि, तदपि "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" यस्मादपरं यस्मादन्यत् किञ्चिदपि परं नास्ति, केनापि प्रकारेण पुरुषव्यतिरिक्तस्य परत्वं नास्तीत्यर्थः, अणीयस्त्वम्—सूक्ष्मत्वम्, ज्यायस्त्वम्—सर्वेश्वरत्वम्, सर्वव्यापित्वात् सर्वेश्वरत्वादस्य, एतद्व्यतिरिक्तस्य वा कस्याप्यणीयस्त्वं ज्यायस्त्वं च नास्तीत्यर्थः, "यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्" इति पुरुषादन्यस्य कस्यापि ज्यायस्त्वं निषिद्धमिति तस्मादन्यस्य परत्वं न युज्यते इति प्रत्युक्तम्। कस्तर्ह्यस्य वाक्यस्यार्थः? अस्य प्रकरणस्योपक्रमे "तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये" ति पुरुषवेदनस्यामृतत्वहेतुतां तद्व्यतिरिक्तस्यापथतां च प्रतिज्ञाय—"यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित्—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इत्येतदन्तेन पुरुषस्य सर्वस्मात् परत्वं प्रतिपादितम्। यतः पुरुषतत्त्वमेवोत्तरतरं ततो यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वं तदेवारूपमनामयम्, "य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति" इति पुरुषवेदनस्यामृतत्वहेतुत्वं तदितरस्य चापथत्वं प्रतिज्ञातं सहेतुकमुपसंहृतम्, अन्यथोपक्रमगतप्रतिज्ञाभ्यां विरुध्यते, पुरुषस्यैव शुद्धिगुणयोगेन शिवशब्दाभिधेयत्वम् "शाश्वतं शिवमच्युत" मित्यादिना ज्ञातमेव, पुरुष एव शिवशब्दाभिधेय इत्यनन्तरमेव वदति—"महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः"। इति।

पूर्वपक्षी ने "ततो यदुत्तरतरम्" इस श्वेताश्वतर उपनिषद् के वचन का अवलम्ब लेकर शिवजी को पुरुष अर्थात् नारायण से श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहा। अब उस प्रसंग पर प्रकाश डाला जाता है। वहाँ "ततो यदुत्तरतरम्" इस मन्त्र के पहले "यस्मात् पर नापरमस्ति किंचित्" यह मन्त्र पठित है। अर्थात् जिस पुरुष से भिन्न कोई भी पदार्थ श्रेष्ठ नहीं है। यहाँ पुरुषशब्द श्रीमन्नारायण का वाचक है। यह दोनों वादियों का सम्मत है। इस मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि पुरुषव्यतिरिक्त किसी भी पदार्थ की किसी भी प्रकार से श्रेष्ठता नहीं। आगे यह मन्त्र खण्ड है कि "यस्मान्नाणी यो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्"। अर्थात् जिस पुरुष को छोड़कर दूसरा कोई भी पदार्थ सूक्ष्म नहीं है तथा श्रेष्ठ नहीं हैं। पुरुष ही सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ है।

सर्वव्यापक होने के कारण पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म है, तथा सब पर शासन करने वाला होने के कारण सबसे श्रेष्ठ है। इस मन्त्रखण्ड से यह बतलाया गया है कि पुरुष को छोड़कर दूसरा कोई भी पदार्थ किसी भी प्रकार से श्रेष्ठ नहीं होता। इस प्रकार जिस पुरुष की सर्वश्रेष्ठता बतलायी गई है उस पुरुष से श्रेष्ठ किसी वस्तु का वर्णन "ततो यदुत्तरतरम्" इस मन्त्र में हो ही नहीं सकता, क्योंकि वैसा मानने पर पूर्वोत्तर विरोध उपस्थित होगा जिसका समाधान हो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि "ततो यदुत्तरतरम्" इस मन्त्र का क्या अर्थ किया जाय? ऐसा अर्थ करना चाहिये जो पूर्व से विरोध न रक्खे। श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि वैसा अर्थ किया जा सकता है जो आगे बतलाया जायगा। इस प्रकरण के उपक्रम में यह मन्त्र आया है कि—

वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात् इस अर्थ को मैं जानता हूँ कि प्रकृति के पार रहने वाले ज्योतिर्मय विग्रह वाले उस महापुरुष श्रीमन्नारायण को जानकर ही साधक संसार का अतिक्रमण करता है। उसे प्राप्त करने के लिये दूसरा मार्ग है नहीं? इस मन्त्र में दोनों अर्थों की प्रतिज्ञा की गई है। (१) परमपुरुष का ज्ञान मोक्ष का साधन है। (२) उसको छोड़कर अन्य उपाय असन्मार्ग है, उससे मोक्ष नहीं मिल सकता। इन दोनों प्रतिज्ञाओं का समर्थन करने के लिये "यस्मात् पर नापरमस्ति किंचित्" से लेकर "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" तक के मन्त्र से यह बताया गया है कि वह पुरुष सब तरह से सबसे अत्यन्त श्रेष्ठ है। "ततो यदुत्तरतरम्" यह मन्त्र उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं का—जिनका सहेतुक समर्थन पूर्वमन्त्र से हो चुका है—उपसंहार करता है। इसका अर्थ यह है कि जिस हेतु से पुरुषतत्त्व सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो गया है, उस हेतु से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ पुरुषतत्त्व कर्मकृत प्रकृति-सम्बन्ध से रहित होने से प्राकृतरूप शून्य है, तथा प्राकृत शरीरसम्बन्ध से होने वाले सुख और दुःख इत्यादि दोषों से रहित है। इस पुरुषतत्त्व को जो जानते हैं, वे मुक्त होते हैं दूसरे लोग दुःख को प्राप्त होते हैं। "ततो यदुत्तरतरम्" का यह अर्थ नहीं है कि उस पुरुष से श्रेष्ठ कोई तत्त्व रूपरहित है। किन्तु यही अर्थ है कि उपर्युक्त हेतु से सर्वश्रेष्ठ बनने वाला पुरुषतत्त्व ही प्राकृतरूपरहित एवं दोषरहित है, इसको जानने वाले मोक्ष को, दूसरे दुःखमय संसार को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह मन्त्र उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं का उपसंहार करता है। यदि ऐसा अर्थ न किया जाय तो पूर्व मन्त्र और उत्तर मन्त्र में विरोध उपस्थित हो जायगा। पूर्वमन्त्र बतलाता है कि पुरुषतत्त्व का ज्ञान ही मोक्षसाधन है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। पूर्वपक्षी के मत के अनुसार उत्तरमन्त्र यह बतलाता है कि उस पुरुषतत्त्व से श्रेष्ठ बनने वाले शिवतत्त्व को समझने वाले ही मुक्त होते हैं, अन्य सभी दुःखमय संसार में पड़े रहते हैं। पूर्वपक्षी के मन्तव्य के अनुसार पूर्वोत्तर मन्त्रों में अवश्य विरोध होगा। हमारे अर्थ के अनुसार पूर्वोत्तर मन्त्रों में मेल हो जाता है। इस प्रकार "ततो यदुत्तरतरम्" यह मन्त्र पुरुष की श्रेष्ठता का वर्णन करता हुआ उपर्युक्त

प्रतिज्ञाओं का उपसंहार करता है। यही अर्थ समीचीन है। आगे "सर्वाननशिरोग्रीवः" इस मन्त्र में जो शिवशब्द पड़ा है वह नारायण का ही वाचक है। नारायण पुरुष परमशुद्ध एवं मंगलकारी होने से शिव कहलाते हैं। श्रीविष्णु सहस्रनाम में "सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः" कहकर शिवशब्द श्रीविष्णु भगवान् का नाम माना गया है। नारायणानुवाक में "शाश्वतं शिवमच्युतम्" कहकर नारायण में शिवशब्द का प्रयोग किया गया है। किंच, उस मन्त्र में "सर्वाननशिरोग्रीवः" कहकर "सहस्रशीर्षा पुरुषः" इस पुरुषसूक्तवाक्य के अर्थ का संग्रह किया गया है तथा "भगवान्" कहकर पुरुष का वर्णन किया गया है। इन कारणों से सिद्ध होता है कि शिवशब्दघटित यह मन्त्र श्रीभगवान् का ही वर्णन करता है। इस मन्त्र के बाद "महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः" कहकर सत्त्वनिधि होने के कारण सत्त्वगुण का विकास करने वाले महाप्रभु पुरुष का वर्णन किया है। वह पुरुष श्रीमन्नारायण भगवान् ही हैं क्योंकि वे ही सात्त्विक देवता माने जाते हैं, शिवजी तामस देवता हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर मन्त्र में पुरुष का वर्णन होने से शिवपदघटित मध्यम मन्त्र के विषय में यही मानना उचित है कि यह मन्त्र भी मंगलकारी पुरुष का ही वर्णन करता है। इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् भगवत्परक सिद्ध हो जाती है।

"न सन्न चासच्छिव एव केवलः" "यः परः स महेश्वरः" इत्यादिमन्त्राणां विष्णुपारम्ये तात्पर्यम्

"शिव एव केवलः" "यः परः स महेश्वरः" इत्यादि वचनों का नारायणपरत्व में ही तात्पर्य है

उक्तेनैव न्यायेन "न सन्न चासच्छिव एव केवलः" इत्यादि सर्वं नेयम्। किञ्च "न तस्येशे कश्चन" इति निरस्तसमाभ्यधिकसम्भावनस्य पुरुषस्याणोरणीयानित्यस्मिन्ननुवाके वेदाद्यन्तरूपतया वेदबीजभूतप्रणवस्य प्रकृतिभूताकारवाच्यतया महेश्वरत्वं प्रतिपाद्य दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशान्तरवर्तितयोपास्यत्वमुक्तम्। अयमर्थः—सर्वस्य वेदजातस्य प्रकृतिः प्रणव उक्तः, प्रणवस्य च प्रकृतिरकारः, प्रणवविकारो वेदः, स्वप्रकृतिभूते प्रणवे लीनः, प्रणवोऽप्यकारविकारभूतः, स्वप्रकृतावकारे लीनस्तस्य प्रणवप्रकृतिभूतस्याकारस्य यः परो वाच्यः स एव महेश्वर इति सर्ववाचकजातप्रकृतिभूताकारवाच्यः सर्ववाच्यजातप्रकृतिभूतनारायणो यः स महेश्वर इत्यर्थः। यथोक्तं भगवता—"अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय"! "अक्षराणामकारोस्मि" इति, "अ इति ब्रह्मे" ति च श्रुतेः, "अकारो वै सर्वा वाग्" इति च वाचकजातस्याकारप्रकृतित्वम्, वाच्यजातस्य ब्रह्मप्रकृतित्वं च सुस्पष्टम्। अतो ब्रह्मणोऽकारवाच्यताप्रति-

पादनादकारवाच्यो नारायण एव महेश्वर इति सिद्धम् । तस्यैव "सहस्रशीर्ष देव" मिति केवलपरतत्त्वविशेषप्रतिपादनपरेण नारायणानुवाकेन सर्वस्मात्परत्वं प्रपञ्चितम् । अनेनानन्यपरेण प्रतिपादितमेव परतत्त्वमन्यपरेषु सर्ववाङ्मयेषु केनापि शब्देन प्रतीयमानं तदेवेत्यवगम्यत इति "शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववद्" दिति सूत्रकारेण निर्णीतम् । तदेतत्परं ब्रह्म क्वचिद्ब्रह्मशिवादिशब्दादवगतमिति केवलब्रह्मशिवयोर्न परत्वप्रसङ्गः, अस्मिन्ननन्यपरेऽनुवाके तयोरिन्द्रादितुल्यतया तद्विभूतित्वप्रतिपादनात्, क्वचिदाकाश-प्राणादिशब्देन परं ब्रह्माभिहितमिति भूताकाशप्राणादेर्यथा न परत्वम् ।

यहाँ पर शैववादियों का यह कथन है कि जिस प्रकार जगत्कारणतत्त्व को बतलाने वाले "एको ह वै नारायण आसीत्" इस कारणवाक्य में नारायण को जगत् का कारण बतलाया गया है, उसी प्रकार "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि र्नसन्न चासच्छिव एव केवलः" इस कारणवाक्य में शिवजी को जगत् का कारण कहा गया है। इस मन्त्र का यह अर्थ है कि जब केवल मूलप्रकृति ही थी, दिन रात नहीं थे, सत् मूर्तप्रपञ्च और असत् अमूर्तप्रपञ्च भी नहीं था। उस समय केवल शिवजी थे। इस मन्त्र से शिवजी जगत्कारण सिद्ध होते हैं क्योंकि प्रलयकाल में रहने वाला पदार्थ ही तो जगत्कारण बन सकता है। किंच, नारायणोपनिषद्— जो तैत्तिरीयारण्यक का षष्ठ प्रश्न है—में "यः परः स महेश्वरः" कहकर महेश्वर शब्द से कहे जाने वाले शिवजी को सभी ब्रह्मविद्याओं में उपास्य कहा गया है। इससे शिवजी को सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व परब्रह्म क्यों न माना जाय ? यह शैवों का वाद है। इस पर श्रीवैष्णवसम्प्रदायाचार्य श्रीरामानुज स्वामी जी ने यह कहा है कि "न सन्न चासच्छिव एव केवल." इस वाक्य में शिव शब्द से नारायण ही अभिहित होते हैं शिवजी नहीं क्योंकि सामान्यरूप से कारणतत्त्व को उपस्थित करने वाले सभी कारणवाक्य परमविशेषरूप में कारणतत्त्व को उपस्थित करने वाले "एको ह वै नारायण आसीत्" इस कारणवाक्य से सामान्यविशेषन्याय से समन्वय प्राप्त करके एकमात्र नारायण को ही जगत्कारण बतलाते हैं, नारायणानुवाक से नारायण ही सबसे श्रेष्ठ एवं सभी ब्रह्मविद्याओं में उपास्य सिद्ध किये गये हैं। नारायण के द्वारा ब्रह्मा और रुद्र आदि की सृष्टि एवं संहार का वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध है। शिव और महेश्वर इत्यादि शब्द शास्त्रों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हैं। वे व्युत्पत्ति के अनुसार शुभ और महान् ईश्वर ऐसे अर्थों को बतलाने वाले होने के कारण सामान्यवाचक हैं, उनका नारायणरूपी विशेषार्थ में पर्यवसान उचित है। ये सभी कारण पहले ही बतलाये जा चुके हैं। इन हेतुओं से "शिव एव केवलः" इस शिव शब्द को नारायणवाचक मानकर इस वाक्य से नारायण को जगत्कारण मानना ही युक्तियुक्त है। "यः परः स महेश्वरः" यह वाक्य भी नारायण को ही महान् ईश्वर सिद्ध करता है। वह पूरा मन्त्र इस प्रकार है कि—

यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः ।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥

अर्थात् प्रणव स्वर कहा जाता है क्योंकि वह स्वयं विराजमान स्वतःसिद्ध मन्त्र है। प्रणव के सम्बन्ध से और सब मन्त्र बनते हैं। प्रणव दूसरों को मन्त्र बनाता हुआ स्वतन्त्र रूप से स्वयं मन्त्र बना है। यह प्रणव वेद के आदि एवं अन्त में प्रतिष्ठित रहने वाला कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि प्रणव वेद का कारण है। प्रणव वेद के आविर्भाव के पूर्व रहता है, तथा वेद का लय होने के बाद भी रहता है। प्रणव से वेदों की उत्पत्ति एवं प्रणव में वेदों का लय "ओंकारप्रभवा: वेदाः" इत्यादि वचनों से सिद्ध होता है। वेदों का कारण होने से ही प्रणव वेदबीज माना जाता है। इस प्रणव का कारण अकार है। इस अकार में लीन होकर अकाररूप को धारण करने वाला इस प्रणव का अर्थात् अकार का वाच्य जो अर्थ है वह महान् ईश्वर है। यह इस मन्त्र का अर्थ है। अकार का वाच्य अर्थ श्रीविष्णु भगवान् हैं। "अकारो विष्णुवाचकः" यह प्रमाणवचन प्रसिद्ध है। श्रीविष्णु भगवान् एवं श्रीमन्नारायण एक ही पदार्थ हैं। इस प्रकार यह मन्त्र नारायण को महान् ईश्वर बतलाता है। यदि शंकर को महान् ईश्वर और नारायण को छोटा ईश्वर माना जाय तो "न तस्येशे कश्चन" कहकर यह जो बतलाया गया है कि नारायण के ऊपर शासन करने वाला कोई नहीं है, यह बात नहीं घटेगी। इसलिये यही मानना चाहिये कि यह मन्त्र भी नारायण को ही महान् ईश्वर सिद्ध करता है। इस मन्त्र का तात्पर्यार्थ यह है कि सम्पूर्ण वेदों का मूलकारण प्रणव है, प्रणव का मूलकारण अकार है, प्रणव से उत्पन्न होने वाले वेद प्रणव में लीन होते हैं, अकार से उत्पन्न होने वाला प्रणव भी अपने कारण अकार में लीन हो जाता है। अकारमात्र बचा रहता है। उस अकार का वाच्य जो अर्थ है वह महेश्वर है। सभी वाचक शब्दों का परममूलकारण अकार है, सभी वाच्य अर्थों का परम-मूलकारण नारायण है। इन दोनों मूलकारणों में वाच्यवाचकभावसम्बन्ध है। सर्वशब्दकारण अकार वाचक है, सर्ववाच्यकारण नारायण उसका वाच्यार्थ है। श्रीमन्नारायण भगवान् शब्दवाच्य सभी पदार्थों का कारण है, यह अर्थ गीता में वर्णित है। श्रीगीता सप्तमाध्याय में श्रीभगवान् कहते हैं कि—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय ।।

अर्थात् हे धनंजय ? मैं ही इस सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्तिकारण एवं प्रलयकारण हूँ। मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। मुझसे व्यतिरिक्त कोई पदार्थ श्रेष्ठ नहीं है। "अक्षराणामकारोऽस्मि" अर्थात् मैं अक्षरों में अकार हूँ इस कथन द्वारा श्रीभगवान् ने अकार एवं अपने में वाच्यवाचकभावसम्बन्ध को बतलाया है। "अ इति ब्रह्म" यह श्रुतिवाक्य भी अकार एवं ब्रह्म में वाच्यवाचकभावसम्बन्ध बतलाता है। "अकारो वै सर्वा वाक्" यह वेदवाक्य अकार को सर्वशब्दों का कारण बतलाता है। इस वाक्य में कार्यकारणभाव के बल से अकार एवं सर्व शब्दों में अभेद कहा गया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अकारवाच्य ब्रह्म एवं अकारवाच्य नारायण एक ही पदार्थ है। उस नारायण को महेश्वर कहकर उपर्युक्त मन्त्र नारायण को दहरविद्या में उपास्य बतलाता है। हृदयकमल के मध्य में विद्यमान आकाश के अन्दर रहने वाले परब्रह्म

का उपासन ही दहरविद्या है। उपर्युक्त मन्त्र में महेश्वर के रूप में वर्णित नारायण के विषय में आगे नारायणानुवाक आकर यह बतलाता है कि श्रीमन्नारायण ही सर्वश्रेष्ठतत्त्व है। इस अर्थ को उस अनुवाक ने नाना प्रकार से बतलाया है। यह अनुवाक परतत्त्व का निर्धारण करने के लिये प्रवृत्त है, इसमें दूसरा कोई अर्थ प्रतिपाद्य नहीं है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है। नारायणानुवाक दूसरे किसी अर्थ का प्रतिपादन करने में तात्पर्य नहीं रखता, किन्तु परतत्त्व का निर्धारण करने में ही तात्पर्य रखता है। इसलिये नारायणानुवाक से प्रतिपादित नारायण ही परतत्त्व मानने योग्य हैं दूसरे देवता नहीं। स्तुति और प्रार्थना इत्यादि में तात्पर्य रखने वाले दूसरे वाक्यों में यदि दूसरे किसी देवता का उल्लेख हो, साथ ही परब्रह्म के असाधारण धर्मों का भी उल्लेख हो तो वहाँ पर ब्रह्म सूत्रकार ने "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इस सूत्र के द्वारा यही निर्णय दिया है कि वहाँ देवतान्तरवाचक शब्द भी किसी न किसी प्रकार से परतत्त्व परब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं परब्रह्म के असाधारण धर्मों के वर्णन को देखने पर यह अनायास विदित हो जाता है कि वहाँ उन शब्दों से—जो लोक में दूसरे अर्थों का प्रतिपादक माने गये हैं—परब्रह्म ही बोधित होता है। वहाँ दो प्रकार हैं। (१) वे शब्द व्युत्पत्ति से परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। (२) वे शब्द लोक प्रसिद्ध अर्थों को बतलाते हुये उनके अन्तर्यामी परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। प्रथम प्रकार उन प्रसंगों में माना जाता है जहाँ देवतान्तर इत्यादि दूसरे अर्थों के असाधारण धर्मों का उल्लेख न हो तथा परब्रह्म के असाधारण धर्मों का उल्लेख हो। दूसरा प्रकार वहाँ पर माना जाता है जहाँ देवतान्तर इत्यादि दूसरे अर्थों के असाधारण धर्मों के साथ २ परब्रह्म के असाधारण धर्मों का भी उल्लेख हो। "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इस सूत्र का यह अर्थ है कि प्रतर्दनविद्या में इन्द्र ने शास्त्र के द्वारा अपने अन्तर्यामी को समझ कर तथा "मैं" "तू" इत्यादि शब्दों के अन्तर्यामिवाचकत्व को समझ कर अपने अन्तर्यामी उपासना के विधान करने के उद्देश से प्रतर्दन को यह उपदेश दिया कि तुम मेरी उपासना करो। मेरी उपासना कहने का यह भाव है कि मेरे अन्तर्यामी परब्रह्म की उपासना करो। वामदेव ने भी इसी प्रकार ही अपने अन्तर्यामी को "अहम्" समझ कर अन्तर्यामी के भाव से यह कहा है कि हम मनु थे हम सूर्य थे इत्यादि। जहाँ परब्रह्म के असाधारण जगत्कारणत्व सर्वेश्वरत्व मुमुक्षूपास्यत्व और मोक्षप्रदत्व इत्यादि धर्मों का उल्लेख हो, वहाँ "ब्रह्मा" और "शिव" इत्यादि शब्दों का प्रयोग होने पर उन शब्दों से परब्रह्म को ही बोध्य मानकर उस प्रकरण को परब्रह्म के विषय में लगाना ही न्यायानुमोदित है, वहाँ परब्रह्म का परत्व ही सिद्ध होगा, केवल ब्रह्मा और शिवजी का परत्व सिद्ध नहीं होगा क्योंकि केवल परत्व का निर्धारण करने के लिये प्रवृत्त इस नारायणानुवाक में इन्द्र आदि की तरह ब्रह्मा और शिवजी परब्रह्म श्रीमन्नारायण की विभूति अर्थात् आधीन में रहने वाले कहे गये हैं। जिस प्रकार उपनिषद् में जहाँ तहाँ आकाश और प्राण शब्द से ब्रह्म का प्रतिपादन होने पर इस प्रसिद्ध आकाश एवं प्राण का परत्व सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार उपनिषद् में जहाँ तहाँ ब्रह्मा और शिवजी के वाचक शब्दों से परब्रह्म का प्रतिपादन होने पर इस ब्रह्मा और शिवजी का परत्व कभी सिद्ध नहीं होगा। वहाँ वर्णित परत्व परब्रह्म को ही प्राप्त होगा।

व्योमातीतशिवतत्त्ववादस्य खण्डनम्

व्योमातीत शिवतत्त्ववाद का निराकरण

यत्पुनरिदमाशङ्कितम् "अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य" मिति, अत्राकाशशब्देन जगदुपादानकारणं प्रतिपाद्य तदन्तर्वर्त्तिनः कस्यचित्तत्त्वविशेषस्यान्वेष्टव्यता प्रतिपाद्यते। अस्याकाशस्य नामरूपयोर्निर्वाहकत्वश्रवणात्पुरुषसूक्ते पुरुषस्य नामरूपयोः कर्तृत्वदर्शनाच्चाकाशपर्यायभूतात्पुरुषादन्यस्यान्वेष्टव्यतयोपास्यत्वं प्रतीयत इति। अनधीतवेदानामदृष्टशास्त्रविदामिदं चोद्यम्। यतस्तत्र श्रुतिरेवास्य परिहारमाह; वाक्यकारश्च। "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" इति चोदिते "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इत्यादिना अस्याकाशशब्दवाच्यस्य परमपुरुषस्यानवधिकमहत्त्वं सकलजगत्कारणतया सकलजगदाधारत्वं च प्रतिपाद्य "तस्मिन्कामास्समाहिता" इति अपहतपाप्मत्वादि सत्यसङ्कल्पत्वपर्यन्तगुणाष्टकं निहितमिति परमपुरुषवत्परमपुरुषगुणाष्टकस्यापि पृथग्विजिज्ञासितव्यत्वप्रतिपिपादयिषया "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्य" मित्युक्तमिति श्रुत्यैव सर्वं परिहृतम्। एतदुक्तं भवति—किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यमित्यस्य चोद्यस्यास्मिन्सर्वस्य जगतः स्रष्टृत्वमाधारत्वं नियन्तृत्वं शेषित्वमपहतपाप्मत्वादयो गुणाश्च विद्यन्त इति परिहार इति। तथा च वाक्यकारवचनम्—"तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेश" इति। काम्यन्त इति कामाः अपहतपाप्मत्वादयो गुणा इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति यदेतद्दहराकाशपदवाच्यं निखिलजगदुदयविभवलयलीलं परं ब्रह्म, तस्मिन् यदन्तर्निहितमनवधिकातिशयमपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकं तदुभयमप्यन्वेष्टव्यं विजिज्ञासितव्यमिति, यथाऽऽह—"अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने शैवों की एक शंका का समाधान किया है। शंका यह है कि दहरविद्या में शिवजी श्रीमन्नारायण से श्रेष्ठ एवं उपास्य सिद्ध होते हैं। दहरविद्या में यह कहा गया है कि—

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहर पुण्डरीक वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्"। अर्थात् परब्रह्म उपास्य बनने के लिये शरीर में विराजमान हैं। यह शरीर परब्रह्म का वासस्थान होने से ब्रह्मपुर कहलाता है। किंच, इसमें नौ द्वार होने से यह पुर के समान है। इस शरीर में छोटा सा हृदयकमल है, यह ब्रह्म का निवास करने का गृह है। इस हृदयकमल के अन्दर छोटा सा आकाश है। इस आकाश के अन्दर जो तत्त्व निहित है, उसका श्रवण एवं मनन करना चाहिये, तथा उस

तत्त्व की उपासना करनी चाहिये। यह आकाश परमपुरुष नारायण हैं क्योंकि वे "आ समन्तात्काशते इत्याकाशः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वव्यापक होकर प्रकाशमान होने के कारण आकाश कहे जाते हैं। किंच, आगे इस आकाश के विषय में यह वर्णन आता है कि "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता"। अर्थात् आकाश नाम और रूप का निर्वाहक है। पुरुषसूक्त में "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" कहकर परमपुरुष नारायण नामरूपों के कर्ता धर्ता कहे गये हैं। यहाँ आकाश नामरूपों का निर्वाहक कहा जा रहा है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आकाश और पुरुषसूक्त वर्णित परमपुरुष नारायण एक ही तत्त्व है। इस विवेचन से सिद्ध हो गया कि यहाँ वर्णित आकाश परमपुरुष नारायण है। आगे श्रुति कहती है कि इस आकाश के अन्दर रहने वाले पदार्थ का श्रवण मनन और ध्यान करना चाहिये। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आकाशशब्दवाच्य नारायण के अन्दर रहने वाला सूक्ष्मतत्त्व क्या है। उत्तर यह है कि वह शिवतत्त्व है। यह दहरविद्या नारायण के अन्दर रहने वाले नारायण के नियामक शिवतत्त्व की उपासना है, इसका यहाँ विधान है। इससे शिवतत्त्व नारायण से भी श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यह शैवों की शंका है। इसके समाधान में श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि यह शंका उनके मुख से ही निकल सकती है जिन्होंने उपनिषत् का अध्ययन न किया हो तथा पूर्वाचार्यों के द्वारा निर्मित वेदान्तशास्त्र ग्रन्थ को न देखा हो क्योंकि आगे की श्रुति एवं वाक्यकार ने इस शंका का पहले ही परिहार कर दिया है। उस श्रुति एवं वाक्यकार वाक्य को न समझ कर ही पूर्वपक्षियों ने यह शंका की है। अस्तु। देखें, आगे श्रुति ने क्या कहा है। आगे उपनिषद् ने "दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" इस वाक्य से एक प्रश्न का उल्लेख किया है। अर्थ यह है कि हृदयकमल के अन्दर रहने वाला यह आकाश अत्यन्त छोटा है. इसके अन्दर क्या रह सकता है जिसका श्रवण मनन और ध्यान किया जा सके। इस क्षुद्र आकाश के अन्दर कुछ भी रह नहीं सकता। यह प्रश्न का तात्पर्य है। इस प्रश्न का उत्तर देती हुई आगे श्रुति ने कहा कि "यावान् वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" अर्थात् हृदयकमल के अन्दर रहने वाले आकाश को छोटा नहीं समझना चाहिये। बाहर दिखाई देने वाला यह आकाश जितना बड़ा है, उतना बड़ा है हृदयकमल में रहने वाला आकाश भी। क्योंकि हृदयकमल में रहने वाला आकाश परमपुरुष श्रीमन्नारायण है। वे विभु होने से बहुत बड़े हैं, उनको छोटा नहीं समझना चाहिये। इस प्रकार इस श्रुति ने श्रीभगवान् की अपार महत्ता का वर्णन किया है। आगे श्रुति ने "उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी" इत्यादि वाक्यों से यह कहा है कि यह आकाशशब्दवाच्य परमपुरुष सकलजगत्कारण होने से द्यावापृथिवी इत्यादि सम्पूर्ण जगत् का आधार हैं, सम्पूर्ण जगत् उनमें निहित है। इन विशेषताओं का वर्णन करके आगे श्रुति ने इस प्रश्न का—कि इस आकाश में क्या निहित है—उत्तर देती हुई यह कहा है कि "अस्मिन् कामाः समाहिता." अर्थात् इस दहराकाशशब्दवाच्य श्री नारायण भगवान् में वे कल्याणगुण निहित है जो भक्तों का अभीष्ट हैं। वे गुण कौन २ हैं इस प्रश्न का उत्तर देती हुई आगे श्रुति ने कहा है कि "एष आत्माऽपहतपाप्मा

विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" अर्थात् यह परमात्मा पाप जरा मृत्यु शोक बुभुक्षा और पिपासा इन दोषों से रहित है तथा नित्य भोग्यपदार्थ वाले हैं, एवं सत्यसंकल्प वाले हैं। इस प्रकार इस श्रुति ने अपहतपाप्मत्व अर्थात् पापरहितत्व इत्यादि आठ गुणों का वर्णन करके बता दिया है कि ये कल्याणगुण परमात्मा में निहित हैं। जिस प्रकार दहराकाशशब्दवाच्य परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, उसी प्रकार इन कल्याणगुणों का भी अलग २ ध्यान करना चाहिये। इस बात को बतलाने के लिये श्रुति ने "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" कहकर यह बतलाया है कि इस दहराकाशशब्दवाच्य परमात्मा में निहित कल्याणगुणों का ध्यान करना चाहिये। भाव यह है कि इस दहराकाश परमात्मा में क्या निहित है? इस शंका का श्रुति ने इस प्रकार परिहार किया कि इस दहराकाश परमात्मा में जगत्स्रष्टृत्व जगदाधारत्व जगन्नियन्तृत्व जगत्स्वामित्व और अपहतपाप्मत्व इत्यादि कल्याणगुण रहते हैं। वाक्यकार ने भी "तस्मिन् यदन्तरिति कामव्यपदेशः" कहकर यह सिद्ध किया कि दहराकाश परमात्मा में विद्यमान वस्तु के रूप में काम अर्थात् कल्याणगुणों को कहा गया है। इच्छा का विषय होने के कारण कल्याणगुणों का काम शब्द से वाक्य ग्रन्थ में निर्देश किया गया है। सारांश यह है कि दहराकाशशब्दवाच्य पदार्थ वह परब्रह्म है जो लीला के रूप में सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलयों को करता है। उसके अन्दर रहने वाले अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुण हैं जो उत्कर्ष की चरमसीमा में पहुँचे हुये हैं, दहराकाश परमात्मा एवं उनके कल्याणगुण इन दोनों की उपासना करनी चाहिये, इस बात को बतलाने में श्रुति का तात्पर्य पूर्वोत्तर वाक्यों से अवगत होता है। यहाँ शिवजी का प्रस्ताव तक नहीं है। श्रुति को उपर्युक्त अर्थ को बतलाने में तात्पर्य है। यह अर्थ आगे के श्रुतिवचन से स्पष्ट हो जाता है। वह वचन यह है कि "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" अर्थात् जो साधक इस दहराकाश परमात्मा एवं इन सत्यकल्याणगुणों की उपासना करके परलोक चले जाते हैं, उनको सभी लोकों में इच्छानुसार संचार होता है, उनकी इच्छा का कहीं भी विघात नहीं होता। इस वाक्य में दहराकाश परमात्मा एवं उनके कल्याणगुणों की उपासना का स्पष्ट उल्लेख है। इस श्रुतिवाक्य के अनुसार उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का भी ऐसे ही अर्थ करना चाहिये। समाधान का सार यह है कि यहाँ दहराकाश परब्रह्म नारायण ही है, उसमें निहित तत्त्व कल्याणगुण हैं, शिवजी नहीं हैं। इस दहरविद्या से शिवजी की नारायण से श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती।

विष्णूत्पत्तिप्रतिपादकश्रुतिवचनस्य निर्वाहः

विष्णूत्पत्तिप्रतिपादक श्रुतिवचन का निर्वाह

यः पुनः कारणस्यैव ध्येयताप्रतिपादनपरे वाक्ये विष्णोरनन्यपरवाक्यप्रतिपादितपरतत्त्वभूतस्य कार्यमध्ये निवेशः, स स्वकार्यभूततत्त्वसंख्यापूरणं कुर्वतः स्वलीलया

जगदुपकाराय स्वेच्छावतार इत्यवगन्तव्यः, यथा लीलया देवसंख्यापूरणं कुर्वत उपेन्द्रत्वं परस्यैव। यथा च सूर्यवंशोद्भवराजसंख्यापूरणं कुर्वतः परस्यैव ब्रह्मणो दाशरथिरूपेण स्वेच्छावतारः, यथा च सोमवंशसंख्यापूरणं कुर्वतो भगवतो भूभारावतरणाय स्वेच्छया वसुदेवगृहे अवतारः। सृष्टिप्रलयप्रकरणेषु नारायण एव परमकारणतया प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तम्।

यहाँ पर शैवों ने यह प्रश्न किया है कि विष्णु और नारायण एक ही तत्त्व हैं। उनमें विष्णु की उत्पत्ति अथर्वशिखोपनिषत् में वर्णित है। वह वाक्य यह है कि "ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते"। अर्थात् ब्रह्माजी, विष्णु भगवान्, शंकरजी और इन्द्र ये सब उत्पन्न होते हैं। विष्णु की उत्पत्ति कही गई है नारायण की भी उत्पत्ति माननी होगी। नारायण परतत्त्व एवं परब्रह्म कैसे सिद्ध होंगे? यह शैवों का प्रश्न है। इस उत्तर में श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि अथर्वशिखोपनिषत् "कारणं तु ध्येयः" कहकर कारण का ध्यान करने के लिये आदेश देती है। जगत्कारण कौन है? इस बात को बतलाने के लिये वह प्रवृत्त नहीं हुई है। वह यही कहती है कि कारण का ध्यान करो। जगत्कारण कौन है इस बात को हमें दूसरे उपनिषदों से ही जानना होगा। तदर्थ दूसरे उपनिषदों पर दृष्टिपात करने पर यह निर्णय प्राप्त होता है कि नारायण ही जगत्कारण हैं। जगत्कारण को बतलाने वाले वाक्यों की एक वाक्यता करने पर तथा परतत्त्व का निर्धारण करने के लिये ही प्रवृत्त नारायणानुवाक पर ध्यान देने पर नारायण ही जगत्कारण परतत्त्व परब्रह्म सिद्ध होते हैं। जगत्कारण नारायण का ध्यान करने के लिये अथर्वशिखोपनिषत् विधान करता है क्योंकि अनेक उपनिषदों का समन्वय करने पर इसी निर्णय पर पहुँचना पड़ता है। गीता इत्यादि प्रमाणों से यह विदित होता है कि जिस प्रकार जीव जन्म लेते हैं उसी प्रकार भगवान् भी जन्म लेते हैं। अन्तर यह है कि श्रीभगवान् अपने स्वभाव को न छोड़ते हुये जन्म ग्रहण करते हैं, जीव अपने स्वभाव को खोकर जन्म लेता है। श्रीभगवान् का शरीर अप्राकृत है, जीव का शरीर प्राकृत है। श्रीभगवान् स्वेच्छा से जन्म लेते हैं, जीव कर्म से जन्म लेता है। श्रीभगवान् के जन्मग्रहण का प्रयोजन लोककल्याण है, जीव के जन्मग्रहण का प्रयोजन कर्मफलानुभव है। अतएव कहा गया है कि—

"जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा" अर्थात् श्रीभगवान् जगत् के उपकार के लिये जन्म लेते हैं, उनके जन्म का कारण कर्म नहीं है। इस प्रकार वैशिष्ट्य रखने के कारण ही श्रीभगवान् का जन्म अवतार कहलाता है। भगवान् सर्वप्रथम ब्रह्मा और शिवजी के मध्य में अवतार लेते हैं। श्रीभगवान् का विष्णु रूप में अवतार हुआ, अतएव ये तीनों त्रिमूर्ति कहे जाने लगे। इस प्रकार तीन संख्या को पूर्ण करने के लिये श्रीभगवान् ने स्वेच्छा से जगत् के कल्याणार्थ उनके मध्य में अवतार लिया है। उनके मध्य में अवतार लेकर श्रीभगवान् ने अपने सौलभ्य को व्यक्त कराया तथा उनको अपने समान बनाकर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। श्रीभगवान् के इस अवतार का ही उपर्युक्त श्रुति में वर्णन है। वहाँ ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र

का जो जन्म कहा गया है, वह जन्म ही है। श्रीभगवान् का जो जन्म कहा गया है वह अवतार है। यह अन्तर ध्यान देने योग्य है। श्रीभगवान् ने त्रिदेवों में अवतार लिया, इतना ही नहीं, किन्तु श्रीभगवान् ने देवताओं की संख्या को पूर्ण करने के लिये देवों में उपेन्द्र के रूप में लीला से अवतार लिया है तथा सूर्यवंशी राजाओं की संख्या को पूर्ण करने के लिये परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान् ने स्वेच्छा से दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र जी के रूप में अवतार लिया, तथा चन्द्रवंश में उत्पन्न क्षत्रियों में एक संख्या को बढ़ाने के लिये तथा भूभार को उतारने के लिये स्वेच्छा से श्रीकृष्णचन्द्र जी के रूप में वसुदेव जी के गृह में अवतार लिया। इस प्रकार श्रीभगवान् के अवतार अनेक हैं जिनमें एक है श्रीविष्णु के रूप में अवतार। यही अवतार उपर्युक्त श्रुति में कहा गया है। इससे मूलतत्त्व श्रीमन्नारायण भगवान् के परत्व में बाधा नहीं होती। सृष्टि और प्रलय के प्रकरणों में श्रीमन्नारायण ही परमकारण के रूप में बतलाये गये हैं। यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

अथर्वशिरउपनिषदो नारायणपारम्यपरत्वेन योजनम्

अथर्व शिर उपनिषत् का नारायणपरत्व में ही तात्पर्य

यत्पुनरथर्वशिरसि रुद्रेण स्वसर्वैश्वर्यं प्रपञ्चितम्, तत् "सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत्" इति परमात्मप्रवेशादुक्तमिति श्रुत्यैव व्यक्तम्, "शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्" इति सूत्रकारेणैवमादीनामर्थः प्रतिपादितः। यथोक्तं प्रह्लादेनापि "सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः। मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने" इत्यादि। अत्र सर्वगत्वादनन्तस्येति हेतुरुक्तः, स्वशरीरभूतस्य सर्वस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मत्वेन सर्वगतः परमात्मेति सर्वे शब्दाः सर्वशरीरं परमात्मानमेवाभिदधतीत्युक्तम्, अतोऽहमितिशब्दः स्वात्मप्रकारिणं परमात्मानमेवाचष्टे। अत इदमुच्यते "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात्सर्वस्य तन्निष्पत्ते" रित्यादिनाऽहंग्रहणोपासनम् वाक्यकारेण। कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तु-शरीरः परमात्मैवेति सर्वस्य तन्निष्पत्तेरित्युक्तम्। "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे" ति सूत्रकारेण च।

आगे शैवों ने अपने पक्ष का समर्थन करते हुये यह कहा कि अथर्व शिर उपनिषद् से रुद्र का परत्व सिद्ध होता है। उस उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन है कि—

"देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्, ते देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति, सोऽब्रवीत् अहमेकः प्रथममास वर्तामि च भविष्यामि च, नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति" अर्थात् देव लोग स्वर्गलोक गये थे, उन देवों ने रुद्र से पूछा

कि आप कौन हैं। रुद्र ने उत्तर में कहा कि मैं अकेला ही पहले रहा, अब भी रहता हूँ, आगे भी रहूँगा, मुझसे व्यतिरिक्त कोई नहीं है। इस प्रकार कहकर रुद्र ने अपनी सर्वेश्वरता का विस्तार से वर्णन किया है। इससे रुद्र परतत्त्व परब्रह्म सिद्ध होते हैं। यह शैवों का वाद है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि रुद्र ने यह जो ऐश्वर्य कहा, वह निजी नहीं है। वह अन्तर्यामी परमात्मा का ऐश्वर्य है, उसका रुद्र ने वर्णन किया। यह रहस्य आगे के श्रुतिवाक्य से खुल जाता है। वह वाक्य यह है कि "सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत्, दिशश्चान्तरं प्राविशत्" अर्थात् रुद्र कहते हैं कि वह परमात्मा शरीर के अन्दर रहने वाले प्राण आदि के भी अन्दर रहने वाले जीवात्मा में प्रविष्ट होकर रहता है तथा जगत् में रहने वाले दिशा इत्यादि सब जड़ पदार्थों के अन्दर रहने वाले जीवात्मा में भी प्रवेश करके रहता है, इसलिये सब पदार्थ परमात्मात्मक हैं। इस प्रकार रुद्र ने यह रहस्य खोला कि जगत् के अन्दर रहने वाले अन्तर्यामी परमात्मा मेरे अन्दर भी रहते हैं, जिस प्रकार जगत् ब्रह्मात्मक है, उसी प्रकार मैं भी ब्रह्मात्मक हूँ। अन्तर्यामी ब्रह्मपर्यन्त बुद्धि को पहुँचाकर यही समझना चाहिये कि वह परब्रह्म ही विश्वरूप में अवस्थित है, मैं भी ब्रह्मात्मक ही हूँ। इस प्रकार अपने को समझते समय ब्रह्म तक को समझते रहना न्यायप्राप्त है। अपने अन्तर्यामी को न समझकर अपने भर को समझना अधूरी समझ है। इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने अन्तर्यामी का अनुसन्धान करके ही रुद्र ने इस प्रकार कथन किया है। रुद्रद्वारा वर्णित ऐश्वर्य अन्तर्यामी परमात्मा का है, रुद्र का निजी नहीं है। रुद्र के निजी रूप को देवता लोग समझते ही हैं, देवताओं का प्रश्न रुद्र के अन्तर्यामी के विषय में ही था। रुद्र ने अपने अन्तर्यामी की महिमा का वर्णन कर देवप्रश्न का उत्तर दिया है। अपने अन्दर परमात्मा के प्रवेश को समझ कर रुद्र ने यह उत्तर दिया है। इस अर्थ को श्रुति ने ही स्पष्ट शब्दों में कहा है। ब्रह्मसूत्रकार ने "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इस सूत्र के द्वारा उपर्युक्त अर्थ का प्रतिपादन किया है। प्रतर्दनविद्या में इन्द्रदेव ने प्रतर्दन से यह जो कहा कि तुम मेरी उपासना करो इस वाक्य का तात्पर्य इस अर्थ में ही है कि तुम मेरे अन्तर्यामी की उपासना करो। प्रतर्दनविद्या में परमात्मा के जीवों में अनुप्रवेश का वर्णन नहीं है तथापि सूत्रकार ने वहाँ यही निर्णय दिया है कि अपने अन्तर्यामी की उपासना का विधान करने में ही इन्द्र का तात्पर्य है। प्रकृत रुद्रवाक्य में परमात्मा के अनुप्रवेश का वर्णन है यहाँ उपर्युक्त सूत्र के अनुसार यह निर्णय अनायास सिद्ध होता है कि रुद्र ने अपने अन्तर्यामी के ऐश्वर्य का वर्णन किया है। इससे रुद्र का परत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

जिस प्रकार अथर्व शिर उपनिषद् में शंकरजी ने अपनी अहंबुद्धि में अन्तर्यामी तक को समझकर अपने शब्दों में उनकी महिमा का वर्णन किया है। उसी प्रकार भक्तराज प्रह्लाद जी ने भी कहा है। उनका यह वाक्य है कि—

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने॥

अर्थात् अनन्त भगवान् सर्वव्यापक हैं। इसलिये मैं भी वह भगवान् ही हूँ, मुझसे ही सब उत्पन्न हुआ है, मैं ही सब कुछ हूँ, सनातन मुझमें सब निहित है। यहाँ इस हेतु का— कि अनन्त भगवान् सर्वव्यापक हैं—उल्लेख करके प्रह्लाद जी ने कहा कि वह परमात्मा मैं हूँ। इस कथन का यह तात्पर्य है कि सम्पूर्ण चेतनाचेतनपदार्थ परमात्मा का शरीर है, परमात्मा उनका आत्मा है। इस प्रकार वह सबको व्याप कर रहता है। इसलिये सभी शब्द सर्वशरीरधारी परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं। "अहम्" अर्थात् "मैं" यह शब्द भी वक्ता जीव के अन्तर्यामी तक का प्रतिपादन करता है। "मैं" ऐसा समझते समय परमात्मा तक को अनुसन्धान में लेना चाहिये। परमात्मा तक को अनुसन्धान में लेकर यदि "मैं" शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह कहना उचित ही है कि मैं वह परमात्मा ही हूँ इत्यादि। अहंबुद्धि में परमात्मा तक को लेकर उपासना करना अहंग्रहोपासन कहा जाता है। वाक्यकार ने भी "आत्मेत्येव तु गृह्णीयात् सर्वस्य तन्निष्पत्तेः" कहकर यह सिद्ध किया है कि परमात्मा को आत्मा अर्थात् अपना समझ कर अहंबुद्धि से परमात्मा की उपासना करनी चाहिये क्योंकि सर्वावस्थाओं में अवस्थित पदार्थों में अन्तर्यामी के रूप में परमात्मा रहते हैं, परमात्मा कारणावस्था में सूक्ष्मचेतनाचेतनों का अन्तर्यामी होकर रहता है और कार्यावस्था में स्थूल चेतनाचेतनों का अन्तर्यामी होकर। सब कुछ परमात्मा से ही उत्पन्न होकर परमात्मा में अवस्थित रहता है। परमात्मा ही विश्वरूप में विराजमान है। अपनी अहंबुद्धि को जीवमात्र में न रोककर प्रत्युत जीवान्तर्यामी परमात्मा तक पहुँचा कर अहंबुद्धि से परमात्मा की उपासना करनी चाहिये। इस अर्थ को वाक्यकार ने ही नहीं कहा किन्तु ब्रह्मसूत्रकार ने भी "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इस सूत्र से इस अर्थ का प्रतिपादन किया है। सूत्र का अर्थ यह है कि साधक परमात्मा को आत्मा अर्थात् अहं समझ कर उपासना करें, शास्त्र जीवात्मा और परमात्मा में शरीरात्मभावसम्बन्ध को बतलाकर इस बात का समर्थन करते हैं कि अहंबुद्धि में परमात्मा तक का अनुसन्धान करके उपासना करनी चाहिये। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्वशिर उपनिषद् में रुद्र ने अहंबुद्धि में परमात्मा तक का अनुसन्धान करके उनकी महिमा का वर्णन किया है। यह महिमा रुद्र की निजी नहीं है, किन्तु परमात्मा की है।

नारायणस्य ब्रह्मशिवान्तर्यामित्वे प्रमाणवर्णनम्

ब्रह्मा एवं शिवजी का अन्तरात्मा नारायण है।

महाभारते च ब्रह्मरुद्रसंवादे ब्रह्मा रुद्रं प्रत्याह—"तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहिसंज्ञिताः।" इति रुद्रस्य ब्रह्मणश्चान्येषां च देहिनां परमेश्वरो नारायणोऽन्तरात्मतयाऽवस्थित इति। तथा तत्रैव—"विष्णुरात्मा भगवतो भवस्यामिततेजसः। तस्माद्धनुर्ज्या-

संस्पर्शं स विषेहे महेश्वरः ।" इति । तत्रैव—"एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ । तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ" इति, अन्तरात्मतयाऽवस्थितनारायणदर्शितपथौ ब्रह्मरुद्रौ सृष्टिसंहारकार्यकरावित्यर्थः ।

परमात्मा रुद्र का अन्तर्यामी है। यह अर्थ महाभारत में ब्रह्म रुद्र संवाद में रुद्र के प्रति ब्रह्माजी के वाक्य से स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्माजी का वह वाक्य यह है जो रुद्र के प्रति कहा गया है। ब्रह्मा रुद्र से कहते हैं कि—

तवान्तरात्मा मम च ये चान्ये देहिसञ्ज्ञिताः ।
सर्वेषां साक्षिभूतोऽसौ न ग्राह्यः केनचित् क्वचित् ॥

अर्थात हे रुद्र ? तुम्हारे हमारे एवं अन्यान्य देहधारी जीवों के अन्तरात्मा अन्तर्यामी एक हैं, वे सबके साक्षी हैं, उनको कोई भी कहीं भी जान नहीं सकता। इस वचन से सिद्ध होता है कि परमेश्वर नारायणदेव ब्रह्मा रुद्र एवं अन्यान्य जीवों के अन्तर्यामी हैं। महाभारत में त्रिपुरसंहार के प्रसंग में कहा गया है कि—

विष्णुरात्मा भगवतो भवस्यामिततेजसः ।
तस्माद्धनुर्ज्यासंस्पर्शं स विषेहे महेश्वरः ॥

अर्थात् अपार तेज वाले भगवान् शंकरजी का आत्मा श्रीविष्णु भगवान् हैं, इसलिये महेश्वर शंकरजी उस धनु की प्रत्यञ्चा का स्पर्श करने में समर्थ हुये। इस वचन से भी श्रीविष्णु भगवान् शंकरजी के अन्तरात्मा सिद्ध होते हैं। किंच, महाभारत में अन्यत्र ब्रह्मा और शिवजी के विषय में यह कहा गया है कि—

एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ ।
तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ ॥

अर्थात् ब्रह्मा और शिवजी ये दोनों, देवताओं में श्रेष्ठ है, ब्रह्माजी श्रीभगवान् के प्रसाद से एवं शिवजी श्रीभगवान् के क्रोध से उत्पन्न हुये हैं। ये दोनों श्रीभगवान् के द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलते हुये सृष्टि और संहार के कर्ता हैं। इन वचनों से प्रमाणित होता है कि ब्रह्मा और शिव श्रीभगवान् का शरीर हैं, श्रीभगवान् इनके अन्तर्यामी हैं। इस अन्तर्यामी परमात्मा पर ध्यान रखकर ही अथर्व शिर में रुद्र ने अपने अन्तर्यामी की महिमा का वर्णन किया है।

निमित्तमात्रेश्वरवादिशैवमतखण्डनम्

ईश्वर को निमित्तकारणमात्र मानने वाले शैवमत का खण्डन

निमित्तोपादानयोस्तु भेदं वदन्तो वेदबाह्या एव स्युः "जन्माद्यस्य यतः" "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ताऽनुपरोधा" दित्यादिवेदवित्प्रणीतसूत्रविरोधात्, "सदेव सोम्येदमग्र आसी-देकमेवाद्वितीयम्" "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ब्रह्माध्य-तिष्ठद् भुवनानि धारयन्" "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" "न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः" "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् उतामृतत्वस्येशानः" "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" इत्यादिसर्वश्रुतिगणविरोधाच्च ।

आगे शैवों ने अपने निमित्तोपादानभेद सिद्धान्त को इस प्रकार रक्खा कि हमारे मत में यह कथन प्रसिद्ध है कि "उपादानं तु भगवान् निमित्तं तु महेश्वरः"। अर्थात् जगत् का उपादानकारण श्रीमन्नारायण भगवान् हैं, निमित्तकारण शंकरजी हैं। उपादानकारण निमित्तकारण के आधीन रहता है। लोक में देखा जाता है कि घट आदि का उपादान मृत्पिण्ड निमित्तकारण कुलाल के आधीन रहता है इसी प्रकार जगत् के उपादान नारायण निमित्तकारण बनने वाले शिवजी के आधीन रहते हैं। इससे जगत् के उपादान-कारण एवं निमित्तकारण भिन्न २ होते हैं। वैदिकों ने इनमें अभेद मानकर अभिन्न निमित्तोपादान सिद्धान्त को स्थिर किया है वह ठीक नहीं। जगत् उपादानकारण एवं निमित्तकारण में भेद मानना चाहिये। यह शैवों का कथन है। इस विषय में श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि जगत् के उपादानकारण एवं निमित्त-कारण में भेद मानने वाले शैव वेदबाह्य अर्थात् अवैदिक हैं क्योंकि वेद और ब्रह्मसूत्रों में उपादानकारण एवं निमित्तकारण में अभेद वर्णित है। सूत्रकार ने "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र से यह सिद्ध किया है इस जगत के जन्म आदि का जो उपादानकारण एवं निमित्तकारण है वह ब्रह्म है। इस जगत् का उपादानकारण सूक्ष्मचेतनाचेतनों से विशिष्ट ब्रह्म है क्योंकि यही जगत् के रूप में परिणत होता है। यही ब्रह्म संकल्प-विशिष्ट होकर जगत् का निमित्तकारण भी बनता है। उपादानकारण को जो कार्यरूप में परिणत करावे वह निमित्तकारण बनता है। इस सूत्र से सूत्रकार ने जगत् के उपादानकारण एवं निमित्तकारण में अभेद को सिद्ध किया है। किंच, प्रकृत्यधिकरण में "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इत्यादि सूत्रों से सूत्रकार ने उपर्युक्त कारणों में ऐक्य को सिद्ध किया है। अर्थात् एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होने की प्रतिज्ञा एवं मृत्पिण्ड आदि दृष्टान्तों का बाध न होने के लिये यह मानना इस जगत् का निमित्तकारण बनने वाला ब्रह्म उपादानकारण भी बनता है। उपादानकारण ही कार्यरूप में परिणत होता है, कार्य दूसरा कोई द्रव्य नहीं है, उपादानकारण को समझने से कार्य अनायास समझ में आ जाते हैं। जगत्कारण ब्रह्म को समझने से

उसके परिणामरूप सभी कार्य विदित हो जाते हैं। इस प्रतिज्ञा से जगत् का उपादानकारण ब्रह्म सिद्ध होता है। मृत्पिण्ड दृष्टान्त के द्वारा यही बतलाया गया है कि मृत्पिण्ड को जानने से उससे बनने वाले घट शराव इत्यादि कार्यपदार्थ जाने जाते हैं। यदि जगत् का निमित्तकारण दूसरा होता तो उपादानकारण को जानने से वह नहीं जाना जा सकता। प्रतिज्ञा में बाधा पड़ेगी, तदर्थ ब्रह्म को ही निमित्तकारण भी माना जाता है। यह इस सूत्र का अर्थ है। इससे जगत् के निमित्तकारण एवं उपादानकारण में अभेद सिद्ध होता है। निमित्तकारण एवं उपादानकारण में भेद को मानने वाला शैवसिद्धान्त वेदज्ञप्रवर श्री वेदव्यास जी के उपर्युक्त ब्रह्मसूत्रों से विरुद्ध होने के कारण अनादरणीय है। इतना ही नहीं, कि उपादानकारण एवं निमित्त-कारण में अभेद को सिद्ध करने वाले श्रुतिगणों से विरुद्ध होने से भी अनादरणीय है। वे श्रुतिवचन ये हैं कि—

(१) "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् यह जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ही था तथा एकत्वा-वस्था को प्राप्त हुआ था जो अब बहुत्वावस्था को प्राप्त हुआ है, साथ ही दूसरे निमित्तकारण से रहित था। यहाँ पर सद्ब्रह्म की प्रलयकाल में एकत्वावस्था तथा सृष्टिकाल में बहुत्वावस्था सिद्ध होती है। इससे ब्रह्म उपादानकारण सिद्ध होता है, तथा "अद्वितीयम्" पद से निमित्तकारण भी सिद्ध होता है।

(२) "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्" अर्थात् जिस प्रकार वन में रहने वाले वृक्ष को विविध स्तम्भादि के रूप में परिणत करके बढ़ई आदि शिल्पी के द्वारा गृह का निर्माण होता है उसी प्रकार ही द्यावापृथिवी इत्यादि इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का निर्माण हुआ है। यहाँ वन के समान आधारकारण बनने वाला ब्रह्म है, वृक्ष के समान उपादानकारण भी ब्रह्म है, बढ़ई के समान अधिष्ठाता निमित्तकारण भी वही ब्रह्म है जिससे गृह के समान इस प्रपञ्च का निर्माण हुआ है। इस श्रुति में ब्रह्म को सर्वविधकारण माना गया है।

(३) सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः॥

अर्थात् विद्युत् के समान वर्णवाले कालविशिष्ट पुरुष से ये सब निमेष इत्यादि कालखण्ड उत्पन्न हुये हैं। इससे कालविशिष्ट ब्रह्म का उपादानकारणत्व सिद्ध होता है। उस पुरुष के ऊपर शासन करने वाला कोई नहीं, उसका अपार यश है। इससे उस पुरुष का निमित्तकारणत्व सिद्ध होता है क्योंकि वह दूसरे के शासन में रहने वाला नहीं। दूसरे के शासन में रहे तो कोई दूसरा ही निमित्तकारण बनता।

(४) "नेह नानास्ति किंचन" "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" अर्थात् यहाँ अनेक पदार्थ कुछ भी नहीं है, सब ब्रह्म का कार्य होने से ब्रह्मात्मक हैं। इससे ब्रह्म उपादानकारण सिद्ध होता है। वह ब्रह्म सबको वश में रखने वाला एवं सब पर शासन करने वाला है। इससे ब्रह्म निमित्तकारण सिद्ध होता है।

(५) "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् उतामृतत्वस्येशानः" "नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" अर्थात् ये वर्तमान भूत और भविष्य सभी पदार्थ पुरुष ही हैं। इससे पुरुष उपादान एवं निमित्तकारण सिद्ध होता है। अर्थात् यह पुरुष मोक्ष देने वाला है। इससे पुरुष परब्रह्म मोक्षदाता सिद्ध होता है। अर्थात् जगत् का उपादान एवं निमित्तकारण बनने वाले उस पुरुष को जानने वाला ही मुक्त होता है, ब्रह्मप्राप्ति के लिये दूसरा मार्ग नहीं है। इन श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म का उभयविध कारणत्व सिद्ध होता है। उपर्युक्त सूत्र एवं श्रुतियों के विरुद्ध होने के कारण उपादानकारण एवं निमित्तकारण में भेद मानने वाला शैवमत त्याज्य सिद्ध होता है।

इतिहासपुराणैः श्रीमन्नारायणस्यैव परत्वसिद्धिः

इतिहास एवं पुराणों से श्रीमन्नारायण ही परतत्त्व एवं परब्रह्म सिद्ध होते हैं

इतिहासपुराणेषु च सृष्टिप्रलयप्रकरणयोरिदमेव परतत्त्वमित्यवगम्यते, यथा महाभारते "केन सृष्टमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। प्रलये च कमभ्येति तन्नो ब्रूहि पितामह !" इति पृष्टः "नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातन" इत्यादि च वदन् "ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः। जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्" इति च। प्राच्योदीच्यदाक्षिणात्यपाश्चात्यसर्वशिष्टैः सर्वधर्मसर्वतत्त्वव्यवस्थायामिदमेव पर्याप्तमित्यविगीतपरिगृहीतं वैष्णवं च पुराणम्—"जन्माद्यस्य यतः" इति जगज्जन्मादि-कारणं ब्रह्मेत्यवगम्यते तज्जन्मादिकारणं किमिति प्रश्नपूर्वकं "विष्णोः सकाशादुद्भूत" मित्यादिना ब्रह्मस्वरूपविशेषप्रतिपादनैकपरतया प्रवृत्तमिति सर्वसम्मतम्। तथा तत्रैव—"प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥" "परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः। विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते" इति। सर्ववेदवेदान्तेषु सर्वैः शब्दैः परमकारणतयाऽयमेव गीयत इत्यर्थः। यथा सर्वासु श्रुतिषु केवलपरब्रह्मस्वरूपविशेषप्रतिपादनायैव प्रवृत्तो नारायणानुवाकः, तथेदं वैष्णवं च पुराणम् "सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत्। बभूव भूयश्च यथा महाभाग ! भविष्यति। यन्मयं च जगद्ब्रह्मन् यतश्चतच्चराचरम्। लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च॥" इति परं ब्रह्म किमिति प्रक्रम्य—"विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम्। स्थितिसंयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः॥" परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः। रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ! अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः। वर्जितः शक्यते वक्तुं यस्सदाऽस्तीति केवलम्। सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स

वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ तद्ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् । एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥ तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् । तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् । स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः । अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनान्तराले । समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतवर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥ तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः । परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥ स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः । सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्ववेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥ "संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् । संदृश्यते वाप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्" इति परब्रह्मस्वरूपविशेषनिर्णयायैव प्रवृत्तम् । अन्यानि सर्वाणि पुराणान्यन्यपराण्येतदविरोधेन नेयानि । अन्यपरत्वं च तत्तदारम्भप्रकारैरवगम्यते, सर्वात्मना विरुद्धांशस्तामसत्वादनादरणीयः ।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी ने इतिहास और पुराणों के वचनों से श्रीमन्नारायण भगवान को परतत्त्व परब्रह्म सिद्ध करते हुए यह कहा कि इतिहास और पुराणों में सृष्टि और प्रलय के प्रकरणों से श्रीमन्नारायण ही परतत्त्व सिद्ध होते हैं। उदाहरण—श्रीमन्महाभारत में यह प्रश्न किया गया है कि—

केन सृष्टमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

अर्थात् हे पितामह भीष्माचार्य जी ! इस स्थावरजंगमात्मक सम्पूर्ण जगत की सृष्टि किसने की ? प्रलय में यह जगत् किसमें जाकर लीन होता है ? इस बात को हमें बतावें। इस प्रकार युधिष्ठिर जी के द्वारा पूछे जाने पर भीष्माचार्य ने कहा कि—

नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः ॥
ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥

अर्थात् अपरिच्छिन्न स्वरूप वाले सनातन नारायण ही विश्वरूप लेकर विराजमान हैं। इत्यादि कहकर भीष्माचार्य ने अन्त में कहा कि ऋषय इत्यादि। अर्थात् धर्म का उपदेश एवं अनुष्ठान करने वाले ऋषिगण, धर्म से आराध्य होने वाले पितृगण एवं देवगण, आकाश आदि पंचमहाभूत, उनसे होने वाले चर्म इत्यादि सात धातु अर्थात् देह धारक द्रव्य—जो धर्मफल के भोग में उपकरण बनते हैं—तथा स्थावर जंगमात्मक भोक्तृवर्ग यह सम्पूर्ण जगत् नारायण से उत्पन्न हुआ है। जगत् के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी पदार्थ नारायण से उत्पन्न हुये हैं महाभारत के इन वचनों से नारायण परतत्त्व एवं परब्रह्म सिद्ध होते हैं।

श्रीविष्णुपुराण से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। श्रीविष्णुपुराण परमप्रमाण ग्रन्थ है। प्राच्य औत्तर दाक्षिणात्य और पश्चिम देशीय सभी भारतीय शिष्ट विद्वन्महानुभावों ने सर्वधर्म और सर्वतत्त्वों की व्यवस्था देने के विषय में इस विष्णुपुराण को पर्याप्त प्रमाण माना है। एक देशीय विद्वानों ने नहीं, किन्तु सर्वदेशीय विद्वानों ने माना है, एकाध शिष्टों ने नहीं, किन्तु सभी शिष्टों ने माना है, एकाध व्यवस्था में इसे प्रमाण नहीं माना, किन्तु सर्व धर्म एवं सर्वतत्त्वों की व्यवस्था के विषय में इस विष्णुपुराण को परमप्रमाण माना है। यह श्रीविष्णुपुराण का वैशिष्ट्य है। इसके प्रामाण्य के विषय में किसी का भी मतभेद नहीं है। इस प्रकार सर्वमान्य होकर यह पुराण सर्वशिष्टों के द्वारा समादृत है। इस विष्णुपुराण में श्रीमैत्रेय जी प्रश्न कर्ता एवं श्रीपराशरब्रह्मर्षि उत्तरदाता हैं। मैत्रेय जी ने श्रीपराशरब्रह्मर्षि से वेद वेदाङ्ग और वेदान्त उपनिषदों का अध्ययन करके सब कुछ जान लिया है। तथापि अन्यान्य शाखाओं का अध्ययन न होने के कारण मैत्रेय जी के मन में यह सन्देह है कि हमने अधीत शाखा से यह जाना है कि जगत् के जन्म आदि का कारण ब्रह्म है, यदि दूसरी शाखाओं में—जिनका अध्ययन हमको नहीं हुआ है—दूसरी ही कुछ बात वर्णित हो तो क्या किया जाय। उसे पूछकर जानना चाहिये। इस अभिप्राय से मैत्रेय जी ने सामान्यरूप से यह प्रश्न पराशर ब्रह्मर्षि के सामने रक्खा कि जगत् के जन्म आदि का कारण क्या है, सब शाखाओं के मर्म को समझकर हमको उत्तर दिया जाय। मैत्रेय जी का यह प्रश्न सामान्यरूप को लेकर हुआ है। मैत्रेय जी ने ऐसा प्रश्न नहीं रक्खा कि श्रीविष्णु के परतत्त्व के विषय में कहिये या शिवजी के बड़प्पन के विषय में कहिये इत्यादि। यदि इस प्रकार प्रश्न रक्खे होते तो वह प्रश्न अवश्य विशेषविषयक माना जाता। मैत्रेय जी ने विशेषविषयक प्रश्न न रखकर सामान्यविषयक प्रश्न ही रखा। यदि मैत्रेय जी का प्रश्न एवं पराशर जी का उत्तर विशेषविषयक होते तो यह कहा जा सकता कि प्रश्न करने वाले के अभिमत अर्थ के विषय में उत्तर दिया गया है, इससे वह अर्थ सर्वशास्त्रसंमत सिद्ध नहीं हो सकता। विष्णुपुराण में मैत्रेय जी के द्वारा सामान्यरूप को लेकर प्रश्न इस प्रकार रखा गया है कि जगत् के जन्म आदि का कारण कौन है? उत्तरदाता श्रीपराशर ब्रह्मर्षि ने "विष्णोः सकाशादुद्भूतम्" इत्यादि श्लोकों से यह उत्तर दिया कि यह जगत् श्रीविष्णु भगवान् से उत्पन्न हुआ है इत्यादि। श्रीविष्णु भगवान को जगत्कारण सिद्ध करने वाला यह उत्तर विशेष रूप को लेकर प्रवृत्त हुआ है। सामान्यविषयक प्रश्न के विषय में विशेष रूप को लेकर प्रवृत्त इस उत्तर से श्रीपराशर जी का यह भाव व्यक्त होता है कि जगत् के जन्म आदि का कारण श्रीविष्णु भगवान् ही हैं, उसे कह देना चाहिये जगत्कारणतत्त्व को हम विशेष रूप से समझते हैं, सच्छिष्य को उसे अवगत कराना ही चाहिये। तत्त्वस्थिति ऐसी है, उसे क्यों छिपाया जाय। इसलिये श्रीपराशर ब्रह्मर्षि ने विशेष रूप को लेकर उत्तर दिया। जगत्कारणतत्त्व के विषय में प्रश्न किया गया। श्रीविष्णु भगवान को जगत्कारणतत्त्व कहकर उत्तर दिया गया। इन प्रारम्भिक प्रश्न प्रतिवचनों से सिद्ध होता है कि श्रीविष्णुपुराण ब्रह्म के स्वरूपविशेष का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त हुआ है। यह अर्थ सर्वमान्य है। इस विष्णुपुराण के प्रारम्भ में वर्णित प्रश्न एवं उत्तर से श्रीविष्णु भगवान् जगत्कारण परतत्त्व सिद्ध होते हैं। उपक्रम और उपसंहार से

ग्रन्थ का तात्पर्य समझ में आता है। उपर्युक्त उपक्रम से सिद्ध होता है कि श्रीविष्णु भगवान् को परतत्त्व सिद्ध करने में श्रीविष्णुपुराण का तात्पर्य है। उपसंहार भी इसके अनुकूल है। उपसंहार में श्रीपराशर-ब्रह्मर्षि कहते हैं कि—

प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी ।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥

अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप वाली प्रकृति—जिसे मैंने कहा था—और पुरुष ये दोनों प्रलय-काल में परमात्मा में लीन हो जाते हैं। वह परमात्मा सब के आधार एवं परमेश्वर हैं। उसका नाम विष्णु है। विष्णु नाम वाले वह परमात्मा वेद और वेदान्तों में वर्णित हैं। अग्नि इत्यादि सभी शब्द अग्नि आदि देवताओं के अन्तर्यामी बने हुये परमात्मा श्री विष्णु भगवान् के वाचक हैं। इस प्रकार वह परमात्मा सभी शब्दों के वाच्यार्थ हैं। वेद और वेदान्तों में परमकारणतत्त्व को बतलाने वाले सभी शब्द श्री विष्णु भगवान को ही परम कारण बतलाते हैं। इस उपसंहारस्थ वचन से श्री विष्णु पुराण का श्री विष्णु को परतत्त्व सिद्ध करने में तात्पर्य अभिव्यक्त होता है। किंच, जिस प्रकार संपूर्ण श्रुतियों में एक नारायणानुवाक केवल परतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त है उसी प्रकार यह विष्णु पुराण भी केवल परतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त है। यह अर्थ उपक्रम उपसंहार से व्यक्त होता है। उपक्रम में मैत्रेय जी का प्रश्न इस प्रकार वर्णित है कि—

सोऽहमिच्छामि धर्मज्ञ श्रोतुं त्वत्तो यथा जगत् ।
बभूव भूयश्च यथा महाभाग भविष्यति ॥
यन्मयं च जगद् ब्रह्मन् यतश्चैतच्चराचरम् ।
लीनमासीद्यथा यत्र लयमेष्यति यत्र च ॥

अर्थात् हे धर्मज्ञ ! मैं आपसे यह सुनना चाहता हूँ कि यह चराचर जगत् पूर्व काल में किस से उत्पन्न हुआ, इस जगत का उत्पादन कारण एवं निमित्त कारण कौन था, क्या दोनों कारण एक ही था, या भिन्न २ था ? यह जगत किस प्रकार उत्पन्न हुआ, क्या यह जगत शून्य है, अथवा भ्रम से दिखाई देने वाला विवर्त पदार्थ है, अथवा किसी का स्वरूप परिणाम है, अथवा किसी का सद्वारक परिणाम है ? भाव यह है कि जगत्कारणतत्व ने दूसरे किसी के द्वारा इस जगत को उत्पन्न किया हो तो यह जगत सद्वारक अर्थात् किसी के द्वारा होने वाला परिणाम सिद्ध होता है। उपर्युक्त प्रकारों में किस प्रकार से यह जगत उत्पन्न हुआ ? उत्तरकाल में भी यह जगत किससे किस प्रकार उत्पन्न होने वाला है ? मैंने जिन वेद शाखाओं का अध्ययन नहीं किया है, यदि उन शाखाओं में विभिन्न कालों में विभिन्न कारणों से विभिन्न प्रकारों से जगत

की उत्पत्ति बतलाई गई हो तो कृपया उसे भी बतला दिया जाय। "यन्मयं च जगद् ब्रह्मन्" हे ब्रह्मन्! इस जगत की स्थिति का कारण कौन है ? स्थिति कारण दो प्रकार का हो सकता है। (१) बाहर रह कर स्थिति को सम्हालता है। (२) दूसरा अन्दर कण २ में व्याप्त रह कर धारण करता हुआ स्थिति का कारण बनता है। इन दोनों स्थिति कारणों को मैं जानना चाहता हूँ। यह जगत पूर्वकाल में किस में लीन था, कैसे लीन था, उत्तर काल में किसमें लीन होगा, किस प्रकार लीन होगा। इन सब बातों को मैं जानना चाहता हूँ। यदि अनधीत शाखाओं में विभिन्न कालों में विभिन्न लयकारण तथा लय के विभिन्न प्रकार बतलाये गये हों तो उनको भी बता दिया जाय। इस प्रकार शिष्य मैत्रेय जी ने जगत्कारण परब्रह्म के विषय में प्रश्न किया है। इस प्रश्न को लेकर विष्णु पुराणका प्रारम्भ होता है। यह प्रश्न सामान्य रूप को लेकर प्रवृत्त हुआ है। अमुक देवता के विषय में कहिये, इस प्रकार विशेष रूप को लेकर यह प्रश्न प्रवृत्त नहीं हुआ है। इस सामान्य प्रश्न का उत्तर सामान्य रूप को लेकर भी दिया जा सकता है। परन्तु गुरु श्री पराशर ब्रह्मर्षि ने यह विचार किया कि सामान्य रूप से उत्तर देने पर भी फिर शिष्य को विशेष जिज्ञासा होगी ही, इस लिये विशेष रूप को लेकर ही उत्तर देना उचित है, उससे विशेष जिज्ञासा भी शान्त हो जायगी। यह सोचकर श्री पराशर ब्रह्मर्षि ने शिष्यवात्सल्य से प्रेरित होकर इस प्रकार विशेष रूप को लेकर उत्तर दिया कि—

विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत् तत्रैव च स्थितम्।
स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः।

अर्थात्—जगत् श्री विष्णु भगवान से उत्पन्न हुआ है। आज कल का जगत ही नहीं किन्तु अतीत ब्रह्मकल्पों में जितने जगत उत्पन्न हुये हैं, वे सभी श्री विष्णु भगवान से ही उत्पन्न होंगे। यह बात नहीं कि विभिन्न कालों में विभिन्न जगत्कारण होते हों। सभी कालों में एकमात्र श्री विष्णु भगवान ही जगत् का आदि कारण हैं। विष्णु शब्द में विद्यमान अर्थप्रतिपादिका शक्ति दो प्रकार की है (१) योग शक्ति और (२) रूढ़ि शक्ति। विष्णु शब्द में अन्तर्गत प्रकृति और प्रत्यय के अर्थों के अनुसार अर्थ करना योग शक्ति है। उस योग शक्ति के अनुसार विष्णु शब्द व्यापक तत्त्व को बतलाता है। रूढ़ि शक्ति के अनुसार विष्णु शब्द व्यापक नारायण भगवान को बतलाता है। इससे सिद्ध होता है कि श्री नारायण भगवान से जगत उत्पन्न हुआ है। श्रीमन्नारायण भगवान जगत्कारण तत्त्व को विशेष रूप में उपस्थित करके श्री पराशर ब्रह्मर्षि ने शिष्य की सामान्य जिज्ञासा एवं विशेष जिज्ञासा को शान्त किया है। किंच व्यापक होने से विष्णु भगवान चेतना चेतन तत्त्वों के अन्दर बाहर व्याप्त होकर रहते हैं, इसके यह सिद्ध होता है कि व्यापक विष्णु भगवान जब रहते हैं, तब व्याप्य चेतनाचेतन पदार्थ भी रहते हैं। व्याप्य के बिना व्यापक कैसे रह सकता है। व्यापक निर्विकार विष्णु भगवान, साथ रहने वाले चेतना चेतन पदार्थों के द्वारा इस जगत की सृष्टि करते हैं। यह जगत श्री विष्णु भगवान् का संहारक

अर्थात् चेतनाचेतनों के द्वारा होने वाला परिणाम है। यह जगत शून्य नहीं है, विवर्त नहीं, न ब्रह्म का स्वरूपपरिणाम ही है, अपितु परब्रह्म विष्णु भगवान का ही सद्वारक परिणाम है। सृष्टि का यह प्रकार ध्यान देने योग्य है। "जगत् तत्रैव च स्थितम्" जगत् कहाँ लीन होगा, जगत के लय का स्थान कौनसा है ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि जगत् उस श्री विष्णु भगवान में ही लीन होगा, वह भी चेतनाचेतनों में लीन होकर उनके द्वारा श्री विष्णु भगवान में लय को प्राप्त होगा। "स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतः" यह विष्णु भगवान ही जगत का संहार करते हैं, तथा बाहर रहकर स्थिति का कारण बनते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि बाह्य स्थितिकारण एवं लय कारण श्री विष्णु भगवान हैं। आन्तरस्थितिकारण के विषय में जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर यह है कि "जगच्च सः" यह जगत श्री विष्णु भगवान ही है क्योंकि वे इस जगत के अन्दर अन्तर्यामी के रूप में विराजमान होकर, अन्दर रहकर, स्थिति को सम्हालते हुए जगद्रूप को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार शिष्य के सब प्रश्नों के उत्तर इस श्लोक में दिये गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्री विष्णु पुराण श्री विष्णु भगवान को जगत्कारण परतत्त्व परब्रह्म सिद्ध करने में तात्पर्य रखता है।

श्री विष्णु पुराण में, नमस्कार श्लोकों के बाद जो श्लोक कहे गये हैं, उनमें श्री विष्णु भगवान का जगत्कारणत्व पुष्ट हो जाता है तथा श्री भगवान के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन भी सिद्ध हो जाता है। वे श्लोक ये हैं—

परः पराणां परमः परमात्मात्मसंस्थितः ।
रूपवर्णादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः ॥
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः ।
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ॥

अर्थात् पूर्वोदाहृत "विष्णोः सकाशात्" इस श्लोक से श्री विष्णु भगवान को जगत्कारण कहा गया है। अपरिच्छिन्न होने पर ही श्री विष्णु भगवान इस विशाल जगत का कारण बन सकते हैं। परिच्छिन्न होने पर परिमित कार्यों का ही कारण बन सकते हैं अपरिमित कार्यों का नहीं। परिच्छिन्न कारण से अपरिमित कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। श्री भगवान के सर्वकारणत्व सिद्ध करने के लिये उनकी अपरिच्छिन्नता का वर्णन करना चाहिये। वह अपरिच्छिन्नता "परः पराणाम्" इत्यादि श्लोकों से कही जाती है। श्रुति ने भी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कह कर परब्रह्म को अनन्त कहा है। अनन्त शब्द का अर्थ है अपरिच्छिन्न। जिसमें परिच्छेद न हो वह पदार्थ अपरिच्छिन्न कहा जाता है। परिच्छेद तीन प्रकार का है। (१) कालपरिच्छेद— किसी काल में होना और किसी काल में न होना यही पदार्थ का कालपरिच्छेद है। यह परिच्छेद ब्रह्म में नहीं क्योंकि वह सभी कालों में रहता है। (२) देशपरिच्छेद—किसी देश में होना और अन्य देशों में न होना यही पदार्थ का देशपरिच्छेद है। यह परिच्छेद ब्रह्म में नहीं क्योंकि वह सभी देश में रहता है। (३) वस्तु परिच्छेद—किसी वस्तु के रूप में होना और अन्य वस्तुओं के रूप में न होना यह वस्तुपरिच्छेद है, यह परिच्छेद ब्रह्म में नहीं क्योंकि वह सर्वान्तर्यामी होने के कारण सर्व रूपों को धारण करता हुआ सर्व

वस्तुओं के रूप में विद्यमान रहता है। सर्व वस्तुओं के वाचक शब्दों के अभिहित होने से अन्तर्यामितत्त्व वस्तुपरिच्छेद रहित हो जाता है। परब्रह्म में उपर्युक्त तीनों प्रकार का परिच्छेद नहीं लगता। इस लिये वह श्रुतियों में अनन्त कहा गया है। इसी प्रकार "परः पराणाम्" यह विष्णुपुराणश्लोक श्री विष्णु भगवान को त्रिविधपरिच्छेदरहित बतलाता है। इससे श्री विष्णु भगवान परब्रह्म सिद्ध होते हैं। "परः पराणां परमः" ब्रह्मादि देवगण अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रहते हैं। अत एव ब्रह्मा जी की आयु पर अर्थात् सबसे बड़ी कहलाती है। अधिक आयु वाले ब्रह्मा आदियों से भी श्री भगवान अधिककाल-जीवी होने से बड़े हैं। श्री भगवान सभी कालों में विद्यमान रहते हैं। उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे अमुक काल में रहते हैं अमुक काल में नहीं। इससे श्री भगवान का कालापरिच्छेद कहा गया है। "परमात्मा" श्री भगवान सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं वे सभी देशों में रहते हैं, इससे देशापरिच्छेद कहा गया है। "आत्मसंस्थितः" श्री भगवान अपने बल पर टिके हुये हैं, अन्य सभी चेतनाचेतन पदार्थ श्री भगवान का आश्रय लेकर सत्ता प्राप्त करते हैं। सर्व वस्तुओं के अन्दर रहकर श्री भगवान सर्व वस्तुओं को धारण करते हैं। वे सर्वान्तिर्यामी हैं, बहुरूपिये की तरह विश्वरूप से वे ही प्रकट हैं। इससे वस्तुपरिच्छे-दाभाव कहा गया है। इस प्रकार पूर्वार्ध से त्रिविधपरिच्छेदाभाव वर्णित हुआ है। आगे इन तीनों परिच्छेदों का अभाव विस्तार से बतलाया जाता है। उसमें कालपरिच्छेदाभाव को विस्तार से बतलाते हुये श्री भगवान को कालपरिच्छिन्न पदार्थों से व्यावृत्त अर्थात् भिन्न कहते हैं। लोक में जो पदार्थ कालपरिच्छिन्न रहता है अर्थात् किसी काल में रहता है तथा अन्य कालों में नहीं रहता है उस कालपरिच्छिन्न पदार्थ में ये स्वभाव देखने में आते हैं। उस पदार्थ में गुण और क्रिया इत्यादि रहते हैं। ये उस पदार्थ में विशेषण बनकर रहते हैं। इन धर्मों को बतलाने वाले शब्द उस धर्मी पदार्थ तक को बतलाते हैं। इस प्रकार कालपरिच्छिन्न घटादि पदार्थ उपर्युक्त धर्मों से युक्त एवं उन धर्मों के वाचक शब्दों का वाच्य बन कर रहता है। कालपरिच्छिन्न पदार्थ इस प्रकार के होते हैं। श्री भगवान कालापरिच्छिन्न हैं अतएव जाति गुण और क्रिया इत्यादि विशेषणों से रहित है तथा उन विशेषणों को बतलाने वाले शब्दों के द्वारा नही बतलाये जा सकते हैं। यह श्री भगवान की विशेषता है क्योंकि वे कालपरिच्छेदरहित हैं। किंच, कालपरिच्छिन्न पदार्थों में ६ भावविकार होते रहते हैं। श्री भगवान में वे विकार नहीं होते हैं छः भावविकार ये हैं (१) जन्म ले लेना, (२) विद्यमान होना, (३) बढना, (४) एक रूप से परिणाम को प्राप्त होते रहना, (५) घटना और (६) नष्ट होना। ये कालपरिच्छिन्न पदार्थों में हुआ करते हैं। श्री भगवान में ये विकार नहीं हैं। श्री भगवान के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वे सदा रहते हैं। सारांश यह है कि कालपरिच्छिन्न पदार्थों में जात्यादि स्वभाव रहते हैं वे जात्यादि वाचक पदार्थों से अभिहित होते हैं तथा उनमें छः भावविकार होते हैं श्री भगवान में ये सब बातें नहीं हैं। वे सदा एक रूप से विद्यमान रहते हैं। अतएव वे कालापरिच्छिन्न माने जाते हैं। आगे दो श्लोक श्री भगवान को देशापरिच्छेदरहित बतलाते हैं। वे ये हैं कि—

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥
तद् ब्रह्म परमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
एकस्वरूपं च सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥

अर्थात् श्री भगवान वासुदेव कहलाते हैं। वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा श्री भगवान देशपरिच्छेद से रहित हैं। वासुदेव शब्द "वासु" और "देव" इन शब्दों के समास से बना है "वासु" शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की है। (१) वसतीति वासुः (२) वसत्यस्मिन्निति वासुः प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ निकलता है कि श्री भगवान सर्वत्र निवास करते हैं इस लिये "वासु" कहलाते हैं। द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ निकलता है कि श्री भगवान में सब पदार्थों का निवास होता है। इस लिये श्री भगवान "वासु" कहलाते हैं। इस प्रकार श्री भगवान सब में निवास करते हुये तथा सबका निवासस्थान बनते हुये लीला करते रहते हैं इस लिये वे वासुदेव कहलाते हैं। इस वासुदेव शब्द की दो शक्तियां हैं। (१) योगशक्ति और (२) रूढ़िशक्ति। यह वासुदेव शब्द योगशक्ति के अनुसार सर्वत्र निवास करने वाले तथा सबको अपने में निवास देने वाले लीलारसिक भगवान को बतलाता है। यह शब्द रूढ़िशक्ति से श्रीमन्नारायण भगवान को बतलाता है। इस प्रकार योगरूढ़ यह वासुदेव शब्द श्रीमन्नारायण भगवान को सर्वत्र निवास करने वाला तथा अपने में सबको निवास देने वाला बतलाता है। श्री भगवान का सर्वत्र देशों में निवास होने के कारण इस शब्द से श्री भगवान की देश-परिच्छेदरहितता बतलायी जाती है। इससे श्री भगवान देशापरिच्छिन्न सिद्ध हुये।

यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि श्रुति ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहकर परब्रह्म को अनन्त अर्थात् त्रिविधपरिच्छेदरहित कहा गया है। यहाँ वासुदेव भगवान को त्रिविधपरिच्छेदरहित कहा जाता है। यह कैसे संगत है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्रीपराशर ब्रह्मर्षि "तद् ब्रह्म परमम्" इस श्लोक से कहते हैं कि वह वासुदेव ही परब्रह्म है। परब्रह्म है "अजम्" अर्थात् उसका जन्म नहीं होता, जन्म के बाद जो अस्तित्व प्राप्त होता है वैसा अस्तित्व भी उसमें नहीं। वह परब्रह्म "अक्षयम्" है उसका नाश नहीं होता। वह परब्रह्म "अव्ययम्" है अर्थात् घटता भी नहीं। "एक स्वरूपम्" वह परब्रह्म एक स्वरूप से रहता है न उसमें वृद्धि होती है और न विपरिणामावस्था होती है। इसप्रकार परब्रह्म नित्य है सदा रहने वाला है। इन विशेषणों से सिद्ध होता है कि परब्रह्म जन्म इत्यादि छः भावविकारों से युक्त अचेतन पदार्थ से सर्वथा विलक्षण है। वह परब्रह्म "निर्मलम्" है उसमें मलिनता स्थान नहीं पाती। बद्धजीव मलिन हैं। इस विशेषण से परब्रह्म बद्ध-जीवों से विलक्षण सिद्ध होता है। किंच परब्रह्म कभी भी दोष न होने से सदा निर्मल रहता है। मुक्त जीव भी पूर्वावस्था में मलिन रहते हैं। इस विशेषण से परब्रह्म मुक्त जीवों से विलक्षण सिद्ध होता है। किंच परब्रह्म "परमम्" है, उससे बढ़कर कोई नहीं होता। नित्यसूरियों से बढ़कर ईश्वर होते हैं इस विशेषण से

सिद्ध होता है कि परब्रह्म नित्यसूरियों से विलक्षण है। इस प्रकार जो परब्रह्म अचेतन एवं बद्ध मुक्त नित्य चेतनों से अत्यन्त विलक्षण है वह परब्रह्म वासुदेव ही है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति ने "अनन्त" पद से योगशक्ति के द्वारा परब्रह्म को त्रिविधपरिच्छेदरहित बतलाया, साथ ही रूढ़िशक्ति से उस परब्रह्म को विष्णु भगवान कहा है। "अनन्त" ऐसा विष्णु भगवान का नाम है। विष्णु भगवान को परब्रह्म कहने में ही श्रुति का तात्पर्य है। उस तात्पर्य को समझ कर यहाँ श्री वासुदेव भगवान को परब्रह्म कहा गया है। वासुदेव विष्णु और नारायण इत्यादि शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

आगे श्री पराशर ब्रह्मर्षि ने विष्णु भगवान की वस्तुपरिच्छेदरहितता का विवरण करते हुये कहा है कि—

तदेव सर्वमेवैतद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥

अर्थात् वह परब्रह्म व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप वाले इस जडप्रपञ्च के रूप में, पुरुष के रूप में एवं काल के रूप में अवस्थित है। चेतनाचेतन एवं काल परब्रह्म का शरीर है। परब्रह्म इन शरीरों को धारण कर इन पदार्थों के रूप में विद्यमान है। सर्वान्तर्यामी होने के कारण विश्वरूप को लेकर विराजमान रहता है। यही परब्रह्म का वस्तुपरिच्छेदाभाव है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने श्री विष्णुपुराण के प्रारम्भ में पठित श्लोकों का उद्धरण देकर कहा है कि श्री विष्णु भगवान को परतत्त्व सिद्ध करने में इस पुराण का तात्पर्य है।

आगे श्री विष्णुपुराण के उपसंहार में विद्यमान श्लोकों से यह सिद्ध करते हैं कि श्रीविष्णुपुराण का भगवान के परत्व में तात्पर्य है। वे श्लोक ये हैं कि—

स सर्वभूतप्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः।
अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनान्तराले॥

अर्थात्—मुने, वह ईश्वर सर्व भूतों का मूल कारण बनने वाली प्रकृति, महतत्त्व इत्यादि विकार सत्त्व रज और तमोगुण एवं उनसे होने वाले राग द्वेष और दुःख इत्यादि दोषों से विशेष करके दूर रहने वाला है। वह सब तरह के ज्ञान के आवरणों से रहित है। वह सर्व जगत का अन्तरात्मा है। इस जगत के मध्य में विद्यमान सभी पदार्थ उससे व्याप्त हैं। इस प्रकार इस श्लोक से सर्वेश्वर सर्व दोषों से रहित बतलाये गये।

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतवर्गः
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः समाधिताशेषजगद्धितोऽसौ॥

अर्थात् सबको अनुकूल होना तथा सबको मंगलकारी होना यही सर्वेश्वर के दिव्यात्मस्वरूप का स्वभाव है। इस प्रकार के उत्तम स्वभाव से संपन्न दिव्यात्म स्वरूप को सर्वेश्वर अपनाये हुये हैं।

सर्वेश्वर का यह दिव्यात्मस्वरूप अपनी शक्ति के लेशमात्र से विविध कार्य वर्गों को धारण करता रहता है। इस प्रकार वह अनायास ही सबका धारक बना है। सर्वेश्वर का दिव्य मंगल विग्रह भी अत्यन्त विलक्षण है। वे अपनी इच्छा से बड़े २ अभीष्ट, अप्राकृत एवं दिव्य मंगल विग्रहों को धारण करते रहते हैं। इन दिव्य मंगल विग्रहों से संपूर्ण जगत के हितों को साधते रहते हैं। जगत के हितों का साधना ही दिव्य मंगल विग्रह का प्रयोजन है। इस प्रकार इस श्लोक से श्री भगवान का दिव्यात्मस्वरूप समस्त कल्याणों का निधि बतलाया गया है।

तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे ॥

अर्थात् श्री भगवान् में अनन्त कल्याण गुण विद्यमान हैं। उनमें छः गुण प्रधान हैं, अन्यान्य गुण इनका विस्तार रूप है। वे छः गुण ये हैं कि (१) तेज (२) बल (३) ऐश्वर्य (४) ज्ञान (५) वीर्य और (६) शक्ति। सब पदार्थों को अपने अधीन रखें किसी से दबे नहीं—इस गुण को तेज कहते हैं। सबको धारण करने की सामर्थ्य बल है। सबका नियमन करना ऐश्वर्य है। सबको एक साथ प्रत्यक्ष में सदा स्वयं जानना यही ज्ञान है। ईश्वर का ज्ञान महान् है, इससे वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। अविकृत रहना वीर्य है। जगत का उपादान कारण बनने की क्षमता एवं अघटितघटनाशक्ति शक्ति है। ऐसे २ कल्याणगुणों की एक महती राशि श्रीभगवान में विद्यमान है। श्रीभगवान सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मा आदि देवों से तथा नित्यसूरियों से भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। वे छोटे बड़े सब पर शासन करने वाले हैं। उनमें क्लेश कर्म, उनका फलभोग और संस्कार इत्यादि दोष सर्वथा नहीं रहते हैं। इस प्रकार इस श्लोक से श्रीभगवान सर्वकल्याणगुणसंपन्न बतलाये गये हैं।

स ईश्वरो व्यष्टिसमष्टिरूपोऽव्यक्तस्वरूपः प्रकटस्वरूपः ।
सर्वेश्वरः सर्वदृक् सर्ववेत्ता समस्तशक्तिः परमेश्वराख्यः ॥

अर्थात् परब्रह्म वह ईश्वर ही है, वह ईश्वर से अतिरिक्त नहीं है। कार्यावस्था में रहनेवाले जीव व्यष्टि जीव कहलाते हैं। कारणावस्था में रहने वाले जीव समष्टि जीव कहलाते हैं। ये सभी जीव ईश्वर का शरीर हैं, ईश्वर इनका अन्तरात्मा है। कारणावस्था में रहने वाला अचेतन पदार्थ अव्यक्त कहलाता है, कार्यावस्था में आया हुआ अचेतन द्रव्य प्रकट कहलाता है। यह दोनों प्रकार का अचेतन श्रीभगवान का शरीर है, इसलिये वे सर्वेश्वर कहे जाते हैं। किंच, श्रीभगवान सामान्यरूप से तथा विशेष रूप से सब पदार्थों को जानते रहते हैं। श्रीभगवान सर्वशक्ति संपन्न हैं। श्रीभगवान से बढ़कर कोई ईश्वर नहीं है जो श्रीभगवान के ऊपर शासन कर सके इसलिये श्रीभगवान परमेश्वर कहे जाते हैं। इस श्लोक से चेतनाचेतन प्रपञ्च श्रीभगवान का शरीर तथा श्री भगवान इस प्रपञ्च का आत्मा कहे गये हैं।

संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम् ।
संदृश्यते वाप्यधिगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ॥

अर्थात् वह परब्रह्म परमात्मा श्रीविष्णु भगवान निर्दोष हैं, उनमें विकाररूप कोई दोष नहीं होता। विकाररूपी दोष प्रकृति में होते हैं, निर्दोष भगवान प्रकृति से विलक्षण हैं। परब्रह्म शुद्ध हैं, कर्मवश्यता ही बड़ी अशुद्धि है, वह बद्ध जीवों में होती है, शुद्ध भगवान बद्ध जीवों से विलक्षण हैं। परब्रह्म निर्मल है। कर्मसम्बन्ध होने की योग्यता ही मल है, यह मल मुक्त जीवों में भी रहता है, वे कर्मसम्बन्ध होने के योग्य हैं अतएव उनमें पूर्वावस्था अर्थात् संसारावस्था में कर्मसंबन्ध रहता है, यह योग्यता श्रीभगवान में नहीं है इससे श्रीभगवान मुक्तों से विलक्षण सिद्ध होते हैं। श्रीभगवान एकरूप हैं, उनके सम कोई नहीं, अधिक तो है ही नहीं, वे सदा प्रधान बनकर रहते हैं। यह योग्यता नित्यसूरियों में भी नहीं क्योंकि उनसे भी श्रेष्ठ श्रीभगवान विराजमान हैं। इससे श्रीभगवान नित्यसूरियों से विलक्षण होते हैं। इस प्रकार अचेतन पदार्थ एवं बद्ध मुक्त और नित्यचेतनों से अत्यन्त विलक्षण परब्रह्म जिस शास्त्रजन्य ज्ञान से जाना जाता है, जिस यौगिक ज्ञान से साक्षात्कृत होता है तथा जिस परमभक्तिरूपापन्न ज्ञान से प्राप्त होता है, वे ज्ञान ही ज्ञान हैं और सब अज्ञान ही कहा गया है।

इस प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार के प्रसंगों को देखने पर यही निर्णय करना पड़ता है कि श्रीविष्णुपुराण परब्रह्मस्वरूपविशेष का निर्णय करने के लिये अर्थात् श्रीविष्णुभगवान को परब्रह्म एवं परतत्त्व सिद्ध करने के लिये ही प्रवृत्त हुआ है। सामान्यरूप से प्रश्न एवं विशेषरूप से उत्तरों का उल्लेख होने से यही सिद्ध होता है कि इस पुराण का उपर्युक्त अर्थ को बतलाने में ही तात्पर्य है। अन्य पुराणविशेष प्रश्नों को लेकर ही प्रवृत्त हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रश्न करने वाले के अभिमत अर्थ को बतलाने के लिये वे पुराण प्रवृत्त हैं, यथार्थ रीति से तत्त्वस्थिति को बतलाने में उनका तात्पर्य नहीं। श्रीविष्णुपुराण के अविरुद्ध रीति से उन पुराणों का निर्वाह करना ही उचित है। यदि अत्यन्त विरुद्ध अर्थ वर्णित हो तो उसका अनादर ही करना चाहिये क्योंकि वे पुराण तामस हैं, रज एवं तमोगुण उनका मूल है, वे पुराण श्रुतियों से विरोध रखते हैं। इसलिये उन विरुद्ध अर्थों का अनादर ही करना चाहिये जो तामसपुराणों में वर्णित हैं।

त्रिमूर्तिसाम्यशंकायाः समाधानम्

त्रिमूर्तिसाम्यशंका का समाधान

नन्वस्मिन्नपि---सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्। स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥' इति त्रिमूर्तिसाम्यं प्रतीयते, नैतदेवम्---एक एव जनार्दन इति जनार्दनस्यैव ब्रह्मशिवादिकृत्स्नप्रपञ्चतादात्म्यं विधीयते। जगच्च स इति पूर्वोक्तमेव विवृणोति--'स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च। उपसंह्रियते चान्ते

संहर्ता च स्वयं प्रभुः ॥' इति च स्रष्टृत्वेनावस्थितं ब्रह्माणं सृज्यं च संहर्तारं संहार्यं च युगपन्निर्दिश्य सर्वस्य विष्णुतादात्म्योपदेशात्सृज्यसंहार्यभूताद्वस्तुनः स्रष्टृसंहर्त्रोर्जनार्दन-विभूतित्वेन विशेषो दृश्यते, जनार्दनविष्णुशब्दयोः पर्यायत्वेन 'ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका'मिति विभूतिमत एव स्वेच्छया लीलार्थं विभूत्यन्तर्भाव उच्यते, यथेदमनन्तरमेव उच्यते— 'पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च । सर्वेन्द्रियान्तःकरणं पुरुषाख्यं हि यज्जगत् । स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः । सर्गादिकं ततोऽस्यैव भूतस्थमुपकारकम् । स एव सृज्यः स च सर्गकर्त्ता, स एव पात्यत्ति च पाल्यते च' इति, ब्रह्माद्यवस्था-भिरशेषमूर्त्तिः विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः' इति । अत्र सामानाधिकरण्यनिर्दिष्टं हेयमिश्रप्रपंचतादात्म्यं निरवद्यस्य निर्विकारस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य ब्रह्मणः कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्य 'स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्यय' इति स्वयमेवोप-पादयति । स एव सर्वेश्वरेश्वरः परब्रह्मभूतो विष्णुरेव सर्वं जगदिति प्रतिज्ञाय 'सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्यय इतिहेतुरुक्तः, वक्ष्यति च 'तत्सर्वं वै हरेस्तनु'रिति ।

एतदुक्तं भवति—अस्याव्ययस्यापि परस्य ब्रह्मणो विष्णोर्विश्वशरीरतया तादात्म्यविरुद्धमिति, आत्मशरीरयोश्च स्वभावा व्यवस्थिता एव । एवंभूतस्य सर्वेश्वरस्य विष्णोः प्रपंचान्तर्भूतनियाम्यकोटिनिविष्टब्रह्मादिदेवतिर्यङ्मनुष्येषु तत्तत्समाश्रयणीयत्वाय स्वेच्छाऽवतारः पूर्वोक्तः । तदेतद्ब्रह्मादीनां भावनात्रयान्वयेन कर्मवश्यत्वम्, भगवतः परब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य निखिलजगदुपकाराय स्वेच्छया स्वेनैव रूपेण देवादिष्ववतार इति च षष्ठेंऽशे शुभाश्रयप्रकरणे सुव्यक्तमुक्तम् । अस्य देवादिरूपेणावतारेष्वपि न प्राकृतो देह इति महाभारते—'न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः' इति प्रतिपादितम् । श्रुतिश्च 'अजायमानो बहुधा विजायते—तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्' इति । कर्मवश्यानां ब्रह्मादीनामनिच्छतामपि तत्तत्कर्मानुगुणप्रकृतिपरिणाम-रूपभूतसंघसंस्थानविशेषदेवादिशरीरप्रवेशरूपं जन्मावर्जनीयम् । अयं तु सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्पो भगवानेवंभूतशुभेतरजन्माऽकुर्वन्नपि स्वेच्छया स्वेनैव निरतिशयकल्याणरूपेण देवादिषु जगदुपकाराय बहुधा जायते । तस्यैतस्य शुभेतरजन्माकुर्वतोऽपि स्वकल्याण-गुणानन्त्येन बहुधा योनिं बहुविधजन्म, धीराः—धीमतामग्रेसरा जानन्तीत्यर्थः ।

आगे शैवों ने एक पूर्वपक्ष रक्खा । वह यह है कि श्रीविष्णुपुराण के एक श्लोक से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन त्रिमूर्तियों में समता सिद्ध होती है । श्रीविष्णुभगवान को सबसे श्रेष्ठ कैसे माना जाय ? वह श्लोक यह है कि—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥

अर्थात् एक जनार्दन भगवान सृष्टि स्थिति और संहार करने वाले ब्रह्मा विष्णु और शिव ऐसे तीन नामों को प्राप्त होते हैं। इस श्लोक से ब्रह्मा विष्णु और शिव में साम्य प्रतीत होता है। श्रीविष्णु भगवान ब्रह्मा और शिव से श्रेष्ठ नहीं हो सकते। यह शैवों का पूर्वपक्ष है। इसके समाधान में श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि, इस श्लोक में त्रिमूर्तियों में समता सिद्ध नहीं होती है। यहां पर "एक एव जनार्दन." कहकर जनार्दन भगवान का ब्रह्मा और शिव इत्यादि संपूर्ण प्रपञ्च के साथ तादात्म्य अर्थात् अभेद का वर्णन है। "ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्" यह उक्ति संपूर्ण जगत का प्रदर्शनार्थ है। इस श्रीविष्णुपुराण के उपक्रम में "जगच्च सः" कहकर श्रीविष्णुभगवान का जगत के साथ तादात्म्य वर्णित है। उसका विवरण यहां पर हो रहा है। जगत के साथ श्रीभगवान के तादात्म्य का वर्णन आगे भी मिलता है। वह श्लोकयह है कि—

सृष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च ।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः ॥

अर्थात् श्रीविष्णुभगवान ही सृष्टि करने वाले हैं, भाव यह है कि सृष्टि करने वाले ब्रह्मा विष्णु हैं। श्रीविष्णु अपनी ही सृष्टि करते हैं, भाव यह है कि सृष्टि को प्राप्त होने वाले सृज्यपदार्थ भी श्रीविष्णु ही हैं। रक्षा करने वाले श्रीविष्णु हैं, रक्षा को प्राप्त करने वाले पदार्थ भी श्रीविष्णु ही हैं। अन्त में उपसंहार को प्राप्त होने वाला पदार्थ श्रीविष्णु हैं तथा उपसंहार करने वाला रुद्र भी स्वयं प्रभु श्रीविष्णु भगवान ही हैं। इस श्लोक में सृष्टि करने वाले ब्रह्मा सृष्टि को प्राप्त होने वाले सृज्यपदार्थ संहार करने वाले रुद्र तथा संहार को प्राप्त होने वाले संहार्यपदार्थ का एक साथ निर्देश करके इन सबका श्रीविष्णुभगवान के साथ अभेद का वर्णन है। सृज्य एवं संहार्य पदार्थों का श्रीविष्णु के साथ जिस प्रकार का अभेद होगा उसी प्रकार का ही अभेद ब्रह्मा और शिवजी को विष्णु के साथ होगा। सृज्य एवं संहार्य पदार्थ श्रीभगवान का शरीर है, श्रीभगवान इनके अन्तर्यामी हैं, इस शरीरात्मभाव को लेकर उनका विष्णु के साथ तादात्म्य वर्णित है, इससे वे श्रीभगवान की विभूति (नियन्तव्य पदार्थ) सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार ही ब्रह्मा और शिवजी श्रीभगवान के शरीर हैं, श्रीभगवान इनमें अन्तर्यामी हैं। इनमें शरीरात्मभाव संबन्ध है, इस संबन्ध के कारण इनका श्रीविष्णुभगवान के साथ तादात्म्य वर्णित है। इससे ब्रह्मा और शिव श्रीभगवान की विभूति सिद्ध होते हैं। अधीन रहने वाली वस्तु विभूति है। इससे यह विशेष फलित हुआ कि ब्रह्मा और शिव स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु श्रीभगवान के आधीन रहने वाले हैं। इस विशेषता को—ब्रह्मा और शिवजी भी अन्यान्य पदार्थों के समान श्रीभगवान के आधीन रहने वाले हैं, इस तत्त्व को बतलाने के लिये ही यहाँ तादात्म्य वर्णित है। ब्रह्मा और शिवजी के साथ विष्णु का जो नाम लिया गया है वह अवतार के अभिप्राय से लिया गया है। उस श्लोक में विद्यमान विष्णु शब्द और जनार्दन शब्द एक अर्थ के वाचक हैं। इनकी पर्यायता कोषसिद्ध है। चतुर्मुख ब्रह्मा का वाचक ब्रह्मशब्द और शिव शब्द जनार्दन शब्द का पर्याय

नहीं माने जाते हैं। विष्णु शब्द जनार्दन शब्द का पर्याय माना जाता है। इससे ही प्रमाणित होता है कि संपूर्ण विभूति के स्वामी श्री जनार्दन भगवान ने ही स्वेच्छा से लीला करने के लिये विष्णु के रूप में ब्रह्मा और शिवजी के मध्य में अवतार लिया है। इस अवतार को व्यक्त करने के लिये ब्रह्मा और शिवजी के मध्य में विष्णु भगवान अवतार हैं। यह अन्तर है। ऐसी स्थिति में उनमें समता हो नहीं सकती।

ब्रह्मा और शिव इत्यादि संपूर्ण प्रपञ्च परब्रह्म का शरीर एवं विभूति है, शरीरात्म भाव के कारण अभेदनिर्देश होता है, यह अर्थ अनन्तर श्लोकों से सुस्पष्ट हो जाता है। वे श्लोक यह हैं कि—

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
सर्वेन्द्रियान्तःकरणं पुरुषाख्यं हि यज्जगत्॥
स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः।
सर्गादिकं ततोऽस्यैव भूतस्थमुपकारकम्॥
स एव सृज्यः स च सर्गकर्ता स एव पात्यत्ति च पाल्यते च।
ब्रह्माद्यवस्थाभिरशेषमूर्तिर्विष्णुर्वरिष्ठो वरदो वरेण्यः॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश सभी इन्द्रिय अन्तःकरण और पुरुष अर्थात् जीवात्मा ये सब मिलकर जगत कहलाते हैं, यह जगत वह परब्रह्म परमात्मा श्री भगवान ही हैं। इस अभेदनिर्देश को सुनने पर यह शंका होती है कि परब्रह्म निर्दोष, निर्विकार एवं समस्तकल्याणगुणनिधि हैं, ऐसे परब्रह्म का इस दोषों के भंडार प्रपञ्च के साथ अभेद कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान करने के लिये "स एव सर्वभूतात्मा विश्वरूपो यतोऽव्ययः" ऐसा कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि सर्वेश्वरेश्वर परब्रह्म श्रीविष्णु भगवान ही यह जगत् है इसमें सन्देह नहीं। इस अभेदनिर्देश का यह तात्पर्य नहीं है कि जगत के साथ परब्रह्म का स्वरूपैक्य है। अपितु तात्पर्य यह है कि परब्रह्म सर्व पदार्थों का अन्तरात्मा है, सब पदार्थ परब्रह्म का शरीर हैं। स्वयं निर्दोष एवं निर्विकार होते हुये भी वह परब्रह्म परमात्मा जगद्रूपी शरीर का धारण करके विश्वरूप वाले बन गये हैं। यह लोक में प्रसिद्ध है कि शरीरवाचक शब्द आत्मा तक का बोध कराते हैं। आत्मवाचक शब्द और शरीरवाचक शब्दों को लेकर अभेदनिर्देश लोक में भी होता है। "आत्मा मनुष्य बन गया" इत्यादि व्यवहार सिद्ध हैं। उसी प्रकार प्रकृत में यह अभेदनिर्देश है। यह विश्व परमात्मा का शरीर है, यह अर्थ "तत्सर्वं वै हरेस्तनुः" इत्यादि वचनों से भी सिद्ध होता है। अर्थात्—यह सब कुछ श्रीभगवान का शरीर है। शरीरात्मभाव को लेकर तादात्म्य मानने पर ईश्वर निर्दोष ही रह जाते हैं। लोक में देखा गया है कि शरीर आत्मा में स्वभाव व्यवस्थित रहते हैं, शरीर का स्वभाव आत्मा में नहीं पहुँचता तथा आत्मा का स्वभाव शरीर में नहीं पहुँचता। गौरवर्ण किसी शरीर का स्वभाव बना है, वह शरीर में ही रहता है, आत्मा में नहीं पहुँचता। ज्ञान सुख और दुःख इत्यादि आत्मा के धर्म हैं, ये आत्मा में ही रहते हैं, शरीर के धर्म नहीं होते हैं। ऐसे ही जड़त्व विकार और दोष इत्यादि उस चेतनाचेतन प्रपञ्च का—जो परमात्मा का शरीर है—धर्म है, वह प्रपञ्च में ही रहने वाला है, परमात्मा का स्पर्श नहीं करता। निर्विकारत्व

निर्दोषत्व और कल्याणगुण ये सब अन्तरात्मा परब्रह्म का स्वभाव है। यह स्वभाव परब्रह्म में रहता है, शरीर में नहीं पहुँचता। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि विश्वशरीरधारी होने से परमात्मा जगत कहलाते हैं तो भी परमात्मा और जगत के असाधारण स्वभाव व्यवस्थित रहते हैं, एक का स्वभाव दूसरे में नहीं पहुँचता इसलिये दोष प्रपञ्च में रह जाते हैं, परमात्मा तक दोष नहीं पहुँचता, वे निर्दोष रहते हैं। "सर्गादिकम्" इत्यादि श्लोकों का यह अर्थ है कि सर्वप्राणियों में होने वाला सृष्टि इत्यादि व्यापार इस परमात्मा के उपकार में आता है क्योंकि उससे परमात्मा को लीलारस मिलता है। इसमें कारण यही है कि यह विश्व परमात्मा का शरीर है, शरीर से आत्मा को उपकार मिलना ही चाहिये। इस प्रकार परमात्मा और जगत में शरीरात्मभाव होने के कारण ही यह कहा जाता है कि सृष्टि करने वाले ब्रह्मा और सृष्टि को प्राप्त होने वाले सृज्य पदार्थ परमात्मा ही हैं क्योंकि ये दोनों परमात्मा का शरीर हैं। रक्षा करने वाले मनु आदि देवगण और रक्षा को प्राप्त होने वाले जीवगण भी परमात्मा ही हैं क्योंकि ये दोनों परमात्मा का शरीर हैं। संहार करने वाले रुद्र आदि देवगण और संहार को प्राप्त होने वाले पदार्थ भी परमात्मा ही हैं क्योंकि ये दोनों परमात्मा का शरीर हैं। विश्वशरीरक परमात्मा विष्णुभगवान परम्परा से ब्रह्मत्व और रुद्रत्व इत्यादि अवस्थाओं को प्राप्त हुए हैं, वे ही वर देने वाले हैं, वरेण्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं अतएव प्राप्य बनने की योग्यता उनमें है। इन श्लोकों में शरीरात्मभाव संबन्ध के कारण परमात्मा और जगत का अभेदनिर्देश किया गया है।

सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर श्रीभगवान प्रपञ्च के अन्दर नियाम्य कोटि में रहने वाले ब्रह्मा इत्यादि देवगण तिर्यक् और मनुष्यों में उनको आश्रय देकर रक्षा करने के लिये स्वेच्छा से अवतार लेते हैं। वैसे ही ही एक अवतार "ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्" इस समास में विष्णु शब्द से निर्दिष्ट है। श्रीविष्णुपुराण में षष्ठ अंश में शुभाश्रय अर्थात् मंगलकारी एवं चित्त का आलम्बन बनने वाले ध्येय श्रीविग्रह की व्याख्या के प्रसंग में यह बात कही गई है कि ब्रह्मा इत्यादि देवगण कर्मभावना ब्रह्मभावना और उभयभावना तीन भावनाओं में किसी एक भावना से सदा सम्बद्ध रहते हैं अतएव वे कर्म के वश में रहने वाले हैं, परब्रह्म वासुदेव भगवान संपूर्ण जगत का उपकार करने के लिये अपने अप्राकृत दिव्यविग्रह को लेकर स्वेच्छा से देव आदियों में अवतार लेते हैं तब श्रीभगवान का विग्रह प्राकृत नहीं होता। महाभारत में कहा है कि "न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" अर्थात्—इस परमात्मा का देह पञ्चभूतों के समुदाय से बना नहीं है किंतु अप्राकृत एवं शुद्ध सत्त्वमय है। निम्न श्रुति में श्रीभगवान का अवतारग्रहण वर्णित है—

"अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्"

अर्थात्—कार्य के वश में रहने वाले ब्रह्मा वाले इत्यादि जीवों को न चाहने पर भी अवश्य जन्म लेना पड़ता है, प्रकृतिपरिणामरूप पञ्च महाभूतों से बने हुये विलक्षण रचना वाले देव आदि शरीरों में उनको प्रविष्ट होना पड़ता है। यही उनका जन्म है, ऐसा जन्मग्रहण उनको अनिवार्य रहता है। उनके जन्म का कारण कर्म है, कर्मफल का अनुभव करना यही जन्म का फल है, तथा उनका शरीर प्राकृत होना है।

उपर्युक्त जन्म अत्यन्त अशुभ है। सर्वेश्वर सत्यसंकल्प श्रीभगवान उपर्युक्त प्रकार के अशुभ जन्मों को ग्रहण नहीं करते किन्तु स्वेच्छा से अपने अत्यन्तकल्याण दिव्य अप्राकृत श्रीविग्रह को लेकर जगत का कल्याण करने के लिये देव आदियों में नानाप्रकार से जन्म लेते हैं। उनके जन्म का कारण स्वेच्छा है, उनके जन्म का फल जगत का उपकार है, उनका देह अप्राकृत है। इस प्रकार की विशेषता होने के कारण ही श्रीभगवान का जन्म अवतार कहलाता है। जीवों की तरह अशुभ जन्म न लेते हुये श्रीभगवान अपने अनन्त कल्याण गुणों के अनुसार जो अनेक अवताररूपी जन्म लेते हैं उन अवतार जन्मों के मर्म को वे लोग जानते हैं जो बुद्धिमानों में अग्रेसर हैं। यह उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ है। ब्रह्मा और शिव के मध्य में जो विष्णु हैं वे इस प्रकार का प्रथम अवतार माने जाते हैं।

परब्रह्मणो नारायणात् किमपि श्रेष्ठं तत्त्वं न भवतीत्यर्थस्य ब्रह्मसूत्रैः साधनम्

जगत्कारण परब्रह्म श्रीमन्नारायण से श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं यह अर्थ ब्रह्मसूत्रों से सिद्ध होता है।

तदेतन्निखिलजगन्निमित्तोपादानभूतात् 'जन्माद्यस्य यतः' 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादिसूत्रैः प्रतिपादितात् परस्माद् ब्रह्मणः परमपुरुषादन्यस्य कस्यचित्परत्वं 'परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः' इत्याशङ्क्य 'सामान्यात्तु' 'बुद्ध्यर्थः पादवत्' 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्' 'उपपत्तेश्च' 'तथाऽन्यप्रतिषेधात्' 'अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः' इति सूत्रकारः स्वयमेव निराकरोति।

शैवों में तीन मत हैं। पूर्व दो मत खण्डित होने पर वे उत्तर दो मत को उपस्थित करते हैं। वे तीन मत ये हैं कि (१) जगत का उपादान कारण प्रकृति है, शिवजी जगत का निमित्त कारण हैं। श्रुतियों के द्वारा नारायण का जगत्कारणत्व सिद्ध होने पर वे कहते हैं कि (२) नारायण जगत का उपादान कारण हैं, शिवजी जगत का निमित्त कारण हैं। यहाँ पर भी निमित्त कारण एवं उपादान कारण में एकत्व को सिद्ध करके जगत के प्रति नारायण का उपादानत्व एवं निमित्तत्व को सिद्ध करने पर वे कहते हैं कि (३) जगत का निमित्त कारण एवं उपादान कारण बनने वाले नारायण मोक्षदाता हैं, वे मुक्तों के प्राप्य नहीं हैं मुक्तों के प्राप्य तो वे शिवजी ही हैं जो नारायण से बड़े हैं। इन तीनों मतों में प्रथम वर्णित दोनों मतों का खण्डन अब तक श्री भाष्यकार स्वामी जी ने कहा है कि "जन्माद्यस्य यतः," "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इत्यादि ब्रह्मसूत्रों से तथा इन सूत्रों का विषयवाक्य बनने वाले श्रुतिवचनों से यह सिद्ध हो गया है कि श्रीमन्नारायण भगवान ही जगत का उपादान कारण एवं निमित्त कारण बनने वाले परब्रह्म हैं। इस परमपुरुष नारायण भगवान से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है ब्रह्मसूत्रों में "परमतः सेतून्मानसबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" इस

ब्रह्मसूत्र के द्वारा इस शंका का—कि श्रीमन्नारायण भगवान से बढ़कर कोई तत्त्व होगा—उल्लेख करके "सामान्यात्तु" "बुद्ध्यर्थः पादवत्" "स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्" "उपपत्तेश्च" "तथाऽन्यप्रतिषेधात्" और "अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः" इन ब्रह्मसूत्रों से उपर्युक्त शंका का निराकरण किया गया है। इन सूत्रों का अर्थ यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि जगत का कारण बनने वाले ब्रह्म से भी बढ़कर एक तत्त्व है ऐसा मानना चाहिये। इसमें चार कारण हैं। प्रथम हेतु यह है कि उपनिषद में जगत्कारण ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि "अथ य आत्मा स सेतुः" अर्थात्—जगत्कारण परमात्मा सेतु है अर्थात् पुल है, पुल एक तीर से दूसरे तीर में पहुँचाने वाला होता है, परमात्मा को सेतु कहने से यह व्यक्त होता है कि परमात्मा साधक को दूसरे के समीप पहुँचा देते हैं वह दूसरा तत्त्व—जो परमात्मा को प्राप्त करने के बाद प्राप्त होता है—परमात्मा से श्रेष्ठ ही होगा। किंच उपनिषद् में "एतं सेतुं तीर्त्वा" कहकर पुल बनने वाले जगत्कारण ब्रह्म को पार करने के लिये कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि दूसरा ही तत्त्व प्राप्य है। इस प्रकार जगत्कारण ब्रह्म को सेतु कहने से दूसरा प्राप्यतत्त्व सिद्ध होता है। यह प्रथम हेतु है। द्वितीय हेतु यह है कि जगत्कारण ब्रह्म को "चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलम्" कहकर चार पाद वाला एवं सोलह कला वाला कहा गया है। इससे जगत्कारण ब्रह्म परिमित सिद्ध होता है इससे सिद्ध होता है कि अपरिमित दूसरा है। यह द्वितीय हेतु है। तृतीय हेतु यह है कि उपनिषद् में "अमृतस्यैष सेतुः" कहकर परब्रह्म साधकों को अमृत-तत्त्व के यहाँ पहुँचाने वाला कहा गया है, परब्रह्म के द्वारा प्राप्त होने वाला अमृततत्त्व परब्रह्म से श्रेष्ठ सिद्ध होता है। अमृततत्त्व की प्राप्ति का साधन ब्रह्म है, अतएव वह प्रापक है। अमृततत्त्व प्राप्य है, इनमें प्राप्य प्रापक संबन्ध है, इससे परब्रह्म से श्रेष्ठ अमृततत्त्व सिद्ध होता है। यह तृतीय हेतु है। चतुर्थ हेतु यह है कि उपनिषद् में "ततो यदुत्तरतरम्" कहकर परब्रह्म परमपुरुष से श्रेष्ठ बनने वाले एकतत्त्व का स्पष्ट वर्णन है वह तत्त्व उपर्युक्त चार हेतुओं से परब्रह्म से श्रेष्ठ सिद्ध होता है। उस तत्त्व को मानना चाहिये। यह पूर्वपक्ष है, इसका वर्णन "परमतः सेतून्मानसबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" इस सूत्र में किया गया है। "सामान्यात्तु" इत्यादि सूत्र सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उपर्युक्त पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि "सामान्यात्तु" अर्थात् उपर्युक्त पूर्वपक्ष समीचीन नहीं है। पूर्वपक्ष में यह जो कहा गया है कि उपनिषद् में परब्रह्म को सेतु अर्थात् पुल कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म के द्वारा प्राप्त होने वाला दूसरा तत्त्व है, वह परब्रह्म से श्रेष्ठ है। पूर्वपक्ष की यह युक्ति समीचीन नहीं क्योंकि यहाँ पर परब्रह्म किसी दूसरी वस्तु को प्राप्त कराने वाला सेतु नहीं कहा गया है किन्तु "एष सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" कहकर यह बतलाया गया है कि परब्रह्म इन लोकों में तथा इन प्रापञ्चिक पदार्थों में संकर होने नहीं देता है, सब पदार्थों को अपने २ व्यवस्थित स्वभावों में कायम रखता है, सभी चेतनाचेतन पदार्थों को बिना संकर के अपने में व्यवस्थित रूप में बांधे रखता है इसलिये परब्रह्म सेतु कहलाता है। यही अर्थ वहाँ प्रतिपाद्य है। "एतं सेतुं तीर्त्वा" का जो यह अर्थ किया गया है कि परब्रह्म को पार करके दूसरी वस्तु को साधक प्राप्त करता है। यह अर्थ भी समीचीन नहीं। वहाँ परब्रह्म का प्राप्त करने का वर्णन है पार करने का नहीं। जिस

प्रकार "वेदान्तं तरति" कहने पर यह अर्थ निकलता है कि वेदान्त को प्राप्त करता है। उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्रथम हेतु का निराकरण किया गया है। "बुद्ध्यर्थः पादवत्" इस सूत्र से द्वितीय हेतु का निराकरण किया जाता है। इस सूत्र का यह अर्थ है कि "चतुष्पाद् ब्रह्म" "षोडशकलम्" कहकर जो परब्रह्म को चार पाद वाला और षोडश कला वाला कहा गया है, इससे परब्रह्म को परिमित न समझना चाहिये क्योंकि जगत्कारण परब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस वाक्य से अनन्त अर्थात् अपरिमित कहा गया है। वह स्वतः परिमित नहीं हो सकता है। उपासना के लिये वह चार पादवाला एवं षोडशकला वाला कहा गया है क्योंकि उस प्रकार ब्रह्म का उपासन करना चाहिये उससे विलक्षण फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार "वाक् पादः प्राणः पादः चक्षुः पादः श्रोत्रं पादः" कहकर उपासना के लिये परब्रह्म का वाक् इत्यादि पाद कहे गये हैं, उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। "चतुष्पात्" कहने मात्र से परब्रह्म को स्वतः परिमित न मानना चाहिये। न अपरिमित किसी दूसरी वस्तु की कल्पना ही करनी चाहिये। इस सूत्र से पूर्वपक्ष के द्वितीय हेतु का निराकरण हो जाता है। यहां पर यह शंका होती है कि ब्रह्म स्वतः अपरिच्छिन्न है, उपासना के लिये भी वह परिच्छिन्न कैसे बन सकता है ? इस शंका का समाधान करने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त है कि "स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्"। अर्थात्—ब्रह्म स्वतः अपरिच्छिन्न होने पर वाग् इत्यादि स्थानविशेषरूपी उपाधियों के संबन्ध के अनुसार परिच्छिन्न रूप में उसका अनुसन्धान हो सकता है जिस प्रकार प्रकाश और आकाश इत्यादि पदार्थ अत्यन्त विस्तृत होने पर भी वे गवाक्ष के छिद्र और घट आदि स्थानों के अनुसार परिच्छिन्न समझे जाते हैं, गवाक्ष के छिद्र से आने वाला प्रकाश परिच्छिन्न समझा जाता है तथा घट आदि उपाधियों से संबद्ध आकाश परिच्छिन्न प्रतीत होता है। इसी प्रकार स्वतः अपरिच्छिन्न ब्रह्म भी वाग् आदि उपाधि सबन्ध से परिच्छिन्न प्रतीत होता है। ब्रह्म का अपरिच्छिन्नत्व स्वाभाविक धर्म है परिच्छिन्नत्व औपाधिक धर्म है। स्वाभाविक धर्म और औपाधिक धर्म में विरोध नहीं होता है पूर्वपक्ष में तृतीय हेतु यह कहा गया है कि "अमृतस्यैष सेतुः" इत्यादि वाक्यों से जगत्कारणब्रह्म अमृततत्त्व को प्राप्त करने वाला तथा अमृततत्त्व उसके द्वारा प्राप्य कहा गया है इस प्रकार इनमें प्राप्य प्रापक भाव संबन्ध का प्रतिपादन होने से यह मानना पड़ता है कि जगत्कारण ब्रह्म से अमृततत्त्व श्रेष्ठ है। इस तृतीय हेतु का निराकरण करने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त है कि "उपपत्तेश्च" जगत्कारण ब्रह्म अपनी प्राप्ति कराने में साधन होने से उपाय कहा गया है। प्राप्य अमृततत्त्व जगत्कारणब्रह्म ही है, प्रापक भी जगत्कारण ब्रह्म ही है, जगत्कारण ब्रह्म अपनी प्राप्ति करा देता है इस लिये उसे प्रापक कहा गया है। यह अर्थ "नायमात्मा" इत्यादि श्रुति वाक्य से समर्थित है। वहाँ "यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः" कहकर परब्रह्म अपनी प्राप्ति में साधन कहा गया है। इस प्रकार इस सूत्र से पूर्वपक्ष के तृतीय हेतु का निराकरण हो जाता है। पूर्वपक्ष में 'ततो यदुत्तरतरम्" इस श्रुति वाक्य को प्रमाणरूप में उपस्थित करके चतुर्थ हेतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि जगत्कारण परमपुरुष से भी श्रेष्ठ बनने वाला एक तत्त्व का इस वाक्य में वर्णन है। इस चतुर्थ हेतु का निराकरण

करने के लिये यह सूत्र प्रवृत्त है कि "तथाऽन्यप्रतिषेधात्" अर्थात् वहाँ "यस्मात् परं नापरमस्ति" कहकर यह बतलाया गया है कि जगत्कारण परमपुरुष से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। उससे विरोध उपस्थित होगा। इसलिये "ततो यदुत्तरतरम्" का यह अर्थ करना ही युक्त है कि उपर्युक्त कारण से सर्व सिद्ध होने वाले जो परमपुरुष हैं वे प्राकृत रूप रहित एवं निर्दोष हैं, उनको जानने वाले मुक्त होते हैं। इस वाक्य का विचार इस ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया जाता। "अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः" अर्थात् जगत्कारण परमपुरुष परमात्मा सर्वव्यापक होकर रहते हैं, यह अर्थ उनकी सर्वव्यापकता को सिद्ध करने वाले "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है इससे यही फलित होता है कि जगत्कारण ब्रह्म से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। इन दोनों सूत्रों से पूर्वपक्ष के चतुर्थ हेतु का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म सूत्रकार ने पराधिकरण में प्रथम सूत्र से जगत्कारण ब्रह्म से श्रेष्ठ सिद्ध होने वाले किसी तत्त्व के विषय में पूर्वपक्ष को उपस्थित करके उत्तर सूत्रों से उस पूर्वपक्ष का निराकरण करके जगत्कारण परमपुरुष परमात्मा परब्रह्म श्रीमन्नारायण भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया है।

मनुस्मृतौ नारायणस्यैव परतत्त्वं वर्णितम्

मनुस्मृति से नारायण का परतत्व सिद्ध होता है

मानवे च शास्त्रे—"प्रादुरासीत्तमोनुदः, सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्। तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा" इति ब्रह्मणो जन्म श्रवणात्तस्य क्षेत्रज्ञत्व-मेवावगम्यते। तथा च स्रष्टुः परमपुरुषस्य तद्विसृष्टस्य च ब्रह्मणः—"अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। तद्विसृष्टस्स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥" इति नामनिर्देशाच्च।

किंच, मानव धर्मशास्त्र में जगत्कारण परमपुरुष को नारायण एवं उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा आदि देवों को जीव कहा गया है। मानवधर्म शास्त्र मनुस्मृति में ये वचन कहे हैं कि—

> प्रादुरासीत् तमोनुदः, सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
> अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत्।
> तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा॥

अर्थात् प्रलयकाल में प्रकृति पर अधिष्ठान करने वाले अनिरुद्ध भगवान ने सृष्टिकाल उपस्थित होने पर सृष्टि करने के लिये प्रकृति को प्रेरित किया। उन अनिरुद्ध भगवान ने नानाविध प्रजाओं की सृष्टि करने के लिये इच्छा रखते हुये जल इत्यादि तत्त्वों की सृष्टि करके उनमें जीवतत्त्व को मिलाया। उसमे

ब्रह्माण्ड बना, उसमें ब्रह्मा उत्पन्न हुये। इससे ब्रह्मा जी का जन्म सिद्ध होता है। ब्रह्मा जी को श्री भगवान का अवतार सिद्ध करने वाला कोई वचन शास्त्रों में है नहीं, जन्म लेने से ब्रह्मा जी जीव सिद्ध होते हैं। बिना कर्म के जन्म नहीं होता, इससे ब्रह्मा जी कर्म परवश जीव प्रमाणित होते हैं। यदि ब्रह्मा जी श्रीभगवान् का अवतार बतलाये गये होते तो जन्म मात्र से उनको जीव मानना अनुचित ठहरता परन्तु कहीं भी ब्रह्मा जी श्रीभगवान का अवतार नहीं कहे गये हैं। ऐसी स्थिति में जन्म होने से ब्रह्मा जी को जीव मानने में बाधा नहीं पड़ती है। इस विवेचन से यही फलित होता है कि इस प्रकार जीवकोटि में आने वाले ब्रह्मा जी को जगत्कारण ईश्वर मानना नितान्त अनुचित है। किंच, मनुस्मृति के निम्नलिखित वचनों में यह कहा गया है कि सृष्टि करने वाले परमपुरुष का नाम नारायण है, उनके सर्व प्रथम उत्पन्न हुये जीव का नाम ब्रह्मा है। वे वचन ये हैं कि—

अयन तस्य ताः पूर्व तेन नारायणः स्मृतः ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

अर्थात् जल की सृष्टि करके परमात्मा ने उस जल में शयन किया था, जल नार कहलाता है क्योंकि वह नर अर्थात् भगवान से उत्पन्न हुआ है। उस नार जल में शयन करने वाले जगत्कारण परम-पुरुष जल में शयन करने के कारण नारायण कहलाते हैं। सर्व प्रथम नारायण से उत्पन्न हुआ जीव ब्रह्मा कहलाता है। इस प्रकार मनुस्मृति में जगत्कारण परमपुरुष को नारायण नाम रक्खा गया है। सर्व प्रथम उनसे उत्पन्न जीव का नाम ब्रह्मा रक्खा गया है इससे सिद्ध होता है नारायण ही जगत का आदि कारण हैं, ब्रह्मा नहीं। इससे ब्रह्मा को जगत्कारण मानने वालों का पक्ष खण्डित हो जाता है।

विष्णुपुराणेन ब्रह्मादिदेवानां जीवत्वं निरूपति

श्री विष्णुपुराण से ब्रह्मा आदि देवगण जीव सिद्ध होते हैं पूर्व मीमांसकमत का खण्डन

तथा च वैष्णवे पुराणे हिरण्यगर्भादीनां भावनात्रयान्वयादशुद्धत्वेन शुभाश्रयत्वा-नर्हतोपपादनात् क्षेत्रज्ञत्वं निश्चीयते ।

किंच, श्रीविष्णुपुराण में कहा गया है कि ब्रह्मा इत्यादि सभी देव निम्नलिखित तीन भावनाओं में किसी एक भावना से अवश्य संबद्ध रखते हैं अतएव वे अशुद्ध हैं, उनके ध्यान से कल्याण नहीं होता, वे ध्यान के योग्य नहीं हैं, इससे ब्रह्मा आदि देवगण जीव सिद्ध होते हैं। तीन भावनायें ये हैं-(१) कर्म भावना अर्थात् कर्म करने में उद्योग (२) ब्रह्म भावना अर्थात् ईश्वरोपासन करने में उद्योग (३) उभय भावना अर्थात् कर्म करने में तथा ईश्वरोपासना में भी उद्योग। इनमें सनन्दन इत्यादि ब्रह्म भावना से संबद्ध हैं क्योंकि

वे सदा ब्रह्मोपासन में ही लगे रहते हैं। इन्द्रादि देवगण कर्मभावना से संबद्ध है क्योंकि ये सदा कर्म में ही लगे रहते हैं। ब्रह्मा आदि उभय भावना से संबद्ध है क्योंकि ब्रह्मा आदि देव जगन्निर्वाह में अधिकृत होने के कारण कभी कर्म करते हैं, कभी ईश्वरोपासन करते रहते हैं। इस प्रकार तीनों भावनाओं से युक्त जीव बद्ध कोटि में हैं, इन बद्ध जीवों का ध्यान करने से कल्याण नहीं होगा। परिशुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान कल्याणकारी होता है परन्तु वह चित्त का आलम्बन नहीं बनता, चित्त उसका आकलन करने में असमर्थ रहता है, श्रीभगवान का दिव्य विग्रह चित्त का आलंबन एवं कल्याणकारी होने से शुभाश्रय कहलाता है। उनके ध्यान से कल्याण होता है। इस प्रकार कहकर श्री पराशर ब्रह्मर्षि ने ब्रह्मादि देवों को बद्ध जीव कोटि में गणना की है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि श्रीमन्नारायण ही परतत्त्व एवं परब्रह्म हैं।

यहां तक के ग्रन्थ से श्रीरामानुज स्वामी जी ने अपने पक्ष को सिद्ध करने वाले प्रमाण और तर्कों का वर्णन किया तथा परमतावलम्बियों के द्वारा उठाई गई शंकाओं का निराकरण किया है। इस प्रकार श्रुति वाक्यों के आधार पर स्वपक्षस्थापन और परपक्ष का निराकरण किया गया है। इतिहास और पुराण इत्यादि उपबृंहण ग्रन्थों के आधार पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने पहले अपने पक्ष का समर्थन करने वाले वचनों का उल्लेख करके परमतस्थों के द्वारा उठाई गई शंका का भी निराकरण किया है। इस प्रकार प्रथम श्लोकस्थ अन्तिम पद "विष्णवे" इस पद की व्याख्या करते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने श्रीविष्णु भगवान को सर्वश्रेष्ठ परतत्त्व एवं परब्रह्म सिद्ध किया है। ये ही यहाँ तक के ग्रन्थ का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ हैं।

सर्वे शब्दाः कार्यपरा इति मीमांसकानां पूर्वपक्षः

सभी शब्द कार्यपरक हैं, सिद्धवस्तुपरक नहीं, मीमांसकों के इस पूर्वपक्ष का वर्णन

यदपि कैश्चिदुक्तम्—सर्वस्य शब्दजातस्य विध्यर्थवादमन्त्ररूपस्य कार्याभिधायित्वेनैव प्रामाण्यं वर्णनीयम्, व्यवहारादन्यत्र शब्दस्य बोधकत्वशक्त्यवधारणासम्भवाद् व्यवहारस्य च कार्यबुद्धिमूलत्वात् कार्यरूप एव शब्दार्थः। न परिनिष्पन्ने वस्तुनि शब्दः प्रमाणमिति।

आगे श्रीरामानुज स्वामी जी उपर्युक्त अर्थों को स्थिर करने के लिये पूर्वमीमांसकों के इस वाद का—कि सिद्ध अर्थ के विषय में व्युत्पत्ति नहीं होती—खण्डन करते हैं। उपर्युक्त वाद का खण्डन करने पर ही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त स्थिर हो सकता है, अन्यथा नहीं। मीमांसकों के उपर्युक्त वाद का निराकरण सभी वेदान्तियों को सम्मत है। उसका निराकरण आगे किया जायेगा। प्रथमतः मीमांसकों के उपर्युक्त पक्ष का

प्रतिपादन किया जाता है। मीमांसकों में दो भेद हैं। कई मीमांसक भाट्ट हैं जो कुमारिलभट्ट के द्वारा प्रतिपादित मत को मानते हैं। कुमारिलभट्ट का अनुयायी होने से वे भाट्ट कहलाते हैं। दूसरे मीमांसक प्रभाकर मत को मानने वाले हैं, वे गुरु प्रभाकर के द्वारा वर्णित मत को मानने के कारण प्राभाकर कहलाते हैं। यहां पर प्राभाकर मीमांसक पूर्वपक्षी हैं। वे कहते हैं कि सभी वेदान्ती यह मानते हैं कि वेदान्त अर्थात् उपनिषद् परब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिये प्रवृत्त हैं, परब्रह्म के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य है परब्रह्म उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है। वेदान्तियों का यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि परब्रह्म का प्रतिपादन करने में उपनिषदों का तात्पर्य हो नहीं सकता, अतः परब्रह्म उपनिषदों का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं बन सकता इसमें कारण यह है कि लोक में प्रयुक्त होने वाले सभी शब्द किसी न किसी कार्य अर्थात् कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादन करने में ही तात्पर्य रखते हैं, कोई भी शब्द सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने में तात्पर्य नहीं रखता है। लोक में अर्थ दो प्रकार के होते हैं। (१) सिद्ध और (२) कार्य। जो घट आदि पदार्थ पहले से बने रहते हैं जिन्हें बनाना नहीं पड़ता, वे घट आदि पदार्थ सिद्ध कहलाते हैं। जो पदार्थ प्रयत्न से साध्य हैं वे कार्य कहलाते हैं। गमन आदि क्रियायें प्रयत्न के द्वारा साध्य होने से कार्य कहलाती हैं। लौकिक और वैदिक सभी शब्द कार्य अर्थ को बतलाने में ही तात्पर्य रखते हैं। सिद्ध अर्थ को बतलाने में किसी शब्द का भी तात्पर्य नहीं होता है। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" यह न्याय सर्वसंमत है। इस न्याय का यह अर्थ है कि शब्द जिस अर्थ को बतलाने में तात्पर्य रखता है वही अर्थ शब्दार्थ माना जाता है। सभी शब्द कार्य को बतलाने में तात्पर्य रखते हैं, सिद्ध वस्तु को बतलाने में तात्पर्य नहीं रखते हैं इसलिये कार्य को ही शब्दार्थ मानना चाहिये। सिद्ध पदार्थ शब्द का अर्थ नहीं बन सकता है। ब्रह्म सिद्ध वस्तु है क्योंकि वह नित्यसिद्ध है, वह प्रयत्न के द्वारा साध्य नहीं हैं, उपनिषद् शब्द राशि है। सिद्ध वस्तु ब्रह्म उपनिषद् शब्दों का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं हो सकता। वेदान्ती लोग ब्रह्म को उपनिषद प्रतिपाद्य अर्थ मानकर जो ब्रह्म विचार करते हैं वह सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि उपनिषदों का सिद्ध वस्तु ब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य है ही नहीं ब्रह्म उपनिषत्प्रतिपाद्य अर्थ बन ही नहीं सकता। ब्रह्म विचार को निष्फल ही मानना चाहिये। वेद तीन प्रकार से विभक्त होता है। (१) विधि (२) अर्थवाद (३) मन्त्र। वेद के ये तीनों भाग कार्य अर्थ का प्रतिपादन करने में ही तात्पर्य रखते हैं। "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वेदवाक्य विधि कहे जाते हैं। ये स्वर्ग को प्राप्त करने के लिये याग का विधान करते हैं। याग एवं उससे होने वाला अपूर्व—जो कालान्तर में स्वर्ग देता है—ये दोनों प्रयत्न साध्य होने से कार्य कहलाते हैं। इनका विधान करने वाले विधिवाक्य कार्य का प्रतिपादन करने में तात्पर्य रखते हैं। यह स्पष्ट प्रतीत होता है। विधिवाक्य के द्वारा विहित याग आदि अर्थों की स्तुति करने वाला अर्थवाद भाग भी पर्यवसान में उस कार्य के प्रतिपादन में ही तात्पर्य रखते हैं। अनुष्ठान में आने वाले याग और देवता आदि अर्थों का स्मरण कराने वाले मन्त्र भाग भी पर्यवसान में कार्य अर्थ में ही तात्पर्य रखते हैं। इस प्रकार संपूर्ण वेद कार्य के प्रतिपादन में तात्पर्य रखते हैं कार्य के विषय में ही

वेद प्रमाण बन सकता है। सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने में किसी भी शब्द का तात्पर्य नहीं है, विधि अर्थवाद और मन्त्र के रूप में विभक्त वैदिक शब्दों का सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने में तात्पर्य है ही नहीं। ब्रह्म सिद्ध वस्तु है उसका प्रतिपादन करने में उपनिषदों का तात्पर्य हो नहीं सकता। उपनिषद् अर्थवाद में आ जाती हैं वे सिद्ध वस्तु ब्रह्म के विषय में प्रमाण नहीं बन सकती न ब्रह्म ही उपनिषत्प्रमाण से सिद्ध हो सकता है। ब्रह्म को उपनिषदों का प्रतिपाद्य अर्थ मानकर वेदान्ती लोग जो ब्रह्म विचार करते हैं, यह निरर्थक है। यह प्राभाकर मीमांसकों का पूर्वपक्ष है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण सभी वेदान्तियों को संमत है। इसका निराकरण आगे किया जाता है। पहले यह देखना है कि पूर्वमीमांसक अपने पक्ष के विरुद्ध परवादियों के के द्वारा उठाई जाने वाली शंका का परिहार किस प्रकार करते हैं। परिवादिगण मीमांसकों के पक्ष को काटने के लिये यह प्रश्न रखते हैं कि मीमांसकों ने यह जो सिद्धान्त माना है कि सभी शब्द कार्य को बतलाने में ही तात्पर्य रखते हैं, सिद्ध वस्तु को बतलाने में तात्पर्य नहीं रखते हैं। इस सिद्धान्त को मानने के लिये क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये पूर्वमीमांसक कहते हैं कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ को बतलाने में सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य ही शब्द की शक्ति कहा जाता है। अमुकशब्द अमुकअर्थ को बतलाने में शक्ति रखता है, इस समझ को शक्तिग्रह कहते हैं। शब्द की उपर्युक्त शक्ति को समझने वाला मनुष्य ही उन शब्दों को सुनने पर अर्थ को समझ सकते हैं, जो मनुष्य शब्द की उपर्युक्त शक्ति को न समझते हों, वे सौ बार उन शब्दों को सुनने पर भी अर्थ को नहीं समझ सकते हैं। इस बात को सभी मानते हैं। शब्द में विद्यमान उस शक्ति को किस प्रकार समझें। जो पुरुष किसी भी शब्द के अर्थ को नहीं जानता हो वह सर्वप्रथम किसी भी शब्द के अर्थ को किस प्रकार समझता है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। जो मनुष्य देशान्तर में पहुँच गया हो वहां की भाषा को बिल्कुल नहीं जानता हो, वह वहाँ की भाषा के शब्दों के अर्थ को सर्वप्रथम किस प्रकार समझ पाता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह मनुष्यों की प्रवृत्ति को देखकर शब्द शक्ति को जानता है। प्रवृत्ति को व्यवहार कहते हैं। उदाहरण-प्रेरणा देने वाला एक मनुष्य है जिसे प्रयोजक वृद्ध कहते हैं। प्रेरणा के अनुसार कार्य करने वाला दूसरा मनुष्य है जिसे प्रयोज्यवृद्ध कहते हैं। दोनों भी ज्ञानवान् होने से वृद्ध कहलाते हैं उनमें प्रयोजकवृद्ध प्रयोज्यवृद्ध से कहता है कि "गामानय" अर्थात् गौ को लाओ। उन दोनों के समीप वह पुरुष रहता है जो संस्कृत भाषा को बिलकुल नहीं जानता है। वहां प्रयोजकवृद्ध की प्रेरणा के अनुसार प्रयोज्यवृद्ध जाकर गोष्ठ से गौ को लाकर खड़ा कर देता है। वहाँ उपस्थित वह भाषानभिज्ञ पुरुष इस घटना को देखकर यह सोचता है कि प्रयोज्यवृद्ध की गौ को लाने के लिये जो प्रवृत्ति हुई है वह प्रवृत्ति कार्यता ज्ञान के कारण हुई है। "हमको गौ को लाना कर्तव्य है यह ज्ञान ही कार्यताज्ञान है। इस ज्ञान के कारण वह गौ को लाने के लिये प्रवृत्त हुआ। प्रयोज्यवृद्ध का यह कार्यताज्ञान प्रयोजक वृद्ध के "गामानय" अर्थात् गौ को लाओ" इस वाक्य से उत्पन्न हुआ है क्योंकि उस वाक्य को सुनने के बाद ही इसको गौ को लाने में प्रवृत्ति हुई है। इस लिये वह वाक्य ही इसके

कार्यता ज्ञान का कारण है। उस वाक्य ने कार्यता को बतलाकर ही प्रयोज्यवृद्ध के कार्यता ज्ञान को उत्पन्न कराया है। इससे सिद्ध होता है कि वह वाक्य गवानयन अर्थात् गौ को लाना एवं रूप कार्य को बतलाता है। उसको बतलाने में इन शब्दों की शक्ति है। इस प्रकार उस भाषानभिज्ञ पुरुष को सर्वप्रथम व्यवहार अर्थात् शब्द सुनकर होने वाली प्रवृत्ति को देखकर यह धारणा बन जाती है कि शब्द कार्य को बतलाने के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, कार्य को बतलाने में ही शब्दों का तात्पर्य है। इस धारणा को परिवर्तित करने वाला कोई प्रसंग उसके सामने उपस्थित नहीं होता है। यह धारणा उसको सदा बनी रहती है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्द शक्ति को सर्वथा न जाने वाले भाषानभिज्ञ पुरुष को सर्वप्रथम कार्यपरक शब्दों के द्वारा होने वाले व्यवहार को देखकर ही शब्द शक्ति का ज्ञान होता है। सभी शब्द कार्य को बतलाने के लिये प्रयुक्त होते हैं, शब्दों का कार्य में ही तात्पर्य है, कार्य ही शब्दार्थ है। इस प्रकार उसका ज्ञान हो जाता है। इस धारणा को उसे बदलना नहीं पड़ता है। इस प्रकार जब कार्य को बतलाने में शब्दों का तात्पर्य है, कार्य ही शब्दार्थ बन सकता है। सिद्ध अर्थ को बतलाने में शब्दों का तात्पर्य नहीं, सिद्ध वस्तु शब्दार्थ नहीं बन सकता है, तब सिद्ध वस्तु ब्रह्म उपनिषत्शब्दों का तात्पर्यार्थ कैसे हो सकता है? उपनिषत् सिद्धवस्तु ब्रह्म को बतलाने में कैसे तात्पर्य रख सकती है, सिद्धवस्तु ब्रह्म के विषय में वे कैसे प्रमाण बन सकती हैं? यही निर्णय करना पड़ता है कि सिद्धवस्तु ब्रह्म उपनिषदों का तात्पर्यार्थ नहीं बन सकता ब्रह्म के विषय उपनिषत् प्रमाण नहीं बन सकती हैं ब्रह्म को उपनिषदर्थ मानकर वेदान्तियों के द्वारा किया जाने वाला ब्रह्मविचार निरर्थक है। यह प्राभाकरमतानुयायी पूर्व मीमांसकों का पूर्वपक्ष है। सब वेदान्तियों को उपर्युक्त पूर्वपक्ष का निराकरण करके ब्रह्मविचार का समर्थन करना अनिवार्य हो जाता है।

सिद्धान्ते सिद्धवस्तुन्युत्पत्तेरेकेनोदाहरणेन समर्थनम्

सिद्धान्त के अनुसार एक उदाहरण से सिद्ध वस्तु में व्युत्पत्ति का प्रतिपादन

अत्रोच्यते—प्रवर्तकवाक्यव्यवहार एव शब्दानामर्थबोधकशक्त्यवधारणं कर्तव्यमिति किमियं राजाज्ञा। सिद्धवस्तुषु शब्दस्य बोधकत्वशक्तिग्रहणमत्यन्तसुकरम्। तथा हि—केनचिद्धस्तचेष्टादिना अपवरके दण्डः स्थित इति देवदत्ताय ज्ञापयेति प्रेषितः कश्चित्तज्ज्ञापने प्रवृत्तोऽपवरके दण्डः स्थित इति शब्दं प्रयुङ्क्ते मूकवद्धस्तचेष्टामिमां जानन् पार्श्वस्थोऽन्यः प्रागव्युत्पन्नोऽप्येतस्यार्थस्य बोधनायापवरके दण्डः स्थित इति शब्दस्य प्रयोगदर्शनादस्यार्थस्यायं शब्दो बोधक इति जानातीति किमत्र दुष्करम्।

इस पूर्वपक्ष के निराकरण में श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि प्रेरक पुरुष के वाक्य के अनुसार होने वाले व्यवहार को देखकर ही शब्दशक्ति को समझना चाहिये। यह क्या राजा की आज्ञा है? ऐसी

राजाज्ञा तो है नहीं। यह बात अप्रामाणिक है। शब्दशक्ति को जानने के अनेक उपाय हैं। उनके द्वारा भी शब्दशक्ति जानी जा सकती है। सिद्धवस्तुओं के विषय में भी शब्दशक्ति अनायास विदित होती है। उसके लिये साधन भी विद्यमान हैं। उदाहरण—एक मनुष्य मौन धारण करके बैठा रहता है। नौकर आकर उससे पूछता है कि देवदत्त जानना चाहते हैं कि दण्ड कहां रखा रहता है। नौकर के इस प्रश्न को सुनकर मौनी पुरुष हस्तचेष्टा से इस बात को सूचित करता है कि इस कोटड़ी में दण्ड है देवदत्त से सूचित करदो। वह नौकर हस्तचेष्टा से उपर्युक्त बात को जानकर देवदत्त के समीप जाकर कहता है कि अमुक कोठरी में दण्ड है। आरम्भ से लेकर इस घटना को देखने वाला भाषानभिज्ञ कोई पुरुष उस नौकर के शब्द को सुनकर जान लेता है कि मौनी पुरुष ने हस्तचेष्टा से यह जो सूचित किया था कि इस कोठरी में दण्ड है इसी अर्थ को यह नौकर बतला रहा है। नौकर के मुख से निकला हुआ यह शब्द उपर्युक्त अर्थ को बतलाता है। नौकर के वाक्य का यही अर्थ है कि इस कोठरी में दण्ड है। इस प्रकार वह पुरुष शब्दशक्ति को जान लेता है। इस उदाहरण में वर्णित दण्ड सिद्धवस्तु है। उस सिद्धवस्तु के विषय में दण्डशब्द की शक्ति को वह पुरुष जान लेता है। इस प्रकार सिद्ध वस्तु के विषय में सर्वप्रथम शब्दशक्ति जानी जा सकती है। यहां इस प्रकार सिद्धवस्तु में कोई भी क्लेश नहीं होता है। कार्य के विषय में ही शब्दशक्ति जानी जाती है ऐसा निर्बन्ध करना निर्मूल है।

द्वितीयेनोदाहरणेन सिद्धवस्तुव्युत्पत्तेः समर्थनम्

दूसरे उदाहरण से सिद्धवस्तु में व्युत्पत्ति का प्रतिपादन

तथा बालस्तातोऽयमियं माताऽयं मातुलोऽयं मनुष्योऽयं मृगश्चन्द्रोऽयमयं च सर्पइति मातापितृप्रभृतिभिः शब्दैः शनैः शनैरङ्गुलिनिर्देशेन तत्र तत्र बहुशः शिक्षितस्तैरेव शब्दैस्तेष्वर्थेषु स्वात्मनश्च बुद्ध्युत्पत्तिं दृष्ट्वा तेष्वर्थेषु तेषां शब्दानामङ्गुलिनिर्देशपूर्वकः प्रयोगः सम्बन्धान्तराभावात् सङ्केतयितृपुरुषाज्ञानाच्च बोधकत्वनिबन्धन इति क्रमेण निश्चित्य पुनरप्यस्य शब्दस्यायमर्थ इति पूर्ववृद्धैः शिक्षितः सर्वशब्दानामर्थमवगम्य स्वयमपि सर्ववाक्यजातं प्रयुङ्क्ते।

एवमेव सर्वपदानां स्वार्थाभिधायित्वम्, संघातविशेषाणां च यथाऽवस्थितसंसर्गविशेषवाचित्वं च जानातीति कार्यार्थ एव व्युत्पत्तिरित्यादिनिर्बन्धो निर्निबन्धनः। अतः परिनिष्पन्ने वस्तुनि शब्दस्य बोधकत्वशक्त्यवधारणात्सर्वाणि वेदान्तवाक्यानि सकलजगत्कारणं सर्वकल्याणगुणाकरमुक्तलक्षणं ब्रह्म बोधयन्त्येव।

यहाँ दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। वह यह है कि लोक में देखा जाता है कि छोटे बच्चों को सिखाने वाले माता और पिता इत्यादि बन्धुवर्ग अंगुली से प्रत्येक वस्तु को दिखाकर उसकी तरफ बच्चों के ध्यान को आकृष्ट करके बतलाते हैं कि यह पिता जी हैं, यह माता जी है, यह मामा जी हैं, यह मनुष्य है, यह मृग है, यह चन्द्रमा है, यह सर्प है इत्यादि। इस प्रकार बारम्बार अंगुलि से निर्देश करके बन्धुगण छोटे बच्चों को सिखाते हैं। इस प्रकार शिक्षा को प्राप्त हुए बालक उत्तरकाल में बिना अंगुलिनिर्देश के प्रयुक्त होने वाले उन शब्दों से उन अर्थों को अनायास समझ लेते हैं। वे सोचते हैं कि इन शब्दों को सुनने पर हमको उन अर्थों का ज्ञान क्यों होता रहता है। इसमें कुछ कारण होना चाहिये। कारण यही हो सकता है कि शब्द और अर्थों में सहजरूप से बोध्य बोधक भाव संबन्ध है। अर्थ बोध्य होने की क्षमता रखता है, शब्द में बोधक होने की क्षमता है। इनमें यह बोध्य बोधकभाव संबन्ध अकृत्रिमरूप से विद्यमान रहता है। इस सम्बन्ध को सिखाने के लिये ही बन्धुओं ने अंगुली से उन पदार्थों को दिखा दिखा कर इन शब्दों का प्रयोग करके सिखाया है। शब्द अर्थों में यह संबन्ध नित्य सिद्ध है। संकेत के कारण इनमें यह संबन्ध घटित नहीं हुआ है। किसी बच्चे का नामकरण संस्कार करते समय पिता ऐसा संकेत करता है कि इस बच्चे का अमुक नाम है। वहां वह नाम संकेत के अनुसार उस बच्चे का बोधक होता है। वैसी बात प्रकृत में नहीं घटती है क्योंकि यहां इन अर्थों में इन शब्दों का संकेत करने वाला कोई पुरुष है ही नहीं न पुरुष संकेत के अनुसार ये शब्द बोध कराते हैं इनमें बोध्य बोधक भावसंबन्ध सहजरूप से विद्यमान रहता है। इनमें दूसरा कोई संबन्ध कार्यकारण भाव इत्यादि है ही नहीं। इस बोध्य बोधक भावसंबन्ध को समझाने के लिये ही बन्धुओं ने इतना परिश्रम किया है। इस प्रकार विचार करके बालक शब्द के बोधकत्व अर्थात् अर्थ बोध कराने वाली शक्ति को समझ लेते हैं। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त सभी शब्द सिद्धवस्तु उन २ पदार्थों को बतलाने के लिये ही प्रयुक्त होते हैं बालक भी सिद्धवस्तुओं में शब्दशक्ति को समझ लेते हैं। इस प्रकार माता पिता के द्वारा शिक्षित बालक उत्तरकाल में वृद्धों के द्वारा शिक्षा प्राप्त कर समझ लेते हैं कि अमुक २ शब्द अमुक २ अर्थ का वाचक हैं। इस प्रकार सभी शब्दों के अर्थों को समझकर वे बालक स्वयं सर्वविध वाक्यों का प्रयोग करने लगते हैं। इस प्रकार बालक यह भी समझ लेते हैं कि ऐसे ही सभी पद अपने २ अर्थ के वाचक होते हैं, ऐसे पदों के समुदाय से संपन्न होने वाले वाक्य उन पदार्थों के पारस्परिक संबन्ध रूप वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। सिद्धवस्तु का प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त होने वाले वाक्य सिद्धार्थ का प्रतिपादन करते हैं तथा कार्य को बतलाने के लिये प्रयुक्त होने वाले वाक्य कार्य को बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्व-मीमांसकों का ये निर्बन्ध—कि सर्वप्रथम शब्द की शक्ति का ज्ञान कार्य के विषय में हुआ करता है, सभी शब्दों का कार्य में ही तात्पर्य है, संपूर्ण वेदों का प्रतिपाद्य अर्थ कार्य ही है—निर्मूल सिद्ध होते हैं। सिद्ध-वस्तु के विषय में भी शब्दशक्ति जानी जा सकती है। सिद्धवस्तु को बतलाने में भी शब्दों का तात्पर्य हो

सकता है, सिद्धवस्तु ब्रह्म वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ हो सकता है। इन अर्थों का समर्थन हो गया है इससे पूर्वमीमांसकों के उपर्युक्त निर्बन्ध अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं।

सिद्धवस्तु के विषय में शब्द की बोधकत्व शक्ति जानी जा सकती है। वेदान्त वाक्य सकल-जगत्कारण सर्वकल्याण गुणनिधि सिद्धवस्तु ब्रह्म को बतलाने में पूर्ण क्षमता एवं तात्पर्य रखते हैं। उपर्युक्त लक्षण वाला ब्रह्म वेदान्त प्रतिपाद्य हो सकता है। वेदान्तों का ब्रह्म में तात्पर्य होने के कारण ब्रह्म वेदान्तों का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ बन जाता है। उसके विषय में विचार करना युक्त ही है। इस प्रकार अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करके श्रीरामानुज स्वामी जी ने मीमांसकों के उपर्युक्त पूर्वपक्ष का निराकरण किया है।

"तुष्यतु" न्यायेन कार्योपयुक्तत्वाद् ब्रह्मसिद्धेर्वर्णनम्

"तुष्यतु न्याय से कार्योपयुक्त होने के कारण ब्रह्मसिद्धि का प्रतिपादन

अपि च कार्यार्थ एव व्युत्पत्तिरस्तु, वेदान्तवाक्यान्यप्युपासनविषयकार्याधिकृतविशेषणभूतफलत्वेन दुःखासंभिन्नदेशविशेषरूपस्वर्गादिवद्‌ब्रह्मतत्प्रतिष्ठावदपगोरणशतयातना-साध्यसाधनभाववच्च कार्योपयोगितयैव सर्वं बोधयन्ति तथा हि ब्रह्मविदाप्नोति पर, मित्यत्र ब्रह्मोपासनविषयकार्याधिकृतविशेषणभूतफलत्वेन ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते, परप्राप्तिकामो ब्रह्म विद्यादिति। अत्र प्राप्यतया प्रतीयमानं ब्रह्मस्वरूपं तद्विशेषणं च सर्वं कार्योपयोगित-यैव सिद्धं भवति, तदन्तर्गतमेव जगत्स्रष्टृत्वं संहर्तृत्वमाधारत्वमन्तरात्मत्वम् इत्याद्युक्त-मनुक्तं च सर्वमिति न किंचिदनुपपन्नम्।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने थोड़ी देर के लिये प्रतिपक्षी के पक्ष को मानकर ब्रह्मविचार का समर्थन किया है। थोड़े समय के लिये प्रतिपक्षी के मत को मानकर उत्तर देना "तुष्यतु" न्याय कहा जाता है। उस न्याय के अनुसार श्रीरामानुजस्वामी जी ने यह उत्तर दिया है कि थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय कि कार्य अर्थ के विषय में ही शब्दों की शक्ति ज्ञात होती है, सिद्धवस्तु के विषय में नहीं, तो भी सिद्ध ब्रह्म का विचार युक्त ही सिद्ध होता है। उपनिषदों में यह विधान पाया जाता है कि परब्रह्म की प्राप्ति चाहने वाला पुरुष परब्रह्म की उपासना करे। पूर्वमीमांसकों ने यह माना है कि विधान करने वाले लिङ् लोट् और तव्य प्रत्यय इत्यादि शब्दों का अर्थ कार्य है उपनिषदों में प्रतिपाद्य उपर्युक्त कार्य का विषय उपासन है, उपासन विषय को लेकर कार्य होता है, उस कार्य का अधिकारी परब्रह्म की प्राप्ति को चाहने वाला साधक है। उस अधिकारी के प्रति विशेषण है परब्रह्म प्राप्ति की कामना। परब्रह्म प्राप्ति एवं परब्रह्म कामना में विशेषण बनकर परम्परा से अधिकारी के प्रति विशेषण सिद्ध होते हैं। उस अधिकारी का प्राप्य

फल परब्रह्म है। इस प्रकार उपासना कार्य के प्रतिफल बनाने वाले पर ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य सिद्ध होता है। कार्यार्थ में शक्ति मानने वाले प्राभाकर मीमांसक भी फल में विधायक वाक्यों का तात्पर्य मानते हैं, वह फल भले सिद्धवस्तु ही क्यों न हो, उसमें भी उन लोगों ने विधायक वाक्यों का तात्पर्य माना है क्योंकि यदि विधायक वाक्यों का फल में तात्पर्य नहीं होता तो वे फल प्रामाणिक सिद्ध न होंगे, उन फलों को चाहने वालों केलिये साधनों का विधान करना भी असंगत हो जायगा यदि फल अप्रामाणिक हों, एतदर्थ ही पूर्वमीमांसकों ने विधान का समर्थन करने के लिये विधि वाक्यों का फल में तात्पर्य माना है। इस विषय में तीन उदाहरण प्रसिद्ध हैं। (१) विधिवाक्य से दर्शपूर्णमास इत्यादि यागों का फल स्वर्ग सिद्ध होता है। वह स्वर्ग किस प्रकार का है, ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर अर्थवादवाक्य आकर स्वर्ग के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि जहाँ दुःख बिल्कुल न हो ऐसे देश विशेष में जाकर दुःख से अमिश्रित सुख का अनुभव करना ही स्वर्ग है। अर्थवाद के द्वारा वर्णित दुःखरहित देश इत्यादि विशेषतायें स्वर्ग में मानी जाती हैं। यहाँ अर्थवाद के द्वारा वर्णित अर्थ उपयुक्त होने से तात्विक माना गया है। (२) विधिवाक्य में फल का उल्लेख न होने पर अर्थवाद वर्णित फल वहाँ लिया गया है रात्रिसत्र नामक याग का विधान करने वाले वाक्य में फल का उल्लेख नहीं, निष्फल याग का विधान नहीं हो सकता। क्या वहाँ स्वर्ग को ही फल मानना होगा, क्योंकि विश्वजिन्न्याय में कहा गया है कि जिन कर्मों के विधायक वाक्यों में फल का उल्लेख न हो, वहाँ स्वर्ग को फल मानना चाहिये क्योंकि स्वर्ग सर्वाभीष्ट फल है। क्या विश्वजिन्न्याय के अनुसार रात्रिसत्र में स्वर्ग को फल मानना चाहिये। ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर जैमिनिमहर्षि ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि किसी प्रकार भी जहाँ वाचनिक फल प्राप्त न हो, वहाँ स्वर्ग को फल मानना चाहिये। रात्रिसत्र के विषय में अर्थवाद से प्रतिष्ठारूप फल प्राप्त होता है क्योंकि अर्थवाद में प्रतिष्ठाफल का उल्लेख है। विधिवाक्य में फल का उल्लेख न होने पर भी अर्थवाद में उल्लेख होने के कारण रात्रिसत्र में प्रतिष्ठा को ही फल मानना चाहिये। इस प्रकार अर्थवाद वर्णित प्रतिष्ठा फल अपेक्षित होने से रात्रिसत्र में मान लिया गया है। (३) उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के अनुसार विधिवाक्य के लिये अपेक्षित वह फल लिया गया है जो अर्थवाद में वर्णित है। इतना ही नहीं, किंतु निषेध वाक्य में वह फल भी प्रामाणिक मान लिया गया है जो अर्थवाद में निषेध्य कर्म के फल के रूप में वर्णित है। वेद में कहा गया है कि "तस्माद्ब्राह्मणाय नापगुरेत, योऽपगुरेत तं शतेनयातयेत्" अर्थात्—ब्राह्मण का वध करने के लिये उद्योग न करें, जो उद्योग करेगा उसे सौ वर्ष तक नरकयातना भोगनी पड़ेगी। यहाँ ब्राह्मण के वध के लिये किये जाने वाले उद्योग का निषेध है। वह उद्योग निषेध्य है, उसका निषेध तभी हो सकता है, यदि निषेध्य वह उद्योग अनर्थ हेतु हो। उपर्युक्त निषेध का समर्थन करने के लिये उस उद्योग एवं शतयातनामें कार्यकारण भाव प्रामाणिक माना जाता है क्योंकि वह निषेध के लिये उपयुक्त है। इन तीनों उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि कार्य के प्रति उपयुक्त होने के कारण अर्थवाद वर्णित स्वर्ग की विशेषतायें रात्रिसत्र में प्रतिष्ठारूपी फल तथा ब्राह्मणवधोद्योग एवं शतयातना में साध्य साधनभाव

प्रामाणिक माने जाते हैं। इसी प्रकार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। उपनिषद् में यह वचन है कि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है। इस वचन के अनुसार यहाँ पर इस प्रकार विधि का स्वरूप सिद्ध होता है कि ब्रह्म प्राप्ति को चाहने वाला पुरुष ब्रह्मोपासन करे। यहाँ ब्रह्मोपासन विषय को लेकर होने वाले कार्य का अधिकारी वह पुरुष है जो ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है उस पुरुष के प्रति विशेषणरूप में निर्दिष्ट होने वाले फल में ब्रह्म अन्तर्गत है। इस प्राप्य फल ब्रह्म के स्वरूप और अन्यान्य विशेषों का वर्णन करने वाले उपनिषद् वाक्य कार्य के लिये अपेक्षित अर्थ का प्रतिपादक होते हैं। उपासना के फलरूप में प्राप्त होने वाला ब्रह्म किस प्रकार का है? इस प्रकार जिज्ञासा उपस्थित होने पर विविध उपनिषद् वाक्य आकर बतलाते हैं कि वह ब्रह्म जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय करने वाला है, जगत् का आधार एवं अन्तरात्मा है। ऐसी २ अनन्त विशेषताओं को बतलाते हुये सम्पूर्ण उपनिषद् वाक्य उपर्युक्त कार्य के लिये उपयुक्त अर्थों का वर्णन करते हुये प्रमाण बन जाते हैं, ब्रह्म भी उस कार्य के द्वारा प्राप्त होने वाला फल बनकर कार्य से संबद्ध हो जाता है। पूर्व मीमांसकों के मतानुसार कार्यार्थ में वेदों का तात्पर्य होने पर भी कार्योपयुक्त फल के रूप में ब्रह्म सिद्ध होता है, उस ब्रह्म का विचार वेदतात्पर्य के अनुकूल होने के कारण अवश्य कर्तव्य है। इस प्रकार "तुष्यतु" न्याय के अनुसार श्रीरामानुज स्वामी जी ने मीमांसकमत के अनुसार ब्रह्मविचार को कर्तव्य सिद्ध किया है। सिद्धार्थ के विषय में शब्दव्युत्पत्ति हो या कार्यार्थ के विषय में हो, दोनों पक्षों में भी ब्रह्म सिद्ध होता है, उसका विचार भी कर्तव्य सिद्ध होता है।

कार्योपयुक्तत्वान्मन्त्रार्थवादप्रतिपादितार्थानामपि प्रामाणिकता सिद्धिः

कार्योपयुक्त होने से मन्त्रार्थवाद प्रतिपादित सिद्ध पदार्थ भी प्रामाणिक है।

एवं च सति मन्त्रार्थवादगता ह्यविरुद्धा अपूर्वाश्चार्थाः सर्वे विधिशेषतयैव सिद्धा भवन्ति। यथोक्तं द्रविडभाष्ये—"ऋणं हि वै जायते इति श्रुते" रित्युपक्रम्य "यद्यप्यवदानस्तुतिपरं वाक्यम् तथाऽपि नासता स्तुतिरुपपद्यते" इति। एतदुक्तं भवति—सर्वो ह्यर्थवादभागो देवताराधनभूतयागादेः साङ्गस्याराध्यदेवतायाश्चादृष्टरूपान् गुणान् सहस्रशो वदन् सहस्रशः कर्मणि प्राशस्त्यबुद्धिमुत्पादयति, तेषामसद्भावे प्राशस्त्यबुद्धिरेव न स्यादिति कर्मणि प्राशस्त्यबुद्ध्यर्थं गुणसद्भावमेव बोधयतीति अनयैव दिशा सर्वे मन्त्रार्थवादावगता ह्यर्थाः सिद्धाः।

उपनिषद् में परब्रह्म की प्राप्ति के लिये जो ब्रह्मोपासन का विधान है, उस विधि का फल में तात्पर्य है, प्राप्य फल के रूप में ब्रह्म में तात्पर्य अवश्य सिद्ध होता है। इस प्रकार विधि में अपेक्षित होने से ब्रह्म की सिद्धि फलित होती है। इस प्रकार उपासन विधि के अनुसार ब्रह्म की सिद्धि होती है। इतना ही नहीं,

किन्तु मन्त्र और अर्थवादों में वर्णित वे सभी अर्थ—जो दूसरे प्रमाणों से विरोध नहीं रखते तथा दूसरे प्रमाणों से सिद्ध न होने से अपूर्व माने जाते हैं—विधि में अपेक्षित होने के कारण प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। उपासनविधि में फल के रूप में अपेक्षित होने के कारण जिस प्रकार ब्रह्म प्रामाणिक सिद्ध होता है उसी प्रकार मन्त्रार्थवादों में वर्णित अन्यान्य अर्थ भी विधि में किसी न किसी प्रकार से अपेक्षित होने से प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त यह निर्णय द्रविड भाष्य में वर्णित है। द्रविड भाष्यकारने "ऋणंहि (ह) वैजायते इति श्रुतेः" ऐसा प्रारम्भ करके यह कहा है कि यद्यपि यह वाक्य अवदान की अर्थात् हवि से भाग निकालने की क्रिया की स्तुति करने में तात्पर्य रखता है तथापि उन गुणों में भी इस वाक्य का तात्पर्य मानना चाहिये जिन गुणों को लेकर स्तुति की जाती है। यदि उन गुणों में श्रुति का तात्पर्य नहीं होता तो वे गुण अप्रामाणिक एवं असत्य सिद्ध होंगे, अप्रामाणिक असत्य गुणों से स्तुति नहीं बन सकती है क्योंकि उन गुणों को अप्रामाणिक मानने वालों की दृष्टि में वह स्तुति झूठी ही प्रतीत होगी उस स्तुति से कर्म की प्रशंसा नहीं फलित होगी। यह द्रविड भाष्यकार का कथन है। इसका यह तात्पर्य है कि संपूर्ण अर्थवाद भाग अनेक गुणों का वर्णन करता है। याग इत्यादि कर्मदेवता का आराधन है इन कर्मों से देवता आराधित होते हैं अर्थवादों में देवता का आराधन बनने वाले याग आदि कर्मों के तथा उन कर्मों से आराधित होने वाले देवताओं के ऐसे २ सहस्रगुणों का वर्णन मिलता है जो गुण दूसरे किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। इस प्रकार अर्थवाद याग कर्म और देवता के गुणों का वर्णन करके अनेक प्रकारों से श्रोताओं के मनमें इस ज्ञान को उत्पन्न करा देता है कि कर्म अत्यन्त प्रशस्त है अतः इसे अवश्य करना चाहिये। यदि वे सभी गुण अप्रामाणिक होते तो श्रोताओं को कर्ममें प्राशस्त्यज्ञान हो ही नहीं सकता। कर्ममें प्राशस्त्यज्ञान को उत्पन्न करना यही अर्थवाद का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अर्थवाद गुणों की सत्यता को भी सिद्ध करते हैं। मन्त्र अनुष्ठान करने योग्य कर्मों को बतलाने के लिये प्रवृत्त है। वे यह बतलाते हैं कि यह कर्म इस प्रकार के देवता के लिये होता है। इन मन्त्रों का देवतास्वरूप इत्यादि में भी तात्पर्य है तभी उन २ देवताओं को लेकर कर्म का प्रकाशन सिद्ध सकता है। इस प्रकार मन्त्र और अर्थवादों के द्वारा वर्णित अनेक अपूर्व अर्थ विधि में अपेक्षित होने से प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। केवल ब्रह्म ही नहीं किन्तु उपर्युक्त अनेक अपूर्व अर्थ भी प्रामाणिक होते हैं। ये सभी अर्थ सिद्ध पदार्थ हैं। इस प्रकार प्रतिपादन करके श्रीरामानुजस्वामी जी ने "तुष्यतु" न्याय से कार्यार्थ में व्युत्पत्ति को मानकर यह सिद्ध किया है कि पूर्वपक्षी के मत के अनुसार विचार करने पर भी ब्रह्मोपासन विधि में अपेक्षित प्राप्य फल के रूप में ब्रह्म सिद्ध होता है, ऐसे ही मन्त्र और अर्थवादों से वर्णित अनेक अपूर्व अर्थ विधि में अपेक्षित होने के कारण प्रामाणिक सिद्ध होते हैं इसलिये प्राप्यफल परब्रह्म का विचार युक्त ही है। वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर यही मानना चाहिये कि सिद्ध वस्तुओं में व्युत्पत्ति होने के कारण सिद्धवस्तु ब्रह्म का विचार युक्त ही है। इस प्रकार दोनों दृष्टियों से श्रीरामानुजस्वामी जी ने ब्रह्म की सिद्धि की व्याख्या की है।

मीमांसकोक्तस्य कार्यलक्षणस्य खण्डनम्

मीमांसक वर्णित कार्य लक्षण के खण्डन का प्रारम्भ

अपि च कार्यवाक्यार्थवादिभिः किमिदं कार्यत्वं नामेति वक्तव्यम्, कृतिभावभाविता कृत्युद्देश्यतेति चेत्, किमिदं कृत्युद्देश्यत्वम् ? यदधिकृत्य कृतिर्वर्तते तत्कृत्युद्देश्यत्वमिति चेत् पुरुषव्यापाररूपायाः कृतेः कोऽयमधिकारो नाम, यत्प्राप्तीच्छया कृतिमुत्पादयति पुरुषः तत्कृत्युद्देश्यत्वमिति चेत् हन्त तर्हि इष्टत्वमेव कृत्युद्देश्यत्वम् ।

श्रीरामानुजस्वामी जी ने सिद्धार्थ में व्युत्पत्ति का समर्थन करके तथा सिद्ध अर्थ में व्युत्पत्ति न होने पर भी कार्य अर्थ में ही व्युत्पत्ति होने पर भी उपासन विधि में प्राप्य फल के रूप में अपेक्षित होने के कारण ब्रह्म की सिद्धि का समर्थन करके आगे उस कार्य का—जिसका वर्णन प्राभाकर मीमांसकों ने नाना प्रकार से किया था—खण्डन किया है। श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि प्राभाकर मीमांसक यह जो कह रहे हैं कि वाक्य का अर्थ कार्य ही है, उन्हें इस प्रश्न का—कि कार्य किसे कहते हैं, कार्य का लक्षण क्या है—उत्तर देना चाहिये। वे इस प्रश्न के उत्तर में यह कहते हैं कि याग इत्यादि क्रिया नश्वर हैं, वे शरीर त्यागने के बाद मिलने वाले स्वर्ग इत्यादि फल का कारण नहीं हो सकती हैं क्योंकि स्वर्ग शरीर त्यागने के बाद मिलने वाला है, ये याग आदि क्रियायें शरीर रहते समय ही नष्ट हो जाती हैं। स्वर्ग की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में नहीं रहती हैं। इस लिये ये स्वर्ग का साक्षात् कारण नहीं हो सकती। इनको स्वर्ग का कारण कहा गया है तदर्थ मानना पड़ता है कि ये याग आदि क्रियायें उत्पन्न होने के बाद एक अपूर्व को उत्पन्न करा देती हैं वह अपूर्व स्थायी रहता है, स्वर्ग आदि फलों को उत्पन्न करा करके ही वह नष्ट होता है, तब तक वह स्थायी रहता है। याग आदि क्रियायें इस अपूर्व के द्वारा स्वर्ग का साधन बनती हैं। इस बातको वैशेषिक नैयायिक इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तरूप में मानते हैं तथा मीमांसकों में भाट्टमीमांसक भी इस बात को मानते हैं। भाट्टमीमांसकों से हम लोगों में अर्थात् प्राभाकर मीमांसकों में यही अन्तर है कि हम लोग उस अपूर्व को वाच्य मानते हैं वे उसे वाच्य नहीं मानते हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि वह अपूर्व लिङ्, लोट्, तव्य इत्यादि प्रत्ययों से अभिहित होता है, अतएव वह वाच्य है। इस वाच्य अपूर्व को ही हम अपूर्व कार्य और नियोग इत्यादि शब्दों से कहा करते हैं। इस कार्य में तीन धर्म रहते हैं। (१) यह कार्य प्रयत्न से उत्पन्न होता है। प्रयत्न कृति कहलाता है। यह कार्य प्रयत्न साध्य होने से कृतिसाध्य कहा जाता है। कृतिसाध्यत्व कार्य का एक धर्म है। (२) कार्य इष्ट होता है। इष्टत्व कार्य का दूसरा धर्म है। कृतिसाध्यत्व और इष्टत्व अन्य पदार्थ में भी विद्यमान रहते हैं। ये कार्य का असाधारण धर्म नहीं हैं याग आदि क्रिया भी प्रयत्न साध्य है। फल भी इष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त दोनों धर्म कार्य का असाधारण धर्म नहीं हैं कार्य का असाधारण धर्म एक है। वह कृत्युद्देश्यत्व है। कार्य कृति अर्थात् प्रयत्न का उद्देश्य है। कार्य को सिद्ध करने के लिये ही यजमान प्रयत्न

करता है। प्रयत्नसाध्य होता हुआ जो प्रयत्न का उद्देश्य बना हुआ है, वह कार्य है। यही कार्य का लक्षण है। इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकों ने कार्य का लक्षण बतलाया है।

इस पर यह प्रश्न उठता है कि कृति का उद्देश्य किसे कहना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में प्राभाकर मीमांसकों ने कहा है कि जिसको अधिकार में लेकर प्रयत्न होता है, वह कृति का उद्देश्य बनता है। मनुष्य अपने प्रयोजन का साधन होने के कारण साधन को अपना समझता है। यह समझ ही अधिकार कहा जाता है। इस प्रकार प्रयत्न अपने प्रयोजन का साधन होने के कारण जिसे अपना मानकर प्रवृत्त होता है, वह प्रयत्न का उद्देश्य होता है। याग इत्यादि करने वालों का प्रयत्न अपूर्व को अपने प्रयोजन का साधन होने के कारण अपना मानकर प्रवृत्त होता है, इसलिये अपूर्व प्रयत्न का उद्देश्य बन जाता है। यह पूर्वमांसकों का कथन है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि किसी साधन को अपना मानना या न मानना मनुष्य का काम है, मनुष्य चेतन है, वह साधन को अपना मान सकता है। प्रयत्न चेतन नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जाता है कि प्रयत्न अपने प्रयोजन का साधन होने के कारण साधन को अपना मानकर उसमें प्रवृत्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्व मीमांसक कहते हैं कि जिसको प्राप्त करने की इच्छा से चेतन प्रयत्न करता है वह प्रयत्न का उद्देश्य होता है। अपूर्व को प्राप्त करने की इच्छा से चेतन प्रयत्न करता है, अपूर्व प्रयत्न का उद्देश्य होता है। इस प्रकार कृत्युद्देश्यत्व कार्य में घट जाता है। यह मीमांसकों का कथन है। इस पर श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि इष्टवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से चेतन प्रयत्न करता है, इष्टवस्तु ही प्रयत्न का उद्देश्य बनता है। इसलिये इष्टत्व और कृत्युद्देश्यत्व ये धर्म एक हो जाते हैं। कार्य में इष्टत्व से अतिरिक्त जो कृत्युद्देश्यत्व धर्म माना जाता है, वह इष्टत्व से अतिरिक्त नहीं सिद्ध होता है। उसका इष्टत्व में अन्तर्भाव हो जाता है, इष्टत्व से व्यतिरिक्त कृत्युद्देश्यत्व धर्म का प्रतिपादन अशक्य है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने कार्य के साधारण धर्म कृत्युद्देश्यत्व का खण्डन किया है।

प्रेरकत्वं कृत्युद्देश्यत्वमित्यस्य खण्डनम्

प्रेरकत्व ही कृत्युद्देश्यत्व है, इस वाद का खण्डन

अथैवं मनुषे इष्टस्यैव रूपद्वयमस्ति इच्छाविषयतया स्थितिः पुरुषप्रेरकत्वं च, तत्र प्रेरकत्वाकारः कृत्युद्देश्यत्वमिति, सोऽयं स्वपक्षाभिनिवेशकारितो वृथाश्रमः तथा हि इच्छाविषयतया प्रतीतस्य स्वप्रयत्नोत्पत्तिमन्तरेणासिद्धिरेव प्रेरकत्वं तत एव प्रवृत्तेः, इच्छायां जातायामिष्टस्य स्वप्रयत्नोत्पत्तिमन्तरेणासिद्धिः प्रतीयते चेत् ततश्चिकीर्षा जायते, ततः प्रवर्तते पुरुष इति तत्त्वविदां प्रक्रिया । तस्मादिष्टस्य कृत्यधीनात्मलाभत्वातिरेकि कृत्युद्देश्यत्वं नाम किमपि न दृश्यते ।

इस पर पूर्वमीमांसक कहते हैं कि इष्टवस्तु के दो रूप हैं, एक रूप इष्टत्व है, इच्छा का विषय बनकर रहना ही इष्टत्व है। दूसरा रूप पुरुष प्रेरकत्व है। इष्टवस्तु अपने को उत्पन्न करने के लिये पुरुष को प्रेरित करता है। यह प्रेरकत्व आकार ही कृत्युद्देश्यत्व कहा जाता है। यह आकार इष्टत्व से भिन्न है। इसलिये इस कृत्युद्देश्यत्व का इष्टत्व में अन्तर्भाव नहीं होता। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि मीमांसकों का उपर्युक्त कथन निरर्थक है, वे अपने पक्ष में अभिनिवेश होने से ऐसा कहते हैं, इसमें सार नहीं है, यह व्यर्थ श्रम है यह प्रेरकत्वरूप कृत्युद्देश्यत्व कृतिसाध्यत्व ही है, यह कृतिसाध्यत्व से भिन्न नहीं बनता। मीमांसकों को इष्टत्व और कृतिसाध्यत्व से व्यतिरिक्त रूप में कृत्युद्देश्यत्व अभिमत है। वह मनोरथ सिद्ध नहीं होगा, प्रेरकत्वरूप कृत्युद्देश्यत्व कृतिसाध्यत्व में अन्तर्भूत हो जाता है। इष्टवस्तु के विषय में यदि यह ज्ञान हो कि यह इष्टवस्तु प्रयत्न के बिना सिद्ध नहीं होगी तब वह इष्टवस्तु प्रेरक बन जाती है, इष्टवस्तु का प्रयत्न के बिना उत्पन्न न होना ही उसका प्रेरकत्व है। तत्त्वज्ञों की यह मान्यता है कि इष्टवस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हो जाने पर यदि यह विदित हो जाय कि प्रयत्न के बिना इष्टवस्तु प्राप्त न होगी, तब मनुष्य को उसके उपाय में प्रवृत्त होने की इच्छा होती है, बाद में मनुष्य उपाय में प्रवृत्त होता है। जो इष्टवस्तु प्रयत्न से साध्य होती है, वह प्रयत्न के द्वारा ही स्वस्वरूप को प्राप्त करती है। इष्टवस्तु को प्रयत्न के द्वारा स्वस्वरूप को प्राप्त करना यही कृत्युद्देश्यत्व है, इससे व्यतिरिक्त कृत्युद्देश्यत्व प्रमाण से सिद्ध होता ही नहीं। प्रयत्नसाध्य प्रतीत होने पर ही इष्टवस्तु प्रेरक बन सकती है, प्रयत्न साध्यत्व ही प्रेरकत्व है। यदि प्रेरकत्व ही कृत्युद्देश्यत्व होता, जैसा मीमांसकों ने कहा तब तो कृतिसाध्यत्व ही कृत्युद्देश्यत्व सिद्ध होता है। मीमांसकों के अभिमत उस कृत्युद्देश्यत्व—जो कृतिसाध्यत्व और इष्टत्व से भिन्न माना जाता है—में कोई प्रमाण है नहीं। इस प्रकार श्रीरामानुज स्वामी जी ने कार्य का असाधारणधर्म कृत्युद्देश्यत्व का खण्डन करके कार्य के लक्षण का खण्डन किया है।

पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्व मिति वादस्य खण्डनम्

पुरुषानुकूलत्व ही कृत्युद्देश्यत्व है, इस वाद का खण्डन

अथोच्यते—इष्टताहेतुश्च पुरुषानुकूलता तत्पुरुषानुकूलत्वं कृत्युद्देश्यत्वमिति चेत्, नैवम्, पुरुषानुकूलं सुखमित्यनर्थान्तरम् तथा पुरुषप्रतिकूलं दुःखपर्यायम् अतः सुखव्यतिरिक्तस्य कस्यापि पुरुषानुकूलत्वं न सम्भवति। ननु च दुःखनिवृत्तेरपि सुखव्यतिरिक्ताया: पुरुषानुकूलता दृष्टा, नैतत्, आत्मानुकूलं सुखम् आत्मप्रतिकूलं दुःखम् इति हि सुखदुःखयोर्विवेकः तत्रात्मानुकूलं सुखमिष्टं भवति तत्प्रतिकूलं दुःखं चानिष्टम्, अतो दुःखसंयोगस्यासह्यतया तन्निवृत्तिरपीष्टा भवति, तत एवेष्टतासाम्यादनुकूलताभ्रमः तथा हि

प्रकृतिसंसृष्टस्यसंसारिणः पुरुषस्यानुकूलसंयोगः प्रतिकूलसंयोगः स्वरूपेणावस्थितिरिति च तिस्रोऽवस्थाः, तत्र प्रतिकूलसंबन्धनिवृत्तिः अनुकूलसम्बन्धनिवृत्तिश्च स्वरूपेणावस्थितिरेव। तस्मात्प्रतिकूलसंयोगे वर्तमाने तन्निवृत्तिरूपा स्वरूपेणावस्थितिरपीष्टा भवति, तत्रेष्टतासाम्यादनुकूलताभ्रमः । अतः सुखरूपत्वादनुकूलतायाः नियोगस्यानुकूलतां वदन्तं प्रमाणिकाः परिहसन्ति ।

आगे कृत्युद्देश्यत्व का दूसरे प्रकार से परिष्कार करते हुये पूर्वमीमांसकों ने कहा कि कोई भी पदार्थ इसलिये ही इष्ट होता है कि वह चेतनों को अनुकूल लगता है। चेतनों के प्रति अनुकूल होना ही इष्ट होने का कारण है। यह अनुकूलत्व ही कृत्युद्देश्यत्व है। इसलिये कृत्युद्देश्यत्व को इष्टत्व एवं कृतिसाध्यत्व से भिन्न मानना पड़ता है। अपूर्व कार्य चेतनों का अनुकूल है, इसलिये वह कृत्युद्देश्य माना जाता है। इस पर श्रीरामानुज स्वामी जी ने कहा कि मीमांसकों का उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं, क्योंकि अपूर्व कार्य चेतनों का अनुकूल नहीं माना जा सकता। जो चेतनों को अनुकूल लगता है, वह सुख कहलाता है। जो चेतनों को प्रतिकूल लगता है वह दुःख कहलाता है। चेतनानुकूल और सुख ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। चेतनप्रतिकूल और दुःख ये दोनों पद एक ही अर्थ के वाचक हैं। अपूर्वकार्य कोई सुख नहीं है वह सुख से व्यतिरिक्त है। वह चेतनों का अनुकूल नहीं हो सकता। उसे चेतनों का अनुकूल मानकर कृत्युद्देश्य कहना सर्वथा अयुक्त है। इसपर पूर्वमीमांसकों ने कहा कि वह दुःख की निवृत्ति–जो सुख से व्यतिरिक्त है–भी चेतनों को अनुकूल लगती है। यह सर्वानुभूत सत्य है। सुख ही अनुकूल हो, ऐसी बात नहीं क्योंकि सुख से भिन्न दुःख निवृत्ति भी अनुकूल लगती है। इसी प्रकार ही सुख से व्यतिरिक्त अपूर्व कार्य भी चेतनों का अनुकूल माना जा सकता है। इसपर श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि जो स्वतः इष्ट होता है, वह अनुकूल है, सुख स्वतः इष्ट होता है, उसे अनुकूल मानना उचित है। जो स्वतः अनिष्ट है, वह प्रतिकूल कहा जाता है। दुःख चेतनों को स्वतः अनिष्ट है, उसे प्रतिकूल मानना उचित है। दुःख और सुख का यही विवेचन है कि जो चेतनों का अनुकूल है, वह सुख है, जो चेतनों का प्रतिकूल है, वह दुःख है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। चेतनों का अनुकूल होने से सुख इष्ट होता है, चेतनों का प्रतिकूल होने से दुःख अनिष्ट होता है। दुःख असह्य होता है, इसलिये उसकी निवृत्ति इष्ट होती है, वह स्वतः इष्ट नहीं होती है, किंतु दुःख असह्य होने के कारण तथा दुःख में द्वेष होने के कारण वह इष्ट होती है। वह स्वतः इष्ट न होने के कारण अनुकूल नहीं मानी जा सकती। चेतन दुःख निवृत्ति को अनुकूल समझें तो वह भ्रम ही है, जिस प्रकार सुख इष्ट होता है, उसी प्रकार दुःख द्वेष के कारण दुःख निवृत्ति भी इष्ट होती है। इष्ट होने के कारण चेतन सुख एवं दुःख निवृत्ति को अनुकूल मान लेते हैं। वास्तव में दुःख निवृत्ति स्वतः इष्ट न होने से अनुकूल मानने योग्य नहीं है। इस अन्तर को न समझकर चेतन इष्टत्व भर को समझकर दुःखनिवृत्ति को भ्रम से अनुकूल मान लेते हैं। दुःखनिवृत्ति और सुख यदि एक पदार्थ हों, तभी दुःखनिवृत्ति अनुकूल

बन सकती है। दुःखनिवृत्ति और सुख भिन्न २ पदार्थ हैं, इसलिये दुःखनिवृत्ति अनुकूल नहीं मानी जा सकती। सुख निवृत्ति और दुःख को तथा दुःखनिवृत्ति और सुख को भिन्न पदार्थ मानना ही युक्तिसंगत है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि प्रकृति से संबद्ध बद्ध जीवों की तीन अवस्थायें होती हैं। (१) अनुकूल संबन्ध (२) प्रतिकूल संबन्ध और (३) स्वरूप में स्थिति। सुख भोगते समय जीव को अनुकूल संबन्ध होता है। दुःख भोगते समय जीव को प्रतिकूल संबन्ध होता है, सुख दुःख रहित निद्रा आदि दशा में जीव की स्वरूप में स्थिति होती है। निद्रा आदि अवस्था में जीव को न अनुकूल संबन्ध होता है न प्रतिकूल संबन्ध होता है, उस समय चेतन स्वरूप में अवस्थित रहता है। यदि सुख निवृत्ति और दुःख को एक पदार्थ मान लिया जाय तथा दुःखनिवृत्ति और सुख को एक पदार्थ मान लिया जाय तो निद्रा आदि अवस्था में जीव को सुख दुःख मानना पड़ेगा क्योंकि उस समय सुख निवृत्ति होने के कारण दुःख मानना होगा तथा दुःख निवृत्ति होने के कारण सुख मानना होगा। ऐसा मानना तो उचित नहीं है क्योंकि निद्रा समय में जीव सुख दुःख रहित होकर स्वरूप में अवस्थित रहता है। अतः यही सिद्धान्त मानना होगा कि दुःख निवृत्ति और सुख भिन्न २ पदार्थ हैं तथा सुख निवृत्ति और दुःख भिन्न २ पदार्थ हैं। तीसरी अवस्था में अर्थात स्वरूप में अवस्थित रहते समय अनुकूल संबन्ध और प्रतिकूल संबन्ध दोनों निवृत्त हो जाते हैं। प्रतिकूल दुःख सम्बन्ध होने पर जीव स्वरूप में अवस्थिति को इस लिये चाहते हैं कि उस समय दुःख संबन्ध की निवृत्ति हो जाती है। वह स्वरूप में स्थिति अनुकूल नहीं है क्योंकि उस समय सुख नहीं होता। सुख न होने पर भी वह इस लिये इष्ट होती है कि उस समय प्रतिकूल संबन्ध की निवृत्ति हो जाती है। इष्ट होने के कारण चेतन भ्रम से उसे अनुकूल मान लेते हैं। वास्तव में वह अनुकूल नहीं है, इष्ट होती है, इतना ही है। भाव यह है कि स्वरूप में अवस्थिति अनुकूल नहीं बन सकती तथा दुःख निवृत्ति भी अनुकूल नहीं बन सकती है। एकमात्र सुख ही अनुकूल हो सकता है। सुख व्यतिरिक्त अपूर्व कार्य—जो नियोग कहा जाता है—को अनुकूल कहने वाले मीमांसकों को देखकर प्रामाणिक सज्जन परिहास करते हैं क्योंकि सुख व्यतिरिक्त वह अपूर्व कार्य अनुकूल बन ही नहीं सकता। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने मीमांसक सम्मत अपूर्व कार्य की अनुकूलता का खण्डन किया है।

अपूर्वकार्यमिष्टसाधनम् न तु सुखरूपम्

अपूर्व कार्य केवल इष्ट साधन है, सुख रूप नहीं

इष्टस्यार्थविशेषस्य निर्वर्तकतयैव हि नियोगस्य नियोगत्वं स्थिरत्वमपूर्वत्वं च प्रतीयते। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र कार्यस्य क्रियातिरिक्तता स्वर्गकामपदसमभिव्याहारेण स्वर्गसाधनत्वनिश्चयादेव भवति।

इसपर मीमांसकों ने यह कहा कि अपूर्व कार्य—जो नियोग कहलाता है—भी एक सुख विशेष है, इसलिये उसको अनुकूल मानना उचित है। इस अर्थ का खण्डन करते हुये श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि नियोग अर्थात् अपूर्व कार्य सुखविशेष नहीं माना जा सकता क्योंकि सुख स्वतः इष्ट होता है। नियोग इष्ट साधन होने के कारण इष्ट होता है, स्वतः नहीं। स्वर्ग इत्यादि सुख स्वतः इष्ट होता है, उसका साधन होने के कारण नियोग इष्ट होता है। इष्टसाधन होने के कारण ही नियोग को स्थिर एवं अपूर्व माना जाता है नियोग को नियोग मानने का कारण यही है कि वह प्रेरक होता है। प्रेरक और नियोग ये दोनों पद समानार्थक हैं। नियोग को इष्ट साधन समझने पर चेतन प्रवृत्त होता है। इष्ट साधन होने से ही नियोग प्रेरक अर्थात् प्रवृत्ति का कारण होता है। अतः एव वह नियोग कहलाता है। कालान्तर में होने वाले स्वर्ग का साधन होने से ही नियोग अर्थात् अपूर्व कार्य को स्थिर मानना पड़ता है। अपूर्व कार्य को अपूर्व मानने का कारण यही है कि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विदित नहीं होता, किन्तु शास्त्र के द्वारा ही विदित होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से याग आदि क्रिया ही विदित होती है, ये क्रियायें नश्वर हैं इन क्रियाओं से व्यतिरिक्त स्थिर साधन—जो अपूर्व कहलाता है—शास्त्र से विदित होता है। साधन रूप में ही वह शास्त्रों से बोधित होता है। इस प्रकार इष्ट साधन होने से अपूर्व कार्य का नियोगत्व अर्थात् प्रेरकत्व और अपूर्वत्व सिद्ध होता है। "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् स्वर्ग चाहने वाले याग करें। इस वाक्य को सुनने पर याग क्रिया ही प्रथमतः कार्य अर्थात कर्तव्य प्रतीत होती है। याग क्रिया स्वर्ग का साधन होने पर ही कर्तव्य हो सकती है। "स्वर्गकामः" इस पद का साथ प्रयोग होने से याग क्रिया स्वर्ग साधन प्रतीत होती है। याग स्वर्ग चाहने वाला का कर्तव्य है। अतः वह स्वर्ग साधन माना जाता है। किन्तु कठिनाई यह है कि याग नश्वर होने के कारण कालान्तर में होने वाले स्वर्ग का कारण नहीं बन सकता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह मानना पड़ता है कि याग क्रिया स्थिर अपूर्व के द्वारा स्वर्ग का साधन होती है, याग से उत्पन्न होने वाला वह अपूर्व नश्वर नहीं है, किंतु फलोत्पत्ति के पूर्व लक्षण तक रहता है, वह पूर्व क्षण में रहकर फल को उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार इष्ट साधन के रूप में ही अपूर्व सर्व प्रथम बुद्ध्यारूढ होता है। इष्ट साधन बनने वाला अपूर्व स्वतः इष्ट नहीं हो सकया, अतएव उसे सुख विशेष मानना भी उचित नहीं है।

अपूर्वकार्यस्य प्रधानतायाः खण्डनम्

अपूर्व कार्य की प्रधानता का खण्डन

न च वाच्यं यजेतेत्यत्र प्रथमं नियोगः स्वप्रधानतयैव प्रतीयते स्वर्गकामपदसमभिव्याहारात्स्वसिद्धये स्वर्गसिद्ध्यनुकूलता च नियोगस्येति, यजेतेति हि धात्वर्थस्य पुरुषप्रयत्नसाध्यतैव प्रतीयते, स्वर्गकामपदसमभिव्याहारादेव धात्वर्थातिरेकिणो नियोगत्वं

स्थिरत्वमपूर्वत्वं चेत्यादि, ह्यवगम्यते, तच्च स्वर्गसाधनत्वप्रतीतिनिबन्धनम् समभिव्याहृतस्वर्गकामपदार्थान्वययोग्यं स्वर्गसाधनमेव कार्यं लिङादयोऽभिदधतीति हि लोकव्युत्पत्तिरपि तिरस्कृता । एतदुक्तं भवति—समभिव्याहृतपदान्तरवाच्यार्थान्वययोग्यमेवेतरपदप्रतिपाद्यमित्यन्विताभिधायिपदसंघातरूपवाक्यश्रवणसमनन्तरमेव प्रतीयते, तच्च स्वर्गसाधनरूपम्, अतः क्रियावदनन्यार्थताऽपि विरोधादेव परित्यक्तेति । अतएव गङ्गायां घोष इत्यादौ घोषप्रतिवासयोग्यार्थोपस्थापनपरत्वं गङ्गापदस्याश्रीयते । प्रथमं गङ्गापदेन गङ्गार्थः स्मृत इति गङ्गापदार्थस्य पेयत्वं न वाक्यार्थान्वयि भवति । एवमत्रापि यजेतेत्येतावन्मात्रश्रवणे कार्यमनन्यार्थं स्मृतमिति वाक्यार्थान्वयसमये कार्यानन्यार्थता नावतिष्ठते । कार्याभिधायिपदश्रवणवेलायां प्रथमं कार्यमनन्यार्थं प्रतीतमित्येतदपि न संगच्छते, व्युत्पत्तिकाले गवानयनादिक्रियाया दुःखरूपाया इष्टविशेषसाधनतयैव कार्यताप्रतीतेः ।

इसपर पूर्वमीमांसकों ने कहा कि जिस प्रकार भृत्यों को इष्ट देने वाला राजा प्रधान माना जाता है, उसी प्रकार नियोग अर्थात् अपूर्व कार्य को प्रधान मानना चाहिये । राजा की तरह प्रधान बना हुआ अपूर्व याग आदि करने वालों को इष्ट फल देता है । अपूर्व स्वयं प्रधानरूप में प्रतीत होता है । अतः वह स्वतः इष्ट हो सकता है, उसे सुखस्वरूप मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये । यह मीमांसकों का कथन है । इस पर श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि "यजेत" इस पद में लिङ्लकार से स्वयं प्रधान अपूर्व कार्य बतलाया जाता है, प्राभाकर मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं है क्योंकि "यजेत" इस पद से यही बतलाया जाता है कि याग क्रिया पुरुष प्रयत्न से साध्य है । धात्वर्थ को पुरुष प्रयत्न साध्य बतलाना यही लिङ्लकार का काम है । "स्वर्गकामः" इस पद के साथ प्रयोग होने से यह फलित होता है कि याग क्रिया स्वर्ग साधन है । याग क्रिया नश्वर होने से स्वर्ग साधन नहीं बन सकती । इसलिये मानना पड़ता है कि याग अपूर्व के द्वारा स्वर्ग साधन होता है । यह मन्तव्य तभी सही हो सकता है यदि याग से उत्पन्न होने वाला अपूर्व स्वर्ग साधन हो । तदर्थ अपूर्व को स्वर्ग साधन मानना पड़ता है । स्वर्ग साधन होने से ही अपूर्व उस याग आदि धात्वर्थ—जो स्वर्ग का साधन नहीं बनता है—से भिन्न माना जाता है तथा नियोग अर्थात् प्रेरक स्थिर एवं अपूर्व माना जाता है । इन अर्थों का विवरण पहले एक बार किया गया है । अपूर्व में स्वर्ग साधनत्व प्रतीत होने के कारण ही अपूर्व में नियोगत्व स्थिरत्व एवं अपूर्वत्व सिद्ध होता है । "यजेत स्वर्गकामः" अर्थात् स्वर्ग चाहने वाले पुरुष याग करें, इस वाक्य को सुनने पर यही प्रतीत होता है कि स्वर्गकाम पदार्थ के साथ अन्वय पाने योग्य तथा स्वर्ग साधन बनने वाले कार्य को ही लिङ् आदि प्रत्यय बतलाते हैं । स्वर्ग साधन अपूर्व कार्य का यहां प्रतिपादन होता है, स्वर्ग साधन बनने वाला अपूर्व कार्य स्वर्गार्थ हो जाता है, वह राजा की तरह प्रधान नहीं हो सकता है । मीमांसक यह जो कहते हैं कि राजा की तरह प्रधान बनने वाला

अपूर्व कार्य लिङ् आदि प्रत्ययों से अभिहित होता है, वह कथन लोकव्युत्पत्ति के विरुद्ध है, लोकव्युत्पत्ति का तिरस्कार करने का दोष उनके मत में आ जाता है। भाव यह है कि परस्पर में अन्वय पाने वाले अर्थों को बतलाने वाले पदों का समुदायरूप वाक्य को सुनने पर यही प्रतीत होता है कि साथ प्रयुक्त दूसरे पद के वाच्यार्थ के साथ अन्वय पाने योग्य अर्थ को ही प्रथम पद बतलाता है। ऐसी स्थिति में यही मानना पड़ेगा कि "स्वर्गकामः" इस पद के वाच्यार्थ के साथ अन्वय पाने योग्य अर्थ को ही "यजेत" यह पद बतलाता है। वह अर्थ स्वर्गसाधन बनने वाला कार्य ही है। स्वर्ग साधन बनने वाला कार्य ही स्वर्गेच्छु-पुरुष का कर्तव्य हो सकता है। स्वर्गसाधन बनने वाला अपूर्व कार्य स्वर्गार्थ होने से अनन्यार्थ बन जाता है, वह अनन्यार्थ एवं प्रधान बन ही नहीं सकता। यदि प्रथम प्रतीति में अनन्यार्थ एवं प्रधान प्रतीत होवे तो भी स्वर्ग काम पदार्थ के साथ अन्वय करते समय अपूर्व कार्य की अनन्यार्थता एवं प्रधानता को त्यागना ही होगा, तभी वह स्वर्ग साधन बनकर स्वर्ग काम पदार्थ के साथ अन्वय पा सकता है, अन्यथा नहीं। यहां पर यह उदाहरण ध्यान देने योग्य है। कोई कहता है कि "गङ्गायां घोषः" अर्थात् गङ्गा में अहीरों की बस्ती है। यहां पर यह मानना पड़ता है कि उस बस्ती का निवास करने के योग्य अर्थ को ही गङ्गा पद बतलाता है। गङ्गापद का प्रसिद्ध अर्थ गंगा प्रवाह है इस प्रवाह में बस्ती का निवास नहीं हो सकता है। इस लिये वहां वाच्यार्थ प्रवाह को त्याग कर लक्षणा से गंगापद का तीर अर्थ माना जाता है, गंगा तीर में बस्ती का निवास हो सकता है, यह तीर ही उस वाक्यार्थ में अन्वय पाता है, वहाँ सर्वप्रथम गंगापद से प्रवाह रूपी अर्थ उपस्थित होने पर भी वह वाक्यार्थ में अन्वय नहीं पाता है, उसमें विद्यमान पान योग्यत्व धर्म भी वाक्यार्थ में अन्वय नहीं पाता है, इसमें कारण यही है कि बस्ती जिसमें निवास कर सके, वही अर्थ गंगापद से बोध्य होता है, वह तीर ही है। इस लिये वहां प्रवाहरूपी अर्थ एवं उसका पेयत्व अर्थात् पान योग्यरूपी अर्थ त्याग दिया जाता है, वह वाक्यार्थ में अन्वय नहीं पाता है। उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। "यजेत" अर्थात् याग करें, इतना सुनने पर "तुष्यतु" न्याय से भले कार्य अनन्यार्थ एव प्रधान उपस्थित हो तो भी "स्वर्गकामः" इस पद के साथ अन्वय पाते समय वह कार्य अनन्यार्थ एवं प्रधान बनकर रह नहीं सकता, उसे स्वर्गसाधनरूप में उपस्थित होना होगा तभी उस वाक्यार्थ में उसका अन्वय होगा, स्वर्ग साधन रूप में उपस्थित होने पर उसकी अनन्यार्थता एवं प्रधानता को त्यागना होगा। यहां पर कार्य की अनन्यार्थता एवं प्रधानता को त्यागने की जो बात कही जा रही है वह मीमांसकों के इस सिद्धान्त—कि कार्य को बताने वाले शब्दों को सुनने पर कार्य अनन्यार्थ एवं प्रधान प्रतीत होता है—को "तुष्यतु न्याय से मानकर कही गई है सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर मीमांसकों का उपर्युक्त कथन गलत सिद्ध होता है। इस लिये यह बात—कि कार्यवाचक पदोंको सुनते समय कार्य प्रधान एवं अनन्यार्थ प्रतीत होता है—मान्य नहीं हो सकती। लोक में "गामानय" और "अश्वं बधान" (गौ को लाओ, अश्व को बांधो) इत्यादि कार्यों को बतलाने वाले शब्दों को सुनकर मनुष्य की प्रवृत्ति को देखकर शब्दार्थ का निर्णय करते समय बालक भी यही जानता है

कि गौ को लाना इत्यादि क्रियायें—जो क्लेशसाध्य होने से दुःखरूप हैं—इष्टविशेष का साधन होने से कार्य प्रतीत होती हैं। अमुक शब्द का अमुक अर्थ है, इस प्रकार शब्दशक्ति को समझते समय में बालक भी क्रियाओं को इष्टसाधन के रूप में ही कार्य समझते हैं। इष्टसाधन के रूप में समझा जाने वाला कार्य आरम्भ में ही अन्यार्थ प्रतीत होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद में लिङ् आदि शब्दों से प्रतीत होने वाला अपूर्व कार्य भी इष्टसाधन रूप में ही प्रतीत होता है, प्रधान रूप में नहीं। उसे अनन्यार्थ एवं प्रधान मानना सर्वथा असंगत है।

अपूर्व कार्यगतानुकूलतायाः खण्डनम्

अपूर्व कार्य की अनुकूलता का खण्डन

अतो नियोगस्य पुरुषानुकूलत्वं सर्वलोकविरुद्धम्, नियोगस्य सुखरूपपुरुषानुकूलतां वदतः स्वानुभवविरोधश्च 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेते' त्यादिषु सिद्धेऽपि नियोगे वृष्टया दिसिद्धिनिमित्तस्य वृष्टिव्यतिरेकेण नियोगस्यानुकूलता नानुभूयते। यद्यप्यस्मिन् जन्मनि वृष्टयादिसिद्धेरनियमः, तथाऽप्यनियमादेव नियोगसिद्धिरवश्याश्रयणीया, तस्मिन्ननुकूलतापर्यायसुखानुभूतिर्न विद्यते। एवमुक्तरीत्या कृतिसाध्येष्टत्वातिरेकिकृत्युद्देश्यत्वं न विद्यते।

अर्थात्—मीमांसक यह जो कहते हैं कि नियोग अर्थात् अपूर्व कार्य चेतनों का अनुकूल एवं सुखरूप हैं, यह कथन सर्वलोकानुभव से विरोध रखता है क्योंकि किसी को भी अपूर्वकार्य सुखरूप से प्रतीत नहीं होता किंच यह कथन कहने वालों के अनुभव से भी विरोध रखता है क्योंकि कहने वाले मीमांसक भी नियोग सुख का अनुभव नहीं करते हैं। किंच, वेद यह आदेश देता है कि "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत" अर्थात्—वृष्टि चाहने वाला पुरुष कारीरी नामक याग करें। जब धान सूखते हैं तब यह याग करने योग्य हैं, शीघ्र वर्षा होने के लिये यह याग किया जाता है। याग करने पर अवश्य उस जन्म में वर्षा हो यह नियम नहीं है क्योंकि कर्ता कर्म और साधन में दोष उपस्थित होने पर अथवा प्रबल प्रारब्ध से प्रतिबन्ध होने पर वर्षा नहीं भी हो सकती है, किन्तु वैसा प्रतिबन्ध और दोष न होने पर इस याग से वर्षा अवश्य होती है। वहाँ याग सम्पन्न होते ही अपूर्वकार्य उत्पन्न होता है वह वर्षा होने तक स्थिर रहकर वर्षा को उत्पन्न करता है। यदि अपूर्वकार्य सुखरूप होता तो यजमान को उस सुख का अनुभव होना चाहिये। किंतु अनुभव नहीं होता। इससे यही सिद्ध होता है कि अपूर्वकार्य न सुखरूप है न अनुकूल ही है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि मीमांसकों ने अपूर्वकार्य को पुरुषों का अनुकूल मानकर जो उसे

कृत्युद्देश्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वह निष्फल है। कार्य में कृतिसाध्यत्व और इष्टत्व दो धर्म मानने योग्य हैं, इनसे अतिरिक्त कृत्युद्देश्यत्व धर्म—जिसे मीमांसकों ने कहा—सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने अपूर्वकार्य का असाधारण धर्म कृत्युद्देश्यत्व का खण्डन किया है।

कृतिं प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वमिति लक्षणस्य खण्डनम्

कृति के प्रति शेषित्व ही कृत्युद्देश्यत्व है, इस लक्षण का खण्डन

कृतिं प्रति शेषित्वं कृत्युद्देश्यत्वमिति चेत् किमिदं शेषित्वं किञ्च शेषत्वमिति वक्तव्यम्, कार्यप्रतिसम्बन्धोशेषः, तत्प्रतिसम्बन्धित्वं शेषित्वमिति चेत्, एवं तर्हि कार्यत्वमेव शेषित्वमित्युक्तं भवति। कार्यत्वमेव विचार्यते। परोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्त्यर्हत्वमेव शेषत्वमिति चेत् कोऽयं परोद्देशो नामेति। अयमेव हि विचार्यते, उद्देश्यत्वं नामेप्सितसाध्यत्वमिति चेत्, किमीप्सितत्वम् ?, कृतिप्रयोजनत्वमिति चेत्, पुरुषस्य कृत्यारम्भप्रयोजनमेव हि कृतिप्रयोजनम्, स चेच्छाविषयः कृत्यधीनात्मलाभ इति पूर्वोक्त एव।

आगे मीमांसकों ने दूसरे प्रकार से कृत्युद्देश्यत्व का परिष्कार करते हुये यह कहा कि जो प्रयत्न के प्रति शेषी होता है वह कृत्युद्देश्य होता है, प्रयत्न के प्रति शेषी होना ही कृत्युद्देश्यत्व है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शेषी किसे कहना चाहिये, शेष किसे कहना चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि जो कार्य से सम्बन्ध रखता है अर्थात् जो कार्य के लिये रहता है वह शेष कहलाता है, उस शेष से सम्बन्ध रखने वाला कार्य शेषी होता है मीमांसकों के उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि कार्य से सम्बन्ध रखने वाले के साथ सम्बन्ध रखने वाला कार्य शेषी है। इससे यही फलित होता है कि कार्यत्व ही शेषित्व है। हम लोग कार्यत्व पर ही विचार कर रहे हैं कि कार्य किसे कहना चाहिये। इस प्रसंग में कार्य का लक्षण करते समय उस लक्षण में कार्य का समावेश करने पर आत्माश्रय दोष उपस्थित होता है। इसलिये शेषित्व को दूसरे ही प्रकार से परिष्कार करना चाहिये। वह दूसरा प्रकार क्या है? इस पर पूर्वमीमांसक कहते हैं कि शेषवाला शेषी होता है। उसे शेष कहना चाहिये जो दूसरे के उद्देश से प्रवृत्त होने वाले प्रयत्न का विषय बनने योग्य हैं। उदाहरण—याग के उद्देश से होने वाले प्रयत्न का विषय अंगकर्म होते हैं। इस लिये अंग कर्मों को याग का शेष कहा जाता है। उसी प्रकार ही अपूर्वकार्य के उद्देश से होने वाले प्रयत्न का विषय याग होता है इसलिये याग अपूर्व कार्य का शेष होता है, अपूर्वकार्य शेषी होता है। यह मीमांसकों का कथन है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के उद्देश से होने वाला प्रयत्न ऐसा कहने पर वह दूसरा उद्देश्य सिद्ध होता है। यहाँ कृत्युद्देश्यत्व में अन्तर्गत उद्देश्यत्व का लक्षण करते समय उस

लक्षण में उद्देश्यत्व का समावेश किया जाता है, अतः आत्माश्रय दोष अवश्य उपस्थित होगा। इसलिये दूसरे ही रूप से उद्देश्यत्व का लक्षण करना चाहिये। वह रूप क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में पूर्वमीमांसक कहते हैं कि जो साध्य प्राप्त करने के लिये इष्ट है वह उद्देश्य होता है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि कौनसा साध्य प्राप्त करने के लिये अभिमत होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि जो प्रयत्न का प्रयोजन है, वही प्राप्त करने का इष्ट होता है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि प्रयत्न जड पदार्थ है, वह किसी प्रयोजन को चाह नहीं सकता। कोई पदार्थ प्रयत्न का प्रयोजन कैसे बन सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना होगा कि जिस प्रयोजन की इच्छा से पुरुष प्रयत्न करता है वही प्रयत्न का प्रयोजन माना जाता है। पुरुष उसे ही प्रयोजन मानता है जो इच्छा का विषय हो, साथ ही प्रयत्न करने पर सिद्ध होने वाला हो। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कृत्युद्देश्यत्व का पर्यवसान इष्टत्व एवं कृतिसाध्यत्व में हो जाता है। इनसे अतिरिक्त कृत्युद्देश्यत्व—जो अपूर्व कार्य का असाधारण आकार है—सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने कृत्युद्देश्यत्व का खण्डन कर मीमांसक संमत कार्यस्वरूप दुर्निरूप (निरूपण करने में अशक्य) सिद्ध किया है।

सिद्धान्तरीत्याशेषशेषिणो लक्षणम्

सिद्धान्त के अनुसार शेष और शेषी का लक्षण और उनका समन्वय

अयमेव हि सर्वत्र शेषशेषिभावः, परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः परः शेषी, फलोत्पत्तीच्छया यागादेस्तत्प्रयत्नस्य चोपादेयत्वं यागादिसिद्धीच्छयाऽन्यत्सर्वमुपादेयम्, एवं गर्भदासादीनामपि पुरुषविशेषातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेव स्वरूपम्। एवमीश्वरगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव चेतनाचेतनात्मकस्य नित्यस्यानित्यस्य च सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपमिति सर्वमीश्वरशेषभूतं सर्वस्य चेश्वरः शेषीति 'सर्वस्य वशी' 'सर्वस्येशानः 'पतिं विश्वस्ये'त्याद्युक्तम्। 'कृतिसाध्यं प्रधानं यत्तत्कार्यमभिधीयते' इत्ययमर्थः श्रद्दधानेष्वेव शोभते।

इस प्रसंग में श्रीरामानुजस्वामी जी ने अपने सिद्धान्त के अनुसार शेषशेषिभाव का लक्षण बतलाकर इस जिज्ञासा—शेष किसे कहना चाहिये और शेषी किसे कहना चाहिये—को शान्त किया है। वह लक्षण यह है कि दूसरे के अतिशय अर्थात् विशेषता को सिद्ध करने की इच्छा से जो पदार्थ संग्राह्य होता है, ऐसा संग्राह्य होना जिस पदार्थ का स्वरूप है, वह पदार्थ शेष कहलाता है वह दूसरा पदार्थ शेषी कहलाता है जिसका अतिशय कराना है। याग फल का शेष माना जाता है, फल शेषी माना जाता है। वहाँ पर यह

लक्षण घट जाता है। फल को उत्पन्न होना यही फल का अतिशय अर्थात् विशेषता है। फल को उत्पन्न करने की इच्छा से ही याग संग्राह्य होता है। इस लिये याग शेष और फल शेषी सिद्ध होता है। याग को सिद्ध करने की इच्छा से ही व्रीहि आदि साधन संग्राह्य होते हैं, वहाँ व्रीहि आदि पदार्थ शेष और याग शेषी माना जाता है। ऐसे गर्भदास आदि के विषय में भी समझना चाहिये। जो गर्भ से लेकर दास बने हैं, वे गर्भदास हैं, वे स्वामी को सुख पहुँचाने की इच्छा से ही संग्राह्य होते हैं। इसलिये वहाँ गर्भदास शेष और स्वामी शेषी माने जाते हैं। ईश्वर शेषी और ईश्वर व्यतिरिक्त सभी जड चेतन पदार्थ शेष माने जाते हैं वहाँ पर भी यह लक्षण घट जाता है। ईश्वर को लीलारस और भोग रस पहुँचाने की इच्छा से ही लीलाविभूति और भोगविभूति में रहने वाले नित्य और अनित्य सभी जड चेतन पदार्थ ईश्वर को संग्राह्य होते हैं। इस प्रकार संग्राह्य होना इन पदार्थों का स्वरूप है। अतएव जड चेतन पदार्थ शेष एवं ईश्वर शेषी कहलाते हैं। यह अर्थ शास्त्र से सिद्ध होता है। उपनिषद् में कहा गया है कि "सर्वस्य वशी" "सर्वस्येशान:" और "पतिं विश्वस्य" इत्यादि। इन वचनों का यह अर्थ है कि ईश्वर सबको वश में रखने वाले सब पर शासन करने वाले एवं सबके स्वामी हैं। इन वचनों से सबका शेषत्व और ईश्वर का शेषित्व सिद्ध होता है। उपर्युक्त शेषि लक्षण मीमांसक सम्मत अपूर्व कार्य में लगता नहीं, किंतु शेष लक्षण ही लगता है। अपूर्वकार्य को शेष मानना ही उचित है। शेषी मानना उचित नहीं है क्योंकि स्वर्ग को सिद्ध करने की इच्छा से ही अपूर्वकार्य—जो स्वर्ग का साधन है— संग्राह्य होता है। अतः वह शेष ही बन सकता है, शेषी नहीं। मीमांसकों ने अपूर्व कार्य को शेषी मानकर यह जो कहा कि "कृतिसाध्य प्रधानं यत् तत्कार्यमभिधीयते" अर्थात्—जो प्रयत्नसाध्य होता हुआ प्रधान बना है वह कार्य कहलाता है। मीमांसकों का उपर्युक्त कथन अन्ध श्रद्धा वालों के समक्ष ही शोभा पाता है, विवेचकों के समक्ष नहीं अपूर्वकार्य प्रधान बन ही नहीं सकता, वह स्वर्ग का शेष ही होगा।

स्वर्गकामादिपदानां नियोज्यविशेषसमर्पणपरतायाः खण्डनम्

"स्वर्ग काम" इत्यादि पद नियोज्यविशेष समर्पक हैं, इस वाद का खण्डन

अपि च 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादिषु लकारवाच्यकर्तृविशेषसमर्पणपराणां स्वर्गकामादिपदानां नियोज्यविशेषसमर्पणपरत्वं शब्दानुशासनविरुद्धं केनावगम्यते, साध्यस्वर्गविशिष्टस्यास्वर्गसाधने कर्तृत्वान्वयो न घटत इति चेत्, नियोज्यत्वान्वयोपि न घटत इति हि स्वर्गसाधनत्वनिश्चयः। स तु शास्त्रसिद्धे कर्तृत्वान्वये स्वर्गसाधनत्वनिश्चयः क्रियते; यथा भोक्तुकामो देवदत्तगृहं गच्छेदित्युक्ते भोजनकामस्य देवदत्तगृहगमने कर्तृत्वश्रवणादेव प्रागज्ञातमपि भोजनसाधनत्वं देवदत्तगृहगमनस्यावगम्यते। एवमत्रापि

भवतीति न क्रियान्तरं प्रति कर्त्तृतया श्रुतस्य क्रियान्तरे कर्त्तृत्वकल्पनं युक्तम्, यजेतेति हि यागकर्तृतया श्रुतस्य बुद्धौ कर्त्तृत्वकल्पनं क्रियते, बुद्धेः कर्त्तृत्वमेव हि नियोज्यत्वम्, यथोक्तम् 'नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुध्यते' इति। यष्टृत्वानुगुणं तद्बोद्धृत्वमिति चेत् देवदत्तः पचेदिति पाककर्तृतया श्रुतस्य देवदत्तस्य पाकार्थगमनं पाकानुगुणमिति गमने कर्तृत्वकल्पनं न युज्यते।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने मीमांसकोक्त कार्य से संबन्ध रखने वाले दूसरे अर्थ का भी खण्डन किया है। वह अर्थ यह है कि प्राभाकर मीमांसक कहते हैं कि याग करने वाले यजमान की तीन अवस्थायें हैं। (१) नियोज्यत्वावस्था है। यजमान "यजेत" (याग करें) इत्यादि विधिवाक्य को सुनने पर यह समझता है कि यह कार्य अर्थात् अपूर्वकार्य मेरा है। अपूर्वकार्य को अपना समझने वाला यजमान उस समय नियोज्य कहा जाता है। (२) अधिकारित्वावस्था है। अपूर्वकार्य को अपना समझ लेने के बाद यजमान उस अपूर्व के साधन कर्म को अपना समझता है तब वह अधिकारी कहलता है। (३) कर्तृत्वावस्था है। जब यजमान याग करने लगता है तब वह कर्ता कहा जाता है। इस प्रकार यजमान की तीन अवस्थायें हैं। "यजेत" अर्थात् याग करें इस विधि पद से यह प्रतीत होता है कि यहाँ नियोज्य कोई अवश्य है। यहां प्रतिपादित होने वाले अपूर्वकार्य को अपना समझने वाला कोई अवश्य है। इस प्रकार "यजेत" पद से नियोज्यसामान्य प्रतीत होता है। वह नियोज्य कौन है ? इस प्रकार नियोज्य विशेष की जिज्ञासा होने पर स्वर्गकाम आदि पदों से नियोज्यविशेष का बोध होता है। स्वर्ग चाहने वाला पुरुष यहाँ नियोज्य है, इस प्रकार नियोज्य विशेष प्रतीत होता है। स्वर्ग काम आदि पद नियोज्यविशेष के समर्पक हैं। इस प्रकार प्राभाकर मीमांसकों ने पूर्वमीमांसाषष्ठाध्याय के प्रथमाधिकरण में कहा है। इस अर्थ का खण्डन करते हुये श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि "स्वर्गकामो यजेत" का यह अर्थ है कि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष याग करे। "यजेत" यह कर्तृकारक में प्रयोग है। व्याकरणशास्त्र कहता है कर्तृकारक के प्रयोग में आये हुये इस लिङ्लकार का अर्थ कर्ता है, व्याकरणशास्त्र नियोज्य को लिङ्लकार का अर्थ नहीं बतलाता। उसे लिङ्लकार का अर्थ मानना व्याकरण विरुद्ध है। याग का कर्ता कौन है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर "स्वर्गकाम" पद बतलाता है कि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष याग का कर्ता है इस प्रकार "स्वर्गकाम" पद कर्तृविशेष का समर्पक होता है। यह अर्थ व्याकरण से सिद्ध है। पूर्वमीमांसक "स्वर्गकाम" पद को नियोज्यविशेष का समर्पक मानते हैं, उनका यह सिद्धान्त व्याकरण से विरुद्ध है। इस दोष का समाधान करते हुये पूर्वमीमांसक कहते हैं कि यद्यपि व्याकरण से इस लिङ्लकार का अर्थ कर्ता ही सिद्ध होता है, स्वर्गकाम पद को कर्तृविशेष का समर्पक ही मानना चाहिये परन्तु यहां पर यह दोष होता है कि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष उस कर्म का कर्ता नहीं बन सकता जो स्वर्ग का साधन हो याग साक्षात् स्वर्ग का साधन नहीं बनता है, याग क्रिया में स्वर्ग कामना वाला पुरुष कर्ता नहीं बन सकता है ऐसा दोष उपस्थित होता है। इस दोष से बचने के लिये यह

मानना पड़ता है कि यह लिङ्‌लकार लक्षणा से नियोज्य का वाचक है और स्वर्गकाम पद नियोज्यविशेष का समर्पक है। यह मीमांसकों का कथन है। इस पर श्रीरामानुजस्वामी कहते हैं कि मीमांसक मत में भी उपर्युक्त दोष आता है क्योंकि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष उस कार्य में प्रेरित नहीं किया जा सकता जो स्वर्ग का साधन न हो। इस दोष का समाधान मीमांसकों को इस प्रकार करना होगा कि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष जब इस कार्य में प्रेरित किया जाता है इससे ही विदित होता है कि यह कार्य स्वर्ग का साधन है। स्वर्ग चाहने वाले पुरुष को स्वर्गसाधन कार्य में ही नियुक्त करना उचित ही है मीमांसकों के इस समाधान को सुनकर श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि कर्ता को लिङ्‌लकार का वाच्य मानने वाले हम भी इस प्रकार समाधान कर सकते हैं कि स्वर्ग चाहने वाला पुरुष उस कर्म का ही कर्ता हो सकता है जो स्वर्ग का साधन हो। यहाँ स्वर्गार्थी पुरुष याग का कर्ता कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि याग स्वर्ग का साधन है, स्वार्थी पुरुष परम्परा से स्वर्ग साधन बनने वाले याग का कर्ता बने इसमें कोई दोष नहीं। मीमांसक जिस प्रकार अपने पक्ष में आये हुए दोष का समाधान करते हैं, उसी प्रकार हम भी अपने पक्ष में आये हुए दोष का समाधान कर सकते हैं। नियोज्य लकार का वाच्य नहीं हैं, स्वर्ग काम पद को नियोज्यविशेष का समर्पक मानना व्याकरण विरुद्ध है। यह दोष मीमांसक मत में बना रहता है, लकार कर्ता का वाचक है, स्वर्ग काम पद कर्तृविशेष का समर्पक है यह हमारा मत सिद्ध व्याकरण से अनुमोदित है। यह अर्थ लोकानुभव से सिद्ध है। लोक में यदि कोई कहे कि भोजन चाहने वाला पुरुष देवदत्त के घर जाय। वहाँ भोजनार्थी पुरुष का देवदत्त के घर जाने में कर्तृत्व प्रतीत होने से बालक भी यह समझ लेता है कि देवदत्त गृहगमन भोजन का साधन है। उसी प्रकार प्रकृत में अनायास समझा जा सकता है। इसलिये लकार को कर्तृवाचक तथा स्वर्ग काम पद को कर्तृविशेष समर्पक मानना ही व्याकरण शास्त्र और युक्ति से संगत होता है। किंच, मीमांसक यह मानते हैं कि कार्य को अपना समझने वाला पुरुष नियोज्य माना जाता है। अपना समझना एक बुद्धि है, उस बुद्धि में नियोज्य पुरुष कर्ता होता है। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि "नियोज्यः स च कार्यं यः स्वकीयत्वेन बुद्धयते" अर्थात्—वही नियोज्य होता है जो कार्य को अपना समझता हो। "यजेत" शब्द याग क्रिया के कर्ता को बतलाता है, मीमांसक कहते हैं कि वह शब्द बुद्धि विशेष के कर्ता को बतलाता है, मीमांसकों का यह मत समीचीन नहीं क्योंकि जो किसी क्रिया का कर्ता कहा गया है, उसे दूसरी क्रिया का कर्ता मानना अन्याय है। इसपर मीमांसक कहते हैं कि याग क्रिया में कर्ता वही हो सकता है जो उस कार्य को अपना समझता है। वैसा समझने वाला नियोज्य होता है इस लिये यहां नियोज्य को लकारार्थ मानना चाहिये। इसपर श्रीरामानुज स्वामी जी कहते हैं कि नियोज्यत्व कितना ही उपयुक्त हो, परन्तु उसे लकारार्थ मानना उचित नहीं क्योंकि यह लोकानुभव विरुद्ध है। लोक में कहा जाता है कि देवदत्त पाक करे। यहां देवदत्त पाक क्रिया का कर्ता प्रतीत होता है, पाक के लिये बाजार जाने की आवश्यकता होती है। इस लिये यदि कोई ये कहे कि "देवदत्त पाक करे" यह वाक्य देवदत्त को गमन क्रिया

का कर्ता बतलाता है, तो उसका कथन गलत ही माना जाता है क्योंकि वह वाक्य देवदत्त को पाक क्रिया का कर्ता ही बतलाता है, गमन क्रिया का कर्ता नहीं बतलाता, इसी प्रकार ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। याग क्रिया में कर्ता कहे जाने वाले पुरुष को बुद्धि क्रिया में कर्ता मानना अनुचित है। इस प्रकार श्री रामानुजस्वामी जी ने कार्य से सम्बन्ध रखने वाले नियोज्य का खण्डन करके कार्य खण्डन उपसंहार किया है।

मीमांसकोक्तापूर्वस्य खण्डनम् भगवतः फलप्रदत्वस्य समर्थनञ्च

मीमांसकोक्त अपूर्व का खण्डन और श्रीभगवान के फलप्रदत्व का वर्णन

किंच लिङादिशब्दवाच्यं स्थायिरूपं किमित्यपूर्वमाश्रीयते, स्वर्गकामपदसमभिव्याहारानुपपत्तेरिति चेत्, काऽत्राऽनुपपत्तिः सिषाधयिषितस्वर्गो हि स्वर्गकामस्तस्य स्वर्गकामस्य कालान्तरभाविस्वर्गसिद्धौ क्षणभंगिनी यागादिक्रिया न समर्थेति चेत्, अनाघ्रातवेदसिद्धान्तानामियमनुपपत्तिः। सर्वैः कर्मभिराराधितः परमेश्वरो भगवान्नारायणस्तत्तदिष्टं फलं ददातीति वेदविदो वदन्ति—यथाहुर्वेदविदग्रेसरा द्रविडाचार्याः—'फलसम्बिभन्त्सया कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्ति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा' इति, फलसंबन्धेच्छया कर्मभिर्यागदानहोमादिभिरिन्द्रादिदेवतामुखेन तत्तदन्तर्यामिरूपेणावस्थितमिन्द्रादिशब्दवाच्यं परमात्मानं भगवन्तं वासुदेवमारिराधयिषन्ति, स हि कर्मभिराराधितस्तेषामिष्टानि फलानि प्रयच्छतीत्यर्थः, तथा च श्रुतिः—'इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभि'रिति इष्टापूर्तमिति सकलश्रुतिस्मृतिचोदितं कर्मोच्यते। तद्विश्वं बिभर्ति इन्द्राग्निवरुणादिसर्वदेवतासंबन्धितया प्रतीयमानं तत्तदन्तरात्मतयाऽवस्थितः परमपुरुषः स्वयमेव बिभर्ति—स्वयमेव स्वीकरोति, भुवनस्य नाभिः—ब्रह्मक्षत्रादिसर्ववर्णपूर्णस्य भुवनस्य धारकः तैस्तैः, कर्मभिराराधितस्तत्तदिष्टफलप्रदानेन भुवनानां धारक इति नाभिरित्युक्तः। अग्निवायुप्रभृतिदेवतान्तरात्मतया तत्तच्छब्दाभिधेयोऽयमेवेत्याह 'तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः,'इति। यथोक्तं भगवता 'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥' यां यां तनुमिति इन्द्रादिदेवताविशेषास्तत्तदन्तर्यामितयाऽवस्थितस्य भगवतस्तनवः शरीराणीत्यर्थः। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चे'त्यादि, 'प्रभुरेव चे'ति सर्वफलानां

प्रदाता चेत्यर्थः, यथा च 'यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं सर्वदेवमयोऽच्युत ! । यैः स्वधर्मपरैर्नाथ ! नरैराराधितो भवान् । ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये ॥' इति । सेतिहासपुराणेषु सर्वेष्वेव च वेदेषु सर्वाणि कर्माणि सर्वेश्वराराधनरूपाणि तैस्तैः कर्मभिराराधितः पुरुषोत्तमस्तत्तदिष्टं फलं ददातीति तत्र तत्र प्रपंचितम् । एवमेव हि सर्वशक्तिं सर्वज्ञं सर्वेश्वरं भगवन्तमिन्द्रादिदेवतान्तर्यामिरूपेण यागदानहोमादिवेदोदितसर्वकर्मणां भोक्तारं सर्वफलानां प्रदातारं च सर्वाः श्रुतयो वदन्ति 'चतुर्होतारो यत्र सम्पदं गच्छन्ति देवै'रित्याद्याः । चतुर्होतारो यज्ञाः यत्र परमात्मनि देवेष्वन्तर्यामिरूपेणावस्थिते देवैः सम्पदं गच्छन्ति देवैस्संबन्धं गच्छन्ति इत्यर्थः । अन्तर्यामिरूपेणावस्थितस्य परमात्मनः शरीरतयाऽवस्थितानामिन्द्रादीनां यागादिसंबन्ध इत्युक्तं भवति, यथोक्तं भगवता—'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्' इति, तस्मादिन्द्रादिदेवतान्तरात्मभूतपरमपुरुषाराधनरूपाणि कर्माणि स एव चाभिलषितफलप्रदातेति किमत्रापूर्वेण व्युत्पत्तिपथदूरवर्तिना वाच्यतयाऽभ्युपगतेन कल्पितेन वा प्रयोजनम् ।

इस प्रकरण का सारांश यह है कि मीमांसकों ने यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है कि सभी शब्द प्रयत्नसाध्य कार्य को बतलाने में ही तात्पर्य रखते हैं क्योंकि प्रथमव्युत्पत्ति कार्य के विषय में ही होतीहै । बनी बनाई हुई सिद्धवस्तु को बतलाने में शब्द का तात्पर्य नहीं होता । ब्रह्म सिद्धवस्तु हैं, वह उपनिषत्प्रतिपाद्य नहीं हो सकता । इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुये श्री रामानुजस्वामी जी ने सिद्धवस्तु के विषय में प्रथमव्युत्पत्ति का समर्थन करके सिद्धब्रह्म को उपनिषत्प्रतिपाद्य सिद्ध किया तथा उपासनादि कार्य में फलरूप में अपेक्षित होने से ब्रह्म सिद्धि का समर्थन किया साथ ही नाना प्रकारों से कृत्युद्देश्यत्व का खण्डन करके मीमांसकोक्त कार्य को दुर्निरूप अर्थात् निरूपण करने में अशक्य सिद्ध किया उस कार्य से सम्बन्ध रखने वाले नियोज्य का भी खण्डन करके यह दिखला दिया कि मीमांसकों का पक्ष कितना निःसार है । इस प्रसंग में आगे श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि ब्रह्म सब फल देने वाला है, इस लिये फल साधन रूप में ब्रह्म सिद्ध होता है, मीमांसकों ने जो कार्य को फलसाधन माना है वह समीचीन नहीं । अपूर्वकार्य का प्राधान्य सिद्ध नहीं होता इतना ही नहीं, किन्तु उसका स्वरूप भी सिद्ध नहीं होता है । मीमांसकों ने माना है कि याग आदि कर्मों से अपूर्व उत्पन्न होता है वह स्थायी रहता है यह लिङ् आदि शब्दों से वाच्य होता है । उनसे यह पूछना चाहिये कि इस प्रकार के अपूर्व में क्या प्रमाण है ? वे उसके उत्तर में कहते हैं कि "स्वर्गकाम" इत्यादि फलबोधक शब्दों का साथ प्रयोग है, उसमें अनुपपत्ति लगती है इसलिये अपूर्व को स्वर्गसाधन मानना चाहिये । उनसे यह पूछना चाहिये कि कौनसी अनुपपत्ति लगती है ? जिसको दूर करने के लिये अपूर्व मानना पड़ता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि वह पुरुष स्वर्गकाम कहा जाता है जो स्वर्ग को सिद्ध करना चाहता है, ऐसे पुरुष के प्रति वेद ने याग का विधान किया है । यह विधान तभी

समीचीन हो सकता है यदि याग क्रिया स्वर्ग का साधन हो। याग क्रिया नश्वर है, वह कालान्तर में प्राप्त होने वाले स्वर्ग का साधन नहीं बन सकती है। यही अनुपपत्ति है। इसे दूर करने के लिये याग से उत्पन्न होने वाले तथा स्वर्ग को उत्पन्न करने वाले स्थायी अपूर्व को मानना पड़ता है। मीमांसकों का यह कथन समीचीन नहीं जिन लोगों ने वेद सिद्धान्त को सूंघा तक नहीं उनको ही ऐसी अनुपपत्ति सूझ सकती है। वैदिक सिद्धान्त को समझने वालों के समक्ष ऐसी अनुपपत्ति सिर उठा ही नहीं सकती। वेद तत्त्वज्ञों ने वेदों से यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि सभी कर्मों से आराधित होने वाले परमेश्वर श्रीमन्नारायण भगवान् प्रसन्न होकर उनको इष्टफलों का प्रदान करते हैं। जिस प्रकार राजा सेवा से प्रसन्न होकर भृत्य को अभिमत फल देते हैं तथा अपराध से रुष्ट होकर अपराधी को दण्ड देते हैं सेवा और अपराध नश्वर होने पर भी राजा के मनमें प्रसाद एवं रोष को उत्पन्न कराकर उसके द्वारा फलप्रद होते हैं, उसी प्रकार सत्कर्म से प्रसन्न होकर श्रीभगवान साधकों को अभिमत फल देते हैं तथा दुष्कर्म से रुष्ट होकर दण्ड देते हैं। सत्कर्म और दुष्कर्म नश्वर होने पर श्रीभगवान के मन में प्रसाद एवं रोष को उत्पन्न कराकर उनके द्वारा फलप्रद होते हैं। यह वेदज्ञों का सिद्धान्त है। इसमें अपूर्वकल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। वेदज्ञों में अग्रेसर श्रीद्रविडाचार्य ने अपने द्रविडभाष्य में कहा है कि—

फलसम्बिभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीषन्ति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा।

अर्थात्—जीव फल प्राप्त करने की इच्छा से याग दान और होम इत्यादि कर्मों से इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा उस परमात्मा वासुदेव भगवान का आराधन करना चाहते हैं जो इन्द्रादि देवताओं के अन्तर्यामी हैं तथा इन्द्रादि शब्दों का वाच्यार्थ हैं। वे भगवान कर्मों से आराधित होकर आराधकों को इष्ट फलों का प्रदान करते हैं। यही शास्त्र का व्यवस्थित सिद्धान्त है। इस अर्थ में श्रुति वचन भी प्रमाण है। वह यह है कि—

इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः।

अर्थात्—श्रुति प्रतिपादित कर्म इष्ट कहा जाता है। स्मृति प्रतिपादित कर्म पूर्त कहा जाता है। अपूर्व श्रुति और स्मृतियों के द्वारा प्रतिपादित कर्म अनन्त हैं। वे कार्य इन्द्र अग्नि और वरुण इत्यादि सभी देवताओं के विषय में होते हैं, अतएव वे कर्म विभिन्न देवता वाले प्रतीत होते हैं ऐसा होने पर भी वे कर्म एक देवता वाले माने जा सकते हैं क्यों उन उन देवताओं में अन्तर्यामी के रूप में विराजमान परमपुरुष श्रीभगवान उन कर्मों से आराधित होते हैं। वे श्रीभगवान अपना आराधन समझकर उन कर्मों को स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार नाभि रथचक्र का धारण करता है (रथ चक्र का मध्य भाग नाभि कहलाता है) उसी प्रकार श्रीभगवान ब्राह्मण और क्षत्रिय इत्यादि सभी वर्णों से पूर्ण इस भुवन के धारक होते हैं उन उन कर्मों से आराधित होकर श्रीभगवान उन उन इष्टफलों का प्रदान कर भुवन के धारक एवं सत्ताप्रद होते हैं। इस लिये श्रीभगवान रथनाभि के समान होने के कारण इस मन्त्र में नाभि कहे गये है। अग्नि और वायु

इत्यादि देवताओं के अन्तर्यामी होने के कारण श्रीभगवान अग्नि और वायु इत्यादि शब्दों से अभिहित होते हैं। यह अर्थ मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा गया है। वह उत्तरार्ध यह है कि—

तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः ।

अर्थात्—वह परमात्मा ही अग्नि है, वायु है, सूर्य है एवं चन्द्रमा है क्योंकि वह इन देव का अन्तरात्मा है। श्री गीता में भी इन्द्रादि देवों का श्रीभगवान का शरीर कहा गया है क्योंकि श्रीभगवान इनके अन्तरात्मा हैं। वे वचन ये हैं कि—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥

अर्थात्—श्रीभगवान कहते हैं कि जो जो भक्त हमारे शरीर भूत जिस जिस देवता की अर्चना को श्रद्धापूर्वक करना चाहता है उस उस भक्त की उस श्रद्धा को हम अचल बना देते हैं। वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता के आराधन में प्रवृत्त होता है वह उस आराधन के कारण मेरे द्वारा दिये गये फलों को प्राप्त करता है। यहां पूर्व श्लोक में "तनुम्" शब्द से इन्द्र इत्यादि देवगण उनमें अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित श्रीभगवान का शरीर कहे गये हैं। श्रीगीता में श्रीभगवान ने यह भी कहा है कि—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।

अर्थात्—हम आराध्य होने से सभी यज्ञों का भोक्ता है तथा फलप्रद होने से प्रभु भी हैं। श्रीविष्णु पुराण में यह वर्णन मिलता है कि—

यज्ञैस्त्वमिज्यसे नित्यं सर्वदेवमयोऽच्युत ।
यैः स्वधर्मपरैर्नाथ नरैराराधितो भवान् ॥
ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये ॥

अर्थात्—हे अच्युत! सर्वदेवों में अन्तर्यामी के रूप में व्याप्त होकर सर्वदेवमय रहने वाले आप सदा सभी यज्ञों से आराधित होते हो। हे नाथ? जिन स्वधर्मनिष्ठ मनुष्यों से आप आराधित होते हो, वे मुक्त होने के लिये इस संपूर्ण माया का पार हो जाते हैं। इतिहास और पुराणों से युक्त सभी वेदों में अनेक स्थलों में यह बात विस्तार से कही गई है कि सभी शास्त्रविहितकर्म सर्वेश्वर का आराधन रूप हैं, उन कर्मों से आराधित होकर श्री पुरुषोत्तम भगवान उन उन इष्टफलों को प्रदान करते हैं। श्रीभगवान सर्वज्ञ हैं, अतएव अपने आराधनों को वे जानते रहते हैं तथा श्रीभगवान सर्वशक्ति संपन्न हैं अतएव वे उन फलों के प्रदान करने की शक्ति भी रखते हैं। श्रीभगवान सर्वेश्वर हैं अर्थात सबके स्वामी हैं अतएव उनकी

आराधना करना दास जीवों को उचित है। एवंविध श्री भगवान इन्द्र आदि देवताओं के अन्तर्यामी बनकर याग दान और होम इत्यादि वेदविहित कर्मों का भोग लेते तथा सर्वफलों को देते हैं। सभी श्रुतियां इस अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। वे "चतुर्होतारो यत्र संपदं गच्छन्ति देवैः" इत्यादि हैं। अर्थात्—चार होताओं से संपन्न होने वाले याग इत्यादि कर्म देवों में अन्तर्यामी रूप में परमात्मा के विराजने के कारण ही देवताओं से आराध्याराधनभाव संबन्ध को प्राप्त होते हैं। अन्तर्यामी के रूप में विराजमान श्रीभगवान का शरीर बने हुये इन्द्र आदि देवताओं का याग आदि कर्मों से संबन्ध है। श्रीभगवान का शरीर होने से देवगण परतन्त्र बनकर कर्मों से संबन्ध रखते हैं, परमात्मा श्रीभगवान स्वतंत्र होकर कर्मों से संबन्ध रखते हैं। श्री भगवान ने स्पष्ट कहा है कि—

"भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।

अर्थात्—हम साक्षात् आराध्य होने से यज्ञ और तप के भोक्ता तथा सर्वलोकों के महेश्वर हैं। इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि सर्वकर्म इन्द्र आदि देवों के अन्तरात्मा बने हुये परमपुरुष श्री भगवान के आराधन रूप हैं। वे ही अभिमत फलों के दाता हैं। ऐसी स्थिति में अपूर्व को मानने की क्या आवश्यकता है। अपूर्व कार्य के विषय में शब्दशक्ति का जानना ही असंभव है। उस अपूर्व को प्राभाकर मीमांसकों ने वाच्य माना है, भाट्ट मीमांसकों ने अनुपपत्तिसिद्ध माना है। ये दोनों पक्ष निर्मूल हैं। जब अपूर्व की आवश्यकता नहीं तब उसे वाच्य अथवा कल्प्य मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने अपूर्व का खण्डन करके श्रीभगवान को फलप्रद के रूप में शास्त्रवेद्य सिद्ध किया है।

सिद्धान्ते लिङर्थस्य निरूपणम्

सिद्धान्त के अनुसार लिङर्थ का निरूपण

एवं च सति लिङादेः कोऽयमर्थः परिगृहीत इति चेत् 'यज देवपूजाया'मिति देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थं कर्तृव्यापारसाध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां लिङादयोऽभिदधतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्। कर्तृवाचिनां प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थस्य कर्तृव्यापारसम्बन्धप्रकारो हि वाच्यः भूतवर्तमानतादिकमन्ये वदन्ति, लिङादयस्तु कर्तृव्यापारसाध्यतां वदन्ति।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि लिङ् आदि विधायक प्रत्ययों का अपूर्व कार्य अर्थ नहीं हो सकता तब विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में लिङ् आदि विधायक प्रत्ययों का कौनसा अर्थ माना जाता है? इसके उत्तर में श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि "यजेत" इस पद में "यज्" धातु प्रकृति है जिसका अर्थ है देव पूजा। लिङ् प्रत्यय है। ये लिङ् आदि प्रत्यय प्रकृत्यर्थ याग आदि को कर्ता के व्यापार के द्वारा साध्य बतलाते हैं। धात्वर्थ की कर्तृव्यापारसाध्यता ही लिङ् आदि का अर्थ है। यही लोकव्युत्पत्ति से

सिद्ध है। जो लकार कर्तृ कारक का वाचक है वे इस बात को बतलाते हैं कि धात्वर्थ किस प्रकार कर्तृव्यापार से सम्बन्ध रखता है लट् लकार धात्वर्थगत कर्तृव्यापार संबन्ध को वर्तमान रूप में बतलाते हैं लिट् आदि प्रत्यय भूतरूप में लुट् आदि प्रत्यय भविष्यद्रूप में बतलाते हैं। लिङ् और लोट्लकार धात्वर्थ में साध्यरूप से कर्तृव्यापार संबन्ध को बतलाते हैं। सारांश यह है कि सभी लकार धात्वर्थ में होने वाली किसी-किसी विशेषता को बतलाते हैं लट्धात्वर्थगत वर्तमानता को लिट् भूतता को बतलाते हैं उसी प्रकार लिङ् आदि प्रत्यय धात्वर्थगत कर्तृव्यापारसाध्यता को बतलाते हैं। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने लिङ् आदि विधायक प्रत्ययों के अर्थ का निष्कर्ष किया है तथा यह भी सिद्ध किया है कि उपनिषद्वाक्य एवं इतिहास पुराणों के वचनों से श्रीभगवान फलप्रद सिद्ध होते हैं अपूर्व की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।

प्रमाणवचनैर्देवानां भगवतश्च फलप्रदत्वस्य प्रतिपादनम्

प्रमाण वचनों से देवता एवं श्रीभगवान के फलप्रदत्व का समर्थन

अपि च कामिनः कर्तव्यतया कर्म विधाय कर्मणो देवताराधनरूपतां तद्द्वारा फलसिद्धिं च तत्तत्कर्मविधिवाक्यान्येव वदन्ति 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामो वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयती'-त्यादीनि, नात्र फलसिद्ध्यनुपपत्तिः काचिदपि दृश्यत इति फलसाधनत्वावगतिरौपादानिकीत्यपि न संगच्छते। विध्यपेक्षितं यागादेः फलसाधनत्वप्रकारं वाक्यशेष एव बोधयतीत्यर्थः। 'तस्माद्ब्राह्मणाय नापगुरेते' त्यत्र अपगोरणनिषेधविधिपरवाक्यशेषे श्रूयमाणं निषेध्यस्यापगोरणस्य शतयातनासाधनत्वं निषेधविध्युपयोगीति हि स्वीक्रियते। अत्र पुनः कामिनः कर्तव्यतया विहितस्य यागादेः काम्यस्वर्गादिसाधनत्वप्रकारं वाक्यशेषावगतमनादृत्य किमित्युपादानेन यागादेः फलसाधनत्वं प्रकल्प्येत, हिरण्यनिधिमपवरके निधाय याचते कोद्रवादि लुब्धः कृपणं जनमिति श्रूयते, तदेतद्युष्मासु दृश्यते। शतयातनासाधनत्वमपि नादृष्टद्वारेण, चोदितान्यनुतिष्ठतो विहितं कर्माकुर्वतो निन्दितानि च कुर्वतः सर्वाणि सुखानि दुःखानि च परमपुरुषानुग्रहनिग्रहाभ्यामेव भवन्ति, 'एष ह्येवानन्दयाति "अथ सोऽभयं गतो भवति" "अथ तस्य भयं भवति" "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम" इति', 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः' इत्याद्यनेकविधाश्श्रुतयः सन्ति। यथोक्तं

द्रमिडभाष्ये—'तस्याज्ञया धावति वायुर्नद्यः स्रवन्ति तेन च कृतसीमानो जलाशयाः समदा इव मेषविसर्पितं कुर्वन्ति' इति। "तत्संकल्पनिबन्धना ह्यीमे लोका न च्यवन्ते न स्फुटन्ते स्वशासनानुवर्तिनं ज्ञात्वा कारुण्यात्स भगवान् वर्द्धयेत विद्वान् कर्मदक्षः' इति च। परमपुरुषयाथात्म्यज्ञानपूर्वकतदुपासनादिविहितकर्मानुष्ठायिनस्तत्प्रसादात्तत्प्राप्तिपर्यन्तानि सुखान्यभयं च यथाऽधिकारं भवन्ति, तज्ज्ञानपूर्वकं तदुपासनादि विहितं कर्माकुर्वतो निन्दितानि च कुर्वतस्तन्निग्रहादेव तदप्राप्तिपूर्वकापरिमितदुःखानि भयं च भवन्ति, यथोक्तं भगवता—'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' इत्यादिना कृत्स्नं कर्म ज्ञानपूर्वकमनुष्ठेयं विधाय 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य' इति सर्वस्य कर्मणः स्वाराधनतामात्मनां स्वनियाम्यतां च प्रतिपाद्य—'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः। श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥' इति स्वाज्ञानुवर्तिनः प्रशस्य विपरीतान्विनिन्द्य पुनरपि स्वाज्ञानुपालनमकुर्वतामासुरप्रकृत्यन्तर्भावमभिधाय अधमागतिश्चोक्ता—'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम्' इति, 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्' इति च स्वाज्ञानुवर्तिनां शाश्वतं पदं चोक्तम्। अश्रुतवेदान्तानां कर्मण्यश्रद्धा माभूदिति देवताधिकरणे अतिवादाः कृताः, कर्ममात्रे यथा श्रद्धा स्यादिति। सर्वमेकशास्त्रमिति वेदवित्सिद्धान्तः॥

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी यह बतलाते हैं कि कर्मकाण्ड के वाक्यों से यह विदित होता है कि कर्म से आराधित होने वाले देवता फल देते हैं ऐसी स्थिति में अपूर्व नामक पदार्थ की कल्पना करने की आवश्यकता होती ही नहीं। "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि विधिवाक्य यह विधान करते हैं कि स्वर्ग इत्यादि अमुक अमुक फल चाहने वाले पुरुषों को अमुक अमुक कर्म कर्तव्य है। इन विहित कर्मों की स्तुति के द्वारा इन कर्मों में फलार्थियों को उत्साहित करके विधिवाक्यों की सहायता करने के लिये प्रवृत्त अर्थवादवाक्य यह बतलाते हैं कि प्रत्येक कर्म देवता का आराधनरूप है, इन कर्मों से आराधित होने वाले देवता इनसे प्रसन्न होकर फलार्थियों को फल देते हैं। अर्थवाद और विधि वाक्यों में एक वाक्यता होने से यह मानना पड़ता है कि अर्थवाद वर्णित अर्थ विधिवाक्य का अभिमत है। उदाहरण—"वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" यह विधिवाक्य है। इसका अर्थ यह है कि संपत्ति चाहने वाला पुरुष वायुदेवता श्वेत पशु से याग करें। याग क्लेशसाध्य होने से फलार्थी पुरुष भी उसे करने में हिचकता है, उसे उत्साहित करने के लिये एक अर्थवादवाक्य उपस्थित होकर याग की स्तुति करता है। वह यह है कि—

वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति ।

अर्थात्—वायु शीघ्र दौड़ने वाले देवता है, यजमान अपने हव्य से उस वायुदेव की आराधना करता है, वायुदेव शीघ्र ही उस यजमान के पास ऐश्वर्य पहुंचा देते हैं। इस अर्थवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि देवता याग से प्रसन्न होकर फल देते हैं। याग देवता प्रसाद के द्वारा फलपर्यवसायी होता है। इस प्रकार मानने पर फलसिद्धि में कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में मीमांसकों का यह कथन असंगत सिद्ध होता है। मीमांसक कहते हैं कि विधिवाक्य ने कर्म को फल साधन कहा। यहां यह अनुपपत्ति होती है कि नश्वर कर्म कालान्तर में होने वाले फल का साधन नहीं बन सकता। इस अनुपपत्ति के कारण विधिवाक्य से यह भाव निकालना पड़ता है कि कर्म अपूर्व के द्वारा साधन होता है वह कर्मजन्य अपूर्व स्थायी है वह फल को उत्पन्न करके ही नष्ट होता है। यहां अपूर्व को माने बिना कर्मों को फलसाधन कहा ही नहीं जा सकता है। यही उपादान प्रमाण है। इससे यह खुल जाता है कि कर्म किस प्रकार फल देते हैं। यह मीमांसों का कथन है। यह कथन समीचीन नहीं क्योंकि वाक्यशेष के द्वारा यदि कर्मों के फल-साधनत्व का प्रकार न खुले, तब उपादान प्रमाण का आश्रय लेना उचित है यहां तो अर्थवादरूपी वाक्यशेष से कर्मों के फल साधनत्व का प्रकार इस प्रकार खुल जाता है कि कर्म देवता प्रसाद के द्वारा फल देते हैं। कर्मों को फलसाधन बतलाने वाले विधिवाक्यों को यह अर्थ अपेक्षित है कि नश्वर कर्म किस प्रकार फल देते हैं, यदि वह प्रकार वाक्य शेष से खुल जाता है तो उसे स्वीकार करना चाहिये। मीमांसा में "संदिग्धे तु वाक्यशेषात्" इस अधिकरण में यही बताया गया है कि विधिवाक्य में अपेक्षित कोई विशेष यदि वाक्यशेष में वर्णित हो तो उसका स्वीकार करना चाहिये। मीमांसा में यहाँ तक कहा गया है कि विधेय के विरोधी को यदि कहीं किसी फल का साधन कहा गया हो तो उसका स्वीकार करना चाहिये। उदाहरण—"तस्माद्-ब्राह्मणाय नापगुरेत" यह एक विधि—वाक्य है। अर्थात् "इसलिये कोई ब्राह्मण का वध करने के लिये उद्योग न करें" यह एक निषेध वाक्य है. इसमें ब्राह्मणवधोद्योग की निवृत्ति का विधान है। यहाँ निवृत्तिविधेय है। इस निवृत्ति का विरोधी ब्राह्मणवधोद्योग है। यहाँ आगे यह वाक्य है कि "योऽपगुरते शतेन यातयात्" अर्थात् जो ब्राह्मण के वध में उद्युक्त होगा, उसे शतयातना भोगनी पड़ेंगी। शतयातना नरकविशेष का नाम है, जहाँ शतयातनाओं का भोग होता है। यहाँ ब्राह्मणवधोद्योग एवं शतयातना में जो साध्यसाधनभावसम्बन्ध बतलाया जाता है, वह उपर्युक्त निषेध विधि का अपेक्षित है क्योंकि इस प्रकार वधोद्योग अनर्थपर्यवसायी सिद्ध होने पर ही उससे मनुष्य निवृत्त होंगे। यहाँ विधेय ब्राह्मणवधोद्योग निवृत्ति के विरोधी वधोद्योग का फल साधनत्व विधि में अपेक्षित होने के कारण जब माना जाता है, तब विधेय याग के इस फलसाधनत्व प्रकार—जो विधि में अपेक्षित है एवं वाक्यशेष से प्रतिपादित है—को स्वीकार करना न्याययुक्त ही है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद वर्णित फल साधनत्व प्रकार का अनादर करके पूर्वमीमांसक उपादान अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण का आश्रय लेकर अपूर्व के द्वारा कर्मों के फल साधनत्व की कल्पना क्यों करते हैं, वैसी

कल्पना करना सर्वथा अन्याय्य है। वेद में ही जब फल साधनत्व का प्रकार बतलाया गया है, उसका अनादर करना उचित नहीं, तथा दूसरे प्रकार की कल्पना करना भी उचित नहीं। कहना पड़ता है कि उन्होंने निम्नलिखित कहावत को चरितार्थ किया है, लोक में कहा जाता है कि लोभी मनुष्य घर में स्वर्ण-निधि को रखकर दूसरे कृपण से कोद्रव मांगता है। ऐसे ही मीमांसक अपने वेद में वर्णित फलसाधनत्व प्रकार की उपेक्षा करके दूसरे प्रमाण से दूसरे प्रकार से फलसाधनत्व को सिद्ध करना चाहते हैं, वह जमता भी नहीं। यह लोकोक्ति मीमांसकों में ठीक तरह से लगती है। अस्तु।

यहाँ यह जो कहा गया है कि ब्राह्मणवधोद्योग शतयातना का साधन है, वह भी अपूर्व के द्वारा नहीं, किन्तु ईश्वर के निग्रह संकल्प के द्वारा साधन बनता है। यह शास्त्र का सिद्धान्त है कि विहित कर्म करने वालों को ईश्वर के अनुग्रह से सभी सुख प्राप्त होते हैं, तथा विहित कर्म न करने वाले एवं निषिद्धकर्म करने वालों को ईश्वर के निग्रह से सभी दुःख प्राप्त होते हैं। यह अर्थ विविध वैदिक वचनों से सिद्ध हैं। वे वचन ये हैं कि—

"एष ह्येवानन्दयाति" "अथ सोऽभयं गतो भवति" "अथ तस्य भयं भवति"

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः"

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः

अर्थात्—यह आनन्दमय परमात्मा ही आनन्द देने वाले हैं। ब्रह्मोपासक अभय को प्राप्त होता है। उपासना में विच्छेद करने वाला भय को प्राप्त होता है। इस परमात्मा से डर कर वायुदेव चलता रहता है, डर के मारे सूर्य उदित होता रहता है। इस परमात्मा से डर कर अग्नि, इन्द्र और मृत्यु अपने अपने कार्य में लगे रहते हैं। इस अक्षर ब्रह्म के शासन पर सूर्य और चन्द्र टिके रहते हैं। इस अक्षर ब्रह्म की आज्ञा के अनुसार दान देने वालों की प्रशंसा मनुष्य करते हैं क्यों कि भगवदाज्ञा के अनुसार दिया जाने वाला दान भगवदाराधन होने से प्रशंसा का कारण बन जाता है। परमात्मा की आज्ञा के अनुसार याग करने वाले यजमान की प्रशंसा देवगण करते हैं। दर्वी होम इत्यादि पैतृक कर्म करने वालों का अनुसरण करते हुये पितृगण उनकी प्रशंसा करते हैं। यह भी भगवदाज्ञा के कारण होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियां भगवदनुग्रह से इष्टफल प्राप्ति एवं भगवन्निग्रह से अनिष्टफल प्राप्ति का वर्णन करती हैं। वेदज्ञ प्रवर द्रविडाचार्य ने भी अपने भाष्य में कहा है कि—

"तस्याज्ञया धावति वायुर्नद्यः स्रवन्ति, तेन च कृतसीमानो जलाशयाः समदा इव मेषविसर्पितं कुर्वन्ति। तत्संकल्प निबन्धना ही मे लोका न च्यवन्ते न स्फुटन्ति, स्वशासनानुवर्तिनं ज्ञात्वा कारुण्यात्स भगवान् वर्धयेत विद्वान् कर्मदक्षः।"

अर्थात्—इस श्रीभगवान् की आज्ञा से वायु दौड़ता रहता है, नदियां चलती रहती हैं। इस श्रीभगवान् के द्वारा सीमा बाँधकर रक्खे गये समुद्र मानों मत्त होकर भेड़ों की तरह उछलते रहते हैं। इस

श्री भगवान के संकल्प के वशवर्ती होने के कारण ये लोक च्युत नहीं होते फूटते नहीं, सर्वज्ञ एवं कर्म करने में दक्ष वह भगवान मनुष्य को अपनी आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाला जानकर करुणा से उसकी वृद्धि कराते हैं, उसे बढ़ायेंगे। यह उपर्युक्त वचनों का अर्थ है। सारांश यह है कि परमपुरुष श्री भगवान के तत्त्व को अच्छी तरह से समझकर श्रीभगवदुपासन इत्यादि विहित कर्मों का अनुष्ठान करने वालों को अपने-अपने अधिकार के अनुसार श्री भगवान के प्रसाद से श्री भगवत्प्राप्ति पर्यन्त सुख प्राप्त होते हैं तथा उन्हें अभय मिलता है। जो मनुष्य भगवत्तत्त्व को जानकर उपासन इत्यादि विहित कर्मों को नहीं करते हैं किन्तु निन्दित कर्म करते हैं, उनको श्रीभगवान के निग्रह से श्री भगवत्प्राप्ति न होकर अपरिमित दुःख होते हैं तथा भय भी होता रहता है। इस अर्थ को श्रीभगवान ने स्पष्ट कहा है कि—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

अर्थात्—प्रकृतियुक्त जीव से कर्म नित्यसंबद्ध है अतएव उसका कर्म नियत है अनिवार्य है। इसलिये तुम कर्म करते रहो कर्मनिष्ठा अकर्म ज्ञान निष्ठा से श्रेष्ठ है। ऐसे श्लोकों से श्रीभगवान ने ज्ञान-पूर्वक कर्म करने के लिये विधान किया है। आगे "मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य" इस श्लोक से यह बतलाया है कि सभी विहित कर्म श्रीभगवान का आराधन है सभी जीव श्रीभगवान के परतन्त्र हैं। कर्म करते समय इस भाव से कर्म करना चाहिये कि श्रीभगवान का परतन्त्र मैं श्रीभगवान की प्रेरणा से श्रीभगवान को प्रसन्न करने के लिये कर्म करता हूँ। इस प्रकार कर्म करने के विषय में अपने सिद्धान्त को बतलाकर अन्त में श्रीभगवान ने कहा है कि—

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥

अर्थात्—शास्त्र के अधिकारी जो मनुष्य यह समझकर—कि यही शास्त्रार्थ है—मेरे मत को अच्छी तरह से समझकर उसी प्रकार अनुष्ठान करते हैं, जो मनुष्य अनुष्ठान न करने पर भी इस शास्त्रार्थ में श्रद्धा रखते हैं, जो श्रद्धा न रखने पर भी इस शास्त्रार्थ के विषय में असूया न रखते हों, इस प्रकार शास्त्रार्थ हो नहीं सकता, ऐसा कहकर इस महागुण संपन्न शास्त्रार्थ में दोषोद्घाटन नहीं करते हों ये सभी मनुष्य अनादिकाल से किये गये बन्धकारण सभी कर्मों से छूट जाते हैं। इस समय अनुष्ठान न करने पर भी जो इस शास्त्रार्थ में श्रद्धा एवं अनसूया रखते हैं, वे भी उस श्रद्धा एवं अनसूया से पापों को नष्ट करके शीघ्र इस शास्त्रार्थ का अनुष्ठान करके मुक्त हो जाते हैं। जो मनुष्य मेरे इस मत को मानकर ऐसा अनुष्ठान नहीं करते, जो इस मेरे मत में श्रद्धा नहीं रखते, असूयाभाव रखते हैं उन्हें सब ज्ञानों में विशेष करके मूढ़ समझो उन्हें मन से रहित समझो मन का कार्य तत्त्व निश्चय है वह उनमें नहीं है। इस लिये

उन्हें मन से रहित समझो। इस प्रकार श्रीभगवान ने अपनी आज्ञा का अनुसरण करने वालों की प्रशंसा की तथा विपरीत भाव रखने वालों की निन्दा की। आगे भी एक बार श्रीभगवान ने यह बतलाया कि हमारी आज्ञा का पालन न करने वाले मनुष्य आसुर प्रकृति के माने जाते हैं, तथा उनकी अधम गति होती है। वे श्लोक ये हैं कि—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

अर्थात्—हमसे द्वेष रखने वाले क्रूर एवं अशुभ नराधमों को हम संसार में आसुर योनियों में बारम्बार डालते रहते हैं आसुरयोनियों में पहुँचे हुये नराधम जन्म जन्म में मूढ होते हुये हमें न समझकर उससे भी अधम गति को प्राप्त होते हैं। आगे श्रीभगवान ने यह भी कहा है कि हमारी आज्ञा का पालन करने वालों को शाश्वत पद प्राप्त होता है। वह श्लोक यह है कि—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

अर्थात्—हमारा आश्रय लेता हुआ सदा सर्व कर्मों को करने वाला पुरुष हमारे प्रसाद से शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री भगवान ही प्रसन्न होकर फल देते हैं। तदर्थ अपूर्व कल्पना की आवश्यकता नहीं। जैमिनिमहर्षि ने पूर्वमीमांसा के देवताधिकरण में कर्म को प्रधान एवं देवता को गौण माना है उसका भाव यही है कि वेदान्तों को न सुनने वाले साधारण मनुष्य देवता को प्रधान कर कहीं कर्म में अश्रद्धा न रखें उनको कर्म में श्रद्धा बढ़े, तदर्थ जैमिनि ने आवश्यकता से अधिक कहकर एक प्रकार से अतिवाद किया है। उनको देवता निराकरण में तात्पर्य नहीं, क्योंकि पूर्वोत्तरमीमांसा एक शास्त्र है, उनमें विरोध नहीं हो सकता है। वेदज्ञों ने सिद्धान्त रूप में पूर्वोत्तरमीमांसाओं को एक शास्त्र माना है।

नित्यविभूतिदिव्यरूपमहिषीपरिजनादीनां विशेषाणां श्रुतिवचनैः साधनम्

नित्य विभूति दिव्यरूप महिषी और परिजन इत्यादि विशेषताओं का श्रुति वचनों से समर्थन

तस्यैतस्य परस्य ब्रह्मणो नारायणस्याऽपरिच्छेद्यज्ञानानन्दामलत्वस्वरूपवज्ज्ञान-शक्तिबलैश्वर्यवीर्य-तेजःप्रभृत्यनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणवत्स्वसङ्कल्पप्रवर्त्यस्वे-

तरसमस्तचिदचिद्वस्तुजातवत्स्वाभिमतस्वानुरूपैकरूपदिव्यरूप—तदुचितनिरतिशयकल्याण-विविधानन्तभूषण—स्वशक्तिसदृशापरिमितानन्ताश्चर्यनानाविधायुध — स्वाभिमतस्वानुरूप स्वरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकमहिममहिषी—स्वानुरूपकल्याणज्ञानक्रियाद्यपरिमेयगुणानन्तपरिजनपरिच्छदस्वोचितनिखिलभोग्यभोगोपकरणाद्यनन्तमहाविभवावाङ्मनसगोचरस्वरूपस्वभावदिव्यस्थानादिनित्यतानिरवद्यतागोचराश्च सहस्रशः श्रुतयः सन्ति,—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी, स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः। मनोमय इति मनसैव विशुद्धेन गृह्यत इत्यर्थः। 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि' विद्युद्वर्णात्पुरुषादित्यर्थः। 'नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा' मध्यस्थनीलतोयदा विद्युल्लेखेव, सेयं दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तिनो वह्निशिखा स्वान्तनिहितनीलतोयदाभपरमात्मस्वरूपा स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्युदिवाभातीत्यर्थः। 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः, तस्य माहारजनं वासः' इत्याद्याः। 'अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी' 'ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्' 'यो वेदनिहितं गुहायां परमे व्योमन्' 'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्, तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योम'न्नित्यादिश्रुतिशतान्निश्चितोऽयमर्थः।

इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने पूर्वमीमांसकों के इस मत—कि कार्य ही वेदार्थ है, सिद्ध ब्रह्म वेदार्थ नहीं—का खण्डन किया है यह खण्डन सभी वेदान्तियों को अभिमत है। आगे श्रीरामानुजस्वामी जी श्रीभगवान की उस नित्यविभूति का समर्थन करते हैं जिसे किसी वेदान्ती ने भी नहीं माना है। नित्य विभूति को सिद्ध करते हुये श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि यहाँ तक के विचारों से यह सिद्ध हो गया है कि एक परब्रह्म प्रामाणिक है वह श्रीमन्नारायण ही है। परब्रह्म श्रीमन्नारायण का स्वरूप अपरिच्छेद्य निर्मल एवं ज्ञानानन्दमय है। परब्रह्म श्रीमन्नारायण में ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य, वीर्य, तेज इत्यादि अपारमहिमसंपन्न अनन्त असंख्य कल्याण गुण विद्यमान हैं, एकमात्र परब्रह्म श्रीमन्नारायण को छोड़कर सभी चेतन एवं अचेतन पदार्थों का समूह श्री परब्रह्म के संकल्प से ही सत्ता स्थिति और प्रवृत्ति को पाते हुये उनके अत्यन्त परतन्त्र बन कर रहते हैं। इस प्रकार परब्रह्म उसका स्वरूप गुण और चेतनाचेतन प्रपञ्चमय विभूति ये पदार्थ प्रमाणिक हो जाते हैं ये जिस प्रकार प्रामाणिक हैं वैसे ही श्रीमन्नारायण भगवान का दिव्यरूप दिव्यभूषण दिव्यायुध दिव्यमहिषी दिव्यपरिजन उपकरण एवं दिव्यविभूति ये पदार्थ भी परम प्रामाणिक हैं

इनका स्वीकार करना ही वैदिक आस्तिकों को शोभा देता है। श्रीभगवान का साकार दिव्यरूप इस प्रकार है कि वह श्रीभगवान को अत्यन्त अभिमत रहता है तथा श्रीभगवान का अनुरूप भी है। लोक में देखा जाता है कि कोई पदार्थ किसी को अभिमत रहता है किंतु वह उसका अनुरूप नहीं रहता है, कोई पदार्थ अनुरूप रहता है, वह अभिमत नहीं है। परन्तु वहाँ वैसी बात नहीं। श्रीभगवान का दिव्यरूप अभिमत एवं अनुरूप है। यहाँ दिव्यरूप सदा एक रूप से रहता है, वह किसी भी अवस्था में अपनी निर्दोषता एवं कल्याणगुणाकारता को नहीं छोड़ता है। श्री भगवान के दिव्य भूषण इस प्रकार के हैं कि वे श्रीभगवान के अत्यन्त अनुरूप हैं, उनसे श्रीभगवान शोभा पाते हैं तथा श्रीभगवान से वे शोभा पाते हैं, वे अत्यन्त मंगलमय हैं क्योंकि वे अप्राकृत हैं। वे नाना प्रकार के हैं ऐसे अनन्त भूषण हैं। श्रीभगवान के दिव्यायुध इस प्रकार के हैं कि वे श्रीभगवान की दिव्यशक्ति के समान कार्य करने वाले हैं, अपरिमित हैं, अनन्त आश्चर्य देने वाले हैं ऐसे नानाविध आयुध हैं। श्रीभगवान की प्रधान महिषी श्रीमहालक्ष्मी जी हैं, वे इस प्रकार की हैं कि श्रीमहालक्ष्मी जी के स्वरूप रूप गुण विभूति और ऐश्वर्य एवं शील इत्यादि अपार महिमा एवं सभी विशेष श्रीभगवान के अभिमत हैं तथा अनुरूप हैं। इस प्रकार महालक्ष्मी इत्यादि महिषी हैं। श्रीभगवान के अनन्त परिजन हैं, वे इस प्रकार के हैं कि वे श्रीभगवान के अनुरूप हैं, उनमें मंगलमय ज्ञान और क्रिया इत्यादि अनन्त गुण पूर्ण रहते हैं। ऐसे अनन्त परिजन हैं, ये ही नित्यसूरि कहलाते हैं। ऐसे श्री भगवान की सेवा के उपकरण भी अनन्त हैं ये परिच्छद कहलाते हैं। श्रीभगवान का एक दिव्य स्थान भी है। यह त्रिपाद्विभूति भोगविभूति नित्यविभूति परमपद और श्रीवैकुण्ठ लोक इत्यादि शब्दों से शास्त्रों में वर्णित है। उसका स्वरूप इस प्रकार है कि वह श्रीभगवान के अनुरूप है ऐसे ही दिव्यस्थान में श्रीभगवान को विराजना चाहिये। उसे देखते सबको यही अनुभव होता है। वह स्थान नाना प्रकार के भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि अनन्त वैभवों से संपन्न है। वाक और मन से उस स्थान के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन एवं आकलन नहीं हो सकता। ऐसे दिव्य स्थान और दिव्य उद्यान इत्यादि हैं। श्रीभगवान के दिव्यरूप दिव्यभूषण दिव्यायुध दिव्यमहिषी दिव्य परिजन और दिव्यस्थान इत्यादि सभी पदार्थ नित्य हैं तथा निर्दोष हैं। ये सभी अर्थ सहस्र संख्याक श्रुति वाक्यों से प्रमाणित हैं। इनका प्रतिपादन करने के लिये सहस्र श्रुतिवाक्य प्रवृत्त हैं वे ये हैं कि—

(१) "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्"

प्रकृति के ऊपर रहने वाले तथा सूर्य के समान वर्ण वाले इस महापुरुष श्रीभगवान को हम जानते हैं। यहां आदित्यवर्ण शब्द से श्रीभगवान का दिव्यरूप वर्णित है।

(२) "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः''''''तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी"

अर्थात्—ये जो सूर्यमण्डल के अन्दर स्वर्ण समान विग्रह वाले पुरुष दिखाई देते हैं। सूर्य से विकसित कमल जिस प्रकार शोभा पाता है उस प्रकार के उनके नेत्र हैं। इस वाक्य से सूर्यमण्डल में विद्यमान नारायण भगवान का रूप वर्णित है।

(३) "स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः"

अर्थात्—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें वह पुरुष विराजमान हैं जो विशुद्ध मन से ही गृहीत हो सकते हैं। वे अमृत हैं तथा स्वर्ण के समान विग्रह वाले हैं। इस वाक्य में "हिरण्मय" शब्द से श्रीभगवान का दिव्यविग्रह वर्णित है।

(४) "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि"

अर्थात्—विद्युत के समान वर्ण वाले पुरुष से सभी निमेष इत्यादि उत्पन्न हुये हैं। यहाँ "विद्युतः" इस शब्द से श्रीभगवान का दिव्यरूप वर्णित है।

(५) "नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा"

अर्थात्—हृदय कमल के मध्य में विद्यमान आकाश में एक वन्हिज्वाला है जिसके मध्य में नील मेघ के समान विग्रह से युक्त परमात्मा विराजमान है ऐसे परमात्मा को मध्य में धारण करने वाली वह वन्हिज्वाला उस विद्युत के समान चमकती है जिसके अन्दर नीलमेघ विराजमान हो। यह अभूतोपमा है क्योंकि मेघ में विद्युत का विराजना प्रसिद्ध है, विद्युत में मेघ की स्थिति असंभावित है। यदि मेघ को अन्दर लेती हुई कोई विद्युत हो तो वह इस वन्हिशिखा—जो नीलमेघ के समान विग्रह वाले परमात्मा को अन्दर धारण करती है—का उपमान हो सकता है। ऐसे भाव को लेकर यहाँ उपमान कहा गया है। अतएव यह अभूतोपमा कहलाती है। इस मन्त्र में "नीलतोयद" शब्द से नीलमेघश्यामल श्रीभगवद्विग्रह का वर्णन है।

(६) "मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः"

अर्थात्—उपासक इस प्रकार परमात्मा की उपासना करें कि परमात्मा विशुद्ध मन से ग्राह्य होने वाले हैं, प्राणों के धारक हैं, भास्वर रूप वाले हैं, अप्रतिहत संकल्प वाले हैं। आकाश के समान सूक्ष्म एवं स्वच्छ स्वरूप वाले हैं, अथवा आकाश के अन्तरात्मा हैं अथवा सर्वत्र स्वयं प्रकाशित होने वाले हैं साथ ही दूसरों को भी प्रकाशित करने वाले हैं। यह संपूर्ण जगत उनकी कृति है अथवा सभी कर्म उनका आराधन हैं, उनसे वे आराधित होने वाले हैं। सवविध अभीष्ट भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि से संपन्न हैं। अपने असाधारण निर्दोष अत्युत्तम अप्राकृत मंगलमय गन्ध एवं रसों से संपन्न हैं। इस प्रकार इन सभी कल्याण-गुणों को वे अपनाये हुये हैं। वे सापेक्ष होकर कुछ भी नहीं बोलते हैं क्योंकि परिपूर्ण होने से उनको किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव वे परिपूर्ण ऐश्वर्य से संपन्न होने के कारण ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त संपूर्ण जगत को तृण समझकर चुपचाप विराजमान रहते हैं। इस प्रकार उपासक परमात्मा की उपासना करें। इस वचन में "भारूपः" इत्यादि शब्दों से श्रीभगवान के अप्राकृतरूप एवं रसगन्ध वर्णित हैं।

(७) "तस्य···माहारजनं वासः" संपूर्ण श्रुतिवाक्य इस प्रकार है कि "तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथापुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तम्"

अर्थात्—उस परमात्मा का एक सुन्दर रूप अर्थात दिव्यविग्रह है, वह हरिद्रारञ्जित वस्त्र के समान है अथवा श्वेत कम्बल के समान है, अथवा इन्द्रगोप कृमि के समान है, यद्वा अग्निज्वाला के समान है, अथवा कमल के समान है, यद्वा एकदम चमकने वाली विद्युत के समान है। इस प्रकार विविध दृष्टान्तों को कहकर इस श्रुति ने श्रीभगवान के दिव्यरूप का वर्णन किया है। इन सब श्रुतियों से श्रीभगवान का दिव्यमंगलविग्रह सिद्ध किया है।

(८) "अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी"

अर्थात्—इस जगत की ईश्वरी विष्णु पत्नी हैं। इससे श्रीभगवान की पत्नी सिद्ध होती है।

(९) "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"

अर्थात्—हे जगत्कारण परमपुरुष ! ह्री और लक्ष्मी आपकी पत्नी हैं। ह्री शब्द भूदेवी का वाचक है। इससे श्रीभगवान की श्रीदेवी और भूदेवी ऐसी दो महिषी सिद्ध होती हैं।

(१०) "तद्विष्णोः परमं पद सदा पश्यन्ति सूरयः"

अर्थात्—श्रीविष्णु भगवान का प्रसिद्ध एक परमस्थान है, नित्यसूरिगण सदा जिसका साक्षात्कार करते रहते हैं। इस वचन से श्रीभगवान का दिव्यस्थान तथा श्रीभगवान के परिजन नित्यसूरिगण सिद्ध होते हैं।

(११) "क्षयन्तमस्य रजसः पराके"

अर्थात्—इस रजोगुणमय प्रकृति के ऊपर श्रीभगवान निवास करते हैं। इस वचन से सिद्ध होता होता है कि वह परमपद प्रकृति के ऊपर है।

(१२) "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्"

अर्थात्—श्रीभगवान का एक नित्य नव अनन्त विश्वव्यापक दिव्यरूप, तम अर्थात् प्रकृति के ऊपर है, वह चक्षु आदि इन्द्रियों से व्यक्त नहीं होता है।

(१३) यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्"

परमाकाश परमपद में विराजमान श्रीभगवान हृदयगुहा में अवस्थित हैं। ऐसा जो जानता है वह परमात्मा के साथ सर्वकल्याणगुणों का अनुभव करता है।

(१४) "तदेव भूत तदु भव्यमा इद तदक्षरे परमे व्योमन्"

अर्थात्—भूत और भविष्य यह सब जगत परमात्मा ही है अर्थात् परमात्मा का शरीर है। वह परमात्मा अविनाशी परमाकाश परमपद में विराजमान हैं। इस प्रकार की सैकड़ों श्रुतियों से उपर्युक्त सभी अर्थ सिद्ध होते हैं इस प्रकार श्री भाष्यकारस्वामी जी ने श्रुतियों के आधार पर श्रीभगवान के दिव्यरूप दिव्यमहिषी और दिव्यस्थान इत्यादि अर्थों को सिद्ध किया है।

"तद्विष्णोः परमंपदम्" इति मन्त्रे विशिष्टविधानस्य समर्थनम्

"तद्विष्णोः परमंपदम्" इस मन्त्र में विशिष्ट विधान का समर्थन

'तद्विष्णोः परमं पद' मिति विष्णोः परस्य ब्रह्मणः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय इति वचनात् सर्वकालदर्शनवन्तः परिपूर्णज्ञानाः केचन सन्तीति विज्ञायते। ये सूरयस्ते सदा पश्यन्तीति वचनव्यक्तिः, ये सदा पश्यन्ति ते सूरय इति वा, उभयपक्षेऽप्यनेकविधानं न सम्भवतीति चेन्न, अप्राप्तत्वात्सर्वस्य सर्वविशिष्टं परमस्थानं विधीयते। यथोक्तं 'तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः' इति। यथा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादिकर्मविधौ कर्मणो गुणानां चाप्राप्तत्वेन सर्वगुणविशिष्टं कर्म विधीयते, तथाऽत्रापि सूरिभिस्सदा दृश्यत्वेन विष्णोः परमस्थानमप्राप्तं प्रतिपादयतीति न कश्चिद्विरोधः।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस श्रुति के अर्थ के विषय में परवादियों के द्वारा उठाये हुये विवादों का निराकरण करते हुये यह कहा कि यह मन्त्र बताता है कि सूरिगण परब्रह्म श्रीविष्णुभगवान के उस परमपद का सदा दर्शन करते रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सदा देखने वाले तथा परिपूर्णज्ञान सम्पन्न अनेक सूरिगण विद्यमान हैं। यहाँ पर कई विद्वान यह शंका करते हैं कि यहाँ कैसे अर्थ किया जाता है? यदि ऐसा अर्थ किया जाय कि जो सूरि हैं वे सदा परमपद को देखते रहते हैं। यह अर्थ तभी किया जा सकता है जबकि सूरिगण प्रमाणान्तर से विदित हुये हों उस परिस्थिति में प्रमाणान्तर से अवगत सूरियों का "जो सूरि हैं" ऐसा अनुवाद करके सदा दर्शन का विधान किया जा सकता है परन्तु सूरिगण प्रमाणान्तर से विदित नहीं हैं ऐसी स्थिति में उनका अनुवाद नहीं किया जा सकता, इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त अर्थ समीचीन नहीं। यहाँ पर दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि जो सदा देखने वाले हैं वे सूरि हैं। इस अर्थ में सदा देखने वाले उद्देश्य हैं, सूरिगण विधेय हैं। सदा देखने वाले तभी उद्देश्य बन सकते हैं जबकि प्रमाणान्तर से विदित हुये हों। प्रमाणान्तर से वैसे लोग सिद्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में सदा देखने वालों का अनुवाद नहीं हो सकता। अतएव सूरियों का विधान भी असंभव है। यह दोष इस अर्थ में आता है। इस प्रकार दोनों अर्थ दोषाक्रान्त हैं। यदि यह कहा जाय कि दोनों पक्षों में दोनों का विधान माना जाय तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि एक वाक्य एक अर्थ का ही विधान हो सकता है, अनेक अर्थों का नहीं क्योंकि एक वाक्य एक अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त हो सकता है। यदि यहाँ "सदा देखने वाले" और "सूरि" ऐसे अपूर्व दोनों अर्थों का विधान माना जाय तो अनेक विधान का दोष आता है क्योंकि एक वाक्य अनेक अर्थों का विधान नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में यहाँ किस प्रकार अर्थ किया जाय? यह शंका उपस्थित होती है। इस शंका के समाधान में

श्रीरामानुजस्वामी जी कहते हैं कि यहाँ श्रीभगवान का परमस्थान, सूरिगण और उनका सदा दर्शन ये तीनों अर्थ प्रतिपादित होते हैं, यह तीनों अर्थ प्रमाणान्तर से अवगत नहीं हैं इसलिये यहाँ सर्वविशेषण-विशिष्ट एक परम स्थान का विधान माना जाता है। सूरियों द्वारा सदा देखने योग्य परम पद "ऐसा सर्व-विशेषण विशिष्ट परम पद का यहाँ विधान हो सकता है क्योंकि पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि यदि एक वाक्य में ऐसे कर्म और कर्मांगों का वर्णन हो जो दूसरे प्रमाण से विदित नहीं हो सकते वहाँ अंग और कर्म को विशेषणविशेष्यभाव संबन्ध से एक करके अंगविशिष्ट कर्म का विधान मानना चाहिये, विशिष्ट पदार्थ एक वस्तु है इसलिये अनेकविधान दोष नहीं आता है। अंगों का विधान भी अर्थात् सिद्ध हो जाता है। इस अर्थ को श्रीजैमिनिमहर्षि ने "तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः" इस सूत्र से बतलाया है। उदाहरण—"यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति" ऐसा एक वाक्य है। इस वाक्य से एक याग का विधान होता है। उस याग का देवता अग्नि है। आठ कपालों में संस्कृत होने वाला पुरोडाश उस याग का द्रव्य है, वह याग अमावस्या और पौर्णमासी में किया जाता है। यह सब अर्थ इस वाक्य से ही अवगत होते हैं दूसरे किसी प्रमाण से अवगत नहीं होते हैं। यहां इन अनेक अर्थों का विधान मानने पर वाक्यभेद दोष आता है। उस दोष से बचने के लिये वहाँ उपर्युक्त सर्वविशेषणों से विशिष्ट एक याग का विधान माना गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी सर्वविशेषणविशिष्ट परमपद का विधान मानने पर वाक्यभेद इत्यादि कोई भी दोष नहीं होगा। सूरियों को सदा देखने वाले परमपद का प्रतिपादन यह श्रुति करती है। ऐसा मानने पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्यस्य प्रसाधनम्

स्वकीय अर्थों में मन्त्रों के तात्पर्य का प्रतिपादन

करणमन्त्राः क्रियमाणानुवादिनः स्तोत्रशस्त्ररूपा जपादिषु विनियुक्ताश्च प्रकरण-पठिताश्चाप्रकरणपठिताश्च स्वार्थं सर्वं यथाऽवस्थितमेवाप्रमाणविरुद्धं ब्राह्मणवद्बोधय-न्तीति हि वैदिकाः। प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्। अप्रगीतमन्त्रसा-ध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्। विनियुक्तार्थप्रकाशिनां च देवतादिव्यप्रमाणविरुद्धगुण-विशेषप्रतिपादनं विनियोगानुगुणमेव।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि "तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यादि एक मन्त्र है, अनुष्ठान करने योग्य अर्थ का प्रकाशन करने के लिये मन्त्र प्रवृत्त होते हैं। इस अर्थप्रकाशन में ही मन्त्र का तात्पर्य है, मन्त्र शब्द-शक्ति से जिस अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसमें मन्त्र का तात्पर्य नहीं है, इस सिद्धान्त के अनुसार

"तद्विष्णोः" इत्यादि मन्त्र का भी स्वार्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता ऐसी स्थिति में इस मन्त्र से सूरिदृश्य परमपद की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीरामानुजस्वामी जो कहते हैं कि वैदिकों का यह सिद्धान्त है कि मन्त्र नाना प्रकार के हैं कई मन्त्र करण मन्त्र हैं जो होम आदि का साधन हैं। कई मन्त्र किये जाने वाले कर्म का अनुवाद करते हैं, वे क्रियमाणानुवादि कहलाते हैं। उदाहरण—"बर्हिर्देवसदनं दामि" यह मन्त्र की जाने वाली बर्हिर्लवन (कुशाओं को काटना) क्रिया का प्रतिपादन करता है। कई मन्त्र स्तोत्र एवं शस्त्र के काम में आते हैं। गाये जाने वाले मन्त्रों के द्वारा देवता इत्यादि गुणवान पदार्थों के गुणों का वर्णन करना स्तोत्र कहलाता है। जो मन्त्र नहीं गाये जाते हैं उन मन्त्रों के द्वारा गुणवान देवता आदि पदार्थों के गुणों का वर्णन करना शस्त्र कहलाता है। स्तोत्र के काम में आने वाले मन्त्र स्तोत्र तथा शस्त्र के काम में आने वाले मन्त्र शस्त्र कहलाते हैं। कई मन्त्र जप एवं अध्ययन आदि में विनियुक्त हैं। मन्द स्वर से होने वाला उच्चारण जप कहा जाता है। उच्च स्वर से होने वाला उच्चारण अध्ययन कहलाता है। कई मन्त्र किसी-किसी कर्म के प्रकरण में पठित हैं। कई प्रकरण में पठित नहीं है। इस प्रकार मन्त्र नाना प्रकार के होते हैं। ये सब तरह के मन्त्र शब्दशक्ति से किसी न किसी अर्थ का प्रतिपादन अवश्य करते हैं। यदि वे अर्थ इतर प्रमाणों से अवगत न होने पर भी इतर प्रमाणों से विरुद्ध नहीं होते हों तो उन अर्थों को तात्त्विक मानना चाहिये। शास्त्र उन अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त है, जो अन्य प्रमाणों से अवगत नहीं हुये हों तथा अन्य प्रमाणों से खण्डित नहीं होते हों। अन्य प्रमाणों से अवगत होने वाले अर्थों को बतलाने से शास्त्र का महत्व नहीं बढ़ता, प्रत्युत घटता है क्योंकि शास्त्र में अनुवादकत्व दोष आ जाता है। अन्य प्रमाणों से काटे जाने वाले अर्थों का प्रतिपादन शास्त्र कर नहीं सकते क्योंकि अप्रमाण बन जायेंगे। इसलिये मानना पड़ता है कि अन्य प्रमाणों से सिद्ध न होने वाले तथा अन्य प्रमाणों से नहीं काटे जाने वाले अर्थों का प्रतिपादक होने से ही वेद आदि शास्त्र का वैशिष्ट्य सिद्ध होता है। जो मन्त्र किसी-किसी कर्म में विनियुक्त हैं, वे मन्त्र उस कर्म के देवता का प्रतिपादन करते हुये उन देवता के ऐसे ऐसे गुणों का प्रतिपादन करते हैं जो प्रमाणान्तर से अवगत नहीं हैं तथा विरुद्ध भी नहीं हैं। उन गुणों का प्रतिपादन देवता स्मरण में उपयुक्त होने से विनियोग के अनुकूल रहता है। जिस प्रकार मंगलार्थ जलाये जाने पर भी दीप की अर्थ प्रकाशन शक्ति कुंठित नहीं होती, उसी प्रकार किसी भी कर्म में विनियुक्त होने पर भी मन्त्र की अर्थ प्रकाशन शक्ति कुंठितनही होती। मन्त्र प्रतिपाद्य अपूर्व अर्थों को तात्त्विक मानना ही न्यायानुमोदित है। यह वैदिकों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार यही कहना पड़ता है कि "तद्विष्णोः परमपदम्" यह मन्त्र सूरियों को सदा दिखाई देने वाले परमपद का प्रतिपादन करता है। इससे सदा देखने वाले नित्यसूरिगण और श्रीभगवान का परमपद से अपूर्व अर्थ सिद्ध होते हैं उन्हें मानना वैदिकों को शोभादायक है।

———

"तद्विष्णो" रितिश्रुतिर्न मुक्तपरा

"तद्विष्णोः" यह मन्त्र मुक्तों का प्रतिपादक नहीं

नेयं श्रुतिर्मुक्तजनविषया तेषां सदा दर्शनानुपपत्तेः ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि श्रीविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव तीन प्रकार के माने जाते हैं। (१) बद्ध जीव—जो संसार बन्धन में पड़े हैं। (२) मुक्त जीव—जो संसार से छूट कर मुक्त हो गये हैं। (३) नित्य जीव—जो कभी संसार में नहीं आये हैं न आने वाले ही हैं। अनन्त गरुड और विष्वक्सेन इत्यादि जीव नित्यजीव माने जाते हैं। यह सदा से मुक्त हैं, इसलिये नित्यमुक्त कहलाते हैं। यह नित्यजीव ही नित्यसूरि कहे जाते हैं। इनको सिद्ध करने वाला प्रमाण "तद्विष्णोः परम पदम्" यह मन्त्र है। यह मन्त्र मुक्त जीवों को बतलाकर भी सार्थक हो जाता है क्योंकि मुक्तजीव भी श्रीभगवान के परमपद का दर्शन करते रहते हैं। इस मन्त्र को नित्यसूरियों का प्रतिपादक क्यों मानना चाहिये ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस मन्त्र में श्रीविष्णु भगवान के परमपद का सदा दर्शन करने वालों का वर्णन है। सदा दर्शन करने वाले नित्यसूरि ही हैं मुक्त नहीं हैं क्योंकि मुक्तजीव मुक्तिपद में पहुँचने के बाद ही परमपद का दर्शन करते हैं पहले नहीं। संसार में रहते समय उनको परमपद दिखाई नहीं देता। नित्यसूरिगण कभी संसार बन्धन में नहीं आते, सदा श्रीवैकुण्ठ में ही रहते हैं। इसलिये उनको सदा परमपद का दर्शन होता रहता है। इस श्रुति में सदा दर्शन करने वालों का उल्लेख है। वे नित्यसूरि ही हो सकते हैं, मुक्त नहीं।

"तद्विष्णो" रितिश्रुतिर्न मुक्तप्रवाहपरा

"तद्विष्णोः" यह मन्त्र मुक्त प्रवाह का प्रतिपादक नहीं है

नापि मुक्तप्रवाहविषया, सदा पश्यन्तीत्येकैककर्तृविषयतया प्रतीतेः श्रुतिभङ्ग-प्रसङ्गात् । मन्त्रार्थवादावगता ह्यर्थाः कार्यपरत्वेऽपि सिद्ध्यन्तीत्युक्तम्, किं पुनः सिद्ध-वस्तुन्येव तात्पर्ये व्युत्पत्तिसिद्धे इति सर्वमुपपन्नम् ।

यहाँ पर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यह श्रुति मुक्तों के प्रवाह को बतलाती है। ऐसा अर्थ किया जा सकता है। इस अर्थ में उपर्युक्त दोष नहीं रहता है। भले प्रत्येक मुक्त सदा दर्शन नहीं कर सके परन्तु मुक्तों का प्रवाह तो दर्शन कर सकता है। ऐसा तो संभव नहीं कि किसी समय में किसी भी मुक्त ने दर्शन न किया हो। कोई न कोई मुक्त तो दर्शन करते ही रहते हैं। इस लिये इस मन्त्र को मुक्त प्रवाह का प्रति-पादक मानना चाहिये। इस मन्त्र से नित्यसूरियों की सिद्धि कैसे होती है ? यह प्रश्न है। इसका यह उत्तर

है कि यह मन्त्र सदा देखने वाले सूरि व्यक्तियों का प्रतिपादन करता है इस मन्त्र से सरल रीति से यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक सूरिव्यक्ति सदा दर्शन करते रहते हैं। प्रवाहरूप से भले मुक्तों का तांता मान लिया जाय परन्तु उनमें कोई भी मुक्त पुरुष सदा दर्शन करने वाले नहीं हैं किन्तु सबके सब मुक्त होने के बाद ही दर्शन करते हैं। सदा दर्शन करने वाले सूरिव्यक्तियों को मुक्तव्यक्तियों से भिन्न ही मानना चाहिये। यदि इस श्रुति को मुक्त प्रवाह का प्रतिपादक माना जाय तो श्रुति के स्वारस्य का भंग हो जाता है। इस मन्त्र से स्वरस अर्थ के अनुसार नित्यसूरि अवश्य सिद्ध होते हैं, क्लिष्ट अर्थ करके स्वरसार्थ को काटना वैदिक सम्मत नहीं है। पहले ही यह बात बता दी गई है कि भले वेद कार्य पदार्थ को बतलाने के लिये प्रवृत्त हों तो भी कार्योपयोगी होने के कारण उन सिद्ध अर्थों की भी सिद्धि हो जाती है जो मन्त्र और अर्थवादों से प्रतिपादित हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि कार्यवाक्यार्थवादी पूर्वमीमांसकों भी मन्त्रार्थवाद प्रतिपादित परमपद इत्यादि सिद्धार्थों को मानना चाहिये। सिद्धान्त में सिद्धवस्तु में शब्दों का तात्पर्य सिद्ध किया गया है। वेद सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है। सिद्धान्त के अनुसार परमपद और नित्यसूरि इत्यादि सिद्ध अर्थों की सिद्धि में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती। इसलिये परब्रह्म परमपद और नित्यसूरि इत्यादि सभी अर्थ मान्य हो जाते हैं।

परमपदस्य त्रैविध्ये नित्यसूरिसद्भावे च प्रमाणानि

परमपद की त्रिविधता तथा नित्यसूरियों के विषय में प्रमाण

ननु चात्र तद्विष्णोः परमं पदमिति परस्वरूपमेव परमपदशब्देनाभिधीयते 'समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पद'मित्यादिषु अव्यतिरेकदर्शनात्। नैवम्, 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' तदक्षरे परमे व्योमन्' 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योम'न्नित्यादिषु परमस्थानस्यैव प्रदर्शनात्, तद्विष्णोः परमं पदमिति व्यतिरेकनिर्देशाच्च। विष्ण्वाख्यं परमं पदमिति विशेषणादन्यदपि परं पदं विद्यत इति च तेनैव ज्ञायते। तदिदं परमं स्थानं सूरिभिः सदा दृश्यत्वेन प्रतिपाद्यते। एतदुक्तं भवति—क्वचित्परमं स्थानं परमपदशब्देन प्रतिपाद्यते, क्वचित्प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपम्, क्वचिद्भगवत्स्वरूपम्, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय' इति परमं स्थानम्, 'सर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधैवं संप्रवर्तते। गुणप्रवृत्त्या परमं पदं तस्यागुणं महत्' इत्यत्र प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपम्। 'समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्' इत्यत्र भगवत्स्वरूपम्। त्रीण्यप्येतानि परमप्राप्यत्वेन परमपदशब्देन प्रतिपाद्यन्ते। कथं त्रयाणां परमप्राप्यत्व-

मिति चेत्, भगवत्स्वरूपं परमप्राप्यत्वादेव परमं पदम्, इतरयोरपि भगवत्प्राप्तिगर्भत्वादेव परमपदत्वम्, सर्वकर्मबन्धविनिर्मुक्तात्मस्वरूपावाप्तिर्भगवत्प्राप्तिगर्भेति त इमे सत्याः कामाः अनृतापिधाना' इति भगवतो गुणगणस्य तिरोधायकत्वेनानृतशब्देन स्वकर्मणः प्रतिपादनात्। अनृतरूपतिरोधानं क्षेत्रज्ञकर्मेति कथमवगम्यत इति चेत्—'अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप! सर्वगा॥ संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्। तया तिरोहितत्वाच्च' इत्यादिवचनात्। परस्थानप्राप्तिरपि भगवत्प्राप्तिगर्भैवेति सुव्यक्तम्। 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' इति रजश्शब्देन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरुच्यते, केवलस्य रजसोऽनवस्थानात्। इमां त्रिगुणात्मिकां प्रकृतिमतिक्रम्य स्थिते स्थाने क्षयन्तं वसन्तमित्यर्थः, अनेन त्रिगुणात्मकात् क्षेत्रज्ञस्य भोग्यभूताद्वस्तुनः परस्ताद्विष्णोर्वासस्थानमिति गम्यते। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्ता'दित्यत्रापि तमश्शब्देन सैव प्रकृतिरुच्यते। केवलस्य तमसोऽनवस्थानादेव। 'रजसः पराके क्षयन्त'मित्यनेनैकवाक्यत्वात्तमसः परस्ताद्वसन्तं महान्तमादित्य-वर्णं पुरुषमहं वेदेत्ययमर्थोऽवगम्यते। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' 'तदक्षरे परमे व्योम'न्निति तत्स्थानमविकाररूपं परमव्योमशब्दाभिधेयमिति च गम्यते। 'अक्षरे परमे व्योम'न्नित्यस्य स्थानस्याक्षरत्वश्रवणात् क्षररूपादित्यमण्डलादयो न परमव्योमशब्दाभिधेयाः यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' 'यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः' इत्यादिषु च त एव सूरय इत्यवगम्यते। 'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत्परमं पद'मित्यत्रापि विप्रासो-मेधाविनः, विपन्यवः—स्तुतिशीलाः, जागृवांसः—अस्खलितविज्ञानाः, त एवास्खलितविज्ञानास्तत् विष्णोः परमं पदं सदा स्तुवन्तस्समिन्धत इत्यर्थः।

यहां पर यह पूर्वपक्ष उपस्थित होता है कि "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस मन्त्र से दिव्यस्थान प्रतिपादित नहीं होता है किन्तु श्रीविष्णुभगवान का दिव्यात्मस्वरूप ही प्रतिपादित होता है क्योंकि वह परमप्राप्य होने से परमपद कहा जाता है। पदशब्द प्राप्य का वाचक है। श्रीविष्णुपुराण में श्रीविष्णुभगवान को परमपद कहा गया है। इसलिये इस मन्त्र में परमपद शब्द से श्रीविष्णुभगवान के स्वरूप का प्रतिपादन ही उचित है। विष्णुपुराण का वह वचन यह है कि—

"समस्तहेयरहितं विष्ण्वाख्यं परमं पदम्"

अर्थात्—विष्णु नाम वाला एक दोषरहित परमपद अर्थात् परमप्राप्य वस्तु है। इस श्लोक में विष्णु और परमपद में ऐक्य सिद्ध होता है क्योंकि परमपद को विष्णु नाम वाला कहा गया है। इससे

सिद्ध होता है कि श्रीभगवत्स्वरूप ही परमपद कहा जाता है। उसी का इस मन्त्र में वर्णन है, दिव्यस्थान का नहीं। यह पूर्वपक्ष है। इसका समाधान यह है कि दिव्यस्थान का अपलाप तो हो नहीं सकता है क्यों कि वह अनेक प्रमाण वचनों से प्रमाणित है। वे वचन ये हैं कि "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" "तदक्षरे परमे व्योमन्" "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" इत्यादि। अर्थात्—इस रजोमय प्रकृतिमण्डल के ऊपर स्थान में श्रीभगवान निवास करते हैं। अविनाशी परमाकाश में श्रीभगवान रहते हैं। इस विश्व के अध्यक्ष भगवान परमाकाश में रहते हैं जो साधक परब्रह्म को हृदय गुहा में अवस्थित समझकर ध्यान करता है, वह परमाकाश में पहुँचकर वहाँ कल्याणगुणों के साथ परब्रह्म का अनुभव करता रहता है। इन वचनों से श्रीभगवान का निवासस्थान सिद्ध होता है। उसका अपलाप नहीं हो सकता। "तद्विष्णोः परमं पदम्" यह श्रुति वाक्य कहता है कि विष्णु का परमपद इससे विष्णु और परमपद में भेद सिद्ध होता है यह श्रुति परमपद शब्द से स्वरूप को नहीं बता सकती क्योंकि वैसा मानने पर भेद खण्डित हो जाता है। इसलिये इस श्रुति से विष्णु के स्वरूप से अतिरिक्त परमपद का प्रतिपादन मानना ही युक्त है। किंच, विष्णुपुराण के श्लोक में विष्णु नाम वाले परमपद के उल्लेख से यही प्रतीत होता है कि दूसरा भी एक परमपद है जिससे भेद दिखलाने के लिये "विष्णु नाम वाले" ऐसा विशेषण दिया है। दूसरे से भेद को बतलाने के लिये ही विशेषण का प्रयोग हुआ करता है। वह दूसरा परमपद दिव्यस्थान ही है इससे सिद्ध होता है कि विष्णुपुराण को दिव्यस्थान अभिमत है। इतना ही नहीं किन्तु विष्णुपुराण में दिव्यस्थान का स्पष्ट उल्लेख है। वह यह है कि—

'एकान्तिनः सदा ब्रह्म ध्यायिनो योगिनो हि ये।
तेषां तत् परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः॥

अर्थात्—अनन्य होकर सदा ब्रह्म ध्यान करने वाले जो योगी हैं उनको वह परमस्थान प्राप्त होता है, जिसका दर्शन सूरिगण करते हैं। इस श्लोक में "यद्वै पश्यन्ति सूरयः" कहकर श्रुति में अन्तर्गत "सदा पश्यन्ति सूरयः" की व्याख्या की गई है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीविष्णुपुराण उस श्रुति को दिव्यस्थानपरक मानकर व्याख्या करता है। विष्णुपुराण मत के अनुसार यही मानना पड़ता है कि "तद्विष्णोः परमं पदम्" यह श्रुति दिव्यस्थान का ही वर्णन करती है।

श्रीविष्णुपुराण में तीन परमपदों का वर्णन मिलता है। (१) एक परमपद दिव्यस्थान है जिसका वर्णन "एकान्तिनः सदा ब्रह्म ध्यायिनः" इस श्लोक में है तथा "तद्विष्णोः परमं पदम्" इस श्रुति वाक्य में भी है। (२) दूसरा परमपद वह परिशुद्ध जीवात्मस्वरूप है जो प्रकृति से परे है। उसका एक श्लोक में वर्णन है। वह यह है कि—

"सर्गस्थित्यन्तकालेषु त्रिधैव संप्रवर्तते।
गुणप्रवृत्त्या परमं पदं तस्यागुणं महत्॥

अर्थात्—सत्त्व रज और तम इन गुणों की प्रवृत्ति के अनुसार सृष्टि स्थिति और प्रलय के कालों में इस प्रकार तीन प्रकार की प्रवृत्ति जीवात्मा को होती रहती है। जीवात्मा का स्वपरिशुद्ध स्वरूप इन गुणों से रहित एवं महान है। वह भी परमपद है। (३) तीसरा परमपद सर्व दोष रहित भगवत्स्वरूप है जिसका विष्णु ऐसा नाम है। इस परमपद का वर्णन "समस्तहेयरहितम्" इस पूर्वोदाहृत श्लोक में है। इस प्रकार परमपद तीन हैं। ये तीनों परमप्राप्य होने से परमपद कहलाते हैं। भगवत्स्वरूप परमप्राप्य है। इसे सब मानते हैं, इसमें विवाद नहीं है। दिव्यस्थान में जाने पर ही जीव अत्यन्त परिशुद्ध बनकर उस भगवत्स्वरूप को प्राप्त करता है। दिव्यस्थान प्राप्ति परिशुद्धात्मस्वरूप प्राप्ति और भगवत्स्वरूप प्राप्ति तीनों एक साथ होती हैं। एक दूसरे को छोड़कर नहीं हो सकती। भगवत्प्राप्ति में और दोनों प्राप्ति अन्तर्गत हो जाती हैं। सर्वकर्मबन्ध से छूटे हुये परिशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति भगवत्प्राप्ति को लेकर हुआ करती है। इसलिये ये तीनों एक साथ प्राप्य होने से तथा श्रेष्ठ प्राप्य होने से परमपद कहलाते हैं। परिशुद्धात्मस्वरूपप्राप्ति एवं भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक कर्म हैं। सब कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तब परिशुद्धात्मस्वरूपप्राप्ति एवं भगवत्प्राप्ति दोनों साथ होती हैं वह भी दिव्यस्थान में पहुँचने के बाद होती है। उपनिषद् में "त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः" कहकर यह बतलाया गया है कि श्रीभगवान के ये सब सत्यकल्याणगुण कर्म से तिरोहित रहते हैं अतएव बद्धजीवों को उनका अनुभव प्राप्त नहीं होता। श्रुति में अनृतशब्द से कर्म का वर्णन है। यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि तिरोधान करने वाला अनृत जीवों का कर्म ही है यह कैसे विदित होता है? इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रीविष्णुपुराण के वचन से उपर्युक्त अर्थ प्रमाणित होता है। वह वचन यह है कि—

अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते।
यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वगा॥
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यनिसततान्।
तयातिरोहितत्वाच्च....................॥

अर्थात्—कर्मनामवाली अविद्या तीसरी शक्ति मानी जाती है। हे राजन्? सर्वत्र रहने वाली आत्मशक्ति जिस कर्मनामक अविद्या से वेष्टित होकर लगातार होने वाले सब तरह के संसार तापों को भोगती है। कर्म नामक अविद्या से तिरोहित होने के कारण यह सब होता है। इस वचन से सिद्ध होता है कि संसार का कारण कर्म है। पूर्णरूप से कर्मनष्ट होने पर परिशुद्धात्मस्वरूपप्राप्ति एवं भगवत्प्राप्ति अवश्य सिद्ध होगी। परमस्थान में पहुँचने पर ही भगवत्प्राप्ति होगी अतएव परिशुद्धात्मस्वरूप भगवत्स्वरूप और दिव्यस्थान ये तीनों परमपद कहे गये हैं। इन तीनों की प्राप्ति एक दूसरे के साथ गुंथी हुई हैं। यह अर्थ "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र का अर्थ यह है कि सत्त्वरजस तमोमयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का अतिक्रमण करके ऊपर विराजमान दिव्यस्थान में श्रीभगवान विराजमान रहते हैं। इस मन्त्र में

रजः शब्द से रजोगुणयुक्त प्रकृति का प्रतिपादन है क्योंकि प्रकृति को छोड़कर केवल रजोगुण रह नहीं सकता। इस वचन से यह फलित होता है कि यह तीन गुण वाली प्रकृति जीवात्मा का भोग्य है। इस प्रकृति मण्डल के आगे श्रीभगवान का निवास स्थान है। दूसरा मन्त्र भी इस अर्थ को बताता है वह यह है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

अर्थात्—तम अर्थात् प्रकृति के ऊपर रहने वाले तथा सूर्य के समान वर्ण वाले इस महापुरुष को मैं जानता हूँ। इस मन्त्र में "तमः" शब्द से प्रकृति बतलाई जाती है क्योंकि प्रकृति को छोड़कर अकेला तमोगुण रह नहीं सकता है। 'रजसः पराके क्षयन्तम्" इस वाक्य के साथ "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" यह वाक्य मिलकर एक वाक्य बन जाता है। एक वाक्य होकर बतलाता है कि तमोमय प्रकृति के ऊपर निवास करने वाले आदित्यवर्ण महापुरुष को मैं जानता हूँ। परमपद परम व्योम शब्द से भी उपनिषदों में वर्णित हैं। वे वचन यह हैं—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" "तदक्षरे परमे व्योमन्"

अर्थात्—सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म हृदय गुहा में विराजमान है, इस तत्त्व को जो जानता है वह परमाकाश में पहुँचकर ब्रह्मानुभव करता है। वह ब्रह्म अविनाशी निर्विकार परमाकाश में रहता है। इन दोनों वचनों से विदित होता है कि वह दिव्यस्थान निर्विकार होने से परमाकाश शब्द से अभिहित होता है। "अक्षरे परमे व्योमन्" इस वचन में वह स्थान अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि सूर्यमण्डल इत्यादि भगवत्स्थान नश्वर होने से परमाकाश शब्द से नहीं कहे जा सकते। अन्य कई वचनों में भी नित्यसूरियों का वर्णन मिलता है। उनसे भी नित्यसूरि सिद्ध होते हैं। वे वचन ये हैं कि—

(१) "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (२) "यत्रर्षयः प्रथमजा ये पुराणाः" (३) तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत् परमं पदम्"

अर्थात्—जहाँ परम प्राचीन साध्यदेव अर्थात् नित्यसूरिगण रहते हैं वह नाक अर्थात् दुःख रहित दिव्यलोक है। जहाँ पहले से ही विराजमान पुराने द्रष्टा नित्यसूरि विराजते हैं। सदा जागने वाले अर्थात् ज्ञान लोप रहित मेधावी नित्यसूरिगण श्रीविष्णुभगवान के उस परमपद की स्तुति करते हुये देदीप्यमान रहते हैं। इन सब प्रमाणों से दिव्यस्थान और नित्यसूरिगण सिद्ध होते हैं तथा इनकी नित्यता भी सिद्ध होती है।

"सदेव" इत्यादि श्रुत्या परमपदनित्यसूर्यभावस्यासिद्धिः

"सदेव" इत्यादि श्रुतिवाक्य से दिव्यस्थान और नित्यसूरि इत्यादि का अभाव सिद्ध नहीं होता है

एतेषां परिजनस्थानादीनां 'सदेव सोम्येदमग्र आसी'दित्यत्र ज्ञानबलैश्वर्यादिकल्या-

णगुणगणवत्परब्रह्मस्वरूपान्तर्गतत्वात्, सदेवैकमेवाद्वितीयमिति ब्रह्मान्तर्भावोऽवगम्यते। एषामपि कल्याणगुणैकदेशत्वादेव 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्रेदमिति शब्दस्य कर्मवश्यभोक्तृवर्गमिश्रतद्भोग्यभूतप्रपंचविषयत्वाच्च 'सदा पश्यन्ति सूरय' इति सदा दर्शित्वेन च तेषां कर्मवश्यानन्तर्भावात् अपहतपाप्मेत्याद्यपिपास इत्यन्तेन सलीलोपकरणभूतत्रिगुणात्मकप्रकृतिप्राकृततत्संसृष्टपुरुषगतं हेयस्वभावं सर्वं प्रतिषिध्य सत्यकाम' इत्यनेन स्वभोग्यभोगोपकरणजातस्य सर्वस्य सत्यता प्रतिपादिता। सत्याः कामा यस्यासौ सत्यकामः, काम्यन्त इति कामाः, तेन परब्रह्मणा स्वभोग्यतदुपकरणादयः स्वाभिमता ये काम्यन्ते ते सत्याः नित्या इत्यर्थः। अन्यस्य लीलोपकरणस्यापि वस्तुनः प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्वे सत्यपि विकारास्पदत्वेनास्थिरत्वात्तद्विपरीतं स्थिरत्वमेषां सत्यपदेनोच्यते। सत्यसंकल्प इति, एतेषु भोग्यतदुपकरणादिषु नित्येषु निरतिशयेषु अनन्तेषु सत्स्वपि अपूर्वाणामपरिमितानामर्थानामपि सङ्कल्पमात्रेण सिद्धिं वदति। एषां च भोगोपकरणानां लीलोपकरणानां चेतनानामचेतनानां स्थिराणामस्थिराणां च तत्सङ्कल्पायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदादि सर्वं वदति 'सत्यसङ्कल्पः' इति।

आगे यह प्रश्न उठता है कि उपनिषदों में "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि कारण वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयकाल में एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, प्रपञ्च सर्वथा नहीं था। ऐसी स्थिति में परमपद को नित्य कैसे माना जा सकता है वहाँ रहने वाले सूरियों को भी अनित्य ही मानना चाहिये। इनको नित्य मानने पर कारणवाक्यों से विरोध उपस्थित होता है। उसे कैसे शान्त किया जाय ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि प्रलयकाल में ब्रह्म ही था यह प्रपञ्च नहीं था। यह बात ठीक है। इससे यह नहीं मानना चाहिये कि उस समय परब्रह्म में ज्ञान, बल और ऐश्वर्य इत्यादि कल्याणगुण भी नहीं थे। प्रलयकाल में उन कल्याणगुणों का सद्भाव मानना ही होगा क्योंकि वे ब्रह्मस्वरूप में अन्तर्गत हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता है। प्रलयकाल में भी ब्रह्म कल्याणगुण एवं मंगलमय विशेषणों से युक्त होकर ही रहता है। कल्याणगुणों के समान दिव्यस्थान और नित्यसूरिगण इत्यादि भी परब्रह्म के मंगलमय विशेषण हैं। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य से यही सिद्ध होता है कि प्रलयकाल में वह प्रपञ्च ही नहीं रहता है जो कर्मवश्य बद्धजीवों से युक्त है तथा उन जीवों का भोग्य है। इससे प्रलयकाल में बद्धजीव और उनके भोग्य इस प्राकृत प्रपञ्च का अभाव ही सिद्ध होता है। नित्यसूरियों का अभाव सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वे कर्मबद्ध नहीं हैं। वे "सदा पश्यन्ति सूरयः" के अनुसार सदा सर्वज्ञ रहते हैं। कर्मवश्यों में वे अन्तर्गत नहीं हैं। इनका अभाव उपर्युक्त "सदेव" इत्यादि वचन का विवक्षित नहीं है। जिस प्राकृत प्रपञ्च की सृष्टि आगे कही जाने वाली है उस प्राकृत प्रपञ्च का अभाव ही प्रलयकाल में उस वाक्य से सिद्ध होता है। उस वाक्य से अप्राकृत दिव्यलोक इत्यादि का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। किञ्च—

"अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" यह वाक्य श्रीभगवान के नित्य भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि को सिद्ध करता है। इस वचन में "अपहतपाप्मा" से लेकर "अपिपासः" तक के भाग से यह कहा गया है कि परमात्मा में पाप जरा मृत्यु शोक भूख और प्यास इत्यादि दोष नहीं होते हैं। यह दोष परमात्मा की लीला में उपकरण बनने वाले प्रकृति प्राकृत पदार्थ और उनसे संबन्ध रखने वाले बद्धजीवों में रहा करते हैं। परमात्मा में इन सभी दोषों का निषेध करके यह वचन "सत्यकामः" इस पद से यह बतलाता है कि परमात्मा के यहाँ ऐसे भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि पदार्थ भी हैं जो नित्य हैं। परब्रह्म जिन जिन भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि पदार्थों को चाहता है वे सभी सत्य अर्थात् नित्य बने रहते हैं। इस संसार में विद्यमान प्राकृत भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि पदार्थ भी सत्य हैं मिथ्या नहीं है, क्योंकि ये प्रमाणों से सिद्ध हैं। ये सत्य होने पर भी नित्य नहीं है किन्तु नश्वर हैं। जो स्थायी नित्यपदार्थ हैं वे भी सत्य कहे जाते हैं। ऐसे स्थिर एव नित्यभोग्य और भोगोपकरण इत्यादि पदार्थ परमात्मा के यहाँ बहुत हैं। इसलिये श्रुति ने परमात्मा को "सत्यकाम" कहा। परमात्मा सत्य संकल्प वाले होने से 'सत्यसंकल्पः" कहे जाते हैं। इस प्रकार परमात्मा के यहाँ अत्युत्कृष्ट नित्य अनन्त भोग्य और भोगोपकरण इत्यादि पदार्थ विद्यमान होने पर भी परमात्मा संकल्पमात्र से अपरिमित अपूर्व पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ हैं। यह सत्यसंकल्प शब्द का अर्थ है सत्यसंकल्प शब्द से यह सिद्ध होता है कि त्रिपाद्विभूति में वैकुण्ठलोक इत्यादि अचेतन पदार्थ हैं नित्यसूरि और मुक्तगण चेतन पदार्थ हैं। उनमें कई पदार्थ स्थिर हैं कई श्रीभगवत्संकल्प के अनुसार उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं। ये वहाँ के अस्थिर पदार्थ हैं। ये सब श्रीभगवान के भोग के वर्धक हैं। इसलिये भोगोपकरण कहलाते हैं। लीलाविभूति में भी चेतन एवं अचेतन पदार्थ हैं इनमें कई स्थिर हैं, कई अस्थिर हैं ये श्रीभगवान की लीला के उपकरण हैं। ये दोनों प्रकार के सभी पदार्थों के स्वरूप, स्थिति, प्रवृत्ति और उनमें होने वाले अवान्तर भेद इत्यादि सब कुछ श्रीभगवान के संकल्प के आधीन है। यह सत्यसंकल्प शब्द का अर्थ है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने श्रुति वचनों के आधार पर दिव्यस्थान और नित्यसूरि इत्यादि पदार्थों को सिद्ध किया है।

इतिहासपुराणैर्दिव्यस्थानादीनां सिद्धिः

इतिहास और पुराणों से दिव्यस्थान और नित्यसूरि आदि की सिद्धि

इतिहासपुराणयोर्वेदोपबृंहणयोश्चायमर्थ उच्यते—तौ तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ। वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः। इति, वेदोपबृंहणतया प्रारब्धे श्रीरामायणे—व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः। अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्। तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः। श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो

ध्रुवः ॥ शरा नानाविधाश्चापि धनुरायतविग्रहम् । अन्वगच्छन्त काकुत्स्थं सर्वे पुरुषविग्रहाः ॥ विवेश वैष्णवं धाम सशरीरस्सहानुगः । श्रीमद्वैष्णवपुराणे—समस्ताः शक्तयश्चैता नृप ! यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत् । मूर्तं ब्रह्म महाभाग ! सर्वब्रह्ममयो हरिः । नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी । यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम । देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी । विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम् । एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥ कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः । महाभारते च—'दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयं दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम् गच्छ प्रभो ! रक्ष चास्मान् प्रपन्नान् कल्पे कल्पे जायमानः स्वमूर्त्या ॥ कालस्स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः ॥' इति ।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने कहा कि इतिहास और पुराण उन वेदशाखाओं के—जो अध्ययन में नहीं आयी हैं—के अर्थों को व्यक्त करने के लिये प्रवृत्त हैं। उन इतिहास और पुराणों में भी उपर्युक्त दिव्यस्थान इत्यादि अर्थ सिद्ध होते हैं। श्री रामायण वेदार्थों को व्यक्त करने के लिये निर्मित हुआ है। श्रीरामायण में आरम्भ में ही कहा गया है कि—

तौ तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥

अर्थात् वेदों में पारंगत बुद्धिमान उन कुश-लव को देखकर प्रभु श्री वाल्मीकि महर्षि ने वेदार्थों को स्पष्टरूप से बतलाने के लिये उन्हें श्रीरामायण को कण्ठ कराया इससे सिद्ध होता है कि श्रीरामायण वेदार्थों को व्यक्त करने के लिये ही निर्मित हुआ है। उस श्रीरामायण के निम्नलिखित वचनों में उन श्रुति वचनों—जिनका अब तक उद्धरण किया गया—का अर्थ स्पष्ट बतलाये गये हैं। वे वचन ये हैं कि—

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान् ॥
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः ।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः ॥

अर्थात् स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये वे परमात्मा ही हैं जो महाशक्ति संपन्न सनातन एवं आदि मध्य और अन्त से रहित हैं। ये परमात्मा महान् से भी अत्यन्त महान हैं। प्रकृति से भी परे हैं, सबके धारण और पोषण करने वाले हैं। ये शंख चक्र और गदा धारण किये रहते हैं। इनके वक्षःस्थल में

श्रीवत्स विराजमान रहता है। ये सदा श्रीमहालक्ष्मी समेत हैं, ये अजेय शाश्वत एवं ध्रुव हैं इन श्लोकों में—"अनादिमध्यनिधनः" इस पद से श्रीभगवान का स्वरूप नित्य कहा गया है। "शाश्वतः" शब्द से श्रीभगवान का गुणविशिष्ट स्वरूप नित्य कहा गया है। "ध्रुवः" इस शब्द से वह स्वरूप विग्रहविशिष्ट रूप से नित्य कहा गया है। इस प्रकार श्रीभगवान का स्वरूप विग्रह और गुण नित्य कहे गये हैं। "तमसः परमः" इन शब्दों से श्रीभगवान का वह दिव्यस्थान—जो प्रकृति के ऊपर है—सूचित होता है। श्रीरामचन्द्र जी की वैकुण्ठयात्रा के प्रसंग में ये श्लोक मिलते हैं कि—

शरा नानाविधाश्चापि धनुरायतविग्रहम्।
अन्वगच्छन्त काकुत्स्थं सर्वे पुरुषविग्रहाः॥
विवेश वैष्णवं धाम सशरीरः सहानुगः॥

अर्थात् अनेक विध बाण और लम्बा आकार वाला धनु जो पुरुषरूप लेकर श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चलते थे, श्रीरामचन्द्र जी के शरीर एवं अनुयाइयों के साथ वैष्णवधाम में प्रवेश कर गये। इन श्लोकों से श्रीभगवान के आयुध एवं दिव्यधाम सिद्ध होते हैं। श्रीविष्णुपुराण में भी उपर्युक्त अर्थों का वर्णन है। वे वचन यह हैं कि—

समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः।
तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्॥
मूर्तं ब्रह्म महाभाग सर्वब्रह्ममयो हरिः॥

अर्थात् हे राजन ! यह चेतनशक्ति अचेतनशक्ति और कर्मशक्ति इत्यादि सभी शक्तियाँ श्रीभगवान के जिस विग्रह में अस्त्र और भूषणों के रूप में विराजमान हैं वह श्रीभगवान का रूप अर्थात् विग्रह लौकिक सब रूपों से विलक्षण है अप्राकृत है एवं अत्यन्त महान् है। वह मूर्त साकार रूप श्रीभगवान का है। श्रीभगवान परिशुद्ध जीवस्वरूप के भी आत्मा हैं। इन वचनों से श्रीभगवान का दिव्यविग्रह सिद्ध होता है। श्रीमहालक्ष्मी के विषय में श्री विष्णुपुराण में यह वर्णन है कि—

नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥
देवत्वे देवदेहेयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्॥

अर्थात् यह जगन्माता महालक्ष्मी जी नित्या हैं यह कभी श्रीभगवान को नहीं छोड़ती हैं। हे द्विजोत्तम ! जिस प्रकार श्रीभगवान अवतार में देवों के समान रूप धारण करते हैं तब श्रीमहालक्ष्मी जी भी देवशरीर वाली बन जाती हैं। जब श्रीभगवान मनुष्यों में अवतार लेते हैं तब श्रीमहालक्ष्मी जी मनुष्य

स्त्री के रूप को धारण करती हैं। यह महालक्ष्मी जी अपने देह को श्रीभगवान के देह के अनुरूप बना लेती हैं। इन श्लोकों से श्रीमहालक्ष्मी जी का स्वरूप श्रीभगवान के साथ नित्यसंबन्ध सर्वव्यापकत्व तथा श्रीभगवान के साथ अवतारग्रहण इत्यादि विशेषार्थ सिद्ध होते हैं। विष्णुपुराण के निम्नलिखित श्लोकों में दिव्यस्थान और नित्यसूरियों का वर्णन मिलता है।

एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये ।
तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ॥

अर्थात् जो योगिगण अनन्य होकर सदा ब्रह्म ध्यान करते हैं वे उस परमस्थान में पहुँच जाते हैं जिसका दर्शन नित्यसूरियों को होता रहता है।

'कलामुहूर्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः"

अर्थात् कला और मुहूर्त इत्यादि रूपों में परिणत होने वाला काल श्रीभगवान की नित्य विभूति में परिणाम का कारण नहीं बन सकता। इन वचनों से दिव्यस्थान और नित्यसूरियों का सद्भाव और इनकी नित्यता सिद्ध होती है। महाभारत में नित्यविभूति और उसकी नित्यता के विषय में वर्णन है।

दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयं दुर्विज्ञेयं चागमैर्गम्यमाद्यम् ।
गच्छ प्रभो ? रक्ष चास्मान् प्रपन्नान् काले काले जायमानः स्वमूर्त्या ॥

अर्थात् हे प्रभो ? जरा हीन अप्रमेय दुर्ज्ञेय एवं शास्त्रों से ही विदित होने वाले उस आद्य दिव्य-स्थान में पहुँचने के लिये पधारिये। आप प्रतिकल्प अपने रूप से प्रकट होकर आश्रित हम लोगों की रक्षा कीजिये।

"कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः"

अर्थात् श्रीभगवान नित्यविभूति में काल को परिणत कर देते हैं, पचा देते हैं। काल वहाँ कुछ भी नहीं कर सकता। इन वचनों से दिव्यस्थान एवं उनकी नित्यता सिद्ध होती है।

ब्रह्मसूत्रेण दिव्यरूपस्य सिद्धिः

ब्रह्मसूत्र से दिव्यरूप की सिद्धि

परस्य ब्रह्मणो रूपवत्त्वं सूत्रकारश्च वदति—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इति, योऽसा-वादित्यमण्डलान्तर्वर्ती तप्तकार्तस्वरगिरिवरप्रभः सहस्रांशुशतसहस्रकिरणो गम्भीराम्भः-समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलायतेक्षणः सुभ्रूललाटस्सुनासस्सुस्मि-

ताधरविद्रुमः सुरुचिरकोमलगण्डः कम्बुग्रीवः समुन्नतांसविलम्बिचारुरूपदिव्यकर्णकिसलयः पीनवृत्तायतभुजश्चारुतराताम्र-करतलानुरक्ताङ्गुलीभिरलंकृतस्तनुमध्यो विशाल-वक्षस्स्थलः समविभक्तसर्वाङ्गोऽनिर्देश्यदिव्यरूपसंहननः स्निग्धवर्णः प्रबुद्धपुण्डरीकचारुचरणयुगलः स्वानुरूपपीताम्बरधरोऽमलकिरीटकुण्डलहारकौस्तुभकेयूरकटकनूपुरोदरबन्धनाद्यपरिमिताश्चर्यानन्तदिव्यभूषणः शङ्खचक्रगदासिशार्ङ्गश्रीवत्सवनमालालङ्कृतोऽनवधिकातिशयसौन्दर्याहृताशेषमनोदृष्टिवृत्तिर्लावण्यामृतपूरिताशेषचराचरभूतजातोऽत्यद्भुताचिन्त्यनित्ययौवनःपुष्पहाससुकुमारः पुण्यगन्धवासितानन्तदिगन्तरालस्त्रैलोक्याक्रमणप्रवृत्तगम्भीरभावः करुणानुरागमधुरलोचनावलोकिताश्रितवर्गः पुरुषवरो दरीदृश्यते' स च निखिलजगदुदयविभवलयलीलो निरस्तसमस्तहेयः समस्तकल्याणगुणनिधिः स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणः परमात्मा परब्रह्म नारायण इत्यवगम्यते 'तद्धर्मोपदेशात्' 'स एष सर्वेषां लोकानामीष्टे सर्वेषां कामानां स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित' इत्यादिदर्शनात्, तस्यैते गुणाः 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' 'अपहतपाप्मा विजरः इत्यादिसत्यसङ्कल्पइत्यन्तं 'विश्वतः परमं नित्यम् विश्वं नारायणं हरिम्' 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वर' मित्यादिवाक्यप्रतिपादिताः ।

ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यासमहर्षि भी "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इस सूत्र से श्रीभगवान के दिव्यविग्रह को सिद्ध करते हैं। यह अन्तरधिकरण का सूत्र है "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषोदृश्यते" इत्यादि उपनिषद्-वाक्य उस अधिकरण का विषयवाक्य है। अन्तरादित्यविद्या एक ब्रह्म विद्या है। सूर्यमण्डल में विराजने वाले श्रीभगवान की उपासना ही अन्तरादित्यविद्या है। इस विद्या का प्रतिपादन इस वाक्य में है। इस वाक्य का यह अर्थ है कि सूर्यमण्डल के अन्दर ये जो स्वर्णसमान विग्रहवाले पुरुष दिखाई देते हैं उनका नेत्र सूर्यकिरण विकसित कमलदलों के समान है इत्यादि। उपर्युक्त वाक्य को लेकर यह अधिकरण प्रवृत्त है। इस विषयवाक्य के अर्थ के विषय में यह संशय होता है कि सूर्यमण्डल के अन्दर दिखाई देने वाले यह पुरुष जीवात्मा है या परमात्मा है। पूर्वपक्षी ने कहा कि यह पुरुष जीवात्मा ही है क्योंकि जीवात्मा ही कर्मानुसार पाणिपाद इत्यादि अंग वाले शरीर को धारण करता है। परमात्मा का कर्मगन्ध तक नहीं है वे ऐसे शरीर को धारण नहीं कर सकते। इसलिये उपर्युक्त पुरुष को जीव ही मानना चाहिये। यह पूर्वपक्ष है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करके उपर्युक्त पुरुष को परमात्मा सिद्ध करने के लिये "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" यह सिद्धान्त सूत्र प्रवृत्त है। ये जो सूर्यमण्डल के अन्दर पुरुष दिखाई देते हैं वे शास्त्रोक्तरीति से इस प्रकार के हैं कि वे तपे हुये स्वर्ण से निर्मित पर्वतराज के समान शोभायुक्त हैं। उनसे सहस्रों किरण निकलते रहते हैं प्रत्येक किरण से सैकड़ों छोटे छोटे किरण निकलते रहते हैं, ऐसे किरणों से वे संपन्न हैं। "कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" श्रुति से सिद्ध होता है कि उनका नेत्र उन कमलदलों के समान विशाल हैं जो गहरे जल में प्रकट हुये हों तथा सुदृढ नाल दण्ड पर विराजमान रहते हों तथा सूर्य की किरणों से विकसित

हुये हों। ऐसे कमल के दलों के समान विशाल नेत्रों से वे संपन्न हैं। कप्यास पुण्डरीक शब्द के तीन अर्थ हैं कि (१) जल में विद्यमान कमल (२) नाल दण्ड पर अवस्थित कमल और (३) सूर्य से विकसित हुये कमल। इस प्रकार के कमलों के समान है श्रीभगवान का नेत्र। वह पुरुष सुन्दर भ्रू एवं ललाट से युक्त हैं शोभन नासिका वाले हैं। वह पुरुष सुन्दर मन्दहास और मूंगे के समान सुन्दर अधर से सुशोभित हैं। उनके कोमल कपोल दिव्य कान्ति से युक्त हैं। उनका कंठ शङ्ख के समान है। उन्नत भुजशिखरों में उनके सुन्दर दिव्य कर्णपाश लटक रहे हैं। उनकी भुजायें मोटी वर्तुलाकार एवं लम्बी हैं। वे सुन्दरतर लाल करतल एवं अंगुलियों से अलंकृत हैं। उनका मध्य भाग पतला है। उनका वक्षस्थल विशाल है। उनके सभी अंग समानरूप से विभक्त होकर अलौकिक शोभा से अन्वित हैं। उनके सभी अंग उचित ढंग पर संघटित हैं। उनका यह अवयव सन्निवेश वर्णनातीत एवं परमदिव्य है। उनकी देह का वर्ण स्निग्धता को लेकर शोभा पा रहा है। उनके दोनों चरण खिले हुये कमल के समान सुन्दर हैं। वे अपने लिये अनुरूप बनने वाले सुन्दर दिव्य पीताम्बर को पहने हुये हैं। वे निर्मल किरीट कुण्डल हार केयूर कटक नूपुर और उदर बन्धन इत्यादि अपरिमित अत्याश्चर्यमय अनन्त दिव्यभूषणों से भूषित हैं। वे शंख चक्र गदा खड्ग और शाङ्र्ग ऐसे आयुध और श्रीवत्स एवं वनमाला से अलंकृत हैं वे अपार उत्कर्षयुक्त सौन्दर्य से सबकी मनोवृत्ति और दृष्टि का हरण करते रहते हैं। प्रत्येक अवयव की शोभा सुन्दर है। समुदाय शोभा लावण्य कहलाती है। वे लावण्यामृत से संपूर्ण चराचर प्राणि समूह को आप्लावित करते रहते हैं। वे अत्यद्भुत एवं अचिन्त्य नित्य यौवन से संपन्न हैं। वे इतने सुकुमार हैं कि जिस प्रकार धीरे-धीरे पुष्प विकसित होते हैं उसी प्रकार वे धीरे धीरे मन्दहास करते हैं। सौकुमार्य के कारण उनको ऐसे ही मन्दहास होते रहते हैं। वे अपने परमपावन सुगन्ध से अनन्त दिशावकाशों को सुगन्धित करते रहते हैं। उनकी गम्भीरता को देखने पर प्रतीत होता है कि वह तीनों लोकों का आक्रमण करने के लिये प्रवृत्त हैं। वे करुणा एवं अनुराग से परिपूर्ण मधुर लोचनों से आश्रित वर्ग को कटाक्षित करते रहते हैं। शास्त्र प्रमाण के अनुसार इस प्रकार जो पुरुष प्रवर सूर्यमण्डल में दिखाई दे रहे हैं वे परब्रह्म परमात्मा श्रीमन्नारायण भगवान ही हैं जो संपूर्ण जगत की सृष्टि स्थिति और प्रलय की लीला करते रहते हैं, नित्यनिर्दोष एवं समस्तकल्याण गुणों के निधि हैं तथा वे स्वेतर समस्त वस्तुओं से अत्यन्त विलक्षण हैं। यह परब्रह्म श्रीमन्नारायण भगवान ही वह पुरुष हैं जो सूर्यमण्डल में दिखाई देते हैं। ऐसा निर्णय करने का कारण यही है कि परमात्मा के असाधारण धर्मों का वर्णन यहाँ पर विद्यमान है। इससे इन्हें परमात्मा ही मानना चाहिये। वे धर्म निम्नलिखित वाक्यों में वर्णित हैं। वे वाक्य ये हैं कि—'स एष सर्वेषां लोकानामीष्टे सर्वेषां कामानाम्" स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" अर्थात् आदित्यमण्डल में विराजमान यह पुरुष सब लोकों पर शासन करते हैं तथा सब फलों को अपने आधीन में रखे हैं। यह पुरुष सब पापों के ऊपर उठे हुये हैं। सर्वेश्वरत्व और सर्वपाप रहितत्व इत्यादि परमात्मा के धर्म हैं। यह अर्थ अन्यान्य वाक्यों से प्रमाणित हैं। वे वाक्य ये हैं कि—(१) "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" अर्थात् परमात्मा सबको अपने वश में रखे हुये हैं तथा सबपर शासन करने वाले हैं। (२) "अपहतपाप्मा

विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" अर्थात् परमात्मा पाप जरामृत्यु शोक भूख और प्यास इन दोषों से रहित है, नित्य भोग्य पदार्थों से संपन्न हैं तथा सत्यसंकल्प वाले हैं (३) "विश्वतः परमं नित्य विश्वं नारायणं हरिम्" अर्थात् परमात्मा विश्व से श्रेष्ठ हैं नित्य हैं, विश्व शरीर वाले हैं तथा वे ही नारायण हैं एवं श्रीहरि हैं। (४) "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" अर्थात् परमात्मा विश्व के स्वामी हैं। सब आत्माओं के ईश्वर हैं अथवा अपने लिये ईश्वर हैं नियन्ता हैं। उपर्युक्त अनेक वाक्यों से सिद्ध होता है कि ये गुण परमात्मा के असाधारण धर्म हैं। आदित्य मण्डल में विराजमान पुरुष में उपर्युक्त गुणों का वर्णन है। इसलिये यही निर्णय होता है कि वह पुरुष परमात्मा ही है। इस प्रकार सूत्रकार ने सूर्यमण्डल में विराजमान दिव्यमंगल विग्रह वाले पुरुष को परमात्मा सिद्ध किया है।

दिव्यरूपादिविषये वाक्यकार-द्रमिडभाष्यकार-वचांस्यपि प्रमाणम्

दिव्यरूप के विषय में वाक्यकार एवं द्रमिडभाष्यकार के वचनों के उद्धरण

वाक्यकारश्चैतत्सर्वमाह—'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यत इति प्राज्ञः सर्वान्तरः स्याल्लोककामेशोपदेशात् तथोदयात्पाप्मना' मित्यादिना। तस्य च रूपस्यानित्यतादि वाक्यकारेणैव प्रतिषिद्धम् 'स्याद्रूपं कृतकमनुग्रहार्थं तच्चेतसामैश्वर्या'दिति उपासितुरनुग्रहार्थः परमपुरुषस्य रूपसंग्रहइति पूर्वपक्षं कृत्वा—रूपं वाऽतीन्द्रियमन्तःकरणप्रत्यक्षं तन्निर्देशादिति, यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणस्स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणाः, तथेदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात्स्वरूप भूतमित्यर्थः। भाष्यकारेणैतद्व्याख्यातम्—'अञ्जसैव विश्वसृजो रूपं तत्तु न चक्षुषा ग्राह्यं मनसा त्वकलुषेण साधनान्तरवता गृह्यते, 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' 'मनसा तु विशुद्धेने'ति श्रुतेः। न ह्यरूपाया देवताया रूपमुपदिश्यते, यथाभूतवादि हि शास्त्रम् 'माहारजनं वासः वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्ता'दिति प्रकरणान्तरनिर्देशाच्च साक्षिण इत्यादिना 'हिरण्मय' इति रूपसामान्याच्चन्द्रमुखवत्। न मयडत्र विकारमादाय प्रयुज्यते, अनारभ्यत्वादात्मन इत्यन्तेन। यथा ज्ञानादिकल्याण गुणानन्यनिर्देशादपरिमितकल्याणगुणविशिष्टं परं ब्रह्मेत्यवगम्यते। एवम् 'आदित्यवर्णं पुरुष' मित्यादिनिर्देशात् स्वाभिमतस्वानुरूपकल्याणतमरूपः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो नारायण इति ज्ञायते। तथा "अस्येशाना" "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" "सदा पश्यन्ति सूरयः" "तमसः परस्तात्" "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" इत्यादिना पत्नीपरिजनस्थानादीनां निर्देशादेव तथैव सन्तीत्यवगम्यते। यथाऽऽह भाष्यकारः—यथाभूतवादि हि शास्त्रमिति, एतदुक्तं

भवति–यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति निर्देशात्परमात्मस्वरूपं समस्तहेयप्रत्यनीकानवधिकानन्दैकतानतयाऽपरिच्छेद्यतया च सकलेतरविलक्षणम् यथा 'यस्सर्वज्ञः सर्ववित्, "परऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'त्यादिनिर्द्देशान्निरतिशयासंख्येयाश्च गुणाः सकलेतरविलक्षणाः, तथा 'आदित्यवर्ण'मित्यादिनिर्देशात् रूपपरिजनस्थानादयश्च सकलेतरविलक्षणाः स्वासाधारणाः अनिर्देश्यस्वरूपस्वभावाः–इति ।

वाक्यकार ने भी इस प्रसंग में निर्णय देते हुये यही कहा—कि"हिरण्मयः पुरुषो दृश्यत इति प्राज्ञः सर्वान्तरः स्याल्लोककामेशोपदेशात् तथोदयात् पाप्मनाम्" इत्यादि । अर्थात् अन्तरादित्यविद्या में कहा गया है कि सूर्यमण्डल में स्वर्ण समान विग्रह वाले पुरुष दिखाई देते हैं। वह पुरुष सबके अन्दर अन्तर्यामी के रूप में विराजमान सर्वज्ञ परमात्मा ही है दूसरा कोई नहीं है क्योंकि वह पुरुषलोक एवं फलों का ईश्वर तथा पापों से रहित बताये गये हैं। परमात्मा ही ऐसे होते हैं। इसलिये उस पुरुष को परमात्मा ही मानना चाहिये। परमात्मा का अप्राकृत दिव्यरूप है। उसी का ही वर्णन इस विद्या में है। शरीर धारी होने मात्र से इस पुरुष को जीव मानना उचित नहीं है जीव में उपर्युक्त गुण धर्म घट नहीं सकते हैं। परमात्मा का भी रूप होता है। यह पुरुष परमात्मा ही है। वाक्यकार ने आगे यह भी कहा है कि परमात्मा का वह रूप प्राकृत एवं अनित्य नहीं है किन्तु अप्राकृत एवं नित्य है उन्होंने "स्याद्रूपं कृतकमनुग्रहार्थं तच्चेतनसामैश्वर्यात्" ऐसा पूर्वपक्ष करके "रूपं वाऽतीन्द्रियमन्तःकरण प्रत्यक्ष तन्निर्देशात्" इस वाक्य से सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पूर्वपक्ष का भाव यह है कि उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये ईश्वर स्वतन्त्र शक्ति से अनित्य शरीर को अपनाते होंगे यह शरीर भी वैसा ही होगा। इस प्रकार पूर्वपक्ष करके उन्होंने यह कहा कि परमात्मा का विग्रह प्राकृत एवं अनित्य नहीं है, वह अप्राकृत दिव्य एवं नित्य है वह अतीन्द्रिय है विशुद्ध अन्तःकरण से ही वह प्रत्यक्ष होता है। ऐसा परमात्मा का विग्रह है यह अर्थ शास्त्र में वर्णित है। भाव यह है कि जिस प्रकार ज्ञान इत्यादि गुण श्रीभगवान का स्वरूप निरूपक धर्म होने से उनका स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार ही यह दिव्यरूप भी श्रीभगवान का स्वरूप निरूपक है, अतएव उनका स्वभाविक है। वाक्यकार के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए द्रमिडभाष्यकार ने कहा कि जगत्कारण परमात्मा का यह रूप स्वाभाविक है। यह लौकिक चक्षु इन्द्रिय से गृहीत नहीं हो सकता किन्तु विशुद्ध एवं भक्ति ध्यान आदि साधनों से युक्त मन से ही गृहीत हो सकता है। इस विषय में ये वचन प्रमाण हैं कि—"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" "मनसा तु विशुद्धेन" अर्थात् वह रूप वाले ईश्वर चक्षु से गृहीत नहीं होते न वाणी से बतलाये जा सकते हैं किन्तु विशुद्ध मन से ही गृहीत होते हैं। परमात्मा के रूप का वर्णन उपनिषद् में मिलता है। इसलिये परमात्मा को साकार मानना चाहिये। यह तो हो नहीं सकता कि परदेवता परमात्मा रूपरहित हों, शास्त्र उनके रूप का वर्णन करें। ऐसा होने पर शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। जो वस्तु जैसी है वैसे उस वस्तु का प्रतिपादन करना यही शास्त्र का काम है।

तदर्थ ही शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। अन्यान्य प्रकरणों में विद्यमान निर्देश भी यहाँ साक्षी बन जाते हैं। वे निर्देश ये हैं कि—"माहारजन वासः" "वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि। अर्थात् श्रीभगवान का रूप सुन्दर है, वह हरिद्रारञ्जित वस्त्र के समान है। इन प्रकृति के ऊपर रहने वाले सूर्य समान वर्ण वाले महापुरुष को जानते हैं। इन प्रमाण वचनों से श्रीभगवान का दिव्य विग्रह सिद्ध होता है। इन प्रमाणों के अनुसार आदित्य मण्डल स्थित पुरुष को परमात्मा ही मानना चाहिये। आगे द्रमिडभाष्यकार ने कहा कि इस अन्तरादित्य विद्या में पुरुष को जो "हिरण्मय" कहा गया है। उसका अर्थ यही है कि परमात्मा का श्रीविग्रह स्वर्ण के समान उज्ज्वल है। "चन्द्रमुख" कहने का भाव यही है कि मुख चन्द्र की तरह आह्लादकारी है। उसी प्रकार प्रकृत में समझना चाहिये। श्रीभगवान का विग्रह स्वर्ण के समान उज्ज्वल है। यह नहीं समझना चाहिये कि श्रीभगवान का विग्रह स्वर्ण से बना है क्योंकि श्रीभगवान का दिव्यविग्रह उत्पन्न होने वाला पदार्थ नहीं, वह नित्य है। इस प्रकार कहकर द्रमिडभाष्यकार ने श्रीभगवान के विग्रह को नित्य एवं अप्राकृत सिद्ध किया है। जिस प्रकार ज्ञान इत्यादि अनन्त कल्याण गुणों का निर्देश होने से यह मानना पड़ता है कि परब्रह्म अनन्त कल्याण गुणों से युक्त है उसी प्रकार ही "आदित्यवर्णं पुरुषम्" ऐसे निर्देश के अनुसार यह भी मानना पड़ता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीमन्नारायण भगवान अपने अभिमत के अनुरूप मंगलमय दिव्य विग्रह से युक्त हैं। ऐसे ही वेदों में श्रीभगवान की पत्नी परिजन और स्थान इत्यादिकों का वर्णन है। इससे उनकी सत्यता प्रमाणित होती है। वे निर्देश ये हैं कि—"अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी" ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" अर्थात् श्रीविष्णु भगवान की पत्नी इस जगत की ईश्वरी हैं। हे जगत्कारण महापुरुष ? आपकी ह्री और श्री ऐसी दो पत्नी हैं। इससे विदित होता है कि ये श्रीभगवान की पत्नी हैं। "सदा पश्यन्ति सूरयः" अर्थात् सूरि लोग सदा परमपद का दर्शन करते हैं। इस वचन से विदित होता है कि नित्य सूरिगण श्रीभगवान के परिजन हैं। "तमस परस्तात्" "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" अर्थात् श्रीभगवान प्रकृति के ऊपर निवास करते हैं। उन वचनों से विदित होता है कि श्रीभगवान का दिव्यस्थान है। द्रमिडभाष्यकार ने कहा है कि जो पदार्थ जैसा है वैसा उसका वर्णन करना यही शास्त्र का कार्य है। शास्त्र मिथ्या वस्तु का वर्णन नहीं कर सकता वैसा होने पर शास्त्र अप्रमाण हो जायगा। शास्त्र परम-प्रमाण है। इसलिये मानना चाहिये कि शास्त्र सत्य बातों का ही वर्णन करता है। शास्त्र बताता है कि श्रीभगवान की पत्नी परिजन और स्थान इत्यादि हैं उन्हें सत्य ही मानना चाहिये। भाव यह है कि उपनिषत् वर्णन करती है कि "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्म" अर्थात् सत्य अर्थात् निर्विकार ज्ञान अर्थात् स्वयं प्रकाश एवं अनन्त अपरिछेद्य ब्रह्म है ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। ऐसा वर्णन होने से यह मानना पड़ता है कि परमात्मस्वरूप समस्त दोषों से रहित है, अपार आनन्दस्वरूप है तथा अपरिच्छेद्य है। इस दृष्टि से वह सकल इतर पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण है। उपनिषद् यह भी वर्णन करती है कि—"यः सर्वज्ञ सर्ववित्" "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाच" "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिद विभाति" अर्थात् परमात्मा सामान्य एवं विशेषरूप से सबको जानते हैं। श्रीभगवान की पराशक्ति—जो नाना प्रकार

की है—सुनने में आती है तथा उनकी स्वाभाविक ज्ञान बलक्रिया भी सुनने में आती है। उस प्रकाशमान परमात्मा का अनुसरण करके सब प्रकाशित होते हैं उनके प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। इन वर्णनों के अनुसार यह मानना पड़ता है कि श्रीभगवान में ऐसे अत्युत्कृष्ट असंख्य कल्याणगुण हैं जो अन्यत्र विद्यमान गुणों से अत्यन्त विलक्षण हैं। वेद प्रतिपादित होने से परमात्मास्वरूप और उनके कल्याणगुणों को जिस प्रकार सत्य मानना पड़ता है उसी प्रकार ही "आदित्यवर्णम्" इत्यादि वेदवाक्यों से प्रतिपादित होने के कारण श्रीभगवान के रूप परिजन और स्थान इत्यादि को सत्य मानना चाहिये। तथा यह भी मानना चाहिये कि ये पदार्थ अत्यन्त विलक्षण हैं श्रीभगवान के असाधारण हैं। इनका स्वरूप और स्वभाव वर्णनातीत है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने श्रीभगवान के दिव्यस्थान परिजन और पत्नी इत्यादि विशेषार्थों को सिद्ध किया है।

शब्दगतबोधकत्वशक्तेः स्वाभाविकत्वम्

शब्दगत बोधकत्व शक्ति की स्वाभाविकता

वेदाः प्रमाणं चेद्विध्यर्थवादमन्त्रगतं सर्वमपूर्वमविरुद्धमर्थजातं यथाऽवस्थितमेव बोधयन्ति, प्रामाण्यं च वेदनात् 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्युक्तम्, यथाऽग्निजलादीनामौष्ण्यादिशक्तियोगः स्वाभाविकः। यथा च चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां बुद्धिविशेषजननशक्तिः स्वाभाविकी, तथा शब्दस्यापि बोधनशक्तिः स्वाभाविकी। न च हस्तचेष्टादिवत्संकेतमूलं शब्दस्य बोधकत्वमिति वक्तुं युक्तम्, अनाद्यनुसन्धानाविच्छेदेऽपि संकेतयितृपुरुषाज्ञानात्। यानि संकेतमूलानि तानि सर्वाणि साक्षाद्वा परम्परया वा ज्ञायन्ते। न च देवदत्तादिशब्दवत्कल्पयितुं युक्तम्, तेषु च साक्षाद्वा परम्परया वा संकेतो ज्ञायते, गवादिशब्दानां त्वनाद्यनुसंधानाविच्छेदेऽपि संकेताज्ञानादेव बोधकत्वशक्तिः स्वाभाविकी। अतोऽग्न्यादीनां दाहकत्वादिशक्तिवदिन्द्रियाणां बोधकत्वशक्तिवच्च शब्दस्यापि बोधकत्वशक्तिराश्रयणीया। ननु च इन्द्रियवच्छब्दस्यापि बोधकत्वं स्वाभाविकं चेत्, सम्बन्धग्रहणं बोधकत्वाय किमित्यपेक्षते लिङ्गवदित्युच्यते, यथा ज्ञातसम्बन्धनियमं धूमादि अग्न्यादिविज्ञानजनकम्, तथा ज्ञातसम्बन्धनियमः शब्दोऽप्यर्थविशेषबुद्धिजनकः। एवं तर्हि शब्दोऽप्यर्थविशेषस्य लिङ्गमित्यनुमानमेव स्यात्, नैवम्, शब्दार्थयोः सम्बन्धो बोध्यबोधकभाव एव, धूमादीनां तु सम्बन्धान्तरमिति तस्य सम्बन्धस्य ज्ञानद्वारेण बुद्धिजनकत्वमिति विशेषः। एवं गृहीतसम्बन्धस्य बोधकत्वदर्शनादनाद्यनुसन्धानाविच्छेदेऽपि संकेताज्ञानात् बोधकत्वशक्तिरेवेति निश्चीयते।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने इसके समर्थन में यह कहा है कि वेद परमप्रमाण है। उनको परमप्रमाण मानने वालों को यह मानना होगा कि वेद विधि अर्थवाद और मन्त्रों से जिन अपूर्व अर्थों का प्रतिपादन करते हैं, यदि वे अर्थ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध न रखते तो मानना होगा कि वे अर्थ सत्य हैं, वेद सत्य अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन करने पर ही वेदों की सार्थकता है। वेद यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने वाले अर्थों का प्रतिपादन करते तो वेदों को अनुवादकत्व दोष होगा। लोग कह सकते हैं कि वेदों की क्या आवश्यकता है, हम प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही उन अर्थों को जान सकते हैं यदि वेद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने वाले अर्थों का प्रतिपादन करते जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से न सिद्ध किये जा सकते तथा नहीं काटे जा सकते तो वेदों का प्रामाण्य एवं सार्थकत्व बना रहेगा। श्रीजैमिनिमहर्षि ने पूर्वमीमांसा दर्शन में "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इस सूत्र से वेदों के प्रमाण्य को सिद्ध किया है। भाव यह है कि अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध स्वाभाविक है। जिस अग्नि और जल आदियों को उष्णता और शीतता इत्यादि शक्तियों के साथ संबन्ध स्वाभाविक है जिस प्रकार चक्षु आदियों की वह शक्ति—जिस से वे प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं—स्वाभाविक है वैसे ही शब्दों में विद्यमान अर्थ प्रतिपादन शक्ति भी स्वाभाविक है। यहाँ पर कोई कोई यह शंका करते हैं कि हस्त से होने वाली विलक्षण चेष्टायें किसी किसी अर्थ का ज्ञान कराती हैं। इतने से उनकी अर्थबोधनशक्ति स्वाभाविक नहीं मानी जा सकती है क्योंकि वे चेष्टायें संकेत के अनुसार उन अर्थों को बतलाती हैं। उनकी अर्थबोधकत्व शक्ति संकेताधीन है स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार शब्द को भी संकेतानुसार बोधक क्यों न माना जाय। इनकी अर्थबोधकत्व शक्ति को स्वाभाविक क्यों मानना चाहिये। यह शंका है। इसका समाधान यह है कि जहाँ संकेत के अनुसार बोधकत्व होता है। वहाँ सबको यह विदित रहता है कि अमुक पुरुष ने यह संकेत किया है। यह बात साक्षात् या परम्परा से किसी न किसी प्रकार से विदित रहती है। यदि शब्द संकेत के अनुसार बोधक होता तो यहाँ पर भी संकेत करने वाले पुरुष का ज्ञान होना चाहिये वह तो है नहीं। यदि कहा जाय संकेत करने वाला मनुष्य विस्मृत हो गया है यह नहीं हो सकता क्योंकि अनादि काल से शब्दों का प्रयोग होता रहता है लोग अर्थ समझते रहते हैं इस प्रकार जब अनादि काल से अनुसंधान बना रहता है तब संकेत करने वाले पुरुष के विषय में ज्ञान भी होना चाहिये। किसी काव्य को पढ़ते समय काव्यकर्ता कवि का ज्ञान पढ़ने वालों को है, काव्य पढ़ने वाले लोग कवि को नहीं भूल सकते। इसी प्रकार ही प्रकृत में माना चाहिये यदि किसी ने शब्दों को उन अर्थों में संकेतित किया हो तो उनके विषय में ज्ञान उनको होना चाहिये जो शब्द बोलते हैं तथा सुनते हैं। ऐसा ज्ञान किसी को भी है नहीं। इससे मानना पड़ता है कि शब्द संकेत के अनुसार बोध नहीं कराता है, किन्तु उसकी बोधकत्व-शक्ति स्वाभाविक है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि पिता पुत्रों को देवदत्त इत्यादि नाम रखते समय यह संकेत करा देते हैं कि यह शब्द इस पुत्र का वाचक है उस संकेत के अनुसार वह शब्द उस व्यक्ति का बोधक हो जाता है। ऐसे ही सभी शब्द संकेत के अनुसार ही बोधक क्यों न माने जांय ? यह प्रश्न है।

ऐसे प्रश्न का उत्तर दिया जा चुका है। वह उत्तर यह है कि जहाँ शब्द के संकेत अनुसार बोधक होता है वहाँ संकेत विदित रहता है। मनुष्य स्वयं या दूसरों के द्वारा यह जानते ही हैं कि अमुक ने इसका यह नाम रखा है। इस प्रकार संकेत को लोग जानते हैं। गौ इत्यादि शब्दों के विषय में तो अनादिकाल से अनुसंधान अविच्छिन्न रूप से बने रहने पर भी लोग संकेत को नहीं जानते हैं। इसलिये ये मानना पड़ता है कि इन शब्दों की बोधकत्व शक्ति संकेताधीन नहीं किन्तु उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थों की दाहकत्वादिशक्ति स्वाभाविक है, इन्द्रियों की बोधकत्व शक्ति स्वाभाविक है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि इन्द्रियों की तरह शब्दों की बोधकत्व शक्ति स्वाभाविक है तो शब्दों को सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। उदाहरण—इन्द्रिय विषयों से सम्बद्ध होने पर ही उन विषयों का ज्ञान कराते हैं। यदि कोई मनुष्य उस संबन्ध को न जाने उसको इन्द्रिय उस विषय का ज्ञान नहीं कराता है, ऐसी बात नहीं किंतु यही देखने में आता है कि मनुष्य चाहे उस संबन्ध को जाने या न जाने, इन्द्रिय ज्ञान कराता ही रहता है इसका कारण यही है कि इन्द्रियों की ज्ञानजनकत्वशक्ति स्वाभाविक है यदि इसी प्रकार शब्द की बोधकत्वशक्ति भी स्वाभाविक है तो वहाँ पर भी जो शब्द और अर्थ का बोध्य बोधक भाव सबन्ध है उनके ज्ञान की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, मनुष्य चाहे शब्दार्थों के बोध्यबोधकभाव संबन्ध को जाने या न जाने, शब्द को बोध कराते रहना चाहिये क्योंकि शब्द की बोधकत्वशक्ति स्वाभाविक है। परन्तु देखने में ऐसा नहीं आता है, देखने में यही आता है कि जो मनुष्य शब्दार्थों के बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध को इस प्रकार जानता है कि यह शब्द अमुक अर्थ का वाचक है यह अर्थ अमुक शब्द का वाच्य है, उस मनुष्य को शब्द अर्थज्ञान कराता है, दूसरे को नहीं। इससे यही विदित होता है कि शब्द के द्वारा अर्थबोध होने में शब्दार्थों के सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है इससे यही निर्णय करना पड़ता है कि शब्द की बोधकत्वशक्ति स्वाभाविक नहीं है। उसे स्वाभाविक कैसे माना जाता है? यह प्रश्न है जिसका उत्तर इस प्रकार है कि—चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रत्यक्ष जनकत्वशक्ति स्वाभाविक है, इसे सभी मानते हैं। ऐसा होने पर भी वहाँ आलोक अर्थात् प्रकाश की आवश्यकता रहती है प्रकाश में रहने वाले पदार्थ के विषय में चक्षु इन्द्रिय ज्ञान करा सकता है, अन्धकार में विद्यमान पदार्थ के विषय में चक्षु इन्द्रिय ज्ञान नहीं कराता है। इससे आलोक-सम्बन्ध की आवश्यकता माननी पड़ती है। इससे चक्षु इन्द्रिय की बोधकत्व शक्ति के स्वाभाविकत्व में बाधा नहीं पड़ती है। इसी प्रकार ही प्रकृत में मानना चाहिये। कि सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता होने पर भी शब्द की बोधकत्वशक्ति स्वाभाविक बनी रहती है। किंच अनुमान स्थल में यह माना जाता है कि हेतु साध्य का ज्ञान कराता है। साध्य ज्ञान का कारण हेतु है अतएव वह हेतु कहलाता है। हेतु की साध्यज्ञापकत्वशक्ति स्वाभाविक होने पर भी वहाँ सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता मानी जाती है। हेतु और साध्य का सम्बन्ध व्याप्यव्यापक भाव है। हेतु साध्य का व्याप्य होता है, साध्य हेतु का व्यापक होता है। जहाँ जहाँ हेतु है वहाँ वहाँ साध्य है। इससे हेतु में व्याप्यत्व और साध्य में व्यापकत्व सिद्ध होता है। यह व्याप्य व्यापक भाव संबन्ध भी हेतु और साध्य में होने वाले कार्यकारण भाव इत्यादि के अनुसार होता है।

हेतु और साध्य में सम्बन्ध नियम ही व्याप्ति है। इस व्याप्ति का ज्ञान होने पर ही हेतु साध्य का ज्ञान करा सकता है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार ही प्रकृत में समझना चाहिये शब्द की बोधकत्व शक्ति स्वाभाविक है, परन्तु संबन्ध ज्ञान की भी आवश्यकता उसी प्रकार होती है जिस प्रकार हेतु में सबन्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है। इससे शब्द की बोधकत्वशक्ति को स्वाभाविक मानने में बाधा नहीं होती है। यहाँ पर दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि शब्द हेतु की तरह संबन्ध ज्ञान की सहायता लेकर बोधक होता है तो शब्द को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव करना चाहिये, शब्द को पृथक प्रमाण क्यों माना जाता है ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि अनुमान प्रमाण में यह माना जाता है कि साध्य और हेतु में ज्ञाप्य ज्ञापक भाव संबन्ध है, साध्य ज्ञाप्य है। हेतु ज्ञापक है। इसे बोध्यबोधक भाव भी कह सकते हैं। यह बोध्यबोधक तभी कार्यकर होता है जब हेतु और साध्य में व्याप्यव्यापक संबन्ध विदित हो जाय। वह व्याप्यव्यापक भाव संबन्ध भी कार्यकारण भाव इत्यादि दूसरे संबन्ध को जानने पर ही विदित होता है। इसलिये अनुमान में यह मानना पड़ता है कि व्याप्यव्यापक भाव संबन्ध को तथा उसका मूल कार्यकारण भाव इत्यादि संबन्ध को जानने पर ही हेतु साध्य का ज्ञान करा सकता है अन्यथा नहीं। शब्द प्रमाण में वैसे अन्य सम्बन्धों की ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है किन्तु बोध्यबोधक भाव संबन्ध को जानने की आवश्यकता है इस लिये बोध्यबोधक भाव से अतिरिक्त व्याप्यव्यापक इत्यादि संबन्ध ज्ञान की सहायता लेकर प्रवृत्त होने वाला अनुमान प्रमाण तथा बोध्य बोधक भाव संबन्ध ज्ञान की ही सहायता लेकर प्रवृत्त होने वाला शब्द प्रमाण भिन्न भिन्न प्रमाण माने जाते हैं। सबन्ध ज्ञान होने पर शब्द बोधक होता है। अनादिकाल से अनुसन्धान बने रहने पर भी यह पता नहीं चलता कि किसने संकेत किया। इससे यही मानना पड़ता है कि किसी ने भी संकेत नहीं किया। शब्द की बोधकत्व शक्ति स्वाभाविक है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने सामान्य रूप से शब्द प्रमाण को सिद्ध किया।

वेदानामपौरुषेयत्वनित्यत्वप्रामाण्यानि

वेदों का अपौरुषेयत्व नित्यत्व एवं प्रामाण्य

एवं बोधकानां पदसंघातानां संसर्गविशेषबोधकत्वेन वाक्यशब्दाभिधेयानामुच्चारणक्रमो यत्र पुरुषबुद्धिपूर्वकः ते पौरुषेयाः शब्दा इत्युच्यन्ते। यत्र तु तदुच्चारणक्रमः पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारपूर्वकः सर्वदाऽपौरुषेयास्ते च वेदा इत्युच्यन्ते। एतदेव वेदानामपौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यमाणत्वम्। ते चानुपूर्वीविशेषेण संस्थिता अक्षरराशयो वेदा ऋग्यजुःसामाथर्वभेदभिन्ना अनन्तशाखा वर्तन्ते। ते च विध्यर्थवादमन्त्ररूपा वेदाःपरब्रह्मभूतनारायण-

स्वरूपं तदाराधनप्रकारम् आराधितात्फलविशेषं च बोधयन्ति, परमपुरुषवत्तत्स्वरूपत-दाराधनतत्फलज्ञापकवेदाख्यशब्दजातं नित्यमेव । वेदानामनन्तत्वाद् दुरवगाहत्वाच्च परमपुरुषनियुक्ताः परमर्षयः कल्पे कल्पे निखिलजगदुपकारार्थं वेदार्थं स्मृत्वा विध्यर्थवाद-मन्त्रमूलानि धर्मशास्त्राणीतिहासपुराणानि च चक्रुः । लौकिकाश्च शब्दा वेदराशेरुद्धृत्यैव तत्तदर्थविशेषनामतया पूर्ववत्प्रयुक्ताः पारम्पर्येण प्रयुज्यन्ते । ननु च वैदिका एव सर्वे वाचकाः शब्दाश्चेच्छन्दस्येवं भाषायामेवमिति लक्षणभेदः कथमुपपद्यते, उच्यते—तेषा-मेव शब्दानां तस्यामेवानुपूर्व्यां वर्तमानानां तथैव प्रयोगः, अन्यत्र प्रयुज्यमानानामन्य-थेति न कश्चिद्दोषः ।

आगे श्रीरामानुजस्वामी जी ने वेदों का अपौरुषेयत्व और प्रामाण्य को सिद्ध करते हुये यह कहा कि स्वार्थबोधक शब्दों का समुदाय वाक्य कहलाता है । वाक्य में अन्तर्गत प्रत्येक पद का अर्थ पहले से ही विदित रहता है । वाक्य उन पदार्थों के आपसी संबन्ध को बताता है, यह संबन्ध पहले विदित नहीं रहता है । यही संबन्ध वाक्यार्थ कहलाता है । पदार्थों के पारस्परिक संबन्ध को बताने वाला पद समूह ही वाक्य है । इन पदों के उच्चारण में क्रम होता है, एक पद का पहले उच्चारण होता है, दूसरे पद का उच्चारण बाद में होता है जिन पदों का उच्चारण क्रम स्वतन्त्र पुरुष की बुद्धि अर्थात् इच्छा के अनुसार होता है वे पद और वाक्य पौरुषेय कहलाते हैं । इन वाक्यों की रचना पुरुष स्वेच्छा से करते हैं । कालिदास आदि कवियों के द्वारा निर्मित ग्रन्थ पौरुषेय कहलाते हैं क्योंकि इन ग्रन्थों में विद्यमान पद और वाक्यों का क्रम उन कवियों की इच्छा के अनुसार बना है वे शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं । जिनका उच्चारण क्रम पुरुष की इच्छा के अनुसार नहीं होता है किंतु पूर्वपूर्व उच्चारण क्रम को समझकर उस अनुभव से होने वाले संस्कार के अनुसार उसी क्रम से ही उच्चारण होता है । उत्तरोत्तर उच्चारण क्रम पूर्वपूर्व उच्चारण क्रम के अनुसार होता है क्रम का परिवर्तन नहीं होता है । ऐसे शब्द अपौरुषेय कहलाते हैं । इनके क्रम का परिवर्तन करने में पुरुषों का अधिकार नहीं है, पूर्वपूर्व क्रम के अनुसार उच्चारण करने का ही अधिकार है । ऐसे अपौरुषेय शब्द वेद ही हैं । सिद्धान्त में वेदों को अपौरुषेय और नित्य माना जाता है उसका कारण यही है कि विद्यार्थी गुरुओं से उन शब्दों के परम्परा प्राप्त उच्चारण क्रम को सीखते हैं आगे उस संस्कार के अनुसार उसी क्रम का स्मरण करके उसी क्रम से ही उच्चारण करते हैं । ऐसे ही सदा से होता आया है । सृष्टि के आरम्भ में श्रीभगवान पहले कल्प में अवस्थित वेदाख्य अक्षर राशि के क्रम को जानकर उसी क्रम से ही ब्रह्मा जी को वेदों का उपदेश देते हैं । विभिन्न कल्पों में वेदों का क्रम नहीं बदलता है किन्तु एकसा ही रहता है । शब्दों में स्वतः दोष नहीं रहता है, वक्ता पुरुष में दोष हो तो शब्द में दोष माना जाता है । पौरुषेय शब्दों में वक्ता के दोष आ जाते हैं । इसलिये यह मानना पड़ता है कि आप्तपुरुष का वाक्य ही प्रमाण है । दुष्ट पुरुषों का वाक्य प्रमाण नहीं है । वेद का कोई आदि वक्ता पुरुष है ही नहीं, वेद अपौरुषेय हैं, वक्ता न होने

के कारण वेद निर्दोष है अतएव वे परमप्रमाण हैं। विलक्षण आनुपूर्वी में अवस्थित अपौरुषेय अक्षर राशि वेद हैं। ये वेद ऋग् यजु साम और अथर्व नाम से चार प्रकार के हैं। इन वेदों की शाखा अनन्त हैं। ये वेद विधि अर्थवाद और मन्त्र के रूप में भी विभक्त हैं। ये अपौरुषेय निर्दोष वेद जिन अर्थों का प्रतिपादन करते हैं वे परम सत्य हैं। वक्तृ दोष होने पर ही शब्द मिथ्यार्थ का प्रतिपादन करता है। वैसे दोष न होने से वेद परमप्रमाण है, वेदार्थ भी परम सत्य है। वेद परब्रह्म नारायण के स्वरूप उनके आराधन का प्रकार एवं आराधित नारायण सेप्राप्त होने वाले फलों का प्रतिपादन करता है। जिस प्रकार परब्रह्म परमपुरुष श्रीमन्नारायण नित्य हैं वैसे ही उनका स्वरूप उसका आराधन और उससे मिलने वाले फल इत्यादि अर्थों को बतलाने वाले वेदाख्य शब्द समूह भी नित्य ही हैं। वेद अनन्त है एवं दुरवगाह हैं वेदों के अर्थ सरलता से समझ में नहीं आते हैं। इसलिये वेदार्थों को विशद रूप से बतलाने वाले ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। तदर्थ श्रीभगवान के द्वारा प्रेरणा पाकर महर्षियों ने प्रतिकल्प में संपूर्ण जगत के कल्याणार्थ वेदार्थ का स्मरण करके वेदार्थों को व्यक्त करने वाले उपबृंहण ग्रन्थों का निर्माण किया। वेद के विधि भाग के अर्थों का स्मरण करके धर्म शास्त्रों का निर्माण किया तथा अर्थवाद एवं मन्त्र भाग के अर्थों का स्मरण करके इतिहास और पुराणों का निर्माण किया है। लोक में प्रयुक्त होने वाले ये लौकिक संस्कृत शब्द वैदिक शब्दों से भिन्न नहीं हैं। वैदिक शब्दों को वेद से निकाल कर उन उन अर्थ विशेषों के वाचक नाम के रूप में लोक में नियत किया गया है। यह भी पूर्व पद्धति के अनुसार किया गया है। इस प्रकार परम्परा से वैदिक शब्द ही लोक में उन उन अर्थों के वाचक रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। इन लौकिक शब्दों का मूल स्वरूप वैदिक ही है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि लौकिक शब्द और वैदिक शब्द एक हैं तो व्याकरण शास्त्र के सूत्रों से यह भेद क्यों बताया जाता है कि संस्कृत भाषा में शब्दों का रूप ऐसा होता है, वेद में शब्दों का रूप वैसा होता है इत्यादि। इससे तो यही विदित होता है कि संस्कृत भाषा शब्द और वैदिक शब्द भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में इन शब्दों को एक कैसे माना जाय ? यह प्रश्न है। इसका उत्तर यह है कि लौकिक एव वैदिक शब्द एक ही हैं तो भी भाषा एवं वेद में उनकी आनुपूर्वी में स्वल्प भेद होता है, उसको बतलाने के लिये व्याकरण में कहा गया है कि इस शब्द का भाषा में ऐसा रूप होता है वेद में कैसा रूप होता है इत्यादि। इतने से उन शब्दों में भेद नहीं होता है। इस प्रकार श्रीरामानुजस्वामी जी ने लौकिक एवं वैदिक शब्दों की एकता वेद का अपौरुषेयत्व और प्रामाण्य को सिद्ध करके यह बतलाया है वेद प्रतिपादित ईश्वर उनका आराधन और उनसे होने वाले फल इत्यादिकों को वैसे सत्य मानना ही वैदिकता है उनमें हेर फेर करना या तोड़ मरोड़ करना उचित नहीं।

वेदार्थसंग्रहवर्णितसिद्धवस्तूपसंहारः

इस ग्रन्थ में वर्णित सिद्धवस्तु संबन्धी विचारों का उपसंहार

एवमितिहासपुराणधर्मशास्त्रोपबृंहितसाङ्गवेदवेद्यः परब्रह्मभूतो नारायणो निखिल-

हेयप्रत्यनीकः सकलेतरविलक्षणोऽपरिच्छिन्नज्ञानानन्दैकस्वरूपः स्वाभाविकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाकरः स्वसंकल्पानुविधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदचिदचिद्वस्तुजातोऽपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावानन्तमहाविभूतिर्नानाविधानन्तचेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चलीलोपकरण इति प्रतिपादितम्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ऐतदात्म्यमिदम् सर्वं' 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'एनमेके वदन्त्यग्निं मरुतोऽन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। "ज्योतींषि शुक्लानि च यानि लोके त्रयो लोका लोकपालास्त्रयो च। त्रयोऽग्नयश्चाहुतयश्च पञ्च सर्वे देवा देवकीपुत्र एव" "त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः परन्तपः ऋतधामा वसुः पूर्वो वसूनां त्वं प्रजापतिः "जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्। अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः। "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च। नद्यस्समुद्राश्च स एव सर्वं यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य! इत्यादिसामानाधिकरण्यप्रयोगेषु सर्वैः शब्दैः सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवाभिधीयत इति चोक्तम्। सत्यसङ्कल्पं परं ब्रह्म स्वयमेव बहुप्रकारं स्यामिति सङ्कल्प्याचित्समष्टिरूपमहाभूतसूक्ष्मवस्तु भोक्तृवर्गसमूहं च स्वस्मिन् प्रलीनं स्वयमेव विभज्य तस्माद्भूतसूक्ष्माद्वस्तुनो महाभूतानि सृष्ट्वा तेषु च भोक्तृवर्गमात्मतया प्रवेश्य तैश्चिदधिष्ठितैर्महाभूतैरन्योन्यसंसृष्टैः कृत्स्नं जगद्विधाय स्वयमपि सर्वस्यात्मतया प्रविश्य परमात्मत्वेनावस्थितं सर्वशरीरं बहुप्रकारमवतिष्ठते। यदिदं महाभूतसूक्ष्मं वस्तु तदेव प्रकृतिशब्देनाभिधीयते, भोक्तृवर्गसमूह एव पुरुषशब्देन चोच्यते, तौ च प्रकृतिपुरुषौ परमात्मशरीरतया परमात्मप्रकारभूतौ, तत्प्रकारः परमात्मैव प्रकृतिपुरुषशब्दाभिधेयः। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवदिति पूर्वोक्तं सर्वमनयव श्रुत्या व्यक्तम्।

अनन्तर श्रीरामानुजस्वामी जी सबको अनायास समझने के लिये इस वेदार्थसंग्रह में वर्णित अर्थों का संग्रह करते हुये उपसहार करते हैं। वह इस प्रकार है कि इतिहास पुराण और धर्मशास्त्र वेदार्थों को विशद बतलाने के लिये प्रवृत्त हैं। इनकी सहायता लेकर यदि वेदार्थ समझने का प्रयत्न किया जाय तभी वह प्रयत्न सफल होगा। इतिहास पुराण और धर्मशास्त्रों की सहायता लेकर विशदरूप से अर्थों को बतलाने वाले सांगवेद प्रधानरूप से परतत्त्व परब्रह्म श्रीमन्नारायण का प्रतिपादन करने के लिये ही प्रवृत्त हैं। वेदवेद्य प्रधानार्थ परब्रह्म श्रीमन्नारायण ही हैं। वेदों ने परब्रह्म श्रीमन्नारायण भगवान को इस प्रकार बतलाया कि वे सवदोषों से रहित हैं तथा दोषों को नष्ट करने वाले हैं। श्रीभगवान को छोड़कर जितने पदार्थ जगत में हैं,

उन सबसे श्रीभगवान सब तरह से अत्यन्त विलक्षण हैं। अपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द ही उनका स्वरूप है। उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचे हुये स्वाभाविक असंख्य कल्याणगुणों के वे निधि हैं संपूर्ण चेतनाचेतन पदार्थों के स्वरूप स्थिति और प्रवृत्ति एवं इनमें होने वाले भेदों को वे अपने संकल्प के आधीन में रखे रहते हैं। वे उस त्रिपाद्विभूति महाविभूति के स्वामी हैं जिसका स्वरूप और स्वभाव अपरिच्छेद्य है। वे लीला विभूति में विद्यमान अनन्त चेतनाचेतन पदार्थों को अपनी लीला का उपकरण बनाये रखे हैं। श्रीभगवान को छोड़कर इस प्रकार का कोई पदार्थ जगत में नहीं, अतएव वे सर्वविलक्षण कहे जाते हैं। इस प्रकार सर्वविलक्षण होते हुये भी श्रीभगवान शरीर के रूप में सर्व पदार्थों को धारण करते हुये विश्वरूप में अवस्थित हैं क्योंकि वे विश्व की आत्मा हैं विश्व उनका शरीर है। अभेद वाक्य विश्वरूप में अवस्थित श्रीभगवान का वर्णन करते हैं। वे वाक्य ये हैं—

(१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है।

(२) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है।

(३) "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" अर्थात हे श्वेतकेतो ? तू वह ब्रह्म ही हो।

(४) "एतमेके वदन्त्यग्नि मरुतोऽन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥"

अर्थात् कई वेद भाग इस परमात्मा को अग्नि कहते हैं, कई मरुत कहते हैं, दूसरे वेद भाग प्रजापति कहते हैं, कई वेद भाग इन्द्र कहते हैं अन्य वेद भाग प्राण कहते हैं। उपनिषद्भाग शाश्वत ब्रह्म कहते हैं।

(५) ज्योतींषि शुक्लानि च यानि लोके त्रयो लोका लोकपालास्त्रयी च।
त्रयोऽग्नयश्चाहुतयश्च पञ्च सर्वे देवा देवकीपुत्र एव॥

अर्थात् इस लोक में जो तीन ज्योति हैं, वे तीन लोक लोकपाल तीन वेद तीन अग्नि पांच आहुति सभी देव ये सब देवकी पुत्र श्रीभगवान ही हैं।

(६) "त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परन्तप।
ऋतधामा वसुः पूर्वो वसूनां त्वं प्रजापतिः॥
जगत्सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम्।
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः॥"

अर्थात् शत्रुओं को संताप देने वाले आप ही यज्ञ हो, वषट्कार हो तथा ओंकार हो, प्रजाओं के पति एवं वसुओं में पूर्व ऋतधामानामक वसु आप ही हो। सभी जगत आपका शरीर है, भूतल स्थित स्थिरता आपकी ही है। अग्नि आपका कोप एवं श्रीवत्स के समान चिन्ह वाले चन्द्र आपका प्रसाद है।

(७) ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥

अर्थात् ज्योति विष्णु है, भुवन विष्णु है, वन विष्णु है, पर्वत और दिशायें विष्णु हैं, नदी और समुद्र विष्णु हैं, निर्विकार सदा रहने वाले चेतन तथा सविकार सदा परिवर्तित होने वाले अचेतन पदार्थ ये सब विष्णु ही हैं। इस प्रकार के अभेद निर्देशों से युक्त प्रयोगों में सभी शब्दों से वह परब्रह्म ही प्रतिपादित होता है जो सर्वशरीर वाला होने से सब प्रकारों में अवस्थित रहता है। विश्वरूप धारी श्रीभगवान ही अभेद निर्देशों का प्रतिपाद्य है, यह अर्थ पहले ही कहा जा चुका है। प्रलयकाल में यह जड़प्रपञ्च नाम रूप विभाग को त्याग कर मूल कारण सूक्ष्म प्रकृति बनकर परमात्मा में लीन हो जाता है तथा भोक्ता चेतनों का समूह भी परमात्मा में लीन हो जाता है, लीन होने पर इनका अलग पता नहीं चलता है। सृष्टिकाल उपस्थित होते ही वह सत्य संकल्प वाले परमात्मा अपने में लीन हुये इन चेतनाचेतन पदार्थों को विभक्त करके मूल कारण सूक्ष्म प्रकृति से पंचमहाभूतों की सृष्टि करके उनमें भोक्ता चेतनों को आत्मा के रूप में प्रविष्ट करा करके जीवात्माओं के द्वारा अधिष्ठित महाभूतों को परस्पर में मिश्रित करके संपूर्ण जगत का निर्माण करते हैं, तथा स्वयं इन चेतनाचेतन पदार्थों में अन्तरात्मा के रूप में प्रविष्ट होकर विश्वरूपी हो जाते हैं। विश्व इनका शरीर है, ये विश्व की आत्मा हैं, इनकी कोई आत्मा नहीं अतएव ये परमात्मा कहलाते हैं। इस प्रकार सभी पदार्थों को शरीर बनाकर धारण करते हुये परमात्मा नाना प्रकार से अवस्थित रहते हैं। यह जो महाभूतों का कारण बनने वाली सूक्ष्म वस्तु है, वह प्रकृति कहलाती है। भोक्ता जीवों का समूह पुरुष कहलाता है। प्रकृति और पुरुष ये दोनों परमात्मा के शरीर हैं अतएव परमात्मा के विशेषण हैं, प्रकृति पुरुष रूपी विशेषणों से युक्त परमात्मा उन शब्दों के वाच्य होते हैं जो प्रकृति पुरुषों के वाचक हैं। यह अर्थ निम्नलिखित श्रुति वाक्य से स्पष्ट है।

"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्"।

अर्थात् उस आनन्दमय परमात्मा ने यह संकल्प किया कि मैं देव और मनुष्य आदि के रूप से बन जाऊँ तदर्थ आकाश आदि के रूप में उत्पन्न होऊँ। वह परमात्मा इस जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च की सृष्टि करके इसमें प्रविष्ट हुआ इसमें प्रवेश करके वह परब्रह्म सत् एवं त्यत् बना, निर्विकार तथा सदा एक रूप से रहने के कारण चेतन सत् कहलाता है। विकारों का स्थान अचेतन पदार्थ त्यत् कहलाता है। जाति गुण और क्रिया का आश्रय होने के कारण अचेतन पदार्थ जाति गुण और क्रिया का वाचक शब्दों से अभिहित होता है, इसलिये अचेतन निरुक्त कहलाता है। चेतन पदार्थ स्वतः जाति और गुण आदि से रहित है अतः जाति गुणादि वाचक शब्दों से अभिहित होता नहीं इसलिये चेतन पदार्थ अनिरुक्त कहलाता है। अचेतन पदार्थों का आधार होने से चेतन पदार्थ निलयन कहलाता है। आश्रित अचेतन पदार्थ अनिलयन

कहलाता है। निर्विकार होने से चेतन सत्य कहलाता है। सविकार होने से जड़ पदार्थ अनृत कहलाता है। इस चेतनाचेतन प्रपञ्च में अन्तर्यामी के रूप में प्रविष्ट होकर परब्रह्म इन चेतन वाचक शब्दों से अभिहित होता है, अतएव वह परब्रह्म इस प्रकार कहा जाता है कि वह चेतनाचेतन रूप बन गया है, इस प्रकार चेतनाचेतन रूप बनने पर भी इन चेतनाचेतनों से स्वरूपैक्य न होने से वह परब्रह्म सत्य अर्थात् निर्विकार ही बना रहता है। इन श्रुति वचनों से उपर्युक्त सभी अर्थ व्यक्त होते हैं।

ब्रह्मप्राप्त्युपायस्य संग्रहेणोपसंहारः

ब्रह्म प्राप्त्युपाय का संग्रह से उपसंहार

ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानपूर्वकस्वकर्मानुगृहीतभक्तिनिष्ठासाध्यानवधिकातिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपपरभक्तिरेवेत्युक्तम्। भक्तिशब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते, प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव। ननु च सुखं प्रीतिरित्यनर्थान्तरम्, सुखं च ज्ञानविशेषसाध्यं पदार्थान्तरमिति हि लौकिकाः, नैवम्—येन ज्ञानविशेषेण तत्साध्यमित्युच्यते स एव ज्ञानविशेषः सुखम्। एतदुक्तं भवति—विषयज्ञानानि सुखदुःखमध्यस्थसाधारणानि, तानि च विषयाधीनविशेषाणि तथा भवन्ति, येन विषयविशेषेण विशेषितं ज्ञानं सुखस्य जनकमित्यभिमतं तद्विषयं ज्ञानमेव सुखं तदतिरेकि पदार्थान्तरं नोपलभ्यते तेनैव सुखित्वव्यवहारोपपत्तेश्च। एवंविधसुखरूपज्ञानस्य विशेषकत्वं ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सातिशयमस्थिरं च, ब्रह्मणस्त्वनवधिकातिशयं स्थिरं चेति आनन्दो ब्रह्मेत्युच्यते। विषयायत्तत्वात् ज्ञानस्य सुखरूपताया ब्रह्मैव सुखम्, तदिदमाह 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति, ब्रह्मैव सुख'मिति ब्रह्म लब्ध्वा सुखी भवतीत्यर्थः परमपुरुषः स्वेनैव स्वयमनवधिकातिशयसुखस्सन् परस्यापि सुखं भवति सुखरूपत्वाविशेषात्, ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयः स सुखी भवतीत्यर्थः तदेव परस्य ब्रह्मणोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाकरस्य निरवद्यस्यानन्तमहाविभूतेरनवधिकातिशयसौशील्यसौन्दर्यवात्सल्यजलधेः सर्वशेषित्वादात्मनः शेषत्वप्रतिसम्बन्धितयाऽनुसन्धीयमानमनवधिकातिशयप्रीतिविषयं सत् परं ब्रह्मैवेनमात्मसात्(?) प्रापयतीति।

इस प्रकार सिद्धवस्तु परब्रह्म के विषय में वक्तव्य का संग्रह करके श्रीरामानुजस्वामी जी उपाय के विषय में वक्तव्य का संग्रह करते हुये बतलाते हैं कि परब्रह्म को प्राप्त करने का उपाय भक्ति ही है। तदर्थ पहले शास्त्रों से तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना चाहिये बाद उस तत्त्वज्ञान के साथ स्वकर्मों का अर्थात् वर्णाश्रम धर्मों

अनुष्ठान करना चाहिये। वर्णाश्रम धर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होकर भक्तियोग का अभ्यास करते-करते श्रीभगवान में ऐसा प्रेम उत्पन्न होता है जो अत्यन्त प्रिय लगता है तथा अत्यन्त विशद बनकर प्रत्यक्ष के समान बन जाता है। इस प्रकार का प्रेम मिश्रित ध्यान ही परभक्ति है, यही भगवत्प्राप्ति की पूर्वास्था है। यह पराभक्ति ही भगवत्प्राप्ति का साधन है। भक्ति शब्द प्रीति विशेष का वाचक है। भृत्य का स्वामी के विषय में जो अनुराग होता है वह प्रीति विशेष ही भक्ति कहलाता है। यह प्रीति भी एक ज्ञानविशेष ही है। इस भक्तिरूपी ज्ञान को लेकर ही शास्त्रों में कहा गया है कि ज्ञान मोक्ष का साधन है। यहाँ पर यह शंका होती है कि प्रीति को ज्ञान मानना उचित नहीं। सुख और प्रीति लोक में एक ही पदार्थ माने जाते हैं। लौकिक वैशेषिक दार्शनिक इत्यादि पुरुष यह मानते हैं कि सुख ज्ञान विशेष से उत्पन्न होने वाला एक पदार्थ है। जो ज्ञान किसी विषय को अनुकूल रूप में ग्रहण करना है उस ज्ञान विशेष से सुख उत्पन्न होता है, वह ज्ञान कारण है उस ज्ञान का कार्य सुख है। उनके मतानुसार ज्ञान और सुख भिन्न २ पदार्थ होते हैं। सुख और प्रीति एक ही वस्तु है। इससे सिद्ध होता है कि प्रीति ज्ञान से भिन्न है, उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है। यह शंका है। इसका समाधान यह है कि विषयों का ग्रहण करने वाले ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं। (१) कई ज्ञान ऐसे विषयों का ग्रहण करते हैं जो अनुकूल होने से सुख कहे जाते हैं। (२) कई ज्ञान ऐसे विषयों का ग्रहण करते हैं जो प्रतिकूल होने से दुःख कहलाते हैं। (३) कई ज्ञान ऐसे विषयों का ग्रहण करते हैं जो अनुकूल नहीं, तथा प्रतिकूल भी नहीं है, किन्तु मध्यस्थ हैं। इस प्रकार ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं। ज्ञानों में होने वाली विशेषतायें विषयों के आधीन हैं। अतएव अनुकूल विषयों का ग्रहण करने वाले ज्ञान सुख कहलाते हैं, प्रतिकूल विषयों का ग्रहण करने वाले ज्ञान दुःख कहे जाते हैं। मध्यस्थ विषयों का ग्रहण करने वाले ज्ञान मध्यस्थ कहलाते हैं। वैशेषिक दार्शनिक इस प्रकार के ज्ञानों से सुख और दुःख की उत्पत्ति मानते हैं। सब तरह के ज्ञानों से नहीं। यदि सब तरह के ज्ञानों से सुख उत्पन्न होता तो काष्ठ और लोष्ठ आदि के ज्ञान से भी सुख उत्पन्न होना चाहिए। उस ज्ञान से सुख उत्पन्न होता नहीं किन्तु अनुकूल प्रतीत होने वाली माला और चन्दन आदि के ज्ञान से ही सुख उत्पन्न होता है, वैसे प्रतिकूल प्रतीत होने वाले सर्प आदि के ज्ञान से ही दुःख उत्पन्न होता है ऐसा वैशेषिकों को कहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में हम विशिष्टाद्वैती यही निर्णय करते हैं कि वैशेषिक लोग अनुकूल विषयों का ग्रहण करने वाले जिन ज्ञानों से सुख की उत्पत्ति मानते हैं, वे ज्ञान ही सुख हैं, दूसरा कोई सुख नाम धारी पदाथ उत्पन्न होता नहीं दीखता है। उस ज्ञान को लेकर सुखी ऐसा व्यवहार भी संपन्न हो जाता है इस व्यवहार को सम्हालने के लिये ज्ञान व्यतिरिक्त सुख की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि अनुकूल विषयों का ग्रहण करने वाला ज्ञान ही सुख है, सुख ज्ञान से भिन्न नहीं है, सुख और प्रीति एक होने से प्रीति भी ज्ञान विशेष ही है। ज्ञान सुखरूप होने का कारण यही है कि वह अनुकूल विषयों को ग्रहण करता है। ब्रह्म व्यतिरिक्त पदार्थों में रहने वाली अनुकूलता सीमित एवं अस्थिर है, ब्रह्म में रहने वाली अनुकूलता निःसीम एवं स्थिर है। अतएव श्रुति ने कहा कि "आनन्दो ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। ज्ञान की

सुखरूपता विषयाधीन है। इसलिये अनुकूल प्रतीत होने वाला ब्रह्म सुख एवं आनन्द कहा गया है। यह अर्थ निम्नलिखित श्रुति वचन से स्पष्ट हो जाता है।

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"

अर्थात् ब्रह्म ही रस स्वरूप है एवं सुखस्वरूप है। अतएव ब्रह्म को प्राप्त करके साधक सुखी हो जाता है। लौकिक पदार्थों से परब्रह्म में यह विशेषता है कि लौकिक भोग्य पदार्थ जड़ हैं, वे भोक्ताओं के लिये अनुकूल लगते हैं अतएव भोक्ताओं के लिये सुख बन जाते हैं, अपने लिये नहीं क्योंकि वे जड़ होने से अपने लिये अनुकूल लग नहीं सकते। परब्रह्म में यह विशेषता है कि परब्रह्म चेतन है, वह अपने लिये तथा दूसरों के लिये भी अनुकूल लगता है, अनुकूल स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ वह परब्रह्म सदा सुखी बनकर रहता है तथा दूसरे भक्त और मुक्त इत्यादिकों के द्वारा साक्षात्कृत होता हुआ उनके लिये अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होता है तथा उनको अत्यन्त सुखी बना देता है। यह परब्रह्म की विशेषता है। यह परब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ परतत्त्व है, यह उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचे हुये असंख्य कल्याणगुणों का सागर है, निर्दोष है, एवं लीलाविभूति और त्रिपाद विभूति ऐसी बड़ी बड़ी विभूतियों का स्वामी है। इससे उनका परत्व स्पष्ट हो जाता है। सबसे श्रेष्ठ होते हुए वह परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त सुलभ है, वह उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचे हुये सौशील्य सौन्दर्य और वात्सल्य इत्यादि सौलभ्योपयोगी कल्याणगुणों का समुद्र है। वह साथ ही चेतनाचेतनों का स्वामी भी है। इस बात को समझते ही—कि हम श्रीभगवान के दास हैं, श्रीभगवान मेरे स्वामी हैं—साधकों को श्रीभगवान के विषय में अपार प्रीति उत्पन्न होती है। प्रतिदिन बढ़ने वाली उस प्रीति का विषय होते हुये परब्रह्म परमात्मा श्रीमन्नारायण भगवान प्रसन्न होकर साधकों को अपनी प्राप्ति करा देते हैं। यही वेदसिद्धान्त है। जीवात्मा अपने को श्रीभगवान का परतन्त्रदास तथा श्रीभगवान को स्वतन्त्र स्वामी समझकर प्रसन्न होता है। परात्पर श्रीभगवान के साथ अपने अविच्छेद्य सबन्ध को जानकर किसको हर्ष नहीं होगा? इस संबन्ध को जान कर साधक श्रीभगवान से प्रेम करता हुआ सदा उसकी सेवा में लगा रहता है, कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इत्यादि उनकी सेवा ही है। इससे प्रसन्न होकर श्रीभगवान साधक को संसार से छुड़ा करके परमपद ले जाकर अपना अनुभव कराते हुये सर्वदेश सर्वकाल सर्वावस्थोचित सर्वविध कैंकर्य देकर कृतार्थ कर देते हैं। जीवात्मा अपने को परतन्त्रदास समझकर श्रीभगवन्मुखोल्लासार्थ—न कि स्वार्थ के लिये—सर्वविध कैंकर्य करता हुआ सदा प्रसन्न रहता है।

———

भगवत्पारतन्त्र्यदास्ययोःसुखरूपतायाः समर्थनम्

भगवत्पारतन्त्र्य और भगवद्दास्य सुखरूप है, इस अर्थ का प्रतिपादन

ननु चात्यन्तशेषतैवात्मनोऽनवधिकातिशयं सुखमित्युक्तं भवति, तदेतत्सर्वलोकविरुद्धम्, तथा हि सर्वेषामेव चेतनानां स्वातन्त्र्यमेवेष्टतमं दृश्यते पारतन्त्र्यं दुःखतरम्, स्मृतिश्च—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।' तथा च—'सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्' इति तदेतदनधिगतदेहातिरिक्तात्मस्वरूपाणां शरीरात्माभिमानविजृम्भितम् । तथा हि शरीरं मनुष्यत्वादिजातिगुणाश्रयपिण्डभूतं स्वतन्त्रं प्रतीयते, तस्मिन्नेवाहमिति संसारिणां प्रतीतिः । आत्माभिमानो यादृशः तदनुगुणैव पुरुषार्थप्रतीतिः, सिंहव्याघ्रवराहमनुष्ययक्षरक्षः पिशाचदेवदानवस्त्रीपुंसव्यवस्थितात्माभिमानानां सुखानि व्यवस्थितानि तानि च परस्परविरुद्धानि तस्मादात्माभिमानानुगुणपुरुषार्थव्यवस्थया सर्वं समाहितम् । आत्मस्वरूपं तु देवादिदेहविलक्षणं ज्ञानैकाकारं तच्च परशेषतैकस्वरूपम् यथाऽवस्थितात्माभिमाने तदनुगुणैव पुरुषार्थप्रतीतिः 'आत्मा ज्ञानमयोऽमलः' इति स्मृतेर्ज्ञानैकाकारता प्रतिपन्ना 'पतिं विश्वस्य' इत्यादिश्रुतिगणैः परमात्मशेषतैकाकारता च प्रतीता । अतस्सिंहव्याघ्रादिशरीरात्माभिमानवत् स्वातन्त्र्याभिमानोऽपि कर्मकृतविपरीतात्मज्ञानरूपो वेदितव्यः अतः कर्मकृतमेव परमपुरुषव्यतिरिक्तविषयाणां सुखत्वम् । अतएव तेषामल्पत्वमस्थिरत्वं च, परमपुरुषस्यैव स्वत एव सुखत्वम् । अतस्तदेव स्थिरमनवधिकातिशयं च, 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति श्रुतेः, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुनः स्वरूपेण सुखत्वाभावः कर्मकृतत्वेन चास्थिरत्वं भगवता पराशरेणोक्तम्—'नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम ! । वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च । कोपाय च यतः तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः' सुखदुःखाद्येकान्तरूपिणो वस्तुनो वस्तुत्वं कुतः ? तदेकान्तता पुण्यपापकृतेत्यर्थः । एवमनेकपुरुषापेक्षया कस्यचित्सुखमेव कस्यचिद्दुःखं भवतीत्यव्यवस्थां प्रतिपाद्य एकस्मिन्नपि पुरुषे न व्यवस्थितमित्याह—'तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ॥' इति, सुखदुःखात्मकत्वं सर्वस्य वस्तुनः कर्मकृतं न वस्तुस्वरूपकृतम्, अतः कर्मावसाने तदपैतीत्यर्थः । यत्तु 'सर्वं परवशं दुःख'मित्युक्तम्, तत्परमपुरुषव्यतिरिक्तानां परस्परं शेषशेषिभावाभावात् तद्व्यतिरिक्तं प्रति शेषता दुःखमेवेत्युक्तम् । 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता' इत्यत्राप्यसेव्यसेवा श्ववृत्तिरेवेत्युक्तम् । 'स ह्याश्रमैस्सदोपास्यस्समस्तैरेक एव चे'ति

सर्वेरात्मयाथात्म्यवेदिभिः सेव्यः पुरुषोत्तम एक एव। यथोक्तं भगवता—'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥' इति, इयमेव भक्तिरूपा सेवा 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'त्यादिषु वेदनशब्देनाभिधीयते इत्युक्तम्', 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति विशेषणात् यमेवैष वृणुते इति भगवता वरणीयत्वं प्रतीयते, वरणीयश्च प्रियतमः। यस्य भगवत्यनवधिकातिशया प्रीतिर्जायते स एव भगवतः प्रियतमः, तदुक्तं भगवता—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥' इति, तस्मात्परभक्तिरूपापन्नमेव वेदनं तत्त्वतो भगवत्प्राप्तिसाधनम्, यथोक्तं भगवता द्वैपायनेन मोक्षधर्मे सर्वोपनिषद्व्याख्यानरूपम्—'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह ॥' धृत्या समाहितात्मा भक्त्या पुरुषोत्तमं पश्यति—साक्षात्करोति प्राप्नोतीत्यर्थः। 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' इत्यनेनैकार्थ्यात्। भक्तिश्च ज्ञानविशेष एवेति सर्वमुपपन्नम्।

यहाँ पर यह शंका होती है कि यह जो कहा गया है कि जीवात्मा अपने को श्रीभगवान का परतन्त्र-दास समझकर कैंकर्य करे यही सुख का निदान है, यही अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होता हुआ स्वयं सुख बन जाता है। यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि यह सर्वलोकानुभव से विरोध रखता है। लोक में सभी चेतन स्वातन्त्र्य चाहते हैं क्योंकि स्वातन्त्र्य उनको अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होता है, कोई भी चेतन पारतन्त्र्य नहीं चाहता है क्योंकि पारतन्त्र्य उनको अत्यन्त प्रतिकूल प्रतीत होता है। यह अर्थ मनुस्मृति में भी वर्णित है। मनुस्मृति का यह श्लोक प्रसिद्ध है कि—

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥"

अर्थात् पराधीन रहना सब दुःख है। स्वाधीन रहना सब सुख है। यही सुख और दुःख का संक्षिप्त लक्षण है। इसे जान ले। मनु ने अन्यत्र भी कहा है कि—

"सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत्"

अर्थात् सेवा कुत्तों की आजीविका कही गई है, इसलिये उसे छोड़ दे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना सहज है कि परात्पर श्रीभगवान का परतन्त्र दास बनकर उनकी सेवा करना कैसे सुखदायक होगा। यह शंका है। इसका उत्तर यह है कि यह शंका वे ही लोग कर सकते हैं जो देहव्यतिरिक्त आत्मस्वरूप को नहीं जानते हैं तथा देहात्माभिमान में डूबे हुये हैं। इस शंका का कारण देहात्माभिमान ही है। शरीर

एक पिण्ड है जिसमें मनुष्यत्व इत्यादि जाति और गुण इत्यादि रहते हैं। यह शरीरपिण्ड स्वतन्त्र प्रतीत होता है। यह प्रतीति भ्रम है क्योंकि शरीर भी ईश्वर का परतन्त्र है किन्तु शरीर को अपने अधीन रखने वाले ईश्वर दिखाई नहीं देते इसलिये शरीर उसी प्रकार स्वतन्त्र प्रतीत होता है जिस प्रकार वायु में बहकर आने वाला सुगन्ध पुष्पकणों का आश्रय लेकर आने पर भी पुष्पकण न दिखाई देने के कारण स्वतन्त्र प्रतीत होता है। भ्रम से स्वतन्त्र रूप में प्रतीत होने वाले इस शरीर को संसारी लोग आत्मा समझते हैं इसलिये अपने को स्वतन्त्र मानते हैं। चेतन आत्मा को जैसा मानते हैं उसके अनुसार ही उनको कोई कोई पुरुषार्थ अच्छा लगता है। अपने आत्मा को स्वतन्त्र समझने वालों को स्वातन्त्र्य अच्छा लगता है, पारतन्त्र्य दुःखदायी प्रतीत होता है। जो चेतन अपने को सिंह व्याघ्र वराह मनुष्य यक्ष राक्षस पिशाच देव दानव स्त्री और पुमान समझते हैं उनमें प्रत्येक के सुख दुःख व्यवस्थित रहते हैं, कोई पदार्थ किसी को सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरा पदार्थ दूसरे को सुखदायक प्रतीत होता है। एक को सुख देने वाला पदार्थ दूसरे को दुःखदायक प्रतीत होता है। एक पदार्थ परस्पर विरुद्ध कार्य को स्वयं कर नहीं सकता, एक पदार्थ जब एक को सुखदायक और दूसरे को दुःखदायक प्रतीत होता है तब कहना पड़ता है कि यह सुख और दुःख पदार्थस्वरूपकृत नहीं है, इसमें दूसरा ही प्रधान कारण है, वह है आत्माभिमान। जो चेतन अपने को जैसा समझता है उसके अनुसार वह पुरुषार्थ को चुनता है और समझता है कि हमको इसमें सुख है इसमें दुःख है इत्यादि। अतएव कहा जाता है कि पुरुषार्थव्यवस्था आत्माभिमान के अनुगुण होती है अतएव कहा गया है कि—

"अन्नं भोज्यं मनुष्याणाममृतं तु दिवौकसाम् ।
श्वपशू विट्तृणाहारौ सन्तो दास्यैकजीवनाः ॥"

अर्थात् मनुष्यों का अन्न भोज्य है, देवताओं का अमृत भोज्य है, कुक्कुर का जुगुप्सित पदार्थ भोज्य है, पशु का तृण भोज्य है सन्तों का दास्य ही भोग्य वस्तु है। उन उन का विभिन्न आत्माभिमान है।। कहने का भाव यह कि कर्मकृत देहात्माभिमान के कारण स्वातन्त्र्य सुखदायक एवं पारतन्त्र्य दुःखदायक प्रतीत होता है, स्वातन्त्र्य स्वरूपतः सुख का कारण नहीं, पारतन्त्र्य स्वरूपतः दुःख का कारण नहीं। यदि वे स्वरूपतः सुख दुःख का कारण होते तो वन में चीरे हुये वृक्ष पर ठोंकी गई कील को उखाड़ने वाले उस परमस्वतन्त्र वानर को सुख क्यों न हुआ ? अपने को परतन्त्र मानने वाले गुरुभक्त विद्यार्थी, पितृभक्त पुत्र, पतिशुश्रूषापरायण पतिव्रता को क्यों सुख होता है ? इसलिए कहना पड़ता है कि स्वातन्त्र्य स्वातन्त्र्य होने के कारण सुखदायक नहीं, तथा पारतन्त्र्य पारतन्त्र्य होने के कारण दुःखदायक नहीं, किंतु ये दोनों आत्माभिमान के अनुसार ही सुख और दुःख के कारण बनते हैं। अपने को स्वतन्त्र मानने वालों को स्वातन्त्र्य दुःखदायक प्रतीत होता है। यदि जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप पर विचार किया जाय कि वह वास्तव में कैसा है तो शास्त्रों से विदित होता है कि जीवात्मा का स्वरूप देव इत्यादि देहों से विलक्षण है

ज्ञानस्वरूप है तथा श्रीभगवान की शेषवस्तु है अर्थात् श्रीभगवान के लिये बनी रहने वाली वस्तु है। अतएव दास्य जीवात्मा का स्वरूप हो जाता है। यदि कोई चेतन अपने वास्तविक स्वरूप को अच्छी तरह से हृदयंगम करके अपने को श्रीभगवान का अत्यन्त परतन्त्रदास माने तो उसको उस आत्माभिमान के अनुसार श्रीभगवद्दास्य में ही आनन्द प्रतीत होगा। वैसा सन्तों को होता भी है। "आत्मा ज्ञानमयोऽयमलः" यह शास्त्र कहता है कि देहातिरिक्त आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं निर्मल है। "पतिं विश्वस्य" यह श्रुति श्रीभगवान को विश्व का स्वामी कहती हुई यह सिद्ध करती है कि इस चेतनाचेतन प्रपञ्च के अन्तर्गत सभी चेतन श्रीभगवान की वस्तु हैं, श्रीभगवान के शेष हैं तथा श्रीभगवान के दास हैं। सारांश यह है कि जिस प्रकार सिंह और व्याघ्र इत्यादि शरीरों को आत्मा मानकर उनमें अभिमान करना विपरीत आत्मज्ञान है। यह कर्म से होता है, उसी प्रकार अपने को स्वतन्त्र मानकर उसपर अभिमान करना भी विपरीतात्मज्ञान ही है। यह भी कर्म के कारण होता रहता है। इसपर ध्यान देना चाहिये। किंच, ईश्वर को छोड़कर जगत में जितने पदार्थ हैं वे कर्म के कारण ही अनुकूल एवं सुखरूप से प्रतीत होते हैं। उन पदार्थों का सुखत्व कर्मकृत है, अतएव उनमें सुखत्व अल्प एवं अस्थिर रहता है। प्रबल कर्म होने पर वे अधिक अनुकूल एवं अधिक सुखमय प्रतीत होते हैं, दुर्बल कर्म होने पर वे कम अनुकूल एवं कम सुखमय प्रतीत होते हैं। कर्म नष्ट होने पर उनमें सुखत्व भी नहीं रहता है। श्रीभगवान ही स्वतः सुख होते हैं, वे ही स्वतः अनुकूल प्रतीत होने वाले पदार्थ हैं। वे कर्म के कारण सुख स्वरूप नहीं होते किन्तु स्वतः ही सुख स्वरूप हैं। अतएव परमात्मा में सुखत्व स्थायी एवं उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचा हुआ रहता है। श्रुति ने कहा है कि—

"कं ब्रह्म खं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

अर्थात् ब्रह्म सुख स्वरूप है, आकाश की तरह अपरिच्छेद्य सुख स्वरूप है, ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, ब्रह्म निर्विकार ज्ञानस्वरूप है एवं अपरिच्छेद्य है। भगवान श्रीपराशर जी ने कहा है कि ब्रह्म व्यतिरिक्त सब पदार्थों में स्वाभाविक सुखत्व नहीं रहता, किन्तु कर्मकृत औपाधिक सुखत्व ही रहता है वह भी अल्प एवं अस्थिर है। ये श्लोक विष्णुपुराण के हैं कि—

"नरकस्वर्गसंज्ञे वै पुण्यपापे द्विजोत्तम।
वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च॥
कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः॥"

अर्थात् हे द्विजोत्तम ? पुण्य और पाप, क्रम से स्वर्ग एवं नरक नाम से कहे जाते हैं क्योंकि वे स्वर्ग एवं नरक के कारण हैं। एक ही वस्तु एक मनुष्य के लिये दुःख का कारण बनती है, वही दूसरे मनुष्य के लिये सुख का कारण होती है। वही वस्तु तीसरे मनुष्य के लिये ईर्ष्या का कारण एवं चतुर्थ मनुष्य के लिये कोप का कारण बन जाती है। इस प्रकार विभिन्न मनुष्यों के सुख दुःखादि का कारण बनना

वस्तु का स्वरूप नहीं है। कर्म के अनुसार वस्तु सुख दुःख आदि का कारण बनती है। एक ही वस्तु विभिन्न मनुष्यों में किसी के प्रति सुखरूप और किसी के प्रति दुःखरूप प्रतीत होती है। इस प्रकार अव्यवस्था का वर्णन करके आगे श्रीपराशर जी ने कहा कि विचार करने पर सिद्ध होता है कि मनुष्य के प्रति भी व्यवस्था नहीं घटती है क्योंकि एक वस्तु एक मनुष्य के प्रति सदा दुःख ही देती हो, या सुख ही देती हो, ऐसी बात नहीं है क्योंकि देखने में आता है कि—

"तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।
तदेव कोपाय मनः प्रसादाय च जायते॥
तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किंचित् सुखात्मकम्॥

अर्थात् वही पदार्थ प्रीति का कारण होकर दुःख का कारण बन जाता है, वही कोप का कारण होकर बाद प्रसन्नता का कारण बन जाता है। इसलिये कहना पड़ता है कि जगत में कोई भी दुःखात्मक नहीं है न सुखात्मक ही है। वस्तु जो सुखात्मक या दुःखात्मक बनती है, वस्तु का वह आकार कर्मकृत है, वस्तुस्वरूपकृत नहीं है। वस्तुस्वरूप के कारण ही वस्तु सुखात्मक या दुःखात्मक बनती हो ऐसी बात नहीं है। किंतु कर्म के कारण ही वस्तु सुखात्मक या दुःखात्मक बनती है। कर्म पूर्ण रीति से जब मिट जायगा, तब वस्तु न सुखात्मक बनेगी न दुःखात्मक ही। शंका करने वाले ने "सर्वं परवशं दुःखम्" इत्यादि मनुस्मृति वचनों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया था। उन वचनों का भाव यही है कि जहाँ चेतन श्रीभगवान को छोड़कर दूसरों का शेष अर्थात् परतन्त्रदास बनता है, वही दुःख का कारण है। "सेवा श्ववृत्तिराख्याता" इस वचन में यही कहा गया है कि उन सेव्य पुरुषों की सेवा कुत्ते की जीविका के समान है। इस प्रकार निर्णय करने का कारण यही है कि शास्त्रों में कहा गया है कि "स ह्याश्रमैः सदोपास्यः समस्तैरेक एव च" अर्थात् एकमात्र श्रीभगवान ही सभी आश्रमों के द्वारा सेव्य हैं। इससे सिद्ध होता है कि ठीक प्रकार से आत्मस्वरूप को जानने वालों को श्रीभगवान की सेवा करना चाहिये। श्रीभगवान ने भी गीता में कहा है कि—

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् जो साधक देवतान्तर भजन छोड़कर अनन्यभाव से भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह सत्त्वरज और तमोगुण को पार करके ब्रह्मभाव प्राप्त करने का अधिकारी होता है, उसे परिशुद्धात्म-स्वरूपानुभव प्राप्त होता है। यह भक्तिरूपा सेवा ही निम्नलिखित श्रुति वचनों में वेदनशब्द अर्थात् ज्ञान शब्द से कही गई है। वे वचन ये हैं कि—

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तमेव विद्वानमृत इह भवति" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"।

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त होता है, उस परमपुरुष को इस प्रकार जानने वाला साधक मुक्त हो जाता है जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म बन जाता है अर्थात् ब्रह्म के अत्यन्त समान बन जाता है। इन वचनों में ज्ञान वाचक वेदनशब्द से उपर्युक्त भक्ति ही कही गई है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इस श्रुति वचन से सिद्ध होता है कि वह ज्ञान प्रीतिरूप है। प्रीतिरूप ज्ञान ही भक्ति कहा जाता है। इस वचन से कहा गया है कि श्रीभगवान जिसका वरण करते हैं अर्थात् जिसे चाहते हैं उसको भगवान प्राप्य होते हैं अर्थात् उसको भगवान मिलते हैं। प्रश्न होता है कि श्रीभगवान किसका वरण करते हैं? श्रीभगवान के द्वारा वरण करने योग्य व्यक्ति कौन है? उत्तर यह है कि श्रीभगवान को जो अत्यन्तप्रिय है, श्रीभगवान जिस पर अपार प्रीति करते हैं वह श्रीभगवान के द्वारा वृत होता है, श्रीभगवान उस प्रिय व्यक्ति को चाहते हैं, वही श्रीभगवान का वरणीय है। फिर प्रश्न होता है कि श्रीभगवान का अत्यन्त प्रिय कौन है? उत्तर यह है कि जो श्रीभगवान में अपार प्रेम करता है, वह श्रीभगवान का प्रिय होता है। श्रीभगवान ने कहा भी है कि "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" अर्थात् हम ज्ञानी भक्त को अत्यन्त प्रिय हैं, ज्ञानी भक्त भी हमको अत्यन्त प्रिय हैं। इस विवेचन से स्पष्ट हो गया कि जो भक्त श्रीभगवान पर अपार प्रेम करेगा, उसपर श्रीभगवान भी अपार प्रेम करेंगे, श्रीभगवान उसको चाहेंगे तथा उसको मिलेंगे। इससे फलित हुआ कि श्रीभगवान में प्रेम करना चाहिये। यही भगवत्प्राप्ति का साधन है। भक्ति प्रेम को लेकर होती है। परभक्तिरूप को प्राप्त हुआ ब्रह्मज्ञान ही वास्तव में भगवत्प्राप्ति का साधन है। श्रीभगवान वेदव्यास महर्षि ने मोक्षधर्म में सर्व उपनिषदों के व्याख्यान के रूप में यह कहा है कि—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा ज्ञानस्वरूपं परिपश्यतीह॥

अर्थात् श्रीभगवान का दिव्यरूप देखने में नहीं आता, कोई भी मनुष्य चक्षु से श्रीभगवान को देख नहीं सकता। किंतु धृति से मन को जीतने वाला साधक भक्ति से ज्ञानस्वरूप श्री भगवान का साक्षात्कार करता है। यह श्लोक निम्नलिखित श्रुति वचन व्याख्यान है। वह श्रुति वचन यह है कि—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

इस मन्त्र के "हृदा मनीषा इन दो पदों की महाभारत श्लोक में "भक्त्या च धृत्या च" कहकर व्याख्या की गई है। श्री वेदव्यास जी की यह व्याख्या श्रीभगवान की "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः" इस श्रीसूक्ति से मेल रखती है अतः अत्यन्त उपादेय है। श्रीभगवान की श्रीसूक्ति का यह अर्थ है कि हे अर्जुन अनन्य भक्ति के द्वारा मेरा ज्ञान, साक्षात्कार और मेरी प्राप्ति प्राप्त हो सकते हैं। भक्ति एक ज्ञान विशेष ही है। यह बात पहले ही कही गई है। इसलिये यह सर्वमान्य सिद्धान्त—जो कि अज्ञान से संसार होता है। ज्ञान से

मोक्ष होता है—भी संगत हो जाता है। अन्त में श्री भाष्यकार स्वामी जी ने कहा कि इस प्रकार प्रमाण और तर्कों के द्वारा स्वपक्ष स्थापन और परपक्ष का निराकरण करके बहुत से सैद्धान्तिक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। जो सैद्धान्तिक अर्थ छूट गये हों उनका निर्वाह भी इन प्रमाण तर्कों के अनुसार करना चाहिये।

उपसंहारः

उपसंहार श्लोक

सारासारविवेकज्ञा गरीयांसो विमत्सराः ।
प्रमाणतन्त्राः सन्तीति कृतो वेदार्थसंग्रहः ॥

ग्रन्थ के उपसंहार में इस वेदार्थसंग्रह की गंभीरता को सूचित करते हुये श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने यह श्लोक कहा है कि—

सारासारविवेकज्ञा गरीयांसो विमत्सराः ।
प्रमाणतन्त्राः सन्तीति कृतो वेदार्थसंग्रहः ॥

अर्थात्—सारासार-विवेक-ज्ञानसपन्न मात्सर्यहीन प्रमाण-परतन्त्र बड़े-बड़े विद्वान विराजमान हैं वे इस ग्रन्थ को अपनायेंगे। इस अभिप्राय से इस वेदार्थसंग्रह ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि ग्रन्थ उन लोगों को ही उपादेय हो सकता है जो सार एवं असार की विवेचना करने में समर्थ हैं। परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ सुनने में आने पर जो विद्वान प्रमाण और तर्कों के अनुसार इस निर्णय में पहुंच सकते हैं कि यही अर्थ प्रमाण तर्कों के अनुसार प्रबल ठहरता है, यह अर्थ दुर्बल सिद्ध होता है। इस प्रकार विवेचना करने में जो विद्वान समर्थ हैं वे इस ग्रन्थ को अवश्य अपनायेंगे। केवल सारासार विवेक ज्ञान ही पयाप्त नहीं है किन्तु बहुश्रुत भी होना चाहिये। जिन लोगों ने अनेक विशिष्ट विद्वानों से अनेक शास्त्रों को अनेक बार सुना हो वे ही बहुश्रुत माने जाते हैं। बहुश्रुत न होने पर साधारण विद्वान परस्पर विरुद्ध शास्त्रार्थों में प्राबल्य एवं दौर्बल्य को समझने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिये बहुश्रुतता की आवश्यकता है। केवल बहुश्रुत होने पर भी कार्य नहीं चल सकता। बहुश्रुत होने पर भी जो विद्वान मन्दबुद्धि से युक्त हैं वे परस्पर विरुद्ध अर्थों को सुनकर यह सन्देह करते ही रह जायेंगे कि इस शास्त्र में ऐसा कहा गया है उस शास्त्र में इसके विरुद्ध वैसा कहा गया है इनमें सत्य क्या है? इस प्रकार के सन्देहों में फंसे हुये वे लोग निर्णय करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसलिये सारासार विवेक की भी आवश्यकता है। उपर्युक्त दोनों योग्यताओं से संपन्न होने पर भी जो विद्वान मात्सर्य के कारण ऐसा सोचते हैं कि ये हमारे समान अवस्था वाले हैं इनकी बात को हम क्यों माने इत्यादि। ऐसे विचार रखने वालों को

भी यह ग्रन्थ उपादेय नहीं होगा। किंतु उपर्युक्त दोनों योग्यता के साथ जिनमें मात्सर्य का अभाव भी है, उनके लिये ही यह ग्रन्थ उपादेय होगा। इन तीनों योग्यताओं से अतिरिक्त चौथी एक योग्यता और भी है वह योग्यता इन तीनों योग्यताओं के फलस्वरूप है। उस चौथी योग्यता की अत्यन्त आवश्यकता है। वह योग्यता है प्रमाण परतन्त्रता। जो विद्वान यह स्वभाव रखते हैं कि पूरी तौर से प्रमाणों का अनुसरण करते हैं प्रमाण एवं उनके अनुकूल तर्कों से ही अर्थों का निर्णय करते हैं इस प्रकार निर्णीत होने वाले अर्थ भले अप्रिय भी हों, तो भी उनको मानने में अणुमात्र भी आनाकानी नहीं करते हैं ऐसे विद्वान ही प्रमाण परतन्त्र माने जाते हैं। जो विद्वान मनसे किसी सिद्धान्त को पसन्द करके उसको सिद्ध करने के लिये तोड़ मरोड़ कर तथा खींचा तानी करके प्रमाणों को उपस्थित करते हैं वे प्रमाणपरतन्त्र नहीं माने जा सकते। यह प्रमाण परतन्त्रता उन विद्वानों में हुआ करती है जो सारासार विवेक ज्ञान एवं बहुश्रुतता से संपन्न हैं तथा मत्सर दोष हीन हैं। ऐसे प्रमाण परतन्त्र विद्वान अनेक विद्यमान हैं, वे इस ग्रन्थ को अवश्य अपनायेंगे। सर्वसाधारण भले न अपनावें किन्तु प्रमाण परतन्त्र शिष्टजन तो अवश्य ही अपनायेंगे। अशिष्ट जनता अपनावे तो वह ग्रन्थ का दोष है। शिष्ट अपनावे यही ग्रन्थ का गुण है। उपर्युक्त वे शिष्ट संपन्न प्रमाण-परतन्त्र अनेक शिष्ट विद्वज्जन इस ग्रन्थ को अवश्य स्वीकार करेंगे। इस अभिप्राय से ही यह वेदार्थसंग्रह ग्रन्थ निर्मित हुआ है। इस प्रकार कहते हुये श्रीरामानुज स्वामी जी ने इस ग्रन्थ को पूर्ण किया है।

॥ इति श्रीभगवद्रामानुजाचार्यविरचितो वेदार्थसंग्रहः समाप्तः ॥

इति श्री भगवद्रामानुजविरचित वेदार्थसंग्रह संपूर्ण
